

# मानस महाकाव्य में नारी

-ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी



६३/

# मानस महाकाव्य में
# नारी

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर
पंचकूला, हरियाणा
फोन :- 01733-266170

प्रकाशक :
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
फोन :- 01733-266170



सम्पादन :- ब्रह्मऋता परिव्राजिका

शब्द संयोजन :- ज्ञानेश्वरी परिव्राजिका
अमित शर्मा

द्वितीय संस्करण : 15 जुलाई 2011 (विक्रमी सम्वत् 2068)
श्रावण शुक्ल पक्ष-व्यास पूर्णिमा

प्रतियाँ :- 1100

मूल्य :- 200/-

मुद्रक : दी प्रैस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

# स्मृति में



## स्वर्गीय रीटा शर्मा

(नार्वे निवासी श्री धर्मपाल शर्मा एवं श्रीमती सुदेश रानी शर्मा ने अपनी स्वर्गीय सुपुत्री रीटा शर्मा की स्मृति में इस ग्रंथ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान किया।)

# संपादकीय

'मानस महाकाव्य में नारी' शीर्षक स्वयं मुखरित है। इसमें पूज्य आचार्यश्री ने मानस महाकाव्य में वर्णित नारी के दिव्य गौरवमय स्वरूप की समग्र उद्भावनाओं को विश्लेषण के साथ सृजनात्मक दृष्टि से मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। आदर्श आर्य नारी के सुन्दर गौरवपूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा माँ सीता के रूप में जो इस काव्य में की गई है वह विश्व के किसी भी वाङ्मय में दुर्लभ है। मानस जैसे महान तथा विस्तृत ग्रंथ में जगह-जगह पर बिखरे नारी पात्रों के दिव्य-अदिव्य गुणों को एकत्रित कर प्रसंगानुसार अदिव्यता की भर्त्सना तथा दिव्यता की प्रतिष्ठा, आचार्यश्री की नीर-क्षीर विवेकी प्रज्ञा का ही परिणाम है। आदर्श मातृत्व जो कौशल्या और सुमित्रा के रूप में पूज्य आचार्यश्री द्वारा अत्यन्त मार्मिक भाषा में वर्णित किया गया है, इसे पढ़ते हुए कोई भी मातृ ह्रदय अश्रुपात किए बिना नहीं रहेगा परन्तु धर्म पर ममत्व का बलिदान अनुकरणीय है। इसके साथ ही कैकेई के चरित्र में ऐसी नारी का चित्रण भी किया गया है जो बहुसंख्यक महिला समाज की सहज वृतियों का प्रतिनिधित्व करती है परन्तु ऐसी स्वार्थपरता तथा कुटिल कार्यों में प्रवृत्त नारी युगों तक सदैव अपमान, आत्मग्लानि वा कलंक का ही भाजन बनती है। ऐसी नारियों के लिए ही कई स्थलों पर संत तुलसीदास जी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया जिससे आज वह केवल वर्तमान के पठित समाज में ही नहीं अपितु विद्वत् समाज द्वारा भी 'नारी निंदक' के रूप में घोषित किए जाते हैं। ऐसी समस्त शंकाओं का समाधान प्रस्तुत काव्य का मूल विषय है जिसे पूज्यश्री ने अपनी तर्क बुद्धि तथा प्रखर प्रतिभा के द्वारा विश्लेषणात्मक ढंग से किया है। आलोचकगण यदि अपने संकुचित दृष्टिकोण को अलग रखते हुए निष्पक्ष होकर इस निबंध का मनन करेंगे तो इस भ्रांति से मुक्त होकर नारी के प्रति तुलसीदास जी की सही भावना को जान सकेंगे। पूज्य आचार्यश्री की विषय की तह तक पहुँचने की पैनी दृष्टि द्वारा कई स्थलों पर रामायण की चौपाईयों की सरल व्याख्या के साथ-साथ ब्रह्म, सृष्टि, जीव आदि तथ्यों का दार्शनिक तथा तात्त्विक विशलेषण मानस कथानक को और भी रुचिकर बना देता है। सूपर्णखा के मुख से राजधर्म, नीति, विवेक और सत्कर्म का रावण के प्रति उद्घोष तथा इन्हीं सद्गुणों को अपनाने की जो प्ररेणा प्रस्तुत निबंध

में आचार्यश्री ने वर्तमान के कूटनीतिज्ञों तथा राजनेताओं को दी है, वह मननीय है। मैं समझती हूँ कि प्रस्तुत महाकाव्य जहाँ एक तरफ अपने सभ्य तथा शिष्ट चरित्रों के माध्यम से नारी समाज को युगों तक अपने जीवन निर्माण में सद्प्रेरणा देता रहेगा वहाँ दूसरी तरफ इसमें अनेकानेक गहन विषयों का मंथन तथा विवेचन मानवीय समाज को समग्र रूप से स्वधर्मानुसार सुव्यवस्थित जीवन संचालित करने के लिए भी मार्ग दर्शन करेगा। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण आज से कई वर्ष पूर्व इंग्लैंड निवासी श्रीमती तथा श्री सर्वेशजी सैंग तथा कनेडा निवासी श्री ओम प्रकाश सुनीति सैनी जी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ को पुनः प्रकाशित कराने में नार्वे निवासी श्री धर्मपाल शर्मा एवं श्रीमती सुदेश शर्मा ने अपनी स्वर्गीय सुपुत्री रीटा जो पूज्य गुरुदेव द्वारा दीक्षित थी, की स्मृति में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। मैं ह्रदय से उनकी आभारी हूँ तथा प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि वह दिवंगत आत्मा को अपने चरणों में स्थान दें तथा प्रिया रीटा के माता-पिता को इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करते हुए धर्म पथ पर चलने की सामर्थ्य दें।

इस ग्रंथ को पूज्या दीदी ब्रह्मवादिनी कृष्णकान्ता जी महाराज ने भी पुनः पढ़कर अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। इस ग्रंथ के शब्द संयोजन का दुरूह कार्य हमारी प्रिय बहन ज्ञानेश्वरी ने किया है। मैं ह्रदय से उसे अनंत आशीर्वाद देते हुए प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि वह उसे स्वस्थ रखते हुए शक्ति प्रदान करें जिससे वह पूज्य गुरुदेव के ज्ञान यज्ञ में इसी तरह सहयोग करती रहे। इस कार्य की पूर्णता में प्रिय अमित शर्मा के कठिन परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता। सदैव की तरह व्यस्त होते हुए भी उसने इस कार्य को पूर्ण परिश्रम एवं निष्ठा के साथ सम्पन्न किया है। मेरा अनंत आशीर्वाद हमेशा उसके साथ है। अंत में करुणामयी माँ की करुणा को स्मरण करते हुए व्यास पूर्णिमा के शुभ पर्व पर यह ग्रंथ पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में सादर समर्पित है।

ब्रह्मऋता परिव्राजिका
प्रचारिका
इंटरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन
शाखा अबोहर

# पूर्वोक्ति

करुणानिधान भगवान् श्रीराघव की अतिशय प्रिय प्राणवल्लभा जगत जननी-जनक तनया श्री जानकी जी के परम पावन युगल चरणार्विंद ही निर्मल मति के प्रदाता हैं। श्री माँ के उन्हीं चरणार्विंद के अनुग्रह से यह अकिंचन भी सुमति प्राप्त कर मानस महाकाव्य में विविध नाम रूपों में वर्णित मातृ शक्ति के पावन चरित्रों का चिंतन तथा उनमें निहित रहस्यात्मक तथ्यों के यथार्थ अभिप्राय को उद्घाटित कर जनमानस तक पहुँचान का अल्प प्रयास कर सका है। यह सत्य है कि कर्ता प्रत्येक क्रिया में स्वान्तःसुखाय ही प्रवृत्त होता है किन्तु उसका कर्तृत्व केवल उसके स्व तक ही सीमित नहीं रह जाता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है अतः उसका प्रत्येक अंश समाज से जुड़ा हुआ होने से अपनी प्रकृत्यानुसार उसे हानि वा लाभप्रद परिणामों से प्रभावित करता है इसीलिए गोस्वामी जी प्रत्येक कृतिकार को सचेत करते हुए कहते हैं -

**कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।**

**(रा० १/१४-९)**

कीर्ति, काव्य तथा वैभव वही सुंदर है जो गंगा जी के समान सभी के लिए हितकारी हो। अभिप्राय यह है कि कीर्ति का प्रयोजन कर्ता के स्वान्तः सुखाय के साथ सर्व-जनहिताय भी होना चाहिए। प्रस्तुत निबंध में महाकवि के निर्देशानुसार उभयविध भावनाएं ही प्रेरक रही हैं। विविध रसों से परिपूरित मातृ शक्ति के विविध चरित्रों के चिंतन, मनन में जिस अक्षुण आनंद की अनुभूति होती रही है, वह अवर्णनीय है। उसके साथ ही संतवर के मानस मानसरोवर से उद्भूत श्रीराम सुयश जल से आपूरित दिव्य भावोंमियों से उल्लसित उनकी कविता सरिता में भी सतत अवगाहन का वह अलौकिक आनंद प्राप्त रहा है जिसकी तुलना में समाधिजन्य ब्रह्मानंद की अनुभूति भी फीकी ही कही जा सकती है। इस निबंध के निर्माण में निहित स्वान्तःसुखाय की भावना तो लेखक की निजि अनुभूति का विषय है, उस संबंध में अधिक कहना अनावश्यक है। रही सर्वजनहिताय की भावना की बात, अब वह कहाँ तक सार्थक सिद्ध हो पाएगी,

यह तो करुणामयी माँ ही जान सकती है जिसके कृपा प्रसाद से यह कृति मातृशक्ति की सेवा में समर्पित करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

कुछ विद्वानों की राय है कि श्रीरामचरितमानस एक सांस्कृतिक महाकाव्य है। मेरे विचार से वह केवल सांस्कृतिक महाकाव्य ही नहीं, आज जनमानस में उससे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान पर सुशोभित हो रहा है। संभव है उसके रचियता की कल्पना में भी यह बात नहीं आई होगी कि "भाषा भनिति कृति" कभी कोटानिकोटि ह्रदयों में दिव्य ज्ञानकोष अपौरुषेय वेद के समान ही धर्मशास्त्र के रूप में समादृत हो सकेगी।

मेरे विचार से श्रीरामचरितमानस जैसे आर्य ग्रंथ को धर्मशास्त्र के रूप में ही स्वीकार करना उचित है क्योंकि अभ्युदय के साथ ही निःश्रेयस की प्राप्ति ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है धर्म। धर्म के दो ही मूलाधार हैं- विचार तथा आचार और इन दोनों के अनुशासक शास्त्र को ही धर्मशास्त्र कहते हैं। धर्मशास्त्र का प्रयोजन है व्यक्ति तथा समाज के विचार और आचार को अनुशासित कर उसे अभ्युदय के साथ ही निःश्रेयस की प्राप्ति की दिशा प्रदान करना और श्रीरामचरितमानस द्वारा वर्तमान में बड़ी ही कुशलता के साथ इस उभयविध धर्म कार्य का सम्पादन हो रहा है। इसमें उपनिषदों की ब्रह्म जिज्ञासा, स्मृतियों का धर्म विधान, दर्शन शास्त्रों की तत्त्व मीमांसा तथा आगम एवं पौराणिक साहित्य की विवेक विराग युक्त श्रीहरि हर की पतित पावनी पराभक्ति, इन सभी का सविध निरूपण प्राप्त होता है। अतः यह स्वयं में परिपूर्ण आर्य कोटि का धर्मशास्त्र है, इसे स्वीकारने में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है। कुछ विद्वानों की राय है कि श्रीरामचरितमानस को पढ़ते समय कई स्थानों पर नारी से संबंधित कुछ इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी की दृष्टि में नारी वर्ग के लिए कोई विशेष आदर का स्थान नहीं रहा। प्रसंगानुसार यत्र-तत्र उन्होंने अपने महाकाव्य में नारी की जी भर कर अवमानना की है और उसे निन्दनीय ठहराया है। केवल वर्तमान की पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली में परिपोषित मस्तिष्क के धनी सामान्य पठित वर्ग ही नहीं, कई पंडित मन्यमाना विद्वान् लेखकों ने भी संतवर तथा उनके मानस को इसी दृष्टिकोण से देखा है। मेरे विचार से श्रीरामचरितमानस जैसे आदर्श प्रतिष्ठापक धर्मशास्त्र के प्रति इस प्रकार की अवधारना सर्वथा अनुचित ही नहीं लोकहित की दृष्टि से भी हानिप्रद है। गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि महाकवि ने अपने महाकाव्य में घटना विशेष के उपस्थित होने पर प्रंसगानुसार स्त्री व पुरुष जिस किसी संबंध में जो कुछ भी कहते हैं, वह सभा

तथ्यतः ही होता है। सत्य तो यह है कि युगधर्मद्रष्टा महाकवि न तो किसी वर्ग विशेष के निंदक हैं और न प्रशंसक ही। जिस प्रकार वे प्राकृत जन गुणगान को वीणापाणी का दुरुपयो्ग समझते हैं, उसी प्रकार परनिंदा को महान अघ घोषित करते हैं -

**परनिन्दा सम अघ न गरीसा।**

अतः उनके महाकाव्य में किसी वर्ग विशेष की निंदा वा प्रशंसा की कल्पना भ्रमित बुद्धि की ही परिचायक होगी। वैदिक साहित्य से लेकर महाकवि कालिदास की कृतियों तक के विपुल संस्कृत साहित्य में यह तथ्य देखा जा सकता है कि तत्त्व द्रष्टा मनीषियों ने सम्पूर्ण मानव समुदाय को दो श्रेणियों में विभाजित किया है जिसे आर्य-अनार्य, देव तथा असुर आदि की संज्ञा दी है। गीता में भगवान् ने भी -

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**

**(गीता १६/६)**

कहकर इसी विचारधारा की पुष्टि की है। गोस्वामी जी ने भी अपने ग्रंथ में उसी भाव को व्यक्त करते हुए सत्-असत्, सज्जन-असज्जन, साधु-असाधु, सुकृति तथा खल आदि शब्दों में उभय वर्ग का विवेचन किया है। नर हो वा नारी श्रुति सम्मत सद्मार्ग पर चलने वाला शील, सदाचार सम्पन्न, दैवी गुणों से विभूषित व्यक्ति स्वयं के सहित समाज हित का ही साधक होता है, इसलिए वह सदैव प्रशंसनीय है। इसके विपरीत श्रुतिपथ विमुख शील, सदाचार रहित, आसुरी स्वभाव युक्त व्यक्ति अपने सहित समाज का घातक होने से सर्वथा निन्दनीय होता है। सामान्य साहित्य की तो बात की क्या है, विश्ववन्द्य वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार के उभय विध व्यक्तियों से सम्बन्धित प्रशंसात्मक वा निन्दात्मक वाक्य भरे पड़े हैं। वेद में भी यज्ञमय जीवन बिताने, यापन करने वाले लोक हितैषी, परोपकारी, उदारचेता, दानी व्यक्तियों की प्रशंसा तथा अयाज्ञिक, केवलादी, अदानी, स्वार्थी व्यक्तियों की निंदा की गई है। वैदिक साहित्य का अध्येता इससे भली-भांति सुपरिचित है। सदाचरण की प्रशंसा तथा दुराचरण से विरत कर सदाचार में प्रवृत्त करना वास्तव में धर्मशास्त्र का यही उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में श्रुतिपथ का अनुसरण करते हुए गोस्वामी जी ने भी प्रसंगानुसार मानव समाज को, नर-नारी उभय वर्ग को सावधान करने के लिए उसी विधि का प्रयोग किया है। मेरे विचार से प्रत्येक साहित्यकार के लिए सत् साहित्य के सृजन में लोकहित साधनार्थ यह विधि अनुकरणीय है।

श्रीरामचरितमानस में नारी निंदा से संबन्धित वाक्य नहीं हैं, ऐसा नहीं

कहा जा सकता किन्तु विचारणीय बात है कि वे कब, कहाँ और किसके लिए प्रयुक्त हुए हैं? क्या उसी प्रकार के शब्द पुरुष के लिए भी प्रयुक्त नहीं हुए? इस तथ्य को समझने के लिए उन प्रसंगों को गम्भीरता से पढ़ना चाहिए। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार उन्मत्त नारी के लिए वे लिखते हैं -

**अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।**

उसी प्रकार मदान्ध पुरुष के लिए भी कहते हैं -

**अवगुन सिंधु मंदमति कामी।**

जहाँ पर वे ढोल, गवार आदि के साथ पशुनारी की बात कहते हैं वहीं पर वे-

**ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना।**

कहने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। कलिधर्म कथन के प्रसंग में जहाँ पर स्वच्छन्द नारी की विगर्हणा करते हुए कहते हैं -

**गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।।**

**( रा० ७/९९-४)**

वहीं पर पुरुष के लिए -

**कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।।**

**( रा० ७/१००-३)**

का उल्लेख करते हुए उसकी प्रताड़ना करते हैं। इतना ही नहीं उस प्रसंग में संतवर ने नारी की अपेक्षा पुरुष की ही दुर्गति का विशेष रूप से कथन किया है। उत्तरकाण्ड के दोहा ३८ से ४० तक में धर्म विमुख, सदाचारहीन पुरुष वर्ग की किस प्रकार से भर्त्सना की है इसे विस्तार से वहीं देखा जा सकता है। यह सर्वविदित है कि गोस्वामी जी ब्राह्मण को भूसुर मानते हुए उनकी वन्दना करते हैं। साधु, संत, भक्त को वे अपने आराध्य श्रीराम से भी अधिक घोषित करते हैं किन्तु कलिधर्म कथन प्रसंग में तथाकथित जात्याभिमानी, ब्राह्मण वेषधारी साधु, श्रुतिनिन्दक सन्त, भक्त तथा वेद विरुद्ध आचरण करने वाले पाखण्डी, तपस्वी संन्यासी को भी क्षम्य नहीं माना है। धर्मभीरु, भावुक जनसामान्य को सावधान करने के लिए लोकहित की दृष्टि से उन सभी की बड़े कठोर शब्दों में विगर्हणा की है। जिन महानुभावों को मानस में नारी निंदा का आभास होता है उन्हें संतवर द्वारा पुरुष के प्रति लिखी हुई इन चौपाइयों पर भी ध्यान देना चाहिए।

**बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा।।**
**मानहि मातु-पिता नहीं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।**
**जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।।**

खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।।
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।।
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन।।
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों।।
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा।।
पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद।।

(रा० ७/३९)

इन समस्त चौपाईयों में नारकीय नर के जीवन वृत्त का ही चित्रण है और मानस में इसी प्रकार के और भी अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। अभिप्राय यह कि श्रीरामचरितमानस में किसी वर्ग विशेष की निंदा वा स्तुति की कल्पना सर्वथा भ्रमंपूर्ण है। गोस्वामी जी ने जिस प्रकार पुरुष समुदाय को उनके स्वभावानुसार संत, असंत इन दो श्रेणियों में विभाजित कर उनके क्रिया-कलाप का वर्णन किया है उसी प्रकार नारी समुदाय को भी उनके स्वभावानुसार दो श्रेणियों में विभाजित कर माया और भक्ति के रूप में उनके चरित्रों का निरूपण किया है। दैवी गुणों से सम्पन्न सती साध्वी नारी को भक्ति स्वरूपा कहा है और आसुरी स्वभावानुसार, स्वेच्छाचारिणी, विषयनिरत्त नारियों को माया रूपिणी। नारी रात्रिरूपा है यह मान्यता केवल गोस्वामी जी की ही नहीं है वैदिक साहित्य में भी इसका वर्णन है। पौराणिक साहित्य में भी भगवती का महारात्रि के रूप में वर्णन किया गया है। गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में इस मान्यता को बड़ी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है। भक्तिमती साध्वी नारी को राकारजनी अर्थात् पूर्णिमा की रात्रि कहा है और मायारूपी नारी को अमावस्या की निबिड़रजनी अंधियारी बताया है। भक्ति स्वरूपा नारी पूर्णिमा की रात्रि के समान अपनी स्नेहसिक्त शीतल ज्योत्स्ना से शान्ति प्रदान कर व्यक्ति तथा समाज को सद्धर्म में प्रवृत्त कराती है किन्तु मायारूपी नारी मानव समाज को घोर अन्धकार रूप विषय वा पाप में। मेरे विचार में श्रीरामचरितमानस में जहाँ कहीं भी महाकवि वा उनके मान्य पात्रों द्वारा नारी के सम्बध में निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे मायारूपी नारी से ही सम्बन्धित हैं। भक्ति स्वरूपा नारी वन्दनीया है। महाकवि ने सती शिरोमणि के रूप में उसकी पदे-पदे वन्दना की है और उसके पावन सुयश का गान कर अपनी कृति को अनुपम तथा धन्य बना लिया है। इस लघु लेख में इस विषय का अधिक विस्तार अनावश्यक है। यदि कोई जिज्ञासु इस सम्बन्ध में

अधिक जानना चाहता है तो "नारी-तुलसी की दृष्टि में" नामक मेरी अन्य पुस्तक पढ़ सकता है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि मानस महाकाव्य में नारी को ही विशेष रूप से विवेचन का विषय क्यों चुना गया। इस विषय में भी कुछ कह देना आवश्यक समझता हूँ। मेरी दृष्टि में नारी मानव ही नहीं मानवता की भी जन्मदात्री है क्योंकि मानवता के आधार रूप में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण उदात्त गुणों की वह अधिष्ठात्री है। आर्जव, दया, करुणा, उदारता, स्नेहसिक्त सेवा, परार्थ समर्पण, साहस, सहनशीलता, लज्जा, मृदुता, सौशील्य, वात्सल्य आदि समस्त दैवी गुणों की वह खान है अर्थात् ये सम्पूर्ण गुण उसमें सहज ही आविर्भूत होते हैं, इसीलिए तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने भूतल पर मूर्त्त रूप में दैवी भाव की उद्भावना का प्रथम समाश्रय मातृ शक्ति को ही घोषित किया है और मानव को सीख दी है - 'मातृदेवो भव' माता में देव भाव वाला बन। यह याद रखना चाहिए कि साकार रूप में देव भाव की भावना के लिए वेद का यह प्रथम आदेश है। समाजविज्ञान के विशेषज्ञ यह भली-भांति जानते हैं कि समाज की संरचना में परिवार ही इकाई है और नारी परिवार की धुरी है। अतः प्रकारान्तर से मानव समाज की उन्नति वा अवनति में वही मूलकारण होती है। नारी के सुव्यवस्थित तथा सुप्रतिष्ठित जीवन के अभाव में सुव्यवस्थित तथा सुविकासशील मानव समाज की संरचना के लिए उसकी जन्मदात्री, विधात्री नारी का अपने यथार्थ स्वरूप, स्थान और दायित्व के प्रति सजग होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। अबोध, निर्बल तथा निरीह माँ से सुबोध, सबल तथा साहसी संतान की कल्पना व्यर्थ है। महात्मा भरत के शब्दों में

**फरइ की कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि सम्बुक ताली।।**

(रा० २/२६१-४)

महाकवि की यह अर्धाली इसी सत्य का उद्घाटन कर रही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय समाज की संरचना में नारी का उच्चतम स्थान है। धर्मशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता भगवान् मनु ने संतान के लिए पिता की अपेक्षा माता का दसगुणा अधिक गौरव है, यह घोषणा की है। महाकवि ने माता कौशल्या के द्वारा इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए कहलवाया -

**जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।**

(रा० २/५६-२)

सारांश यह कि यदि नारी अपने दायित्व के प्रति पूर्णतया जागरुक नहीं है तो समुन्नत समाज की कल्पना कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि यदि पुरुष सदाचार से पतित हो जाता है तो

वह केवल अपना ही पतन करता है, उसका दुष्प्रभाव अल्पमात्रा में ही समाज को दूषित कर पाता है किन्तु यदि नारी सदाचार से च्युत हो जाये तो वह अपने दूषित प्रभाव से समाज के बहुत बड़े समुदाय को दूषित ही नहीं करती उसे पतन के गर्त में भी ढकेल देती है। जनसामान्य की तो बात ही क्या है, नारी समुदाय के सदाचारहीन होने पर बड़े-बड़े साम्राज्य को विनष्ट होने में भी देर नहीं लगती। अतः मानव एवं मानवता दोनों को सुरक्षित एवं प्रतिष्ठित करने के लिए नारी को भोग्या एवं कामिनी के रूप में नहीं निर्मात्री एवं पालिका, परिपोषिका मातृशक्ति के रूप में सुप्रतिष्ठित करना अनिवार्य है और यह तभी सम्भव हो सकेगा जब नारी अपने गौरव को जानेगी, पहचानेगी।

मेरे विचार से मानस महाकाव्य में वर्णित प्रत्येक पात्र के जीवन वृत्त की ऐतिहासिकता का आग्रह करना उसके रचयिता के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत होगा। इस ग्रन्थ का मुख्य विवेच्य विषयं श्रीराम तत्त्व है। महाकवि स्वयं ही इसकी घोषणा करते हैं-

**जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।।**

**( रा० ७/६१-६)**

इसमें इतिहास है ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि कथा प्रसंग का आरम्भ ही ऐतिहासिक राम के यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा से होता है।

**राम कवन प्रभु पूछउँ तोही।**

**जो नृप तनय तो ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।**

**( रा० १/१०८)**

आदि अनेकों वाक्य इसके प्रमाण हैं और इसके उपसंहार में भी -

**कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा।।**

**( रा० ७/१२६-१)**

आदि अर्धालियों में उसकी पुनरावृत्ति की गई है किन्तु मानस को मानस चक्षु से देखने पर यह ज्ञात होता है कि महाकवि श्रीराम तथा उनसे सम्बन्धित पात्रों के ऐतिहासिक वृत्त का विवेचन करने के लिए ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, उन्होंने श्रीराम तत्त्व के प्रतिपादन के लिए इतिहास का अवलम्बन अवश्य लिया है। यह याद रखना चाहिए कि तुलसीदास के राम वास्तव में नर नहीं हैं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं किन्तु नर अनुहरत चरित कर रहे हैं -

**सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।**

**चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।।**

**( रा० २/८७)**

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।।

(रा० २/९३)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरामचरितमानस ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं, वह धार्मिक ग्रन्थ है। उसमें पुरुष के रूप में प्रकट पुरुषोत्तम के पावन चरित्र का वर्णन है। पुरुषोत्तम का चरित्र पुरुष के लिए आदर्श होता है। उस चरित्र का प्रत्येक पात्र स्वधर्म का साकार विग्रह हुआ करता है। मानस का गम्भीरता से मनन करने पर महाकवि की यही भावना साकार रूप में अभिव्यक्त हुई दीखती है। यही कारण है कि आदिकवि वाल्मीकि के कौशल्यादि नारी पात्रों से मानस के कौशल्या आदि नारी पात्र सर्वथा भिन्न दिखाई देते हैं। संतवर ने इसका समाधान करते हुए स्वयं लिखा है-

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार।।
कथा अलौकिक सुनहि जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहि अस जानी।।
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं।।

( रा० १/३३-४,५)

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन लोकहित साधन होता है। अतः क्रान्त द्रष्टा कवि कथावस्तु के विवेचन में स्वतंत्र होता है, उसके लिए किसी परिपाटी का पालन करना आवश्यक नहीं होता। युगधर्मानुसार मानव समाज को कल्याण पथ की दिशा प्रदान करने में जिन भावों को वह आवश्यक समझता है उन्हें उद्‌भावित कर जनमानस में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। युग धर्म द्रष्टा, क्रान्तदर्शी महाकवि गोस्वामी जी के मानस महाकाव्य में पदे-पदे सर्वत्र इसी सत्य का साक्षात्कार होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तथा उनसे सम्बन्धित समग्र ग्रन्थों के जीवनवृत्त को संतवर ने मानव समाज के समक्ष आदर्श रूप में उपस्थित किया है जिससे प्रेरणा प्राप्त कर सभी स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए-

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं।।

( रा० १/१५-४)

अर्थात् अभ्युदय के साथ निःश्रेयस को प्राप्त कर सकें। मेरे विचार से इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए मानस महाकाव्य का अवतरण हुआ और वर्तमान में पूर्ण प्रज्ञ से लेकर अल्पज्ञ जनसमुदाय तक इस महाग्रन्थ के प्रकाश में अपने अभीष्ट को प्राप्त कर परितृप्त हो रहा है। श्रीरामचरितमानस जैसे लोक हितकारी

सद्ग्रन्थ के प्रति जनमानस में किसी प्रकार की भ्रान्ति फैलाना घोर अपराध है क्योंकि इससे मानव एवं मानवता दोनों का ही अहित होता है किन्तु दुर्भाग्य वश आज कई संस्थायें सुनियोजित रूप से इस दिशा में सक्रिय हैं।

बात १९७३ की है, उन दिनों देश-विदेश में मानस चतुःशती मनाने का आयोजन चल रहा था और मैं लंडन में था। वहाँ पर भी मानस चतुःशती मनाने की योजना बनाई गई। प्रवासी भारतियों के उत्साहयुक्त सहयोग से विभिन्न शहरों में आयोजन किये गये। हज़ारों की संख्या में भाग लेकर भारतीय जनता ने श्रीरामचरितमानस तथा उसकी महत्ता के सम्बन्ध में विचार सुने। कई कार्यक्रमों में तुलसी साहित्य के मान्य विद्वान् एलचिन तथा अन्य अंग्रेज़ विद्वानों ने भी भाग लिया। उन कार्यक्रमों में जहाँ अनेक लोग श्रीरामचरितमानस पर दिये गए विविध विषयों से सम्बन्धित व्याख्यानों से सद्धर्म की प्रेरणा ले रहे थे, वहाँ कई ऐसे लोग भी मिले जिन्होंने श्रीरामचरितमानस में शूद्र व नारी की निन्दा के सिवाय और कुछ पाया ही नहीं था। प्रत्येक कार्यक्रम में इस प्रकार के लोगों की शंका का समाधान भी करता रहा। विशेषकर पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित भारतियों में महाकवि तुलसी तथा उनके विश्व वंद्य महाकाव्य मानस के प्रति फैल रही भ्रान्त धारणा को देख ग्लानि होती थी। उन्हीं दिनों करुणामयी माँ की प्रेरणा से यह संकल्प उठा कि क्यों न मानस में आये हुए नारी से सम्बन्धित आपत्तिजनक सभी वाक्यों का विवेचन कर उनका समुचित समाधान जनमानस के समक्ष प्रस्तुत किया जाये। इस भावना से प्रेरित होकर मानस में आये हुए नारी निन्दा से सम्बन्धित उन सभी प्रसंगों का संकलन किया गया और उनमें प्रयुक्त सभी आपत्तिजनक वाक्यों का संक्षिप्त विश्लेषण के साथ समुचित समाधान कर जिज्ञासुजनों के लिए "नारी तुलसी की दृष्टि में" नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया किन्तु वह कार्य केंवल समाधानार्थक होने से पर्याप्त नहीं लगा क्योंकि उसमें नारी से सम्बन्धित महाकवि की समग्र उद्भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई थी। आवश्यकता एक ऐसे निबन्ध की प्रतीत हुई जिसमें युगधर्मद्रष्टा परमर्षि गोस्वामी जी द्वारा मानस महाकाव्य में वर्णित नारी के दिव्य गौरवमय स्वरूप की समग्र उद्भावनाओं को विश्लेषण के साथ सृजनात्मक दृष्टि से मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके। करुणामयी माँ की प्रेरणा से इस आवश्यकता की पूर्ति मे जो कुछ प्रयास हो सका है उसका परिणाम इस पुस्तक के रूप में पाठकों के सामने है। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह कहाँ तक सार्थक सिद्ध होगी यह तो भविष्य ही बतायेगा।

श्रीरामचरित मानस से सम्बन्धित विविध विधाओं में सुधीजनों द्वारा अब

तक अनेकों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं किन्तु इस प्रकार के महत्वपूर्ण विषय से सम्बन्धित कोई कृति अब तक दृष्टि पथ में नहीं आई थी। विश्वास है इस निबन्ध के माध्यम से कुछ अंशों में इस अभाव की पूर्ति हो सकेगी और विद्वान् लेखकों को इस दिशा में चिन्तन तथा लेखन की प्रेरणा भी मिल सकेगी।

इस सत्य से सुधीजन सुपरिचित हैं कि जब कोई भाष्यकार, टीका टिप्पणीकार, समीक्षक, आलोचक वा अनुसंधानकर्ता किसी सद्ग्रन्थ पर भाष्य, टीका, समीक्षा, समालोचना वा अनुसंधान के रूप में लिखता है तो उसमें उसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं अमित अध्यवसाय से अद्‌भुत अनुभूति वा दृष्टिकोण की ही अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि अब तक सर्ववन्दनीय सद्‌गन्थों पर विविध विधाओं में विपुल साहित्य का सृजन हो सका है और भविष्य में भी होता रहेगा। यदि इस प्रकार की कृति को कृतिकार की मौलिक रचना के रूप में आँका जाये तो मेरें विचार से वह औचित्य की परिधि से परे की बात न होगी। प्रस्तुत निबन्ध को विद्वत् समाज किस दृष्टि से देखता है यह मेरे विचार का विषय नहीं है। इसके द्वारा यदि कुछ अंशों में भी लोकहित सम्पादन का कार्य हो सका, विशेषकर मातृशक्ति अपने गौरवमय जीवन के प्रति जागृत हो सकी तो सन्तोष की बात होगी।

इस पुस्तक में जो कुछ भी ग्राह्य तथा उपयोगी तत्त्व हैं, वे केवल मेरे परमाराध्य गुरुदेव भगवान् चन्द्रमौलि तथा साकेतवासी प्रसिद्ध सन्त प्रातः स्मरणीय बाबा श्रीराम सुन्दरदास जी महाराज, बाबा मणिराम छावनी का कृपा प्रसाद मात्र है जिनके पावन चरणों में बैठकर इस जीवन में मानस महासागर से कुछ कण समेटने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है। इस अवसर पर मैं अपने पंचसंस्कार के कर्त्ता गुरुवर्य साकेतवासी बाबा श्री रामस्वरूपदास जी महाराज की कृपा को भी स्मरण कर कृतज्ञता से नतमस्तक होता हूँ जिनकी वात्सल्य युक्त अनुकम्पा से ही मुझे भगवान् मारुति के चरणार्विन्द में रहते हुए तुलसी साहित्य के अध्ययन की सुविधा प्राप्त हो सकी थी। अवध निवासी उन सभी स्वनामधन्य विद्वान् सन्तों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके आशीर्वाद तथा सत्संग द्वारा मानस महाकाव्य के साथ ही अन्यान्य धर्मशास्त्रों के अनुशीलन, अभिमन्थन की प्रेरणा एवं विधि का बोध प्राप्त हो सका है। मेरे परम सम्मानीय पं० श्रीरामनरेश जी मिश्र और रामायणी जी व्यास, काँवल, ज्ञानपुर वाराणसी निवासी को भी मैं नहीं भूल सकता जिनकी मधुर राम कथा बाल्यकाल में ही अन्तस में प्रसुप्त श्रीराम की पावन पराभक्ति की लालसा को जागृत कर उसकी प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करने में हेतु बनी तथा जिनके सत्संग से तुलसी साहित्य के गम्भीर

अध्ययन एवं उसे आत्मसात करने का दृढ़ संकल्प उदय हुआ। इसके साथ ही मैं उन समस्त तत्त्वद्रष्टा ऋषियों तथा मनीषी विद्वानों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी ज्ञान राशि से स्वयं के अन्तर को आलोकित कर इस कृति को जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करने में सक्षम हो सका हूँ। इस पुस्तक का लेखन कार्य मेरे प्रिय शिष्य नरेश कुमार वडैहरा के यहाँ २७ टाउन सेन्ड रोड़, साउथाल, लंडन में रहकर किया गया। उन दिनों मेरे पास उद्धृत करने के लिए आवश्यक सामग्री के स्रोत रूप ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं थे। गुरुदेव के कृपा प्रसाद से जो कुछ भी स्वभावतः स्मृति पटल पर आता रहा वह लेखबद्ध होता गया। सत्य तो यह कि मुझे भी यह ज्ञात नहीं था कि निबन्ध का कलेवर इस रूप को प्राप्त कर लेगा। यह पूरी साम्रगी केवल दो मास में ही लेखबद्ध हो गई थी। इसके इतने अल्पकाल में पूर्ण होने में मेरे प्रिय शिष्य नरेश कुमार तथा सौभाग्यवती राजरानी वडैहरा की सात्त्विक सेवा ही विशेष कारण रही। उन दम्पत्ति द्वारा प्रदत्त सहज श्रद्धा युक्त सेवा तथा सात्त्विक वातावरण सदैव इस कार्य में निरत रहने में हेतु रहा है। करुणामयी माँ सदैव उन्हें धर्मपथ पर चलने की सामर्थ्य तथा अक्षुण्ण आत्मतृप्ति प्रदान करे, यही मेरी प्रतिपल की आन्तरिक आशीष है।

ईश्वरीय विधान बड़ा ही रहस्यमय है। इसमें अप्रिय लगने वाली घटनायें भी किसी विशेष प्रयोजन को लेकर ही घटित होती हैं। इस पुस्तक की विषय वस्तु के लेखन का प्रारम्भ सती चरित्र से हुआ। जो कुछ लिखा जाता था उसकी समग्र सामग्री क्रमशः भारत भेजता रहा। बाद में ज्ञात हुआ कि सती चरित्र का अंश भाग डाक की अव्यवस्था से प्राप्त नहीं हो सका है। बात अप्रिय थी, इसके पीछे ईश्वरीय विधान कुछ और चाहता था। सती चरित्र के अभाव में मानस महाकाव्य में नारी तत्त्व अपूर्ण ही रह जायेगा ऐसा अनुभव कर उसे पुनः नये सिरे से लिखना प्रारम्भ किया जो कि पहले की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में लिखा गया। शायद यही ईश्वरीय विधान की माँग पूर्ण होनी थी। इसके साथ ही अन्य वर्णित विषयों में भी आवश्यक परिवर्द्धन तथा संशोधन भी किया गया जिससे शताधिक पृष्ठ की सामग्री और बढ़ गई। अतः कई स्थलों पर चाहते हुए भी पुस्तक के कलेवर वृद्धि के भय से विस्तृत विवेचन का प्रलोभन संवरण कर संक्षिप्त व्याख्या में ही सन्तोष करना पड़ा। इस प्रकार सम्पूर्ण सामग्री पुस्तक के रूप में प्रकाशनार्थ दिव्यालोक की सम्पादिका ब्रह्मऋता को सौंप दी गई।

मेरे विचार से लेखन के कार्य में लेखक का बल निमित्त मात्र ही होता है। यह कार्य तो ईश्वरीय प्रेरणा से ही सम्पन्न हुआ करता है। लिखित सामग्री का व्यवस्थित रूप से सम्पादन का कार्य बड़ा ही कठिन होता है। सम्पूर्ण सामग्री को

यथावत् शुद्ध रूप में प्रैस के पेट से बाहर निकालना तथा उसे सजासंवार कर सुन्दर पुस्तक के रूप में सुधीजनों के हाथों में पहुँचाना आसान कार्य नहीं है। मुझे विश्वास है करुणामयी माँ की अनुकम्पा से प्रिय ब्रह्मऋता इस कठिन कार्य को निपुणता के साथ सम्पन्न कर लेगी। मेरे अभिन्न अंग श्री कृष्ण कान्ता, विश्व भारती, चैतन्य ज्योति, दिव्या भारती तथा ब्रह्मऋता के कठोर परिश्रम के परिणाम रूप में यह पुस्तक मातृ शक्ति की सेवा में सादर समर्पित हो सकी है, इन सभी को मैं अक्षुण्ण प्यार युक्त अनन्त आशीर्वाद देता हूँ।

एक बार पुनः अपने गुरुजनों को स्मरण कर कृतज्ञता एवं श्रद्धा सहित उनके पावन चरणों में कोटिशः प्रणाम अर्पित करता हूँ जिनकी कृपा से यह कृति लेखबद्ध हो सकी है। सर्वभूत हित की कामना के साथ करुणामयी के पावन चरणाविंद में स्वयं को समर्पित करते हुए -

विश्वात्मा बावरा

# उमा

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य "श्रीरामचरितमानस" के प्रारंभ में भगवती उमा के दो जन्मों का चरित्र चित्रित किया है। प्रथम जन्म में वे दक्ष कन्या सती के रूप में अवतरित होती हैं और दूसरे जन्म में हिमाचल की पुत्री पार्वती के रूप में। सती का चरित्र नारी समाज के लिए आदर्श नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अपने सर्वस्व तथा सर्वज्ञ पति के प्रति संशय, अविश्वास, कपट, मिथ्या भाषण एवं इसके परिणामस्वरूप कुण्ठा, सन्ताप, ग्लानि, अपमान तथा आत्मदाह से युक्त है किन्तु पार्वती का चरित्र तप, त्याग, प्रेम, सेवा, प्राणेश के प्रति अखण्ड, अविचल आस्था, लोकहित में निरत पावन मति एवं प्रियतम आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति से युक्त होने से नारी मात्र के लिए आदरणीय तथा अनुकरणीय है फिर भी प्रसंगानुसार यहाँ प्रथम सती चरित्र पर ही चिन्तन किया जायेगा।

सती सर्वज्ञ शिव की प्रिया हैं। लोक में जगदम्बिका के रूप में प्रतिष्ठित एवं पूजित हैं तथापि 'सर्वान्तर्यामी पति के इष्ट में आशंका, उनसे दुराव, उनकी सर्वज्ञता को स्वीकारते हुए भी उनके उपदेश में अविश्वास', ये सभी कुछ क्यों हुआ, कैसे हुआ, इस विषय में कुछ भी कहना शक्य नहीं। भगवान् शिव स्वयं भी इस अनहोनी को होते देख विधि की विपरीतता तथा हरि इच्छा स्वीकार कर मौन रह जाते हैं और अन्तर से यह स्वीकार कर लेते हैं कि -

**होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।।**

**(रा० १/५२-७)**

यह स्थिति यद्यपि ईश्वर के लिए अशोभनीय है किन्तु परमेश्वर की इच्छा के सामने ईश्वर भी लाचार हो जाता है। जब मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर थक जाता है और उद्देश्य पूर्ति में सफलता नहीं दीखती तो उसके पास इस महामन्त्र के सिवाय और कोई राहत का अवलम्बन ही नहीं होता। उसका अन्तर पुकार उठता है-

**होइहि सोइ जो राम रचि राखा।**

संशयग्रस्त सती को समझाने में शिव ने कोई कसर न छोड़ी-

**लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु।**

**(रा० १/५१)**

किन्तु परिणाम शून्य रहा। हर इसमें हरि इच्छा को ही हेतु मान सन्तोष कर लेते हैं। सती के इस महामोह का कारण जगत-वन्द्य जगदीश्वर शिव का "जय सच्चिदानन्द जग पावन" कहकर नृप सुत को प्रणाम करना है। बात है भी अटपटी सी। सती का शंकालु हृदय यह स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म नृपतनय होकर नारी विरह से व्याकुल हो असमर्थ जीव की भाँति उसके लिये विलाप कर सकता है।

**ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।**
**सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।।**

**(रा० १/५०)**

जो ब्रह्म सर्वव्यापी, मायातीत, अजन्मा, इच्छारहित, भेदरहित है, जिसे वेद भी नहीं जानते, " नेति-नेति" कहकर उसका संकेत मात्र करते हैं, क्या वह कभी देह धारण कर मनुष्य हो सकता है? सती को अवतार के विषय में कोई आशंका नहीं है। वे जानती हैं कि दुष्टों का दमन तथा सन्तों की रक्षा के लिए भगवान् विष्णु तथा नारायण समय-समय पर अवतार लिया करते हैं किन्तु वे भी सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं फिर वे साधारण से राजकुमार को "जगत् पावन सच्चिदानन्द" कहकर प्रणाम क्यों करेंगे? इसी ऊहापोह में सती निमग्न हैं। भगवान् शिव से पूछ भी नहीं सकती हैं क्योंकि इससे उनकी सर्वज्ञता पर सन्देह प्रकट हो जायेगा। स्थिति बड़ी ही विचित्र उलझनपूर्ण है। इस अपार संशय का निरसन किस प्रकार हो, अन्तर में प्रबोध का प्रादुर्भाव नहीं हो रहा। बुद्धि कुण्ठाग्रस्त हो गई है।

संशय चित्त की उस अवस्था का नाम है जहाँ पर दो कोटि का ज्ञान अपना स्थान जमाये हो और सम्बन्धित विषय का समुचित समाधान न होता हो। यह बौद्धिक स्थिति रजोगुण की वृद्धि का परिणाम होती है -

**अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।**

**(गीता १८/३१)**

ब्रह्म शरीरधारी मनुष्य नहीं हो सकता और सर्वज्ञ शिव असत्य कह नहीं सकते, ये दोनों ही मान्यताएँ समान रूप से सती के हृदय में अपना स्थान जमाए हुये हैं। इसी द्वन्द्व में वे आकुल हो रही हैं। भगवान् शिव अन्तर्यामी हैं। सती के न

कहने पर भी उनके अन्तर की अवस्था को जान जाते हैं और स्नेहयुक्त वाणी में सावधान करते हुए कहते हैं,"जो तुम्हारी यह मान्यता है कि ब्रह्म नर शरीर धारण नहीं कर सकता. यह उचित नहीं है। नारी स्वभाव से ही शंकालु होती है, यह मैं समझता हूँ पर इस प्रकार की शंका तुम्हें कभी भी नहीं करनी चाहिए। परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं तो उसके नर-तनुधारी होने की सामर्थ्य पर अनास्था क्यों की जाए ?"

**जासु कथा कुम्भज रिषि गाई। भगतिं जासु मैं मुनिहि सुनाई।।**
**सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।।**

**(रा० १/५१-७,८)**

जिसकी कथा का कुम्भज ऋषि ने गान किया, जिसकी भक्ति का निरूपण मैंने ऋषि को सुनाया, वे ही मेरे इष्टदेव रघुवीर हैं, जिनकी सेवा सदैव धीर मुनिगण किया करते हैं -

**मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।**
**कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।।**
**सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।**
**अवतरेउ अपने भगत हित निज तन्त्र नित रघुकुलमनी।।**

**(रा० १/५१ छन्द)**

ज्ञानागार मुनि ,योगी और सिद्ध निरन्तर निर्मल चित्त से जिसका ध्यान करते हैं, वेद, पुराण, शास्त्र "नेति-नेति" कहकर नित्य जिसकी कीर्ति गाते हैं, वे सर्वव्यापक ब्रह्म, अनन्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, मायापति, नित्य परम स्वतन्त्र रघुवंशमणि श्रीराम रूप में अपने भक्तों के हितसम्पादनार्थ स्वेच्छा से अवतार लिए हैं। इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप तथा उसके अवतार का हेतु बहुत ही स्पष्ट तथा युक्तियुक्त शब्दों में भगवान् शंकर ने सती को अनेक बार समझाने का प्रयत्न किया किन्तु सती के हृदय को वह उपदेश स्पर्श नहीं कर सका -

**लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु।**
**बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानु जियँ।।**

**(रा० १/ ५१)**

प्रभु की माया बड़ी प्रबल है उसके आगे किसी का कोई वश नहीं चलता। महेश्वर अन्तर में हरि माया की प्रबलता को जानकर मुस्कराते हुये बोले, "यदि तुम्हारे मन में इतना ही संदेह है तो तुम जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेती? मैं यहाँ बट की छाया में बैठा हूँ, तुम जाओ परीक्षा ले आओ। जिस प्रकार से तुम्हारा

यह मोहजन्य भ्रम दूर हो विवेक से विचार कर वही करना। अब सती का सशंय भ्रम में परिणत हो गया है, यह भ्रम मोह की सन्तान है जो तमोगुण से उत्पन्न होता है-

**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।**

**(गीता १८/३२)**

जो सम्पूर्ण अर्थों में विपरीत भाव रखती हो उसे तामसी बुद्धि कहते हैं। 'मुह् वैचित्ये' धातु से मोह शब्द निष्पन्न होता है। चित्त की विपर्यय वृत्ति ही मोह है। इस मोह से ही भ्रम उत्पन्न होता है। जहाँ संशय में दो कोटि का ज्ञान होता है वहां भ्रम में विपरीत ज्ञान। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सती के अन्तर में अब शिव की सर्वज्ञता का कोई स्थान नहीं रहा है। नृपसुत को सच्चिदानन्द कहकर नमन करना सर्वज्ञता नहीं अज्ञता का ही परिचायक है। बिना परीक्षा लिये ही यह मान लेना कि "भूपसुत ब्रह्म हैं,सच्चिदानन्द हैं" अन्तर्विरुद्ध बात होगी। अतः-

**चलीं सती सिव आयसु पाई।**

**(रा० १/ ५२-४)**

प्रश्न है परीक्षा किस प्रकार ली जाये? यह एक गम्भीर समस्या है जिसका सुगमता से कोई समाधान नहीं दीख रहा। बार-बार विचार करने से एक बात ध्यान में आ गई, नृपसुत नारी विरह में व्याकुल हो अबोध की भाँति वृक्ष, लता, गुल्म तथा खग-मृगादि से पूछते जा रहे हैं। इस समय यदि सीता के रूप में उस राह से होकर जाया जाये ते देखते ही वे अधीर होकर दौड़ पड़ेंगे, परीक्षा हो जायेगी। ऐसा निश्चय कर -

**पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि धरि सीता कर रूप।**
**आगे होइ चलि पंथ तेहिं जेहिं आवत नर भूप।।**

**(रा० १/ ५२)**

किन्तु परिणाम में, जो कुछ सोचा था उससे उलटा हुआ। सती को सीता के वेष में देखकर अपनी माया की प्रबलता पर स्वयं ही विमुग्ध हो प्रभु उसकी महिमा का अंतर से बखान करने लगे। सती अब बहुत निकट आ चुकी थी अतः प्रभु विशिष्ट मुद्रा में हँसते हुए हाथ जोड़ कर पिता के नाम के साथ अपने नाम का परिचय देते हुए प्रणाम किये और पूछने लगे-'देवी! इस समय आप यहाँ अकेली किस लिए घूम रहीं हैं? भगवान् वृषभध्वज कहाँ हैं, वृषभ धर्म का प्रतीक है, भगवान् शिव 'वृषभध्वज' अर्थात् 'धर्मध्वज' हैं। धर्म की ध्वजा धारण करने वाले

पति की प्रिया इस प्रकार से अधर्ममय कपट का व्यवहार करे, यह अशोभनीय है, राम के प्रश्न में यही गूढ़ार्थ है।

**राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।**
**सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु।।**

**(रा० १/ ५३)**

**मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यानु राम पर आना।।**
**जाइ उतरु अब देहउँ काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा।।**

**(रा० १/ ५४-१,२)**

सोच और ग्लानि से जब अन्तर संतप्त हो तो विवेक विदा हो जाता है, भय तथा आशंका आकर चारों और से घेर लेते हैं। ऐसी दशा में गलती पर गलती होनी सहज सी बात हो जाती है। श्रीराम ने सती को संतप्त जान अपनी प्रभुता को उनके यथार्थ बोध के लिए प्रकट कर दिया। प्रभु राम के सर्वेश्वर तथा सर्वव्यापी स्वरूप को देख सती व्याकुल हो गई। भगवान् शिव के पूछने पर उत्तर में यथार्थ को छुपाते हुंए कहा-

**कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं।।**

**(रा० १/ ५६-२)**

हे स्वामिन् ! मैंने कोई भी परीक्षा नहीं ली है। आपकी ही भाँति जाकर प्रणाम किया है। भगवान् शिव को सती के उत्तर में असत्य का आभास हुआ अतः उन्होंने ध्यानस्थ होकर घटना का अवलोकन किया। जो कुछ भी सती ने किया था वह अज्ञानजन्य भ्रमवश किया था। जब उन्हें सत्य का दर्शन हो गया तो आकर शिव से क्षमा याचना करते हुए सभी कुछ यथावत् बता देना चाहिए था। ऐसा नहीं हो सका। सन्देह, अविश्वास, अवज्ञा तथा कपट के पश्चात् मिथ्या भाषण से उसे ढकने की कोशिश में एक और महापराध कर बैठी। शिव की सर्वज्ञता का ज्ञान होते हुए भी सती के इस प्रकार मिथ्या भाषण में परमेश्वर की महिमामयी माया की दुरूहता के सिवाय और क्या कहा जाय। शिव ने उस महामाया के समक्ष सिर झुकाते हुए हरि इच्छा की प्रबलता को स्वीकार कर लिया-

**बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा।।**
**हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदयँ बिचारत संभु सुजाना।।**

**(रा० १/ ५६-५,६)**

नारी स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए सती के अब तक के किये हुए सारे

अपराध शंकर की दृष्टि से क्षम्य हैं किन्तु एक जटिल प्रश्न आ उपस्थित हो गया है जिसका समाधान नहीं दीख रहा। सती ने राम की परीक्षा लेने के लिए सीता का वेश धारण किया है अतः वे मातृवत् हो गई हैं, उनसे पत्नीवत् प्रेम नहीं किया जा सकता, यदि किया जाये तो भक्तिमार्ग के विरुद्ध है। किन्तु सती ने जो कुछ भी किया है वह केवल यह जानने के लिए कि राम एक साधारण राजकुमार हैं व सर्वेश्वर के अवतार, इसकी परीक्षा के लिए ही सती ने सीता का वेष धारण किया था। वह समझती थी कि यदि साधारण राजकुमार हुए तो दूर से देखते ही आतुर हो दौड़ पड़ेंगे और यदि सच्चिदानन्द ब्रह्म के अवतार हुए तो मेरे इस मायामय रूप को समझ जायेंगे। इस परीक्षा में सती केवल अपना संदेह ही दूर करना चाहती थी इसके सिवा और उनका कोई प्रयोजन नहीं था। इसीलिए भगवान् शंकर विकट स्थिति में पड़ गए हैं जिसका वर्णन महाकवि इन शब्दों में करते हैं-

**परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु।**
**प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदयँ अधिक संतापु।।**

**(रा० १/ ५६)**

सती की पुनीतता पर आशंका के लिए स्थान नहीं है अतः परम पुनीत प्रिया का त्याग करना उचित नहीं है, पर मातृवेष धारण करने से प्रेम करना भी पाप है। इस द्वन्द्व के सम्बन्ध में प्रकट रूप में तो शिव सती से कुछ भी नहीं कह पा रहे हैं किन्तु हृदय संतप्त हो रहा है। जब समाधान का कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तो इसका निर्णय प्रभु इच्छा पर ही छोड़कर भगवान् शंकर प्रभु का स्मरण करने लगे। जब व्यक्ति अपने प्रयत्न से किसी समस्या को न सुलझा सके तो उसे सर्वभाव से प्रभु के हवाले करते हुए उसके पावन चरणाविंद का समाश्रय लेना ही एक उत्तम उपाय है। अहंजन्य संकल्पशून्य होते ही उस समय जो कुछ अन्तर से स्फुरित होता है वह सर्वनियन्ता का आदेश ही समझना चाहिए और तदनुसार आचरण ही धर्मसम्मत तथा समीचीन होता है। श्रीराम का स्मरण करते ही शंकर के हृदय में यह समाधान स्फुरित हुआ और उन्होंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया-

**एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं।।**

**(रा० १/ ५७-२)**

सर्वदा के लिए सती का त्याग उनके साथ घोर अन्याय था। हाँ, जिस शरीर से उन्होंने सीता का वेष धारण किया था उस शरीर से सती का आलिंगन

उचित नहीं था, अतः 'अब इस शरीर से सती का अलिंगन नहीं होगा।' शिव का यह संकल्प उचित था जिसकी सराहना एवं समर्थन सुन्दर आकाशवाणी ने किया। गगनगिरा को श्रवण कर सती चिंतित हो गयी। उन्हें यह प्रतीत हो गया कि प्राणेश ने अवश्य ही कोई ऐसा प्रण किया है जो सभी के लिए शक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार से जानने की चेष्ठा की किन्तु त्रिपुरारी ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रियतम की गम्भीर मुद्रा से सती ने समझ लिया कि सर्वज्ञ शिव सब कुछ जान गए हैं-

**सतीं हृदयँ अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य।**
**कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य।।**

**(रा० १/ ५७-क)**

इस दोहे की दूसरी पंक्ति में जो भी कुछ कहा गया है वह सती की अंतर ग्लानिजन्य व्यथा से उद्भूत पश्चाताप का ही परिचायक है। सती यह भी अनुभव कर रही है कि-

**कृपासिन्धु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।।**

**(रा० १/ ५८-२)**

अब तक तो जो कुछ भी हुआ था उसमें सती का वैचित्त्य ही कारण था। कृपासागर शिव तो स्वभावतः करुणावश सती को इस विनाश से बचाने का ही प्रयत्न करते रहे और जब सफलता नहीं मिली तो हरि इच्छा स्वीकार कर प्रशांत हो गए। सती के समक्ष अब स्थिति स्पष्ट हो गई थी। कवि के शब्दों में-

**संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदयँ अकुलानी।।**
**निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।।**

**(रा० १/ ५८-३,४)**

'शंकर के रुख को देखकर भवानी ने यह समझ लिया कि प्रभु ने मेरा त्याग कर दिया है, किन्तु इसका कारण प्रियतम शिव की निर्दयता नहीं बल्कि अपना ही अघ है, यह स्मरण कर अन्तर हाहाकार कर उठा। वह सन्ताप की अग्नि से भट्टी के समान दहकने लगा। अब तो 'सहसा करि पाछे पछिताहीं' वाली बात थी। सती का सर्वस्व समाप्त हो चुका था। एक पतिपरायणा नारी का तो पति तथा उसका मधुर प्यार ही सर्वस्व होता है। यदि किसी कारणवश उससे वह वंचित हो जाए तो जीवन में जीने का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। यही दशा सती की भी हो गयी है। सती को शोकाकुल जान भगवान शिव सुन्दर कथा सुनाने लगे जिससे

उन्हें कुछ सांत्वना मिले। अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करते हुए विश्वेश्वर सती के साथ अपने दिव्य धाम कैलाश जा पहुँचे। अब आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा, विहार के दिन समाप्त हो चुके थे। गृहस्थाश्रम का सर्वस्व छिन्न-भिन्न हो चुका था। अपनी प्रतिज्ञा को ध्यान में रखते हुए भगवान् शिव अपने विश्रामस्थलीय वट वृक्ष की छाया के नीचे पद्मासनासीन होकर स्वस्वरूप को सम्भाल अखण्ड समाधि में स्थित हो गये। संतप्त हृदया सती के अपार दुःख का कहीं पार नहीं दिखाई दे रहा था। वही कैलाश है जहाँ पर प्रियतम के साथ आमोद-प्रमोद तथा 'तत्त्व विज्ञान' की मीमांसा के श्रवण- मनन में समय का भान ही नहीं होता था, जहाँ पर आनन्दघन अमृतरस की अनवरत वृष्टि करते रहते थे, अब वहाँ पर भी चारों तरफ अगम शून्य के सिवा कुछ भी नहीं दिखता था। सती की दशा बड़ी ही दयनीय हो गयी थी। अब उन्हें जीने का कोई प्रयोजन नहीं दिख रहा था। उनकी अन्तर्दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं-

**सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं।**
**मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं।।**

**(रा० १/ ५८)**

**नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहउँ दुख सागर पारा।।**
**मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पतिबचनु मृषा करि जाना।।**
**सो फलु मोहि बिधाताँ दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा।।**
**अब बिधि अस बूझिअ नहिं तोही। संकर बिमुख जिआवसि मोही।।**

**(रा० १/ ५९-१ से ४)**

सती के अन्तर्व्यथा का कहीं पर पारावार नहीं है। उनका दुःख अपार सागरवत् है। इस दुःख का अन्त किस प्रकार हो सकता है उसके लिए कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा है। प्रियतम के इष्टदेव का अपमान, उसके कथन में मिथ्या की धारणा, फिर 'मिथ्या भाषण', इन सम्पूर्ण कृत्यों को सोचकर सती को स्वयं से ही घृणा हो जाती है। इतने बड़े अपराधों पर भी शंकर का कुछ भी न कहते हुए प्रशांत मौन रहना और प्रकारान्तर से विविध प्रकार के उपाख्यानों द्वारा सती के संतप्त हृदय को शीतलत्व प्रदान करने के लिए प्रयत्न करना, यह सब उनकी अगाध करुणा का ही परिचायक है। अपराधी सेवक के अपराध पर यदि स्वामी द्वारा कुछ कह दिया जाए तो उसे संतोष हो जाता है। डाँट-फटकार मिल जाये तो एक प्रकार से उसका प्रायश्चित भी हो जाता है किन्तु यहाँ तो कृपा सागर शिव ने

प्रत्यक्ष में तो यह भी नहीं बताया कि वे सती के सम्पूर्ण कृत्य को जान गये हैं। सती के अन्तर में शिव के क़रुणा वश प्रकट रूप में कुछ न कहने का अत्यधिक क्षोभ है। ऐसी दशा में अब वे जीवित रहना नहीं चाहती। अन्तर सुलग रहा है पर इस प्रकार तो शरीरान्त नहीं होता! विधाता से यही अन्तर प्रार्थना है कि अब शंकर विमुख जीवन से मृत्यु ही श्रेयस्कर है। किसी भी प्रकार से इस शरीर का अन्त हो जाये यही दीन दयालु से दया की याचना है-

**जौं मोरें सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू।।**

**(रा० १/ ५९-८)**

**तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करउ सो बेगि उपाइ।**
**होइ मरनु जेहिं बिंनहि श्रम दुसह विपत्ति बिहाइ।।**

**(रा० १/ ५९-८)**

**एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी।अकथनीय दारुन दुखु भारी।।**

**(रा० १/ ६०-१)**

'सती को शिव के चरणार्विंद में अपनी अनन्य निष्ठा पर अटल विश्वास है। मन से, कर्म से वे शंकर की समर्पिता हैं। समदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर से प्रार्थना है कि यदि मेरा अन्तर सर्वभाव से शिव चरणार्विंद में ही अनुरक्त हो तो सर्वसमर्थ प्रभु कोई ऐसी व्यवस्था कर दें जिससे मेरी इस असहनीय विपत्ति का विहान हो जाये'। सती शिव की प्रिया तथा प्रजेश दक्ष की पुत्री हैं किन्तु अपनी ही अज्ञानता से स्वयं के लिए अकथनीय दारुण दुःख को आमंत्रित कर लिया। विधाता का यह कैसा विचित्र विधान है ! इससे यह ज्ञात होता है कि विश्व का सम्पूर्ण वैभव किसी सन्तप्त हृदय को शीतलता प्रदान नहीं कर सकता। व्यक्ति के दुःख-सुख का आधार बाह्य नहीं अन्तर की ही अवस्था हुआ करती है जो कि कुछ नैष्ठिक मूल्यों पर प्रतिष्ठित होती हैं। व्यक्ति अज्ञानजन्य भ्रमवश जब उन नैष्ठिक मूल्यों की अवहेलना कर देता है तो वह आधारहीन हो एकाएक स्वयं को शून्य में पाकर अधीर हो जाता है। उस अवस्था में सर्वभाव शून्यं जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक मूल्यवान् प्रतीत होने लगती है। तब वह जीवन की नहीं मृत्यु की आकांक्षा से आतुर हो उसकी प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है क्योंकि नैष्ठिक मूल्यों के अभाव में स्वयं का जीवन स्वयं के लिए ही भार बन जाता है। नैष्ठिक मूल्यों के प्रति अगाध श्रद्धा एवं अटल विश्वास ही जीवन अभीप्सु की सरसता एवं सफलता का एकमात्र आधार है। अतः पूर्ण सजगता के साथ उसकी सँभाल करनी चाहिए। सती की इस

दयनीय दशा का कारण नैष्ठिक मूल्यों के प्रति असावधानी तथा तद्जन्य भ्रान्त धारणा के सिवा और क्या कहा जा सकता है। आर्तिहर्ता प्रभु ने पुकार सुन ली। भगवान् शंकर की समाधि खुल गई। श्रीराम नाम का सुमिरन सुनकर सती ने जाकर चरण वन्दना की। पुरारी ने उन्हें बैठने के लिए अपने सामने आसन दिया। अब वे शिव के वामभाग में बैठने का अधिकार खो चुकी हैं। उस समय की उनकी अन्तर पीड़ा का अनुमान कौन लगा सकता है? सती की अन्तर् दशा को सर्वज्ञ शिव जानते हैं अतः 'समन पाप संताप सोक के' जो श्री हरि के पावन चरित्र हैं शिवा की अन्तर शान्ति के लिए शिव उनका वर्णन करने लगे-

**लगे कहन हरिकथा रसाला।**

दैवी विधान बड़ा ही रहस्यमय है उसे भला कौन जान सकता है? अब सती के सन्ताप का अन्त निकट आ गया था।

**जैसी हो भवितब्यता तैसेइ मिलइ सहाय।**

वाली युक्ति चरितार्थ हो गई। सुर-सुन्दरियों के कल गान से गगन गूँज रहा था। सती ने देखा देवगण अपनी शक्तियों के साथ विमान आरुढ़ हो कहीं जा रहे हैं। इस कौतुक को देख भगवान् शंकर से पूछ लिया। शिव ने दक्ष के प्रजापति होने तथा उसी गर्व में यज्ञानुष्ठान करने की कहानी सुनाई। पिता के घर में यज्ञोत्सव हो रहा है यह जान सती ने सकुचाते हुए प्राणेश से प्रार्थना की-

**पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ।**
**तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ।।**

**(रा० १/ ६१)**

पिता के यहाँ यज्ञोत्सव हो रहा है यदि प्रभु आज्ञा दें तो मैं भी उसे जाकर देख आऊँ। इस यज्ञ में शिव आमन्त्रित नहीं थे। अहंकारी दक्ष ने उन्हें अपमानित करने के लिए ही इस यज्ञ का आयोजन किया था, सती की प्रार्थना सुनकर शिव ने सारी स्थिति समझा दी। साथ में यह भी कहा कि यद्यपि मित्र, स्वामी, पिता तथा गुरु के घर बिना आमन्त्रण के भी जाना चाहिए, इसमें संदेह नहीं किन्तु जहाँ कोई विरोध मानता हो उसके यहाँ जाने से कल्याण नहीं होता चाहे वह जो भी हो। यदि तुम बिना बुलाये जाती हो तो मेरे विचार से भला नहीं होगा। होनहार बलवान है वह होकर ही रहता है। अनेकों बार शिव समझाते रहे किन्तु सती के समझ में नहीं आई। हृदय को कुछ काल के लिए ही छाया मिल जाये इसी आशा से सती पिता के उत्सव में जाने के लिए आतुर थी। पति परित्याग की पीड़ा असह्य थी। सम्मुख

रहकर उसमें अधिक वृद्धि ही हो रही थी इसलिए उस वातावरण से दूर जाने में सती को कुछ राहत दीखती थी अतः वे अपने जाने के हठ पर ही अड़ी रही। जब शंकर जी ने देखा कि समझाना व्यर्थ है तब गणों के साथ सती को विदा कर दिया। जिस अवज्ञा के परिणाम में अमित संताप से पीड़ित थी, सती ने हठवशात् पुनः वही अवज्ञा की। इसे विधि की विडम्बना के सिवा और क्या कहा जाये ?

भवानी जब पिता के भवन पहुँची तो दक्ष के भय से किसी ने उनका सम्मान नहीं किया। केवल माता ही आदर के साथ आकर मिली बाकी सभी उपहास की मुद्रा में ही देखते रहे। प्रभुता के मद में मदान्ध हुए दक्ष ने सती का कुशल समाचार तक नहीं पूछा बल्कि क्रोध से उसका शरीर संतप्त हो गया। सती ने यज्ञ मण्डप में जाकर देखा जहाँ पर सभी देवों के यज्ञ भाग थे वहाँ उन्हें शिव के लिए यज्ञ भाग कहीं दिखाई नहीं दिया। सती की उस समय की अन्तर् दशा का वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा -

**तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ।।**
**पाछिल दुखु न हृदयँ अस ब्यापा। जस यह भयउ महा परितापा।।**
**(रा० १/ ६३-५,६)**

यह लोकोक्ति सत्य है कि चोट पर ही चोट लगती है। जिस संताप से राहत की चाह लेकर सती यहाँ आई थी उसमें और भी वृद्धि हो गई थी। पिछला दुःख अन्तर में इतना व्याप्त नहीं था जितना यह महापरितापजन्य दुःख हो गया। अब भगवान् शिव की सीख याद आई पर "समय चूकि पुनि का पछिताने" वाली बात थी। सती को यह अनुमान नहीं था कि पति परित्याग से भी अधिक दुःख का हेतु इस संसार में और कुछ हो सकता है। अपने अज्ञानजन्य अपराध की अंतर्ग्लानि से भी अधिक आराध्य के अपमान की पीड़ा हुआ करती है। इस सत्य का भान सती को यज्ञमण्डप आकर हुआ था। प्राणेश के अपमान की पीड़ा असह्य थी। उनका अन्तर चीत्कार उठा। 'देव समाज में महादेव का अपमान' यह अक्षम्य अपराध है।

**जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना।।**
**समुझि सो सतीहि भयउ अति क्रोधा। बहु बिधि जननीं कीन्ह प्रबोधा।।**
**(रा० १/ ६३-७,८)**

सती की अन्तर क्रोधाग्नि प्रचण्ड हो उठी। माता ने शान्त करने की कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ रहा।

**सिव अपमानु न जाइ सहि हृदयँ न होइ प्रबोध।**
**सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध।।**

**(रा० १/ ६३)**

शिव का अपमान असह्य था अतः सती के हृदय में कोई भी ज्ञान की बात नहीं बैठी । हठात् सम्पूर्ण सभा को डाँटते हुए क्रुद्ध होकर कहने लगी-

**सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर निन्दा।।**
**सो फलु तुरत लहब सब काहूँ। भली भाँति पछिताब पिताहूँ।।**
**काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूदि न त चलिअ पराई।।**

**(रा० १/ ६४-१ से ३)**

हे सभासदो! मुनीश्वरो! सुनो! जिन लोगों ने कल्याणकर्ता भगवान् शंकर की निन्दा की है वा सुनी है वे सभी उसका परिणाम तुरन्त ही प्राप्त करेंगे और पिता दक्ष भी भली-भाँति पश्चाताप करेंगे। सन्त, शम्भु तथा श्रीपति भगवान् विष्णु की निन्दा जहाँ भी कोई करता हो वहाँ शास्त्र की ऐसी मर्यादा है कि यदि अपने में सामर्थ्य हो तो निन्दा करने वाले की जीभ काट ले और यदि सामर्थ्य न हो तो कान बन्द करके वहाँ से भाग जाये।

**जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी।।**
**पिता मन्दमति निन्दत तेही। दच्छ सुक्र सम्भव यह देही।।**
**तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चन्द्रमौलि वृषकेतु।।**

**(रा० १/ ६४-५ से ८)**

'त्रिपुर सूदन महेश्वर जगत् की आत्मा है। वे ही जगत् के जन्मदाता तथा सभी के हितकारी सुहृद हैं। मन्दमति पिता उनकी निन्दा करता है। मेरा यह शरीर शिवनिन्दक दक्ष शुक्र से ही सम्भूत है अतः अब मैं पतित-जन्य शरीर को धारण करना नहीं चाहती इसलिए हृदय में वृषकेतु चन्द्रमौलि भगवान् शिव को धारण कर तुरन्त ही इस शरीर का त्याग कर दूँगी' इतना कहते हुए सती ने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया और इस भयानक घटना से सम्पूर्ण यज्ञ मण्डप में हाहाकार मच गया। सती के जीवन की यह लीला समाप्त हो गई। यद्यपि वे शिव से परित्यक्त थी फिर भी उनके अन्तर में शिव तथा उनकी अनन्त महिमा ही शाश्वत रूप में विराजित रही। प्रियतम के अपमान-जन्य प्रचण्ड अन्तर ज्वाला को शान्त करने के लिए उनकी दृष्टि में योगाग्नि में स्वयं को आहुत करने के सिवा और कोई अन्य उपाय नहीं था। गीता में प्रभु ने कहा है

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।

(गीता ४/४०)

अज्ञ तथा श्रद्धाहीन संशययुक्त व्यक्ति का विनाश हो जाता है। सती के समग्र वृत्त का अध्ययन करते हुए बरबस गीता की यह अर्धाली याद आ जाती है। दुःखार्णव की दिशा में सती की यात्रा इस पड़ाव से ही मुड़ी थी। संशय, अविश्वास, भ्रम,कपट, मिथ्याभाषण, सन्ताप, अवज्ञा, परिताप आदि अवस्थाओं से होते हुए आखिर में आत्मदाह में ही उनके जीवन का अन्त होता है। ये सम्पूर्ण अनहोनी घटनायें सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वेश्वर शिव के समक्ष ही होती रही हैं। उनको रोकने के लिए वे विविध प्रकार के प्रयत्न भी करते रहे हैं; फिर भी वह सब कुछ होता रहा है जो सुनकर अप्रिय को भी अप्रिय लगता है। भगवान् शिव तो 'हरि इच्छा भावी बलवाना' स्वीकार कर शान्त हो जाते हैं किन्तु शिवाश्रित जीवनयापन करने वाला जीव अपने सर्वसमर्थ इष्टदेव की असमर्थता को किस प्रकार स्वीकार कर सकता है। ऐसी स्थिति में फिर उसके जीवन का आधार ही क्या रह जायेगा? हरि और हर अभिन्न हैं। हरि की माया यदि प्रबल है तो हर की माया को निर्बल नहीं कहा जा सकता इसीलिए महाकवि ने कहा है-

भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।

त्रिपुरारी सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। प्रश्न वहीं आकर फिर खड़ा हो जाता है कि सती की इस गति मे फिर कारण क्या रहा है? इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा जाता है कि ईश्वरीय लीलाएँ लोक शिक्षण के लिए हुआ करती हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो महामाया चेतना रूपा, विद्यारूपा, बुद्धिरूपा और कान्तिरूपा है, वहीं महामाया छायारूपा,निद्रारूपा तथा भ्रान्तिरूपा भी है। इस प्रसंग से हमें यह शिक्षा मिलती है कि अविश्वास तथा कपटमय व्यवहार नहीं करना चाहिये, इसमें हमारा हित है। शाश्वत सनातन धर्म की पुनर्जन्म में अविचल आस्था अन्ध मान्यता नहीं, वह अनन्त काल की अमित अनुभूतियों का परिणाम है। गीता का यह अटल सिद्धान्त है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

(गीता ८/६)

प्रभु कहते हैं 'हे अर्जुन ! अन्त काल में जिस-जिस भाव से मनुष्य शरीर को त्यागता है सदैव उस भाव से भावित होने से वह उसको ही प्राप्त होता है।'

शरीरान्त के समय व्यक्ति की जो भावना होती है उसके अनुसार ही उसे आगे का जीवन प्राप्त होता है। रामचरितमानस में महाकवि ने इस शाश्वत सिद्धान्त की घोषणा भगवती उमा के चरित्र चित्रण में की है। दक्षयज्ञ में योगाग्नि में स्वयं को आहुत करते हुए सती ने श्री हरि से जन्म-जन्मांतरों तक करुणा के परम अगाध सागर भगवान् शिव के पतित पावन चरणारविन्दों में अनुराग प्राप्त करने की प्रार्थना की थी, उसके फ़लस्वरूप वे गिरीराज हिमाचल के यहाँ पुत्री रूप में जाकर अवतरित होती हैं-

**सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा।।**
**तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं पारबती तनु पाई।।**

**(रा० १/६५-५,६)**

दाक्षायणी सती ही पार्वती के रूप में अवतरित हुई हैं। इस रहस्य का उद्घाटन मानस में अनेकों बार किया गया है। ब्रह्मा का देवताओं के प्रति कथन-

**सतीं जो तजी दच्छ मख देहा। जनमी जाइ हिमाचल गेहा।।**

**(रा० १/८३-२)**

एवं नारद का मैना के प्रति कथन -

**मयना सत्य सुनहु मम बानी। ज़गदम्बा तव सुता भवानी।।**
**जनमी प्रथम दच्छ गृह जाई। नामु सती सुन्दर तनु पाई।।**
**तहँहुँ सती संकरहि बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं।।**

**(रा० १/९८-२,५,६)**

**सिय बेषु सतीं जो कीन्ह तेहिं अपराध संकर परिहरीं।**
**हर बिरहँ जाइ बहोरि पितु के जग्य जोगानल जरीं।।**
**अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया।**
**अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकर प्रिया।।**

**(रा० १/९८-छंद)**

पार्वती स्वयं जिज्ञासा प्रकट करते हुए शिव से कहती हैं-

**मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई।।**
**तदपि मलिन मन बोधु न आवा। सो फ़लु भली भाँति हम पावा।।**
**प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा।।**

**(रा० १/१०९-३,४,६)**

अपनी आन्तरिक अभिलाषा को प्रकट करती हुई प्रार्थना करती हैं

तब कर अस बिमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं।।
(रा० १/१०९-७ )

भगवान् शिव पार्वती को सच्चिदानन्द ब्रह्म के अवतार ग्रहण करने की कथा सुनाते हुए कहते हैं-

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी।।
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा।।
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बन्धु समेत धरें मुनिबेषा।।
जासु चरित अबलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी।।
(रा० १/१४१-१ से ४ )

यही बात त्रिपुरारी ने उत्तरकाण्ड में कही है-

प्रथम दच्छ गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा।।
(रा० ७/५६-२ )

इन सम्पूर्ण उद्धरणों का सारांश यह है कि शिव की अभिन्नाशक्ति शिवा दाक्षायणी सती ने ही गिरिराज हिमाचल की पुत्री के रूप में प्रकट हो पार्वती नाम धारण किया है। वे-

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।।
(रा० १/९८-३)

उनके जन्म में कर्म नहीं करुणा ही कारण है। वे 'निज इच्छा लीला बपु धारिनि' अर्थात् स्व-इच्छानुसार लीलामय शरीर धारण कर जीवकल्याणार्थ अवतरित हुआ करती हैं। उनका प्रथम अवतार सती रूप में दक्ष के यहाँ हुआ था। अब वे ही गिरिजा रूप में गिरिराज गृह में अवतरित हुई हैं अतः गिरिजा का चरित्र मानवीय धरातल से बहुत ऊँचा है।' गोस्वामी जी ने उमा चरित्र का मानवीय नहीं दैवी चरित्र के रूप में ही चित्रण किया है। पार्वती का जन्म, उसका हिमाचल राजा पर प्रभाव, नारद द्वारा उमा के भविष्य का वर्णन तथा शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए तप की सलाह, उमा को पंचाक्षरी विद्या की दीक्षा, उमा का मुनि मन अगम कठोर तप, तप की सफलता की सिद्धि के लिए ब्रह्म वाणी, शैलजा को पत्नी रूप में वरण करने के लिए प्रभु श्रीराम की शिव से विनय, भक्तवत्सल शिव की स्वीकृति, सप्तर्षियों द्वारा पार्वती के प्रेम की परीक्षा, पार्वती की अपने आराध्य के प्रति अनन्य निष्ठा, अगाध भक्ति तथा गुरुदेव नारद के वचनों पर अडिग आस्था की अभिव्यक्ति, काम दहन के पश्चात् पुनः सप्त ऋषियों का

परीक्षार्थ पार्वती से शिव की अकामता का वर्णन तथा उमा की निष्काम शिव आराधना के प्रति अपनी अखण्ड आस्था अवबोधन, विवाहोत्सव के अवसर पर शिव के विकट रुद्र रूप को देखकर भयभीत मैना का विलाप तथा पार्वती की धैर्ययुक्त मधुर शब्दों में माता को सान्त्वना, देवर्षि नारद द्वारा गिरिजा की महिमा का वर्णन तथा उनके पूर्वजन्म के चरित्र का गान और गिरिराजगृह में अवतरित होने के हेतु का कथन, हिमवान् तथा मैना का मोह मुक्त हो प्रमुदित हृदय, उमा शिव का आराधन, शिव-उमा विवाह, कैलाश विहार,कार्तिकेय का अवतरण, तारकासुर वध, इस प्रकार संक्षिप्त रूप में महाकवि ने अपने महाकाव्य के प्रारम्भ में ही काव्य-नायक श्रीराम के परम प्रिय तथा आराध्य शिवचरित के चित्रण में भगवती शिवा के पावन चरित्र का गान किया है। मानस के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि काव्य के नायक राम काल, कर्म, स्वभाव, गुणजन्य भव चक्र में भ्रमण करने वाले जीव नहीं अपितु जीवों पर करुणा करके उनके उद्धारार्थ मानव रूप में अवतरित परमात्मा हैं फिर भी उनका चरित्र ईश्वर चरित्र नहीं मानव चरित्र है। वह मानवीय धरातल को स्पर्श करते हुए मानव जाति के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है, किन्तु शिव चरित्र के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। शिव परमात्मा की मानवीय नहीं दैवी अभिव्यक्ति हैं। वे मानवीय धरातल से सर्वथा असम्पृक्त हैं। महाकवि की दृष्टि में शिव और शिवा जगत् के आदि कारण हैं। वे जीवमात्र के जनक जननी हैं-

**जगत मातु पितु संभु भवानी।**

दीनबन्धु शाश्वत दानदाता महेश्वर और उमा कवि के माता-पिता एवं गुरु हैं अतः वह अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए उनकी अनन्त महिमा युक्त दिव्य लीला का गान करता है -

**गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी।।**

**(रा० १/१५-२ )**

इसमें संदेह नहीं कि उमा चरित्र मानवीय नहीं दैवी चरित्र है फिर वह नारी जगत् के लिए आराध्य एवं कुछ अंशों में अनुकरणीय आदर्श भी है। मानव जाति के लिए वेद का संदेश है-

**देवाभागं यथा पूर्वे संजानानामुपासते।**

इसके भावार्थ को स्पष्ट करते हुए ब्राह्मण वाक्य है-

**यद्देवा अकुर्वन् तत्करवाणि।**

अर्थात् जिस प्रकार से देवगण करते आए हैं वैसा ही तुम्हें करना चाहिए। मानव के लिए मानव नहीं देव ही आदर्श है। वेद के इस आदेश को समझने के लिए हमें सृष्टि क्रम में मानव जीवन की स्थिति तथा उसके प्रयोजन को समझना होगा तभी यथार्थ रूप से यह रहस्य ज्ञात हो सकेगा अन्यथा अविपश्चित् मानव मस्तिष्क के लिए यह ग्राह्य होना सम्भव न हो सकेगा कि ठोस धरती पर रहने वाले मानव का आदर्श दिव्याकाश में रहने वाले देव हैं। वैदिक तत्त्व विज्ञान में जैवी सृष्टि के चौदह सर्ग अर्थात् स्तर बताए गये हैं-

**चतुर्दशविधःभूतसर्गः।**

**(सां तत्त्व समास-१८)**

सांख्य कारिका में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

**अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।**
**मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्ग।।**

**(सां का० ५३)**

आठ प्रकार की दैवी सृष्टि है,पाँच प्रकार की तिर्यक् योनियों की है और एक प्रकार की मानवीय सृष्टि है। इस प्रकार से कुल मिलाकर चौदह सर्ग अर्थात् संक्षेपतः प्राणियों की सृष्टि है। इनमें-

**ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः ।**
**मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।।**

**(सां का० ५४)**

ऊपर की अर्थात् दैवी सृष्टि सत्त्व प्रधान है, नीचे की तिर्यक सृष्टि तम प्रधान और मध्य की मानवी सृष्टि रज़ प्रधान है। यही ब्रह्मा से लेकर शैवाल तक सृष्टि अर्थात् भूतसर्ग है। इस विवरण से यह बात समझ में आ जाती है कि मनुष्य न तो सत्तप्रधान है न तमप्रधान, उसकी स्थिति रज प्रधान है। पौराणिक भाषा में मनुष्य से नीचे के तमप्रधान जीवन नारकीय जीवन हैं और उसके ऊपर के सत्तप्रधान स्वर्गीय। नरक दुःख रूप है और स्वर्ग सुखमय।

वैदिक विज्ञान सृष्टिक्रम का अवतरण के रूप में प्रतिपादन करता है। अवतरण का अभिप्राय होता है ऊपर से नीचे उतरना अथवा सूक्ष्म से स्थूलता को प्राप्त होना। वर्तमान का वैज्ञानिक भी सृष्टि सम्बन्ध में धीरे-धीरें इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहा है। वैदिक भाषा में सृष्टि क्रम के अवतरण के चौदह स्तर हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:- "ब्राह्म, प्राजापत्य,ऐन्द्र,सौम्य,(इसे पैत्र भी कहते है) गान्धर्व, याक्ष,

राक्षस, पैशाच, मानव, पशु, पक्षी, सरीसृप, कृमि तथा स्थावर। ये सभी क्रमशः प्रथम से द्वितीय निम्न स्तरीय हैं। इस सृष्टि क्रम में मनुष्य का नवम् स्थान है। रजोगुण प्रधान होने से उसमें कर्म की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। कर्मानुसार वह स्वयं को उत्थान की दिशा में ले जा सकता है और क्रमशः विकास करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है। कर्मानुसार ही वह पतित हो स्थावर की स्थिति को भी प्राप्त हो सकता है। यह सर्वमान्य सत्य है कि कर्म का अधार भाव है और भाव का अधार विचार। उपनिषद का कथन है- यह पुरुष संकल्पमय है। संकल्प ही सदैव कर्म में कारण होता है किन्तु वह संकल्प ज्ञान का अनुवर्ती है। गीता में भी भगवान् ने कहा है-

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**

**(गीता १७/३)**

यह पुरुष श्रद्धामय है अतः जो जैसी श्रद्धावाला है वह वही है। उसी श्लोक में, 'श्रद्धा का आधार 'सत्त्व' अर्थात् बुद्धि है' ऐसा कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि बोध ही मानवीय क्रियाक्लाप का निर्देशक है, इसीलिए मानव को देवोपासना द्वारा दैवी बुद्धि प्राप्त करने का वेद आदेश देता है। यह सत्य है कि आदर्श के अभाव में मानव उत्कर्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानव के आदर्श उससे निम्न अवस्था को प्राप्त हुए पशु आदि योनियों में रहने वाले जीव नहीं हो सकते। मानव भी स्वयं मानव के लिए आदर्श नहीं बन सकता। कारण कि रजप्रधान होने से सभी मानव समानधर्मा ही होते हैं। अतः देव ही मानव के लिए आदर्श है। उनका अनुवर्ती होकर ही मानव स्वर्गादि सुख को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। इसी में 'यद्देवा अकुर्वन् तत्करवाणि' आदि वैदिक उपदेशों की सार्थकता है। देव ही नहीं वह परम देव भी करुणावशात् जीवों के कल्याणार्थ अवतरित हो विविध प्रकार की लीलाओं द्वारा मानव को दिव्यता की दिशा में आरोहण करने की सीख देता है। यद्यपि अवतार के जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य होते हैं फिर भी उसकी लीला का प्रयोजन धरातल पर रहने वाले जीवों के उत्थान में सहयोगी होना, उनको दिव्यता की ओर आकर्षित करना तथा वात्सल्य हृदया माता के समान इन्हें दिव्य शक्ति के सहारे खड़ा कर उन्नति की दिशा में अग्रसर करना ही होता है। ऋषिप्रज्ञाप्रसूत वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से हमें इसी यथार्थ का बोध होता है।



**रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्।**

आदि नीति वाक्यों का भी यही अभिप्राय है। संक्षेप में उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देव ही मनुष्य के लिए आदर्श है, इसमें संदेह नहीं। भगवती उमा शिव की अभिन्ना पराशक्ति हैं फिर भी वे हिमाचल के यहाँ अवतरित होकर शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए घोरतम तपस्या करती हैं। साधन में सफलता का आधार होता है साध्य तथा साधन के प्रति अविचल आस्था। गिरिजा की इस अविचल आस्था का दर्शन हमें उस समय होता है जब सप्तर्षि परीक्षा लेने उनकी तपस्थली पर जाते हैं। महाकवि के शब्दों में-

**रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी।।**

**(रा० १/७८-१)**

तपस्या की साकार मूर्ति के रूप में सप्त ऋषियों ने गौरी को वहाँ पर विराजित देखा और प्रश्न भरे शब्दों में पूछा,"शैलजे ! किसलिए तुम इतना घोर तप कर रही हो ?

**केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरमु किन कहहू।।**

**(रा० १/७८-३)**

तुम किसकी आराधना कर रही हो ? क्या चाहती हो ? अपने अन्तर्भाव को हमसे सत्य क्यों नहीं बताती ?" शैलजा की तपस्या सफल हो चुकी है। उनकी अभीष्ट सिद्धि का संदेश उन्हें ब्रह्मवाणी द्वारा प्राप्त हो गया है-

**भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।**
**परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।।**

**(रा० १/७४)**

हे गिरिराज कुमारि! सुनों, तुम्हारा मनोरथ सफल हो गया है। अब तुम सम्पूर्ण असह्य क्लेशों का त्याग कर दो। त्रिपुरारी तुम्हें पति रूप में प्राप्त होंगे। इस आश्वासन के साथ ही उनकी कठोर साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की गई है-

**अस तपु काहुँ न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ग्यानी।।**
**अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी।।**

**(रा० १/७५-१,२)**

अब तक अनेकों धैर्यवान् ज्ञानी मुनि हो गए हैं किन्तु हे भवानी! तुम्हारे जैसा कठोर तप किसी ने भी नहीं किया है। इस श्रेष्ठ ब्रह्मवाणी को सदैव सत्य तथा नित्य पवित्र समझकर हृदय में धारण करो। ब्रह्मवाणी की सत्यता का प्रमाण सप्तर्षियों के मिलने पर समझ लेना।

**मिलहि तुम्हहि जब सप्त रिषीसा। जानेहु तव प्रमान बागीसा।।**

**(रा० १/७५-४)**

अभिप्राय यह कि सप्तर्षियों का आगमन उस ब्रह्मवाणी की सत्यता का प्रमाण है, जिससे उमा के तप की सफलता की घोषणा हुई है; किन्तु उमा को न तो अपनी कठोर तपस्या का अभिमान है और न उसकी सफलता पर गर्व ही। ऋषियों की बात सुनकर बड़ी ही विनम्रता से उन्हें उत्तर देतीं हैं। अहं कर्त्तृत्व ही साधन में महान् अन्तराय है। वे धन्य हैं जो इससे अछूते रहकर सत्कर्म का अनुष्ठान करते हैं। गौरी तो विनम्रता की साकार मूर्ति हैं अतः उनमें अहं कर्त्तृत्व को स्थान कहाँ ? अपना दैन्य प्रकट करते हुए कहती हैं -

**कहत बचन मनु अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई।।**
**मनु हठ परा न सुनइ सिखावा। चहत बारि परभीति उठावा।।**
**नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना।।**
**देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा।।**

**(रा० १/७८-३ से ८)**

'बात कहते मन सकुचा रहा है क्योंकि आप सभी मेरी जड़ता पर हँसेंगे। पर क्या कहें मन ने अपना ही हठ पकड़ रखा है। किसी की सीख सुनने के लिए तैयार नहीं। वह जल के ऊपर दीवार बनाना चाहता है। असम्भव को सम्भव करना चाहता है। देवर्षि नारद के कथन को सत्य स्वीकार करके बिना पंख के ही मैं आकाश में उड़ना चाहती हूँ। हे मुनिगण! मेरा अविवेक तो देखिए, मैं भगवान् कल्याणकर्ता सदाशिव को पति रूप में प्राप्त करना चाहती हूँ।' भवानी के इस उत्तर में कितनी शालीनता है साध्य आकाशवत् है पर साधन सामर्थ्य सर्वथा अपूर्ण। फिर भी अन्तर में सफलता की आशा का एक मात्र आधार है नारद का कथन। महेश दुराराध्य हैं। उनको प्राप्त करना सरल काम नहीं। वह जल पर भीत उठाने के समान असम्भव सा ही है फिर भी आस्थायुक्त मन उसे सम्भव मानकर उसी में निरत है। वह किसी की सीख सुनने को तैयार नहीं। इन सरल शब्दों में शिवा ने अपने अन्तर की अविचल आस्था का संकेत कर दिया। "आस्था का आधार गुरु वाक्य में निष्ठा है" ऐसा जानकर सप्तर्षियों ने सर्वप्रथम उस निष्ठा को हिलाने के लिए ही बात कही-

**सुनत बचन बिहसे रिषय गिरिसम्भव तव देह।**
**नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह।।**

ऋषियों ने बिहँसते हुए कहा 'भला आज तक नारद की शिक्षा का अनुकरण करके किस का घर बसा है?' प्रजापति दक्ष, चित्रकेतु तथा हिरण्यकश्यप का उदाहरण देते हुए कहा -

**नारद सिख जे सुनहि नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी।।**

**(रा० १/७९-३)**

साधन में सन्देह उत्पन्न होते ही साधक की श्रद्धा, तत्परता, उत्साह सभी कुछ समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में साध्य की प्राप्ति शक्य नहीं होती। साधन में सन्देह तब तक नहीं होता जब तक उसके प्रदाता गुरु में अविश्वास न हो। गुरु की योग्यता, सामर्थ्य, सिद्धि तथा अनुग्रह में अविश्वास होते ही उसके द्वारा प्रदत्त दीक्षा तत्त्व में संदेह उत्पन्न हो जाता है। जो साधक इस रहस्य को जानकर सदैव सावधान रहते हुए गुरु वाक्य में ब्रह्मवाक्य से भी अधिक अविचल आस्था रखता है उसकी साधना की सफलता में विश्व की कोई भी शक्ति व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकती। साधन की सफलता में एक और भी बाधक तत्त्व है, वह है साध्य में किसी प्रकार से न्यूनता की स्वीकृति। साध्य से परे भी कुछ है वा साध्य से भी महान्, श्रेयस्कर, शरण्य वा वरण्य कोई है, इतना स्वीकार करते ही उसके प्रति न्यूनता की स्वीकृति हो जाती है, जो साधक की सफलता में महान् बाधक तत्त्व है। यही कारण है कि विविध देवों से सम्बन्धित जो उपासना के शास्त्र है उनमें तत्सम्बन्धित देवों का ही ब्रह्मरूप में वर्णन किया गया है। उन ग्रंथों में नाम रूप की भिन्नता होते हुए भी साध्य तत्त्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि विभिन्न नामरूपों में आराध्यतत्त्व परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय" है, अखण्ड है, अनन्त है। अभीष्ट सिद्धि के लिए साधक को अपनी साध्य की महिमा का पूर्ण बोध होना अनिवार्य है। आराधना में आराध्य के माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति के अपवाद के लिए अवकाश नहीं है। भगवती उमा अपने आराध्य तथा पथ-प्रदर्शक गुरु दोनों की महिमा से अभिज्ञ हैं। दोनों में अटूट श्रद्धा एवं अविचल आस्था है। सप्तर्षि जो कुछ भी कह रहे हैं उसमें उमा की आस्था की परीक्षा ही प्रयोज्य है-

**नारद कर उपदेसु सुनिं कहहु बसेउ किसु गेह।**

**(रा० १/७८)**

इसी अर्धाली में साधन के प्रति आस्था की परीक्षा है और आगे साध्य के प्रति आस्था की परीक्षा के लिए उसमें अनेकों प्रकार के दोष बताते हुए कहते हैं-

**निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली।।**

**कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ।।**

**(रा० १/७९-६,७)**

गुणहीन, निर्लज्ज, बुरे वेष वाला, नरमुण्डों की माला पहनने वाला, कुलहीन, घरबार रहित, नंगे शरीर पर सर्पों को लपेटे रहनेवाला, ऐसे वर को प्राप्त कर कहो तुम्हें क्या सुख मिलेगा ? नारद तो ठग है। वह तो-

**आपु सरिस सबही चह कीन्हा।**

अपने जैसा ही सबको बनाना चाहता है। तुम उस ठग के बहकावे में आकर खूब भूली हो। इतना ही नहीं आगे कहते हैं शिव की स्थिति का शायद तुम्हें ज्ञान नहीं है-

**पंच कहें सिवँ सती बिबाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही।।**
**अब सुख सोवत सोच नहिं भीखु मागि भव खाहिं।**
**सहज एकाकिन्ह के भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं।।**

**(रा० १/७९)**

पहले पंचों के कहने से शिव ने सती से विवाह किया था बाद में उसे त्याग कर मरवा डाला। अब सुख से सोते हैं और भीख माँग कर खा लेते हैं, उन्हें किसी की चिन्ता नहीं है। ऐसे स्वभावतः एकान्त प्रिय रहने वालों के घर भी क्या कभी स्त्रियाँ टिक सकतीं हैं? यहाँ ऋषियों द्वारा शिव के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है वह यथार्थ है। सम्भावित पति के इस स्वरूप की कल्पना ही नारी के अन्तर को आन्दोलित कर देती है फिर कहीं वह सत्य हो तो उसकी क्या दशा हो सकती है, यह अकल्पनीय है किन्तु गिरिजा तो सर्वदा से ही शिव की प्रिया हैं। वे अपने आराध्य के यथार्थ स्वरूप से सुपरिचित हैं। भला इस प्रकार की बातें उनके अचल मन को चलायमान कैसे कर सकती हैं? शिव के स्थान पर ऋषियों द्वारा सर्वगुण सम्पन्न वर के रूप में श्रीपति पुर बैकुण्ठ निवासी की वरेखी का आश्वासन सुनकर भवानी विहँसती हैं और अपने गुरु तथा आराध्य के प्रति अविचल आस्था को व्यक्त करती हुई उत्तर देती हैं-

**सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा।।**
**कनकउ पुनि पषान तें होई। जारेहुँ सहजु न परिहर सोई।।**
**नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ।।**
**गुर कें बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।।**
**महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।**

जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।।

(रा० १/८०- ५ से ८)

आपने यह सत्य ही कहा है कि गिरिसम्भव यह शरीर है इसलिए अब इस शरीर से ठाना हुआ हठ नहीं छूट सकता शरीर भले ही छूट जाये। स्वर्ण भी पत्थर से ही उत्पन्न होता है किन्तु वह प्रचण्ड अग्नि में जलाये जाने पर भी अपने सहज स्वभाव दीप्तता को नहीं छोड़ता बल्कि तपने से उसमें अधिक निखार आता है, यह वंश का ही प्रभाव है। मैं भी उसी वंश में उत्पन्न हुई हूँ। अतः नारद के बचन को नहीं त्याग सकती। घर चाहे बसे व उखड़ जाये, इसका मुझे भय नहीं है। गुरुदेव के वचन में जिसे विश्वास नहीं है, उसको जागृत अवस्था की तो बात ही दूर रही स्वप्न में भी सुख और सिद्धि सुगम नहीं होती। महादेव अवगुणों के भवन तथा विष्णु सम्पूर्ण सद्‌गुणों के धाम हैं किन्तु उससे मुझे क्या प्रयोजन? जिसका मन जिसमें रम जाये उसको तो उसी से काम होता है। इन शब्दों में भवानी ने सभी कुछ कह दिया। वंश की पवित्रता, निर्विकारिता, गुरु के प्रति अटूट विश्वास तथा 'आराध्य के प्रति अनन्य निष्ठा' ये सभी साधक की उत्कृष्टता के अवबोधक हैं जिसका संकेत पार्वती ने अपने संक्षिप्त उत्तर में कर दिया है। देवर्षि नारद पार्वती के गुरु हैं। उन्हीं ने शिव की प्राप्ति के लिए पार्वती को प्रेरणा तथा पंचाक्षरी विद्या की सविधि दीक्षा दी है। शिवपुराण के रुद्र संहिता पार्वती खण्ड में इसका वर्णन इस प्रकार से है 'शिव को प्राप्त करने के लिए तप ही एक मात्र साधन है।' देवर्षि नारद के द्वारा यह जानकर पार्वती ने विनीत शब्दों में उनसे करबद्ध प्रार्थना करते हुए कहा -

त्वं तु सर्वजगतामुपकारकर प्रभो।
रूद्रस्याराधनार्थाय मन्त्रं देहि मुने हि मे।।
न सिद्धयति क्रिया कापि सर्वेषां सदगुरूं विना।
मया श्रुता पुरा सत्यं श्रुतिरेषा सनातनी।।
इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पार्वत्या मुनिसत्तमः।
पञ्चाक्षरं शंभुमन्त्रं विधिपूर्वकमुपादिशः।।

(शि० रु० संहिता अध्याय २१/३१,३२,३३)

हे प्रभो! आप तो जगत् के समस्त प्राणियों का उपकार करने वाले हैं, मेरा भी हित सम्पादन कीजिए। अब आप ही शिव की आराधना के लिए मुझे मंत्र की दीक्षा प्रदान कीजिए। सद्‌गुरु की प्राप्ति के अभाव में कभी भी कोई साधन की

क्रिया सिद्ध नहीं होती, ऐसा सत्य मैंने सुना है और यही सनातन श्रुति का कथन भी है। इस प्रकार पार्वती के विनीत बचन सुनकर मुनि श्रेष्ठ नारद ने उसे पंचाक्षार शिव मंत्र का उपदेश दिया और कहा-

**श्रृणु देवि मन्त्रराजस्य प्रभावं परमाद्‌भुतं।**
**यस्य श्रवणमात्रेण शंकरः सुप्रसीदति।।**
**मन्त्रोऽयं सर्वमन्त्राणामधिराजश्च कामदः।**
**भक्तिमुक्तिप्रदोऽत्यन्तं शंकरस्य महाप्रियः।।**
**सुभगे येन जप्तेन विधिना सोऽचिराद द्रुतम्।**
**आराधितस्ते प्रत्यक्षो भविष्यति शिवोध्रुवम्।।**

**(शि० पु० २१/३५ से ३७)**

हे देवि ! सुनो ! इस पंचाक्षरी मन्त्रराज का महा अद्‌भुत प्रभाव है। इसके श्रवण मात्र से परमेश्वर शिव प्रसन्न हो जाते हैं। यह मन्त्र सर्व मन्त्रों का अधिपति है। इसमें इच्छित फल तथा भक्ति और मुक्ति प्रदान करने की सामर्थ्य है, भगवान् शंकर को यह अत्यन्त प्रिय है। हे सुभगे! जब तुम भक्ति भावापन्न हो सविधि इसका जाप करोगी तो तुम्हारी आराधना से बहुत ही शीघ्र भगवान् शिव प्रसन्न होकर प्रकट हो जायेंगे, यह ध्रुव सत्य है, इसमें सन्देह नहीं। मन्त्र जाप की विधि समझाते हुए देवर्षि ने कहा-

**चिन्तयंती च तद्रूपं नियमस्था शराक्षरं।**
**जपमन्त्रं शिवे ! त्वं हि संतुष्यति शिवो द्रुतम्।।**
**एवं कुरू तपः साध्वि तपः साध्यो महेश्वरः।**
**तपस्यैव फलं सर्वैः प्राप्यते नान्यथा क्वचित्।।**

**(शि० पु० २१/३८,३९)**

हे शिवे ! नियमपूर्वक शिव के परस्वरूप का चिन्तन करती हुई इस मन्त्र का जाप करो। जप से शीघ्र ही शिव तुम पर संतुष्ट हो जायेंगे, यह निश्चित है। हे साध्वी ! महेश्वर तपस्या से ही साध्य हैं और लोक में सभी श्रेष्ठ फल तपस्या से ही प्राप्त होते हैं। तप का प्रभाव ध्रुव है इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है। पार्वती अपने गुरुदेव के इन्हीं वचनों पर अटल है और-

**नारद वचन न मैं परिहरऊँ।**

घोषणा करती है। वे जानती हैं कि गुरु के वचनों में अविश्वास करने वाला कभी भी सुख तथा सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है। गुरुदेव तथा उनके

उपदेश के प्रति अपनी अखण्ड श्रद्धा को व्यक्त करती हुई सप्तर्षियों से कहती हैं-

**तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सतबार महेसू।।**

**(रा० १/८१-६)**

आपकी तो बात क्या है यदि स्वयं महेश्वर आकर एक नहीं सौ बार कहें तो भी मैं नारद के उपदेश का त्याग नहीं कर सकती। कितनी अगाध श्रद्धा है गुरु आज्ञा में भवानी की। यह नारी ही नहीं समस्त सिद्धयार्थी साधकों के लिए अनुकरणीय है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि नारी का पति गुरु होता है, उसे अन्य किसी सद्गुरु की आवश्यकता नहीं है। उन लोगो को शिवपुराण के उपरोक्त उद्धरणों का मनन कर अपनी भ्रान्त धारणा को धो लेना चाहिए। उत्तम अभिष्ट का अभिलाषी स्त्री व पुरुष चाहे जो भी हो उसे सुसिद्धि प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त होने के लिए सद्गुरु की शरण ग्रहण करना ही होगा। गुरुप्रदत्त साधना में अटल आस्था ही सिद्धि में हेतु होती है। बाल,वृद्ध,युवा,प्रौढ़ नर-नारी कोई भी साधक हो सकता है। इसमें लिंग वा अवस्था का कोई व्यवधान नहीं है। साध्य की अभीप्सा तथा उत्कट जिज्ञासा ही इसकी पात्रता का अवबोधक चिन्ह है, भगवती उमा के उपरोक्त चरित्र से यही ज्ञात होता है।

अपने आराध्य में अनन्यता ही आराधक का सर्वस्व होता है फिर भी उसे अन्य रूपों में उपास्य देवों के प्रति अनादर का भाव नहीं रखना चाहिए। अन्य देव अपने आराध्य देवों की ही विभूति हैं, ऐसा जानकर सभी के प्रति समादर भाव रखना ही सजग साधक की सहज वृत्ति होती है। सप्तर्षियों से विश्ववन्द्य विष्णु भगवान् की महिमा सुनकर भवानी ने उसका प्रतिवाद नहीं किया। बड़ी ही शालीनता से कोमल शब्दों में -

**जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।**

**(रा० १/८०)**

इतना कहते हुए अपने अन्तर्भाव को अभिव्यक्त कर देती हैं। भगवान् शिव के प्रति अपने पूर्ण समर्पण की भावना को व्यक्त करते हुए कहती हैं-

**अब मैं ज़न्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा।।**

**(रा० १/८१-२)**

अब तो अपना जन्म मैं शिव के लिए हार चुकी हूँ फिर अब गुण-दोषों का विचार कौन करे। आराध्य के प्रति अपनी अखण्ड एवं अनन्य निष्ठा का

अवबोधन कराती हुई घोषणा करती हैं-

**जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।।**

**(रा० १/८१-५)**

मेरा तो एक नहीं करोड़ों जन्मों तक यही हठ रहेगा कि या तो शम्भु को पति रूप में प्राप्त करूँगी वा कुआरी रह जाऊँगी। उमा की शिव के प्रति यह अनन्य भक्ति निष्काम है। इसमें माँग नहीं उत्सर्ग है अतः सप्तर्षि उनकी अनन्यता पर जय घोष करते हैं। त्रिपुरारी द्वारा काम-दहन हो जाने पर पुनः ऋषियों ने आकर गिरिजा से कहा-

**कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।**
**अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस।।**

**(रा० १/८९)**

नारद के उपदेश में अनुरक्त हो तुमने उस समय हमारी बात नहीं सुनी, अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हो गया क्योंकि महेश ने कामदेव को ही भस्म कर दिया। इसके उत्तर में भवानी ने जो कुछ कहा है वह नारी समाज के लिए सदैव आदर्श रहेगा। शाश्वत सनातन संस्कृति में स्त्री-पुरुष के नित्य सम्बन्धों की दिव्यता को उद्‌घाटित करने के लिए ही सम्भव है महाकवि ने इस प्रसंग की उद्‌भावना की है। वैवाहिक सम्बन्ध का ध्येय सुख नहीं सृजन है, भोग नहीं योग है। वह दो शरीरों के आलिंगन की स्वीकृति नहीं अपितु दो शरीरधारियों को एक-दूसरे के प्रति उत्सर्ग की प्रेरणा है। विवाह के इस रहस्य को जो जानता है, उनकी दिव्यता को जो पहचानता है, वही मानव के लिए आदर्श एवं उपास्य हो सकता है। पार्वती के सम्बन्ध में देवर्षि नारद की जो यह घोषणा है कि-

**एहि कर नामु सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा।।**

**(रा० १/६७-६)**

संसार में नारियां इसका नाम स्मरण करते हुए पतिव्रत रूपी तलवार की धार पर चढ़ जायेंगी, वह सर्वथा उचित तथा शाश्वत सत्य है। नारी पुरुष का सम्बन्ध सुख व सृजन दोनों के लिए ही हो सकता है। उद्देश्य यदि सुख है तो सृजन में सौन्दर्य नहीं होगा क्योंकि असावधानी में सौन्दर्य की निर्मिति नहीं होती। सौन्दर्यहीन सृजन सदैव पीड़ाप्रद होता है और यदि उद्देश्य सृजन है तो सुख तो मिलेगा किन्तु उसमें राग नहीं होगा। राग रहित सुख के साथ सौन्दर्ययुक्त सृजन ही दाम्पत्य जीवन का प्रयोजन है, इसी में लोक कल्याण का पावन बीज है। यही

सनातन संस्कृति में विवाह का ध्येय है और इसके परम आदर्श हैं उमा और शिव जिनका शाश्वत दाम्पत्य सुखार्थ नहीं लोक कल्याणार्थ है। ऋषियों का यह कथन है कि -

**अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस।**

**(रा० १/८९)**

गम्भीर अर्थ का अवबोधक है। सुख व सृजन ध्येय कुछ भी हो काम की अनिवार्यता तो दोनों के ही लिए है। कामारि से तो किसी भी प्रकार की कामना पूर्ण नहीं होगी, यह इसका अभिप्राय है। गिरिजा निष्काम प्रेम की साकार मूर्ति हैं। प्रेम में प्राप्ति नहीं उत्सर्ग है, ग्रहण नहीं समर्पण है, माँग नहीं सर्वस्व दान है। उसमें न सुख की वासना है न सृजन की लालसा। प्रेम इन दोनों से ही परे है। वह पर नहीं परात्पर है। अपने उसी प्रेम का परिचय कराती हुई गौरी जो कुछ कहती हैं वह महाकवि के शब्दों में पढ़िये -

**सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी।।**
**तुम्हरें जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहें सबिकारा।।**
**हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।।**

**(रा० १/९०-१ से ३)**

ऋषियों की बात सुनकर मुस्कराते हुए भवानी ने कहा, हे विज्ञानी मुनिवरो! आप ने तो अपनी दृष्टि से उचित ही कहा है। आपकी जानकारी में संभु ने कामदेव को अब भस्मसात किया है, वे अब तक सविकारी अर्थात् कामी ही थे किन्तु मेरी जानकारी में तो शिव सदा से ही योगी,अजन्मा, अनिन्द्य, काम रहित और भोगरहित हैं। शिव कामारि हैं, उन्होंने काम को भस्म कर दिया है। काम की वासना अब कामारि से पूर्ण नहीं हो सकती, यह सत्य है किन्तु जो पहले से ही निष्काम हो, कामारि को प्राप्त करने की लालसा लिए हुए उनकी अर्चना में स्वयं को समर्पित कर चुका हो, उसके लिए तो यह निराशा नहीं प्रसन्नता की बात है-

**जौ मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी।।**
**तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा।।**

**(रा० १/९०-४,५)**

यदि मैंने शिव को ऐसा जानते हुए मन, वाणी और कर्म से प्रीति सहित उनकी सेवा आराधना की है तो हे मुनीश्वरो! सुनों ! कृपानिधान भगवान् महेश्वर मेरी प्रतीज्ञा को अवश्य ही सत्य करेंगे। कितना अटल विश्वास है गिरिजा को

अपनी निष्काम प्रीति पर।

**जौ मैं सिव सेये अस जानी।**

यह ध्वनित होता है कि गिरिजा की समग्र साधना बोध, प्रेम, सेवा से सम्बलित है, उनकी भक्ति विवेक-वैराग्य युक्त है। वे यह भी जानतीं है कि उनकी प्रतिज्ञा की पूर्ति में स्वयं की साधना नहीं कृपासागर की कृपा ही हेतु होगी। इस प्रसंग में ऋषियों के लिए भवानी द्वारा प्रयुक्त 'मुनिबर बिग्यानी' 'मुनीस' आदि शब्द व्यंग्यात्मक ही प्रतीत होते है। 'महेश ने काम को जला दिया है' मुनियों के इस कथन को अत्यन्त अविवेक युक्त बताती हैं। इसका समाधान करते हुए कहती हैं-

**तुम्ह जौ कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा।।**
**तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ।।**
**गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस की नाई।।**

**(रा० १/९०-६ से ८)**

हे तात ! अग्नि का तो यह सहज स्वभाव ही है कि हिम शीत उसके समीप कभी जा ही नहीं सकता और जाने पर वह अवश्यमेव स्वयं ही नष्ट हो जायेगा। मन्मथः और महेश के सम्बन्ध में भी यही न्याय समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि अग्नि हिम को नष्ट नहीं करता, उसमें कर्तृत्व नहीं है अपितु दाहकता उसका स्वभाव है। उसके निकट जाते ही हिम का नष्ट हो जाना स्वभाविक है। ठीक यही स्थिति काम और शिव की भी समझनी चाहिए अर्थात् शिव अकर्ता हैं, ईश्वर हैं, द्वैतभावातीत हैं अतः "उन्होंने काम को जला दिया" यह अविवेकपूर्ण विचार है। शिव के समीप जाते ही काम स्वयं भस्म हो गया, यह विवेकसम्मत सत्य है। भगवती उमा के मधुर शब्दों में तात्त्विक विश्लेषण को सुन उनकी अखण्ड प्रीति, अटल विश्वास तथा निर्विकार आराधना के समक्ष नतमस्तक हो सप्तर्षि उनसे आशीष की याचना करते हैं।

उमा शिव विवाह के प्रसंग में एक और विकट स्थिति आती है, उस अवसर पर गिरिजा द्वारा दिया गया उपदेश नारी समाज के लिए मननीय है। विकट वेषधारी दुलह शिव अपने विचित्र बराती गणों के साथ गिरिराज के द्वार पर आ उपस्थित होते हैं। स्वागतार्थ परछन का साज सजाकर महारानी मैना उल्लसित हो वर का परछन करने के लिए द्वार पर आती हैं। विकट वेष में रुद्र को देखते ही संग की सभी नारियाँ भयभीत हो भाग जाती हैं। जामाता को इस रूप में देख मैना का हृदय शोक से संत्रस्त हो जाता है और वे व्याकुल हो शोभा तथा सौन्दर्य की

साकार मूर्ति गौरी को गोद में बिठाकर विलाप करती हुई विधाता की वामबुद्धि को कोसने लगती हैं और कहती हैं-

जेहिं बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहिं जड़ बरु बाउर कस कीन्हा।।
कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई।।

(रा० १/९६ छन्द)

जिस विधाता ने तुम्हें इतना सुन्दर रूप दिया उस जड़मति ने तुम्हारा वर "बावरा" कैसे बना दिया? जो फल देववृक्ष कल्पतरु में लगना चाहिए था वह अब बरबस बबूर में लग रहा है। अनिन्द्य सौन्दर्य अमित सुकृत का ही परिणाम होता है। भवानी तो सुन्दरता की सीमा है। उससे अधिक सौन्दर्य की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि-

सुन्दरता मरजाद भवानी।

उस भवानी के लिए विकटवेष धारी रुद्र पति, यह विधाता की जड़ता नहीं तो और क्या है? कल्पवृक्ष में लगने वाला फल यदि बबूल में लगने लगे तो क्या कहा जाये। पुत्री के अप्रत्याशित भविष्य की कल्पना कर माता का हृदय क्राह उठता है और वह अधीर हो चीख पड़ती है-

तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं।।

(रा० १/९६ छन्द)

'मैं तुम्हें लेकर पहाड़ से गिर पड़ूँगी, अग्नि में जल जाऊँगी वा समुद्र में कूद पड़ूँगी। चाहे घर उजड़ कर वीरान हो जाये, संसार में अपकीर्ति हो, किन्तु जीते जी मैं इस बावले के साथ तुम्हारा विवाह न करूँगी।' निराश व्यक्ति जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सुखद मानता है इसलिए वह आत्म हनन पर तुल जाता है क्योंकि निराशा में विवेक शक्ति कुण्ठा ग्रस्त हो जाती है। मैना की भी वही स्थिति है। माँ की दयनीय दशा को देख भवानी ने उसे धैर्य बँधाते हुए कोमल वाणी में विवेक सम्मत बात कही-

अस बिचारी सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ विधाता।।
करम लिखा जौ बाउर नाहू। तौ कत दोसु लगाइअ काहू।।
तुम्ह सन मिटहिं कि विधि के अंका। मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका।।
जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसर नहीं।

**दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं।।**

**(रा० १/९७ छन्द)**

'हे माता! जो विधाता रच देता है वह टलता नहीं, ऐसा विचार कर तुम शोक त्याग दो। यदि मेरे भाग्य में बावरा पति ही लिखा है तो व्यर्थ में किसी पर दोष क्यों लगाया जाये? क्या तुम विधाता के अंक को मिटा सकती हो? यदि ऐसा सम्भव नहीं तो माँ तुम व्यर्थ में कलंक मत लो ! करुणा का परित्याग कर दो। यह अवसर विषाद का नहीं है। मेरे भाग्य में जो भी दुःख-सुख लिखा है उसे तो मैं जहाँ भी जाऊँगी प्राप्त होंगे।' गिरिजा के इस कथन को महाकवि ने विवेकयुक्त कहा है-

**बोली जुत बिबेक मृदु बानी।**

मनुष्य का जीवन सदैव उसकी रुचि अनुसार ही चलता रहे, ऐसा सम्भव नहीं है। रुचि की अनुकूलता की प्राप्ति सुखद मधुर हुआ करती है और प्रतिकूलता की प्राप्ति दुःखद कटु । ये कटु-मधुर फल इस जीवन वृक्ष में लगा ही करते हैं। एक गिरता है तो साथ ही दूसरा लग जाता है और इस क्रम में जीव का अपना पूर्वकृत कर्म ही कारण होता है कोई दूसरा नहीं। विधाता तो केवल उसके कर्मानुसार फल की व्यवस्था का विधायक मात्र है। इस विचित्र जगत की अद्‌भुत व्यवस्था को देखते हुए विधाता के विधान की सराहना किये बिना अन्तर सन्तुष्ट नहीं होगा। जो इस कटु,मधुर व दुःख-सुख में विधायक को दोषी मानते हैं वे अबुध हैं, अविवेकी हैं किन्तु जो इसमें स्वयं के कर्म को कारण समझते हैं वे ही विवेकशील हैं। कर्म सिद्धान्त कठोर सत्य पर प्रतिष्ठित है, उसको नकारने से उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। गिरिजा इस कठोर सत्य को स्वीकार करती है और कहती हैं कि विधाता के विधान में लिखे हुए अंक को कोई मिटा नहीं सकता जहाँ भी जाया जाये प्रारब्ध साथ ही रहता है। जो भी दुःख-सुख मिलना है वह मिलेगा उससे बचने के लिए पलायन की कल्पना व्यर्थ है। विवेकी वह है जो पिछली भूल परिमार्जन करने के लिए सदैव सजग रहे और प्राप्त परिस्थिति का भविष्य के सृजन में सावधानी से सदुपयोग करे इसलिए माँ से कहती हैं, यह रोने, दुःखी होने का अवसर नहीं कल्पना लोक से विरत हो परिस्थिति की यथार्थता को समझने तथा तदनुसार कार्य करने का अवसर है। सम्भव है गिरिजा के कथन में कुछ लोग भाग्यवाद का दर्शन करते हों और कुछ लोग महाकवि को प्रच्छन्न रूप में नारी समाज पर भाग्यवाद थोपने का दोषी भी करार दे दें किन्तु मेरे विचार से जो कुछ

भी कहा गया है वह केवल नारी के लिए ही नहीं है, कर्म के बन्धन में जीव मात्र बँधा हुआ है। अतः यह जीव मात्र के जीवन की कहानी है। नारी यदि कर्मानुसार पति प्राप्त करती है तो पुरुष पत्नी के चयन में स्वतंत्र नहीं वही कर्म की विडम्बना उसके साथ भी है। रही महाकवि द्वारा भाग्यवाद के समर्थन की बात सो उसके लिए तो उनकी समग्र कृति का अनुशीलन करके ही सही निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। मेरे विचार से गोस्वामी जी को भाग्यवादी मानना उनके साथ घोर अन्याय होगा क्योंकि भक्ति और भाग्यवाद का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। तुलसी जैसा भक्त कवि मानव को भाग्य के सहारे बैठकर सिसकने नहीं अपितु सर्वशक्तिमान् परमात्मा के सहारे पुरुषार्थरत होने की ही प्रेरणा दे सकता है। गोस्वामी जी वर्तमान के दुःख-सुख को पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही परिणाम मानते हैं किसी अज्ञात शक्ति की देन नहीं-

**करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई।।**

**(रा० २/७७-८)**

**काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।**

**(रा० २/९२-४)**

**करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।।**

**(रा० २/२१९-४)**

इसका अर्थ स्पष्ट है। इस प्रकार की अनेकों अर्धालियों में संतवर ने महाकाव्य के प्रमुख एवं सम्माननीय पात्रों द्वारा स्वमत को अभिव्यक्त किया है। प्रयत्न की असफलता में वे विधाता व किसी अन्य को कोसने की अपेक्षा उसमें ईश्वर इच्छा को स्वीकार करना उत्तम समझते हैं। ऐसे अवसरों पर ही वे कहते हैं-

**होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।।**

**(रा० १/५२-७)**

**राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।।**

**(रा० १/१२८-१)**

मेरे विचार से निराश व हारे हुए अधीर हृदय को ढाड़स बँधाने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इससे अधिक उत्तम उपाय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अबोध मानव दुःख की दशा में काल को, कर्म को, ईश्वर को दोषी ठहरा कर ही संतोष कर लेना चाहता है। महाकवि की दृष्टि में यह मिथ्या है क्योंकि इससे वह अपनी उस भूल को सुधारने की दिशा में प्रयत्नशील नहीं हो पाता

जिसके परिणाम में उसे संतप्त होना पड़ा है। गोस्वामी जी मानव कल्याण के लिए सुमतियुक्त सत्कर्म के समर्थक हैं ? लोक और परलोक, वर्तमान और भविष्य दोनों की सार्थकता के लिए सुमति युक्त सत्कर्म की ही सीख देते हैं। वे भक्त पहले तथा कवि बाद में हैं। अतः उन्हे भाग्यवादी व उसका समर्थक कहना सर्वथा असंगत एवं अनुचित होगा। वर्तमान जीवन के दुःख-सुख को पूर्वकृत कर्मानुसार मानना भाग्यवाद नहीं अपितु उसे कर्मवाद कहा जा सकता है। प्रकारान्तर से यदि इसे पुरुषार्थवाद का ही ठोस धरातल कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। प्रबुद्ध मानव जब यह जान जाता है कि जो कुछ भी हमारा अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय वर्तमान है वह अतीत के पुरुषार्थ का ही प्रतिफल है तो वह असहाय की भाँति अतीत की भूल पर आँसू बहाने की अपेक्षा वर्तमान में पुनः उसे न दुहराने की प्रेरणा ग्रहण करता है और सावधान हो भविष्य को उज्ज्वल तथा उन्नत बनाने के लिए दृढ़ता के साथ पुरुषार्थ में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कर्मवाद जीवन विकास का अवरोधक नहीं सहायक ही सिद्ध होता है। गिरिजा द्वारा माँ के उद्‌बोधनार्थ दिये गए इस उपदेश के माध्यम से महाकवि को कर्मवाद के इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा ही अभिप्रेत है।

देवर्षि नारद के द्वारा शिव तथा शिवा के सही स्वरूप का बोध प्राप्त कर सभी का विषाद मिट जाता है। सविधि सानन्द गौरी शंकर का विवाह सम्पन्न होता है और वे हिमवान् से विदा होकर गणों सहित निजाश्रम कैलाश में आ विराजते हैं। लोक हितकारी सन्तान को जन्म देकर ही नारी सर्वविधि सौभाग्य सम्पन्न हो स्वयं के जीवन को धन्य बनाती है। अतः देवहितनिरत षण्मुख भगवान् कार्त्तिकेय को पुत्र रूप में जन्म देकर गौरी स्वयं के सौभाग्य को सीमान्त पर प्रतिष्ठित कर नारीत्व को सार्थक बनाती हैं और नारी जाति के लिए आदर्श तथा विश्व के लिए परमाराध्या के पद पर सुशोभित होती हैं। पति को सदैव लोकहितकारी सृजनात्मक कार्यों में प्रवृत्त करना नारी धर्म का प्रमुख अंग है तभी वह 'धर्मपत्नी' अभिधान को सार्थक बना पाती है। अपने इस दायित्व को शिवा अच्छी प्रकार जानती हैं। उसकी पूर्ति में सदैव सजग हो सक्रिय रहतीं हैं। वह अवसर पाते ही अपने प्राणेश ज्ञाननिधि शिव के चरणों में उपस्थित हो लोकोपयोगी जीवकल्याणार्थ विविध विषयों से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान की जिज्ञासा प्रकट करती हैं जिसकी पूर्ति में करुणावशात् परमशास्ता पशुपति अधिकारी पाकर गोप्यतम तत्त्व विज्ञान का प्रवचन तथा रहस्यात्मक गुप्त विद्याओं का उद्‌घाटन करते हैं। विविधविध

तन्त्रमन्त्रात्मक ज्ञानागार कर्मपाशाबद्ध जीवों के लोक-परलोक सिद्धि के साधक विपुल शैव, शास्त्र एवं विविध विज्ञानयुक्त अमित अगाध आगम ग्रन्थ ये सभी उमा-सम्भू संवाद के ही प्रसाद हैं। अधिक क्या कहें, लोक मंगलकारिणी पतितपावनी श्रीरामनामामृतमयी अमर कथा जिस रामचरित मानस के रूप में महाकवि को गुरु कृपा से उपलब्ध हुई, जिसको जन-कल्याणार्थ संतवर ने भाषाबद्ध कर जन-सामान्य को संसार ताप से विमुक्त होने के लिए सुगमतम साधन सुलभ करा दिया, वह रामचरितमानस भी शिवा-शिव की अहैतुकी कृपा कटाक्ष का प्रसादमात्र है। कवि के ही शब्दों में-

**सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ राम चरित चित चाऊ।।**
**भनिति मोरि सिव कृपाँ बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती।।**

**(रा० १/१५-८,९)**

**रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।।**
**तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।।**

**(रा० १/३५-११,१२)**

**भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई।।**

**(रा० १/३१-२)**

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मानस महाकाव्य शिवा और शिव की करुणा का ही प्रसाद है। इसके रचयिता भगवान् शिव हैं। शिवा की जिज्ञासा पूर्ति हेतु ही इसका प्राकट्य हुआ है। महाकवि तो स्वयं को केवल उस महाकाव्य का भाषाकार ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार त्रिपुरारी को लोक हितकारी सृजन में समाहित रखना उमा की नित्य चर्या है। प्रियतम का अक्षुण्ण प्यार ही नारी का सर्वस्व होता है। जो नारी पति की रुचि, इच्छा और अभीष्ट में ही अपनी रुचि, इच्छा और अभीष्ट को विलय कर देती है और सतत उसकी पूर्ति में ही स्वयं को समर्पित किए रहती है वही अपने प्राणेश की प्रिय वल्लभा होने का सौभाग्य प्राप्त कर पाती है, किन्तु जो अपनी रुचि, इच्छा और अभीष्ट को अपने व्यक्तित्व में संजोये रखती है वह कभी भी प्रियतम की प्रियता को प्राप्त नहीं कर पाती। गिरिजा का शिव से भिन्न अपना कुछ भी नहीं है, वह अपने प्राणेश को पूर्णरूपेण जानती हैं। उन्हें यह ज्ञात है कि उनके स्वामी योग, ज्ञान, वैराग्य के निधि हैं। अतः वे विविधविध सेवा से प्रियतम को प्रसन्न कर अवसर पाते ही तत्त्व-विज्ञान तथा भक्ति सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट किया करती हैं जिससे प्रेरित होकर महेश्वर

आनन्द मग्न हो प्रिया की प्रशंसा करते हुए विविधविध विषयों से सम्बन्धित कथामृत की वृष्टि किया करते हैं। भगवती स्वयं सर्वज्ञा हैं, उनकी जिज्ञासा भी केवल प्रियतम के प्रमोद प्रदानार्थ ही हुआ करती है। यदि किसी के हृदय को जीतना हो तो उसके लिए केवल एक ही उपाय है 'स्वार्थ रहित हो उसके इष्ट में प्रीति तथा उसकी अभीष्ट सिद्धि में सहयोगी होना'। गिरिजा इस रहस्य को जानती हैं और वे मन, वाणी तथा शरीर से सतत वही कुछ किया करती हैं जो उनके प्राणेश को परम प्रिय हो । यही उनकी पूजा का मूल मन्त्र है जिसके प्रसाद रूप में वे शशिभूषण की भूषण बनकर उनके अंक को अलंकृत कर रही हैं-

**हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को।।**

**(रा० १/१९-७)**

क्या नारी के सौभाग्य की इससे भी अधिक कल्पना की जा सकती है ? किसी नारी के लिए इससे श्रेष्ठ और कोई आशीष नहीं हो सकती कि-

**होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी।।**

**(रा० १/३३४-४)**

तुम सदैव अपने प्रियतम को प्रिय होगी और तुम्हारा सौभाग्य अखण्ड रहेगा। नारी के लिए प्रियतम की प्रियता का यदि कोई मानदण्ड प्रस्तुत किया जा सकता है तो केवल इन शब्दों में है कि 'पारबती सम पति प्रिय होहू।' क्योंकि गिरिजा का सौभाग्य नारी कल्पना का सीमान्त है। मानस महाकाव्य की उदात्त चरिता नायिका जनकनन्दिनी सीता स्वयं गौरी की महिमा का गान करती हुई उनसे अपनी अभीष्ट सिद्धि की याचना कर रही हैं-

**जय जय गिरिबरराज किसोरी। जय महेस मुख चन्द चकोरी।।**
**जय गजबदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता।।**
**पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख।**
**महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।।**

**(रा० १/२३५-५,६)**

**सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी पुरारि पिआरी।।**
**देबि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे।।**
**मोर मनोरथु जानहु नीकें। बसहु सदा उर पुर सबही कें।।**
**कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेहीं। अस कहि चरन गहे बैदेहीं।।**

**(रा० १/२३६-१ से ४)**

"गिरिवर राज किशोरी की जय हो, जय हो। महेश मुखचन्द्र की चकोरी की जय हो। गजवदन गणेश तथा षडानन कार्तिकेय की माता की जय हो। विद्युद्वदना जगत् जननी की जय हो। पति को परमेश्वर रूप में आराधने वाली श्रेष्ठ नारियों में आप चूड़ामणि हैं। पतिव्रता देवियों में आपका प्रथम स्थान है। आपकी अपार महिमा सहस्रों सरस्वती व शेष भी नहीं कह सकते। हे आराधकों को इच्छित फल देने वाली वरदायनी ! हे त्रिपुरारी प्रियतमे! तुम्हारी सेवा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल सुलभ हो जातें हैं। हे देवि! तुम्हारे पदकमल की पूजा करके देव, मानव तथा मुनिगण सभी नित्य सुख के भाजन बन जाते हैं। हे जगदम्बिके! तुम मेरे मनोरथ को भली-भाँति जानती हो क्योंकि तुम सदैव सर्व उरपुर में निवास करती हो। हृदयनिवासिनी से हृदयगत् मनोरथ अज्ञात कैसे रह सकता है? हे शिवे! इसीलिए मैंने उसे प्रकट नहीं किया है। इतना कहकर वैदेही ने गौरी के चरण पकड़ लिए।

नारी जीवन की धन्यता, कृतकृत्यता में तीन मुख्य हेतु हैं। 'पतिव्रत में अखण्ड निष्ठा,' 'प्रियतम की प्रियता' और 'दिव्यगुण सम्पन्न सुयोग्य सन्तान का मातृत्व।' गिरिजा इन त्रिविध दिव्य अलंकारों से अलंकृत हैं। वे पतिव्रताओं में शिरोमणि, जगतवन्द्य गणेश एवं सुरसेनापति कार्तिकेय की जननी तथा त्रिपुरारी की प्राणवल्लभा हैं। उनका नारीत्व चूड़ान्त पर प्रतिष्ठित होने से नारीमात्र के लिए आदर्श एवं उपास्य है। वैदेही उसी आदर्श को अपने जीवन का यथार्थ बनाने की अभिलाषा लिए हुए अभ्यर्चना कर रही हैं। उनकी अर्चना सार्थक होती है, प्रार्थना सुनी जाती है। प्रेम पूरित विनीत प्रार्थना से प्रसन्न हो भवभामा भवानी आशीष देती हैं-

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी।।

(रा० १/२३६-७)

केवल जनकनन्दिनी ही नहीं अब तक असंख्य कल्याणाकांक्षिणी देवियों ने गौरी पूजन कर अपने अभीष्ट की प्राप्ति की है, कर रही हैं और 'यावद् चन्द्र दिवाकरौ' करती रहेंगी। केवल नारियाँ ही नहीं, देव, दानव, मुनि, मनुष्य आदि सभी उनकी आराधना कर सतत सुखभाजन होते रहे हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे क्योंकि वह करुणामयी, वात्सल्यहृदया जगद्धात्री सदैव समानरूप से अपनी सभी सन्तानों पर कृपावृष्टि करती रहती हैं। देवर्षि नारद के द्वारा उमा के प्रति हिमवान् से की गई भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है। देवर्षि ने कहा है-

कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन खानी।।
सुन्दर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अम्बिका भवानी।।
सब लच्छन सम्पन्न कुमारी। होइहिं संतत पियहि पिआरी।।
सदा अचल एहि कर अहिवाता। ऐहि तें जसु पैहहिं पितु माता।।
होइहि पूज्य सकल जग माहीं। ऐहि सेबत कछु दुर्लभ नाहीं।।
ऐहि कर नाम सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा।।

(रा० १/६७-१ से ६)

गिरिराज यह तुम्हारी कन्या सम्पूर्ण सद्गुणों की खान है। स्वभाव से सुन्दर, सुशील और समझदार सयानी है। उमा, अम्बिका, भवानी इसके नाम हैं। कुमारी सभी शुभलक्षणों से सम्पन्न है, अपने पति को यह नित्य प्रिय होगी। इसका अहिवात सदैव अचल रहेगा। इससे इसके माता-पिता कीर्ति प्राप्त करेंगे। सम्पूर्ण जगत् में यह पूज्य होगी और इसकी आराधना से कुछ भी अप्राप्य नहीं होगा अर्थात् सर्वसुख सुलभ हो जाएगा। इसके पावन नाम का स्मरण करती हुई नारियाँ पतिव्रत रूपी तलवार की धार पर चढ़ जाया करेंगी। नारद के ये वचन सदैव पवित्र और सत्य हैं। अम्बिका की आराधना से आज भी असम्भव सम्भव हो रहा है। आज भी असंख्य नारियाँ उसके पावन नाम के सहारे पतिव्रत धर्म में निरत हैं। आज भी उसके उपासकों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

उमा-शम्भु का चरित्र अपार सागरवत् है। जिनके संकल्प मात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहरण हो रहा है, उसकी महिमा का गान, उसके गुण समूह का वर्णन अल्पज्ञ मानव भला कहाँ तक कर सकता है? शिव और शिवा परात्पर हैं, अनन्त हैं, अपनी करुणा से ही वे अपनी अनन्तता का अवबोधन करा अविद्याजन्य मोहरूपीपाश से जीवों को विमुक्त कर कल्याण का भाजन बनाते हैं- यही पशुपति की नित्यलीला का प्रयोजन है और उसी की पूर्ति में उनकी प्रिय वल्लभा उमा सदैव निरत रहती हैं। गिरिजा का यह पावन चरित्र अनन्त काल से नारी जीवन की सार्थकता के लिए दिशाबोधक एवं प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है और भविष्य में भी बना रहेगा।

पूर्व वर्णित प्रसंग से सम्बन्धित ही यहाँ पर ज्ञान बृद्धि की दृष्टि से एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान कर देना उचित समझता हूँ। उमा चरित्र के अनुशीलन से यह रहस्य ज्ञात हो जाता है कि सती ही गौरी के रूप में अवतरित है तो प्रश्न यह उठता है कि दोनों अवतारों के चरित्रों में इतना अन्तर क्यों है? यदि

एक ही शक्ति सती और गिरिजा दोनों रूपों में अवतरित होती हैं और दोनों अवतारों में महेश्वर को ही प्राप्त करती हैं तो जो सौभाग्य गिरिजा के रूप में उसे प्राप्त होता है वह सती रूप में क्यों नहीं प्राप्त हो सका? इन दोनों चरित्रों में जो अन्तर व्यक्त किया गया है वह विचारणीय है। उसके हेतुओं को खोजना और संक्षेप में उसका विवेचन करना ही इस प्रश्न का प्रयोजन है।

शिवपुराण उमा महेश्वर के पावन चरित्र का कोष है। इस जिज्ञासा को लेकर उसके अनुशीलन से जो समाधान प्राप्त होता है उसी को यहाँ व्यक्त किया जा रहा है। यह बात सत्य है कि यदि कोई महत्वपूर्ण पद वा पदार्थ बिना संकट सहे सुगमता से ही प्राप्त हो जाता है तो उसकी महत्ता को हम उस रूप में स्वीकार नहीं करते जैसा कि करना चाहिए। श्रम के बिना प्राप्त सम्पत्ति, सेवा के बिना प्राप्त ज्ञान, योग्यता के बिना प्राप्त अधिकार, पुरुषार्थ के बिना प्राप्त प्रभुता तथा तप के बिना प्राप्त देवत्व, ये सभी व्यक्ति में विनम्रता नहीं अहं भाव के ही सर्जक तथा पोषक होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति न उस प्राप्ति की संभाल ही कर पाता है और न सदुपयोग ही।

वह महामाया ब्रह्मा की प्रार्थना से दक्ष के यहाँ वारिणी के गर्भ से सती रूप में अवतरित होती है और ब्रह्मा की आज्ञानुसार ही प्रजापति दक्ष सती शिव को समर्पित कर देते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि शिवा के पद पर प्रतिष्ठित होने में सती की कोई साधना नहीं अपितु दैवी विधान ही कारण बनता है। शिव पुराण में दाक्षायणी सती का पराशक्ति महेश्वरी के रूप में ही दर्शन होता है। वे शिव की प्रिय वल्लभा हैं और सदैव लोक कल्याण में निरत रहती हैं। अविद्याजन्य विविध पाशों में बँधे हुए जीवों के उद्धारार्थ जगदम्बिका ने जो सर्वज्ञ शिव से जिज्ञासा प्रकट की है और उत्तर में भगवान् शिव ने जो मोक्ष शास्त्र का वर्णन किया है वह शिव पुराणरूपी नगाधिराज का महान् जाज्वल्यमान् अमूल्य रत्न है। मानस महाकाव्य में भी सती का परिचय देते हुए महाकवि ने जगजननी, भवानी, अखिलेश्वरी आदि अभिधानों द्वारा इसी प्रकार के भावों को व्यक्त किया है-

**संग सती जगजननी भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।।**

**(रा० १/४८-२)**

यह स्मरणीय है कि शिव पुराण में सती मोह की घटना का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। सती आद्याशक्ति की अवतार है इसमें संदेह नहीं किन्तु उनका शरीर दक्षशुक्रसम्भूत है, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी कहा है-

पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र सम्भव यह देही।।

(रा० १/६४-६)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि दाक्षायणी शिव की भाँति चिन्मय शरीर धारिणी नहीं है और न ही वे दिव्य सृष्टि क्रम की संकल्पात्मक अभिव्यक्ति है। दक्षशुक्र-सम्भूत होने में उनका शरीर मैथुनी सृष्टि का ही परिणाम है। वह दिव्यता से युक्त होते हुए भी भौतिक हैं। तभी वे कहतीं हैं कि-

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू।

इस सम्बन्ध में शिवपुराण में भी ऐसा ही वर्णन है। किसी कवि का यह कथन कितना सत्य है कि-

काजल की कोठरी में कैसेहु सयानो जाय।
काजल की एक लीक लागि है पै लागि है।।

दिव्य शक्ति भी यदि इस सृष्टि क्रम में ज़न्म लेती है तो उसको भी अपने दिव्यत्व को प्राप्त कर उसमें प्रतिष्ठित होने के लिए कठोर साधन व तप की आवश्यकता होती है। बिना तप के यदि पूर्व संस्कारानुसार व दैवी कृपा से देवत्व की प्राप्ति हो भी जाये तो उसे वह सुरक्षित नहीं रख पायेगी। मानस में सती चरित्र से सम्बन्धित प्रसंग को देखते हुए कुछ ऐसी ही बात प्रतीत होती है। यहाँ पर शैवी शक्ति शिवा ही सती रूप में अवतरित है, अतः वह स्वरूपतः चिन्मय चिद्रूप होने से निर्विकार है; किन्तु जिस माध्यम से उसका आविर्भाव हुआ है वह शरीर चिन्मय नहीं मायिक है। दक्षशुक्रसम्भूत होने से प्रकृति का परिणाम है, विकारी है। इस विकारी माध्यम को निर्विकार तथा विशुद्ध किये बिना नित्य रूप में देवत्व प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। माध्यम को विशुद्ध बनाने के लिए तप ही एक मात्र साधन है। महर्षि पतञ्जलि का कथन है-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(यो० सू० २/४३)

तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाती हैं अर्थात् वे दिव्य हो जाती हैं और उनमें अतीन्द्रिय विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य आ जाती है। इसमें संदेह नहीं कि अधिदैव ही अधिभूत रूप में अभिव्यक्त है और अन्त में इसका अधिदैव में विलय ही इसकी नियति है किन्तु इस अधिभूत के आविर्भाव तथा तिरोभाव, अधिदैव से प्रकट और उसमें विलय दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति में तप ही मूल कारण होता है। सरल शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है

कि दिव्यता से स्थूलता की प्राप्ति में भी तप कारण होता है और स्थूलता से दिव्यता को प्राप्त होने में भी तप ही एक मात्र साधन बनता है। सृष्ट जगत् के हेतु का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है-

**तपसा चीयते ब्रह्म।**

**(मुण्डक० १/१-८)**

तप से ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है-

**स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च।**

**(तैत्तिरीय० २/६)**

उसने तप किया। उसने तप करके, यह जो कुछ भी देखने में आता है इस समस्त सृष्टि का सृजन किया। महाप्रलय के विषय में भी अनेकों ग्रंथों में वर्णन मिलता है जिसका सारांश यह है कि परमात्मा के तप रूप संकल्प से अनन्त सूर्यों के तेज से चराचर जगत् का भस्मसात होना, फिर अमित वृष्टि से भस्म का जल में लय, प्रचण्ड अग्नि से जल का शोषण, अग्नि का वायु में तथा वायु का महाकाश में विलय, आकाश का अक्षर में और अक्षर का तम में विलय। वह तम ब्रह्म का अविद्यापाद कहा जाता है जो समस्त प्रपंच का कारण है। प्रलय काल में वही अविद्या समस्त बीजों को लेकर उस परमात्मा के अंश भाग में आश्रय ग्रहण करती है और सृष्टि के प्रारम्भ से उसी क्रम से उसका आविर्भाव होता है। जो नियम ब्रह्माण्ड के आविर्भाव-तिरोभाव का है वही पिण्ड का भी। पिण्डगत आत्मा यदि परमात्मा से युक्त होना चाहे तो उसे तप के द्वारा पिण्ड की स्थूलता को दिव्यता में परिवर्तित करना होगा। जीव का शिव के साथ नित्य योग ही मोक्ष है और मोक्ष को शास्त्र व्यष्टि जीवन का महाप्रलय कहता है। तप के बिना यह जीव शिव का नित्य योग व ब्रह्म लय की अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। श्रुति का कथन है-

**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।**

**(तैत्तिरीय० ३/२)**

ब्रह्म को तत्त्वतः तप से जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि तप के बिना ब्रह्म बोध नहीं हो सकता। ब्रह्म ही शिव है, रुद्र है, वही महेश्वर है-

**तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।**

**(श्वेता० ६/७)**

उस परमेश्वर का नित्य योग तप से ही प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। सती के जीवन में हमें कहीं इस प्रकार के तप का दर्शन नहीं होता। यही कारण है कि वे दाक्षायणी के रूप में शिव के नित्ययोग को प्राप्त नहीं कर सकीं। दक्षशुक्रसम्भूत शरीर का पूर्णतः शोधन न होने के कारण ही वे उस शरीर से उस सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकीं जिसको तपोपूत गिरिजा के रूप में प्राप्त किया। यह सत्य है कि तप के अभाव में न तो शरीर का शोधन ही हो पाता है और न उससे ऊपर ही उठा जाता है। शरीरस्थ होने पर ही आत्मा पर अविद्याजन्य दोष अपना अधिकार स्थापित कर पाते हैं। सती प्रसंग में महाकवि ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में इस रहस्य के प्रति संकेत किया है। अगस्ताश्रम से लौटते समय सिय वियोग में व्याकुल विलाप करते हुए वनवासी राम को देखकर ही सती में मोह का उदय होता है। उस प्रसंग के प्रारम्भ में ही संतवर सती को देवत्व से उतर कर शरीरस्थ होने का संकेत करते हैं। जब सती शिव के साथ अगस्ताश्रम में जातीं है तब उनके लिए जगजननी, भवानी, अखिलेश्वरी आदि अभिधानों का प्रयोग करते हैं किन्तु जब वे लौटती हैं तब कहते हैं-

**मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी।।**

**(रा० १/४८-६)**

शिव के साथ अब अखिलेश्वरी भवानी नहीं दक्षसुता है। पिता सम्बन्धित अभिधान उनके शरीरस्थ होने का संकेत करता है। यहाँ से आगे पूरे प्रसंग में इसी प्रकार का सम्बोधन मिलता है। सती जब शिव के उपदेश पर विश्वास न कर राम की परीक्षा लेने चलती हैं तब कवि लिखता है-

**इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना।।**

**(रा० १/५२-५)**

आगे जब राम की व्यापकता को देख घबराकर आँख बन्द कर लेती हैं और बाद में नयन उघार कर पुनः देखती हैं तो कवि कहता है-

**बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी।।**

**(रा० १/५५-७)**

बाद में जब सियवेष धारण करने के अपराध में शिव द्वारा त्याग दी जाने पर अपार दुःख सागर में डूबती हुई उससे पार जाने की चिन्ता में रत होती हैं तब भी सती के इस घोर दुःख भाजन बनने के कारण का संकेत करते हुए कवि लिखता है-

एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुखु भारी।।

(रा० १/६०-१)

क्योंकि महेशानी के तो दुखित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। शिवा तो स्वयं कल्याणमयी है। दुःख का कारण अभिमानी प्रजापति दक्ष की पुत्री होना है वा दक्षशुक्र सम्भूत देह में अहंभाव से उत्पन्न अज्ञानजन्य मोह से मोहित होना है। आगे जब पिता के यज्ञ में जाने का हठ करती हैं तब भी कवि लिखता है-

कहि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छकुमारि।

(रा० १/६२)

इस संक्षिप्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कितनी भी महान् आत्मा का अवतरण क्यों न हो, माता पिता के रज-वीर्य से प्राप्त शरीर में स्थिति होने पर वह तद्जन्य प्रभावों के विकार से बच नहीं सकता और तपस्या के बिना शरीर स्थिति से ऊपर उठना कठिन ही नहीं असम्भव है। बिना तप के जीवन सुसंस्कृत तथा दिव्य नहीं हो सकता, यही कारण है कि सती शरीर से शिवा को वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका जिससे वे शिव का शाश्वत सान्निध्य तथा नित्ययोग प्राप्त कर सकतीं।

पार्वती रूप में अवतरित होने पर उमा ने शिव को प्राप्त करने से पूर्व ही गुरुदेव नारद के उपदेशानुसार कठोर तप के द्वारा उस माध्यम को शोधन कर उसे दिव्य बना लिया था जो मैना हिमवान् के द्वारा शरीर रूप में उन्हें प्राप्त हुआ था। देवर्षि नारद तप के लिए प्रेरित करते हुए गिरिजा से कहते हैं-

श्रृणु कालि वचो मे हि सत्यं वच्मि दयारतः।
सर्वथा ते हितकरं निर्विकारं सुकामदम्।।
सेवितश्च महादेवस्त्वयेह तपसा विना।
गर्ववत्या यद्ध्वं सीददीनानुग्रहकारकः।।
विरक्तश्च स ते स्वामी महायोगी महेश्वरः।
विसृष्टवान् स्म दग्ध्वा त्वां शिवे भक्तवत्सलः।।
तस्मात्त्वं सुतपोयुक्ता चिरमाराध्येश्वरम्।
तपसा संस्कृतां रूद्रः स द्वितीयां करिष्यति।।
त्वं चापि शंकरं शम्भू न त्यक्ष्यसि कदाचन।

(शि० पु० २१/२५ से २९)

हे काली ! मुझे तुम पर इस समय दया आ रही है, इसलिए मैं तुम से

तुम्हारे हितकारी जो भी वचन कहता हूँ उन्हें तुम ध्यान देकर सुनो। मेरे वचन तुम्हारे लिए परम हितकारी, विकार रहित तथा कामना पूर्ण करने वाले हैं। तुमने महेश्वर की सेवा तो की किन्तु वह तपस्या से रहित थी और तुमको उस सेवा का बहुत गर्व भी हो गया था इसलिए दीन हितकारी शिव ने अनुग्रह करके ही तुम्हारा यह गर्व नष्ट किया है। हे शिवे ! तुम्हारे स्वामी महेश्वर महान् योगी और परम विरक्त हैं। वे भक्त वत्सल हैं इसीलिए दुरात्मा कामदेव को भस्म करके भी तुम्हे छोड़ दिया था। अतएव अब तुम कुछ चिरकाल तक तपस्या करके महेश्वर प्रभु की आराधना करो। तपश्चर्या से सुसंकृत हो जाने वाली तुमको भगवान् शंकर अवश्य ही स्वीकार करेंगे और तुम भी फिर कभी शम्भु से विलग नहीं होगी। मानस महाकाव्य में भी देवर्षि नारद गिरिजा से कुछ ऐसा ही कहते हैं -

**जौ तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।।**

**(रा० १/७०-५)**

भावी कहते हैं प्रारब्ध को। प्रारब्ध का सम्बन्ध शरीर से ही हुआ करता है। तप के द्वारा जब शरीर का शोधन तथा अमूल परिवर्तन हो जाता है तब उसके समस्त संस्कारों का निरसन होने से उसका दिव्यीकरण हो जाता है। ऐसी स्थिति में दैवी शक्ति उसे अपनी पावन क्रीड़ा का माध्यम बना लेती है और कभी भी उसे अपने से विलग नहीं करती। तप द्वारा त्रिपुरारी के प्रारब्ध मेटने का यही रहस्य है। जो उपदेश शिवपुराण में गिरिजा को देवर्षि नारद देते हैं उससे ही मिलता-जुलता उपदेश मानस महाकाव्य में गिरिजा को स्वप्न में एक ब्राह्मण से प्राप्त होता है। संतो के विचार से वह ब्राह्मण वेषधारी भगवान् शिव स्वयं ही शिवा को स्वप्न में आकर तप करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। गौरी स्वयं अपनी माता से वह स्वप्न सुनाते हुए कहती हैं-

**सुनहिं मातु मैं दीख अस सपन सुनावउँ तोहि।**
**सुन्दर गौर सुबिप्रवर अस उपदेसेउ मोहि।।**

**(रा० १/७२)**

**करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी।।**
**मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।।**

**(रा० १/७३-१,२)**

'मां ! सुन आज मैंने ऐसा स्वप्न देखा है जो तुझे सुनाती हूँ। स्वप्न में मुझे आज एक सुन्दर गौर वर्ण ब्राह्मण आ कर ऐसा उपदेश दिया है। शैल कुमारी!

नारद ने जो कुछ कहा है उसे सत्य जानकर तुम जाकर तप करो।' यह बात तुम्हारे माता-पिता को भी अच्छी लगी है। तप समस्त दोषों का नाश कर देता है और दोष नष्ट हो जाने पर उसके परिणाम रूप में प्राप्त होने वाले दुःख भी सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं और जीवन नित्य सुख से भर जाता है। तप ही शाश्वत सुख का दाता है। अतः तुम तप करो-

**तपबल रचइ प्रपंच बिधाता। तपबल बिष्णु सकल जग त्राता।।**
**तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेष धरइ महिभारा।।**
**तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी।।**

**(रा० १/७३-३,४)**

सृष्टि में सामान्य जीवों की तो बात ही क्या है, इसके रचयिता विधाता तप बल से ही इसकी रचना करते हैं। पालन कर्ता विष्णु तप बल से ही इसका पालन करते हैं। सम्वरण कर्ता शिव तप से ही सृष्टि का संहार करते हैं और परम सत्ता जिसके आधार पर पृथ्वी टिकी हुई है वह शेष भी तप बल से ही इसको धारण करता है। हे भवानी ! यह सम्पूर्ण सृष्टि तप के आधार पर ही टिकी हुई है। इसका शाश्वत बल आधार तप ही है ऐसा समझकर तुम भी जाकर तप करो।' अम्बिका ने माँ को यह संदेश सुनाकर साथ ही अपना निश्चय भी बता दिया और माता-पिता को आश्वासन देकर- 'चलीं उमा तपहित हरषाई।' एकान्त शान्त प्रदेश में जाकर अपने प्राणेश के पावन चरणाविन्द को हृदय में धारण कर तपस्या में निरत हो गई।

**उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना।।**
**अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सबु भोगू।।**
**नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मन लागा।।**

**(रा० १/७४-१,२,३)**

शैलजा का अत्यन्त सुकुमार शरीर यद्यपि तप के योग्य नहीं था, फिर भी पति के पावन चरणों का स्मरण कर सब प्रकार के भोगों का त्याग कर दिया। प्राणेश्वर के चरणों में नित्य नया अनुराग उत्पन्न होने लगा। शरीर की स्मृति जाती रही और मन तप में अनुरक्त हो गया। गिरिजा के अपार तप की प्रशंसा ब्रह्मवाणी ने भी की है और कहा है-

**अस तपु काहुँ न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ग्यानी।।**

**(रा० १/७५-१)**

भगवान् शंकर से प्रार्थना करते हुए प्रभु श्रीराम ने भी गिरिजा की पवित्र करनी को विस्तार सहित वर्णन करके अंत में विनय की-

**अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।**
**जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु।।**

**(रा० १/७६)**

हे शिव! यदि मुझ पर आपका प्रेम है तो मेरी विनय सुनिये- मुझे याचना के बदले में यह दीजिये कि आप जाकर शैलजा के साथ विवाह करके उन्हें शाश्वत संगिनी बनायें। देवताओं सहित ब्रह्मदेव ने भी शिव से प्रार्थना करते हुए आग्रह किया-

**सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ।।**
**पारबतीं तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा।।**

**(रा० १/८९-३,४)**

हे नाथ! स्वामी का यह सहज स्वभाव ही होता है कि निजजनों के अपराध करने पर पहले दण्ड देकर फिर उन पर कृपा किया करते हैं। आपको प्राप्त करने के लिए पार्वती ने अपार तप किया है। हे स्वामी ! अब आप चलकर उन्हें अंगीकार कीजिये।

पार्वती के अपार तप की महिमा का गान शिवपुराण में भी इसी प्रकार किया गया है। महाकवि गोस्वामी जो ने गौरी के इस चरित्र के वर्णन में "पार्वतीमंगल" नामक एक स्वतंत्र खण्ड काव्य की रचना की है। शिवपुराण के अनुसार उसमें भी भगवान् शंकर ब्रह्मचारी के वेष में शिवा की परीक्षा लेने आते है और गौरी के अनिन्ध सौन्दर्य, अनन्य भक्ति, अनुराग, अचल अवस्था और मुनिगण अगम अपार तप को देख कर विमुग्ध हो जाते हैं। शिव की उस स्थिति का वर्णन महाकवि इन शब्दों में करते हैं-

**देखि रूप अनुराग महेस भए बस।**
**कहत वचन जनु सानि स्नेह सुधारस।।**
**हमहि आजु लगि कनउड़ काऊ न कीन्हेउ।**
**पार्वती के तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ।।**

अम्बिका के तपोपूत पावन कामना रहित अखण्ड अनुराग को देखकर महेश्वर उसके वश में हो गये और स्नेह सुधा रूप रस से सने हुए वचनों में कहा, 'आज तक मुझे किसी ने अपना कृतज्ञ नहीं बनाया था किन्तु आज पार्वती ने

अपनी तपस्या और प्रेम के द्वारा मुझे मोल ले लिया है अर्थात् आज पार्वती के तप और प्रेम पर मैं बिक गया हूँ।' शिव का शिवा के प्रति यह कथन ही इस रहस्य का उद्‌घाटन कर देता है कि जो कुछ वह सती रूप में नहीं प्राप्त कर सकी थी उस सौभाग्यनिधि को शैलजा के रूप में प्राप्त करने में क्या कारण रहा है। मेरे विचार से जगत् जननी अम्बिका ने करुणावशात् अपने विविध अवतारों से विविध प्रकार की लीला कर नारी मात्र के लिए जीवन की सीख दी है और प्रकारान्तर से उसने कठोर साधन द्वारा मानवता को दिव्यता में परिवर्तित करने का आदर्श उपस्थित किया है। गौरी के इस पावन चरित्र का चिन्तन-मनन करते हुए उसके निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करने के लिए उस करुणामयी से ही सामर्थ्य की याचना करनी चाहिए। वह वात्सल्यहृदया जगत् जननी अवश्य ही अपनी करुणा की पावन छाया में प्राणिमात्र के मंगल का विधान करेंगी।

# सीता

श्री रामचरितमानस में उमा शिव संवाद से ही रामकथा का प्रारम्भ होता है और रामचरित्र से पूर्व गोस्वामी जी ने शिव चरित्र का वर्णन किया है जिसमें उनकी अभिन्ना शक्ति भगवती पार्वती को समस्त नारी समाज के लिए पातिव्रत पालन हेतु प्रेरणास्रोत तथा श्रद्धा के साकार विग्रह के रूप में वर्णित किया है जिसका विश्लेषण विशेष रूप से जगद् वन्दनीया जगदम्बा उमा के चरित्र में ही द्रष्टव्य है। मानस में गिरिजा के चरित्र द्वारा यद्यपि निष्ठावान्, पति परायणा, सर्वगुण सम्पन्ना, श्रद्धामयी नारी का एक आदर्श उपस्थित किया गया है किन्तु वह सर्वांगीण तथा सर्वतोमुखी जीवन जीने के लिए नारी समाज को प्रेरणा नहीं दे पाता कारण कि वह दैवी होने से सदैव दिव्य है। उसको मानवीय धरातल की विवशतायें, प्रतिकूलतायें स्पर्श नहीं कर पाती और न ही वे उसे अपनी भयंकरता से त्रस्त कर अग्नि परीक्षा को बाध्य ही कर पाती हैं। मानवीय धरातल पर रहने वाली नारियाँ अनुकूल परिस्थितियों में श्रद्धायुक्त हो प्रियतम के प्यार से आप्लावित होते हुए उसी सेवा में स्वयं को रत रखती ही हैं, यह तो नारी का स्वाभाविक धर्म है। भ्रष्ट बुद्धि, पुञ्चली वृत्ति वाली स्त्रियों की बात छोड़ दी जाए तो सामान्यतः नारियाँ स्वभावतः अनुकूल परिस्थितियों में पुरुष की सहधर्मिणी होती ही हैं, किन्तु आस्था एवं अनुराग का सही रूप तब सामने आता है जबकि पुरुष के समक्ष प्रतिकूल परिस्थितियों की भयंकरता अपना विकराल रूप धारण करके खड़ी हो जाये। गोस्वामी जी ने उच्च जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों तथा सुहृदजनों के यथार्थ रूप को जानने और परखने के लिए प्रतिकूल परिस्थिति को ही कसौटी बताया है-

**धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी।।**

**(रा० ३/५-७)**

धीरज, धर्म, मित्र और नारी इन चारों की आपत्काल में ही परीक्षा होती है। विशेषकर धैर्य और धर्म ये दोनों ही मानव जीवन के आधार स्तम्भ हैं। इनके अभाव में उसकी समस्त सृजनात्मक शक्ति निरर्थक हो जाती है। यदि यह कहा जाये कि धीरज और धर्म ही मानव जीवन को उच्चतम आदर्श शिखर पर पहुँचाने

वाले सर्जक गुणों के आश्रय हैं तो अत्युक्ति न होगी। विपत्ति काल में धैर्य और धर्म न रहें तो उनके आश्रित रहने वाले समस्त सद्गुण मानव का त्याग कर जाते हैं किन्तु इनके बने रहने पर विपत्ति में भी वह अपनी महत्ता से च्युत नहीं होता। धैर्य व्यक्ति के सुदृढ़ व्यक्तित्त्व का परिचायक है। धर्म से पूर्व इस अर्धाली में धैर्य को रख कर गोस्वामी जी ने इस सत्य की ओर भी इंगित किया है कि वह धर्म का भी आधार है क्योंकि अधीर व्यक्ति कभी भी धर्म की रक्षा नहीं कर सकता।

जिस प्रकार व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्त्व की यथार्थता को अभिव्यक्त करने वाले धीरज और धर्म हैं और आपत्काल में ही इनकी परीक्षा होती है वरन् अनुकूलता में धैर्यवान् वा धर्मात्मापन का नाटक तो जनसामान्य भी सुगमता से कर लेता है, उसी प्रकार बाह्य जगत् के निकटतम सहयोगी मित्र और नारी हैं, इनकी परीक्षा भी विपत्तिकाल में ही हुआ करती है। वह नारी जो विपत्तिकाल में भी पति की अनुगामिनी हो, जिस के सामने विश्व का सारा वैभव, सारी सुख-सुविधाएँ, पति प्रेम तथा उसकी सेवा के समक्ष व्यर्थ एवं सारहीन हों, जिसके जीवन का सार सर्वस्व पति सेवा तथा उसकी प्रसन्नता हो, ऐसी आदर्श नारी का चरित्र ही विश्व की महिलाओं को सर्वांगीण तथा सर्वोत्तम जीवन जीने के लिए प्रेरणाप्रद हो सकता है। वह नारी जो विपत्तिकाल में पिता तथा ससुरगृह के देव-दुर्लभ सुखमय साधनों का त्याग कर पति का अनुसरण किया हो, वह नारी जो कंटकाकीर्ण कानन पथ में भी छायावत् पति के साथ रही हो और जिसे घोर घाम, हिम, वारि, बयारि आदि क्लेशपूर्ण परिस्थितियाँ भी पति सेवा से विरत करने में अक्षम रही हों, वह नारी जिसने विश्वविजयी लंकेश को तथा उसके देवदुर्लभ वैभव को तृणवत् बताकर अपने अटल पति प्रेम का परिचय दिया हो, वह नारी जिसने विश्व के समक्ष अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए सहर्ष अग्नि की प्रचंड ज्वालाओं का आलिंगन करते हुए अग्नि परीक्षा दी हो, वही मानव जाति की समस्त देवियों के लिए सर्वोत्तम आदर्श हो सकती हैं। भय और प्रलोभन, यही मानव के पथ भ्रष्ट होने में कारण बनते हैं किन्तु वह सुकुमारी सौन्दर्यमूर्ति नारी जो घोर नरभक्षी राक्षसों के भयानक आक्रमणों से किञ्चित भी भयभीत न हुई हो, जिसके पातिव्रत धर्म की रक्षा में जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय रही हो, जो त्रिलोकी का आधिपत्य भी अपनी धर्म-निष्ठा के सामने तुच्छ समझती हो वही तो सम्पूर्ण नारी समाज के लिए अनुकूल वा प्रतिकूल प्रत्येक परिस्थिति में समग्र जीवन जीने के लिए मार्गदर्शिका बन सकती है। ये सारे के सारे गुण गोस्वामी जी की परमाराध्या स्वामिनी श्री सीता

जी में विद्यमान हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में-

**सती सिरोमनि सिय गुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा।।**

**(रा० १/४२-७)**

अभिप्राय यह है कि मानसरूपी मानसरोवर से उद्भूत श्रीरामयशजल से परिपूर्ण इस कविता रूपी सरिता में जो सती शिरोमणि सीता के गुणों की गाथा है वही इस रामयश रूपी जल का निर्मल एवं अनुपम गुण है। सीता के अतिमानवीय स्वरूप को छोड़कर भी यदि मानवीय दृष्टि से ही देखा जाये तो भी महाकवि की वह उक्ति कि-

**जग असि जुबति कहाँ कमनीया।**

**(रा० १/२४७-४)**

बिल्कुल सही दिखाई देती है। गोस्वामी जी ही नहीं महर्षि वाल्मीकि भी यही घोषणा करते हैं-

**नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।**
**तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत्।।**

**(वा०रा० ३/३०)**

देव कन्या, गन्धर्व कन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी सीता की समानता नहीं कर सकती फिर मनुष्य जाति की कोई दूसरी स्त्री उसके समान कैसे हो सकती है? अब तक के भारतीय इतिहास में मानवीय आदर्शों से युक्त श्रीसीताराम का चरित्र जिस व्यापकता से जन-समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सका है उसकी समता में कोई दूसरा आदर्श नहीं मिलता। वस्तुतः यह आदर्श मानव जीवन के यथार्थ से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है अतः इसे हम केवल काल्पनिक आदर्श नहीं कह सकते। नारियों में श्री सीता सुख, स्नेह, शोभा तथा गुणों की खान हैं। वह एक आदर्श पुत्री, आदर्श पत्नी, आदर्श कुल वधू तथा प्रजा के लिए आदर्श साम्राज्ञी हैं। उनके निर्मल यश चन्द्र की पावन चन्द्रिका युगों से मानव समाज को शीतलत्व प्रदान करती आ रही है और आगे भी करती रहेगी।

मानस महाकाव्य में भगवती सीता का परिचय हमें दो रूपों में प्राप्त होता है। प्रथम 'उद्भव स्थिति संहारकारिणी, क्लेशहारिणी, सर्वश्रेयस्करीं, परात्पर ब्रह्म राम की प्रिय वल्लभा "पराशक्ति सीता" के रूप में और द्वितीय मिथिलेश महाराज जनक की सुकृतमयी मूर्ति पुत्री, सुख, स्नेह, शोभा और सद्गुणों की खान दशरथनन्दन मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की प्राणवल्लभा सतीशिरोमणी "आर्यनारी

सीता" के रूप में। कवि की दृष्टि में इन दोनों रूपों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। प्रथम उस पराशक्ति का नित्य निराकार रूप है और दूसरा उसी परमेश्वरी का सगुण साकार अवतार। दोनों उसी प्रकार से अभिन्न हैं जैसे काष्ठगत तथा प्रकट अग्नि। आद्याशक्ति के रूप में भगवती सीता का परिचय महाकाव्य के प्रारम्भ के पंचम श्लोक में होता है जिसमें कवि वन्दना करते हुए कहता है-

**उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं।**
**सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।**

**(रा० १/५ श्लोक)**

अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों को हरने वाली तथा सम्पूर्ण कल्याणों की कर्तृ राम वल्लभा सीता को मैं नमस्कार करता हूँ"। उस पराशक्ति का दर्शन श्रीरामावतार के विविध हेतुओं के प्रसंग में महाराज मनु तथा शतरूपा की कठोर तपस्या के परिणाम रूप में प्रकट हुए परात्पर पुरुषोत्तम प्रभु श्रीराम के साथ उनकी अभिन्न आद्याशक्ति के रूप में होता है। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं-मनु और शतरूपा की अनन्यभक्ति से द्रवित होकर प्रभु श्रीराम उनके समक्ष प्रकट होते हैं और उसके साथ में ही-

**वाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला।।**
**जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।।**
**भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसी सीता सोई।।**

**(रा० १/१४८-२,३,४)**

प्रभु के वाम भाग में सदा अनुकूल रहने वाली छविनिधि शोभा की राशि जगत् की मूलकारण रूपा आद्याशक्ति सुशोभित हैं जिसके अंश से गुणों की खान अगणित लक्ष्मी, उमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं तथा जिसकी भृकुटि के सकेत मात्र से अनन्त चराचर ब्रह्माण्ड की सृष्टि हो जाती है, वही पराशक्ति सीता राम के वामभाग में विराजित हैं। परात्पर प्रभु राम जब इच्छामय नरवेष धारण कर मनु के निकेत में अवतरित होने का उन्हें वरदान देते हैं तो साथ में यह भी कहते हैं कि -

**आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।**

**(रा० १/१५२-४)**

"आदिशक्ति मेरी स्वरूपभूता माया जिसने चराचर जगत् को उत्पन्न किया है वह भी अवतरित होगी"। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस परात्पर ब्रह्म तथा उसकी पराशक्ति का राम और सीता नाम दशरथ के पुत्र तथा जनक की पुत्री के

रूप में अवतरित होने पर ही पड़ा, ऐसी बात नहीं है। राम और सीता, ये परात्पर ब्रह्म तथा उसकी पराशक्ति के नित्य अभिधान हैं। उस परमात्मा में योगीजन अपने चित्त को रमाया करते हैं अथवा वह स्वयं ही चराचर में रमा हुआ है इसलिए वह "राम" नाम से अभिहित है। इस सम्बन्ध में श्रुति वाक्य है-

**रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।**
**इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।।**

**(रा०पू०ता०उपनिषद्-१/६)**

ब्रह्म की इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति जो उसके त्रिविध भावों की साधिका है उस परमात्मा की स्वरूपभूता महामाया को सीता कहते हैं। यथा-

**इच्छा ज्ञान क्रियाशक्तित्रयं यद्भावसाधनम्।**
**तद् ब्रह्मसत्तासामान्या सीतातत्त्वमुपासमहे।।**

सीतोपनिषद् में 'सीता' नाम तथा उसके तात्त्विक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रीसीता शक्तिस्वरूपा हैं, वही मूल प्रकृति है। वह प्रणव की प्रकृति स्वरूपा होने से भी प्रकृति कही जाती है। "सीता" यह उनका नाम तीन वर्णों का है और साक्षात् ब्रह्म की योगमाया हैं। सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च के भगवान् विष्णु बीज हैं और उनकी योगमाया "ईकार" रूपा हैं। "सकार" सत्य, अमृतप्राप्ति नाम ऐश्वर्य, सिद्धि एवं चन्द्रमा का वाचक कहा गया है। दीर्घ रूप मात्रायुक्त तकार महालक्ष्मी रूप प्रकाशमय एवं विस्तारकारी कहा गया है। वे ईकाररूपिणी अव्यक्तरूपा महामाया अपने चन्द्र सन्निभ अमृतमय अवयवों एवं दिव्य अलंकार भूषणों से अलंकृत स्वरूप में प्रकट होती हैं। इसी उपनिषद् में परा अम्बा सीता के तीन रूप बताये गये हैं। अपने प्रथम रूप से वे शब्द ब्रह्ममयी हैं। वे बुद्धि स्वरूपा स्वाध्यायकाल में प्रसन्न होने पर बोध को प्रकट करती हैं। दूसरे रूप में वे पृथ्वी पर महाराज सीरध्वज जनक की यज्ञभूमि में हल के अग्रभाग से प्रकट हुईं और अपने तीसरे रूप में वे ईकाररूपिणी अव्यक्त स्वरूपा रहती हैं। इन्हीं तीनों रूपों को सीता नाम से अभिहित किया जाता है। वे तीनों रूपों से ब्रह्म राम की नित्य अभिन्न संगिनी हैं। वे जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त शरीर-धारियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार उनके कटाक्षमात्र का खेल है"। इसी प्रकार से 'रामतापनी' उपनिषद् में ब्रह्म राम के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है "इस जगत् की कारणभूता मूल प्रकृति रूपा परमेश्वरी सीता उनके वाम अंक को विभूषित कर रही हैं। सीताजी के अंगों की कान्ति सुवर्णवत् गौर है। वे दिव्य आभूषणों से विभूषित तथा हाथ में

कमल धारण किये हुए हैं। उन चिदानन्दमयी सीता के साथ विराजित श्रीराम सुशोभित हो रहे हैं"। उसी उपनिषद् में कहा गया है कि वे "श्रीराम जब शीतल किरणों वाली सौम्य-कान्तिमयी पराशक्ति सीता से संयुक्त होते हैं तब उनसे अग्नि सोमात्मक अर्थात् पुरुषप्रकृतिमय जगत् की उत्पत्ति होती है"। इन उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि "सीता" उस परमात्मा की पराशक्ति योगमाया का त्रिराक्षर पवित्र नाम है। वही योगमाया करुणावशात् जब सीरध्वज जनक के हल के अग्रभाग के स्पर्श से पृथ्वी से प्रकट हो जनक द्वारा पालित होती है तब भी वह जनकनन्दिनी "सीता" नाम से ही अभिहित होती है।

मानस महाकाव्य की नायिका परमेश्वरी योगमाया सीता नहीं सीरध्वज जनक द्वारा पालित-लालित जनकनन्दिनी सीता है जो उस पराशक्ति का ही अवतार है, ऐसी ही महाकवि की मान्यता है। जनकनन्दिनी सीता आदिशक्ति का अवतार हैं वा नहीं इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। तत्त्वविज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण चराचर जगत् ही उस ब्राह्मी शक्ति का अवतार है।

**सर्वरूपमयी देवी सर्वदेवीमयं जगत्।**

उपनिषद् की श्रुति कहती है-

**अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।।**

**(देव्यथर्वशीर्ष० २)**

भगवती स्वयं ब्रह्मस्वरूपिणी हैं और उसी से यह प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् प्रकट हुआ है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है-

**त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार त्वं उत वा कुमारी।**

**(श्वेता० ४/३)**

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है। अभिप्राय यह है कि वेदान्त की दृष्टि में सर्वरूप में परमात्मा तथा उसकी पराशक्ति की ही क्रीड़ा हो रही है। दुर्गासप्तशती में परमेश्वरी की स्तुति करते हुए देवताओं ने कहा है-

**विद्या समस्तासत्त्व देविभेदाः स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु।**

हे देवि! समस्त विद्याएँ तथा विश्व की समस्त नारियाँ तुम्हारी ही अभिव्यक्ति हैं। यही बात शिव पुराण में शिवा के प्रति तथा अध्यात्म रामायण में भगवती सीता के प्रति कही गई है। यह याद रखना चाहिए कि वैदिक संहिताओं में परमात्मा की जिस पराशक्ति को "स्वधा", "अदिति", "देवी" आदि अभिधानों से सम्बोधित किया गया है और सर्वरूपों में जिसकी अभिव्यक्ति का वर्णन किया गया

है वही रामायण में ब्रह्म राम की शक्ति सीता है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु जब वह अवतरित होकर जनकनन्दिनी सीता के रूप में मानवीय धरातल पर आती हैं तो यहाँ उनका प्रयोजन अपनी दैवी शक्ति का प्रदर्शन नहीं होता। वह मानव की भूमिका में ही रहते हुए अपने पवित्र आचरण से मानव को दिव्यता की दिशा में प्रस्थान होने की प्रेरणा देती है और उसके लिए आदर्श उपस्थित करती है। सीता दिव्य शक्ति का अवतार है इसमें सन्देह नहीं किन्तु उनका चरित्र एक महानतम् आर्य नारी का पावन चरित्र है। वह अवतार होते हुए भी मानवी हैं और मानव नारी मर्यादा की सीमान्त का साकार विग्रह। वे अपने पवित्र आचरण से नारी जगत् के लिए युगों से उत्तमतम् आदर्श रही हैं और आगे भी रहेंगी।

जनकनन्दिनी सीता के समग्र जीवन वृत्त को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है। १.बाल्यकाल से विवाह तक राजकुमारी के रूप में जनकपुर में। २.विवाह के पश्चात् और वनवास से पूर्व कुलवधू के रूप में अयोध्या में। ३.वनवास के पश्चात् रावण द्वारा अपहरण से पूर्व तप, त्याग तथा सेवापरायणा, पति प्राणवल्लभा वनदेवी के रूप में। ४.रावण द्वारा अपहृत होने पर पति पदकमल निरता परम विरहिणी, पतिपरायणा, स्वधर्म निष्ठिता परम गौरवमयी तपोपूता आर्य नारी के रूप में लंका में और ५.वनवास से लौटने पर प्रजा हितरत महान् सम्राट की सहधर्मिणी तथा सुयोग्या साम्राज्ञी के रूप में पुनः अयोध्या में। मानस महाकाव्य में जनकनन्दिनी सीता का सर्वप्रथम दर्शन पुष्पवाटिका में होता है। उससे पूर्व केवल इतना ही ज्ञात होता है कि महामुनि विश्वामित्र ने श्रीराम को जनकतनया सीता के स्वयंवर के सम्बन्ध में बताया और कहा कि उसमें देश-देश के नृपतिगण भाग लेने आ रहे हैं। धनुष-यज्ञ का समाचार सुन विश्वामित्र की आज्ञानुसार श्रीराम मुनिमण्डली के साथ जनकपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। मिथिला में पहुँचकर पुर की रम्यता को देख बन्धु सहित श्रीराम विशेष प्रसन्न होते हैं। जनक के द्वारा आदृत हो मुनि विश्वामित्र के साथ विशेष सुविधामय स्थान में निवास करते हैं। उसी दिन महामुनि से आज्ञा लेकर लक्ष्मण सहित श्रीराम नगर की शोभा देखने जाते हैं जहाँ पर उनके रूपलावण्य को देख सभी नर-नारी विमुग्ध हो, शोभाधाम की शोभा का बखान करते हैं। भूपकिशोरों के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा सुनकर श्रेष्ठ कुल की युवतियाँ अपने भवनों की खिड़कियों से निहारती हुई शील, सौन्दर्य तथा सुषमा की राशि श्रीराम के रूप को देखकर आपस में चर्चा करते हुए कहती हैं-"जोग जानकिहि एहि बर अहइ।"

श्रीसीता के योग्य यही श्यामल-किशोर श्रेष्ठ वर है और विधाता से प्रार्थना करती हैं कि यदि वह सभी को उचित फल प्रदान करता है तो अवश्य ही जनकनन्दिनी को भी यह सौभाग्य प्रदान करे। नगर की शोभा देख लक्ष्मण के सहित श्रीराम आकर मुनि को प्रणाम करते हैं और धर्म-चर्चा श्रवण कर रात्रि में मुनि की चरण सेवा में निरत हो जाते हैं। मुनि की आज्ञा पाकर दोनों भाई विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यचर्या के पश्चात् श्रीराम लक्ष्मण सहित गुरु आज्ञा से उनके पूजार्थ पुष्प लेने के लिए पुष्प-वाटिका में प्रवेश करते हैं और माली से अनुमति प्राप्त कर पत्र-पुष्प उतारने लगते हैं। उसी समय वहाँ गौरी पूजन के लिए सयानी सखियों के साथ जनकनन्दिनी का भी आगम होता है। कुल की प्रथानुसार स्वयंवर यज्ञ से पूर्व 'गौरी पूजन' तथा माहेश्वरी से अनुरूप वर की प्राप्ति की प्रार्थना राजकुमारी के लिए आवश्यक है। अतः माँ की आज्ञा से जनकनन्दिनी का 'गिरिजा-पूजन' के लिए मन्दिर में आना हुआ है। उस प्रसंग का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं-

**तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।।**
**संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी।।**

**(रा० १/२२८-२)**

मंगल कार्य के लिए जाते समय आज भी सौभाग्यवती देवियाँ मंगल गीता गाया करती हैं। जनकनन्दिनी की माता ने उसे सयानी सखियों के साथ भेजा है। नगर के चारों तरफ विभिन्न देशों के नरेशगण अपना डेरा डाले हुए हैं और देव, दनुज आदि भी मानव रूप में वहाँ आये हुए हैं। राजकुमारी के मनोहारी सौन्दर्य की ख्याति सर्वत्र फैली हुई है, ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की अप्रिय घटना को असम्भाव्य नहीं कहा जा सकता। अतः सयानी सखियों के साथ ही राजकुमारी को महल से बाहर भेजना उचित है। पुष्प-वाटिका के मध्य में ही सुन्दर सरोवर है और उसके समीप ही भगवती गिरिजा का सुन्दर मन्दिर। आराधक सरोवर में स्नान कर मन्दिर में पूजार्थ प्रवेश करते हैं। जनकनन्दिनी भी-

**मज्जनु करि सर सखी समेता। गई मुदित मन गौरि निकेता।।**
**पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग वरु मागा।।**

**(रा० १/२२८-५)**

सखियों के साथ सरोवर में स्नान करती हैं और प्रसन्न मन से गौरी के चरणों में उपस्थित होती हैं। पूजा में प्रेम ही पुजारी का बल है जिससे वह अपने

पूज्य को प्रसन्न कर लेता है। अनुराग के अभाव में आराधना अपूर्ण ही रह जाती है। सीता के लिए आज की उपासना ही उनके सौभाग्य की निर्णायक है। अम्बिका की करुणा से ही अनुरूप वर की प्राप्ति सम्भव है। इसी आस्था के साथ वे अत्यन्त अनुराग से भगवती का आराधन करती हैं और अपने अनुरूप सुन्दर वर पाने की प्रार्थना करती हैं। अभी तक उनके हृदय में किसी अभीष्ट का आकर्षण नहीं है अतः वे सर्वज्ञा सर्वेश्वरी से ही सुभग वर की याचना करती हैं। सीता गौरीपूजन में निमग्न हैं। साथ में आई सखियों में से एक उनसे विलग हो पुष्प-वाटिका में सुमन सौन्दर्य का आनन्द लेने चली गई। प्रातःकालीन अंशुमान की सुकोमल किरणें कुसुम कलिकाओं के अन्तर को स्पर्श कर उन्हें कृतार्थ कर देती हैं। सर्व प्राणाधार सवितृ देव का स्पर्श पाकर वे स्वयं की सार्थकता पर फूली नहीं समाती। प्रमुदित हो मोहक मुस्कान के रूप में अपनी प्रसन्नता बिखेरने लगती हैं। सौन्दर्य प्रिय मानव विशेष कर नारी-हृदय मानो प्रातःकालीन कुसुमकलियों के साथ सजातीयता का अनुभव करते हुए उनके सौभाग्यशाली सौन्दर्य पर विमुग्ध हो उन्हें निहार कर आनन्दित होता है और कभी-कभी देव दर्शन तथा पूजन से भी अधिक अन्तःशान्ति और सुख की प्रतीति उनके दर्शन में करता है। सम्भवतः अधिक संवेदनशीला होने से ही वह सखी अन्य सखियों के साथ सीता को गिरिजा पूजन में निरत देख स्वयं पुष्प दर्शनार्थ वाटिका में जा पहुँची है। विविध प्रकार के पुष्प समूह के अनुपम अनिन्द्य सौन्दर्य को देखते हुए उसकी दृष्टि अचानक दोनों राजकुमारों पर पड़ गई जो मुदित मुद्रा में कुसुमित वाटिका की छटा निरख आह्लादित हो रहे थे। शोभा की सीमा तथा सौन्दर्य के समुद्र को साकार रूप में देखते ही वह ठगी सी रह गई। सुन्दरता से सम्बन्धित अब तक जो कुछ भी उसने देखा और सुना था वह सब कुछ एकत्र हो कर भी इस शोभा सागर के एक बून्द की भी समता नहीं कर सकता था। अनुपम लावण्य को देख वह प्रेम विह्वला स्वयं को संभाल सकने में भी असमर्थ सी हो गई। उसका अन्तर्जगत् अकल्पनीय, असम्भाव्य शोभा सिन्धु की शोभा से आप्लावित हो रहा था किन्तु सजग बुद्धि उसे स्वार्थपरता से विरत करती हुई उस अनुपम सुख में समस्त सखियों सहित राजकुमारी सीता को भी सहभागिनी बनाने के लिए आतुर कर दिया। स्वयं को संभालती हुई वह प्रेम विमुग्धा गिरिजा गृह में सीता के पास आ गई। हर्षातिरेक में उसकी विचित्र दशा को देख सखियाँ आतुरता से कोमल वाणी में उससे कारण पूछती हैं। महाकवि के शब्दों में-

**तासु दसा देखि सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।**
**कहु कारनु निज हरषकर पूछहिं सब मृदु बैन।।**

**(रा० १/२२८)**

अनुपम सौन्दर्य सागर में अवगाहन कर उसके सौभाग्यशाली नेत्र कृतकृत्यता से सजल हो दैन्य प्रकट कर रहे हैं। आनन्दातिरेक से शरीर पुलकित है। इस स्थिति में वाणी स्वयं को प्राण में आहुत कर मौन हो गई है क्योंकि अन्तरानुभूति को वह बाह्य जगत् में व्यक्त करने की अपनी अल्प सामर्थ्य से सुपरिचित है। सभी के बार-बार पूछने पर वह इतना ही कह पाई-

**देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए।।**
**स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।**

**(रा० १/२२९-१,२)**

वाटिका देखने के लिए दो राजकुमार आये हुए हैं। वे किशोर अवस्था के हैं और सब भाँति सुन्दर हैं। वे श्यामल, गौर किशोर कितने सुन्दर हैं इसका बखान करना मेरे लिए असम्भव है क्योंकि वर्णन करने वाली वाणी है किन्तु उसके नेत्र नहीं हैं और देखने वाले नेत्र वाणी विहीन होने से अपनी असमर्थता पर लाचार हैं। सुषमा एवं सौन्दर्य के साकार विग्रह दोनों राजकुमारों के सम्बन्ध में कुछ न कहते हुए भी सभी कुछ कह देने की कवि की इस अद्भुत कला पर हृदय बरबस विमुग्ध हो बलिहार जाता है। कैसी अनुपम उद्भावना है कवि की इस उक्ति में-

**गिरा अनयन नयन बिनु बानी।**

लगता है कि कवि हृदय उस विमुग्धता के साथ अभिन्न हो उस अनुपम सौन्दर्य निधि में स्वयं भी अवगाहन करने लगा है इसलिए वह उसकी व्याख्या में अपनी रसानुभूति के अलभ्य लाभ से वंचित होना नहीं चाहता। मुग्धा की दशा को देख तथा उसके वचन चातुर्य से युगल किशोर के अवर्णनीय सौन्दर्य को सुनकर सखियाँ हर्षित हो जाती हैं और इस असम्भाव्य सुखद सूचना को सुनकर राजकिशोरी अत्यन्त उत्कण्ठित है ऐसा जान सभी नृपकिशोर के सम्बन्ध में विचार करने लगती हैं। धनुषयज्ञ में भाग लेने आये हुए नृपतिगणों में ही कोई राजकुमार होंगे इसमें सन्देह नहीं किन्तु अन्तःपुर की वाटिका में सामान्य नृपतिकुमार का प्रवेश सम्भव नहीं है। इससे वे सभी सुपरिचित हैं। अवश्य ही वे कोई विशिष्ट अतिथि हैं जिन्हें महाराज के अन्तःपुर में स्थान दिया है। जो भूपवाटिका में प्रवेश प्राप्त किये हैं वे कोई सामान्य राजकिशोर नहीं हो सकते। ऐसे विशिष्ट राजकुमारों

को देखने की उत्कण्ठा से राजकिशोरी के नेत्र भी आतुर हो गये। सयानी सखियों ने यह जानकर, जनकनन्दिनी को लेकर उन्हें देखने जाना चाहिए वा नहीं, इस औचित्य पर विचार करने लगीं। उनके अन्तर्द्वन्द का संकेत करते हुए महाकवि लिखते हैं-

**एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली।।**
**जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।।**
**बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू।।**
**(रा० १/२२९-४ से ६)**

उनमें से एक ने कहा-हे अलि! ये वे ही राजकुमार हैं जो सुना है कल ही विश्वामित्र मुनि के साथ आये हैं जिन्होंने अपने रूप की मोहनी डाल कर नगर के सभी नर-नारियों को अपने वश में कर लिया है। नगर में जहाँ तहाँ सभी लोग उनकी अनुपम छवि का वर्णन कर रहे हैं। वे देखने योग्य हैं। अवश्य चल कर उन्हें देखना चाहिए। जो अपनी रूप माधुरी से नगर की नारियों को ही नहीं पुरुषों को भी विमुग्ध कर लिये हैं, वे कोई सामान्य रूप के धनी नहीं हैं। जिनकी सौन्दर्य निधि का बखान नगर में सर्वत्र हो रहा है, उनको चलकर देखने में संकोच की क्या बात है? वे दर्शनीय हैं, दर्शन करना ही चाहिए। उनको देखने का योग भी सुन्दर बन गया है। दोनों भाई स्वयं ही वाटिका देखने आये हैं। अन्य कोई उनके साथ नहीं है। यद्यपि वे मुनि विश्वामित्र के साथ आये हैं किन्तु इस समय तो वे अकेले ही हैं अतः उन्हें अवश्य ही चल कर देखना है-

**तासु बचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने।।**
**(रा० १/२२९-७)**

उस चतुर सखी के चातुर्य युक्त वचन सभी को प्रिय लगे किन्तु सीता को अत्यन्त प्रिय लगे और दर्शन की लालसा से उनके नेत्र आकुल हो उठे। जिनके सौन्दर्य को सुनकर ही यह दशा हो रही है उन्हें देखने पर क्या स्थिति होगी? उस प्रिय सखी को आगे करके सीता को साथ लिये सखियाँ उस ओर चल देती हैं जहाँ नृपकिशोर पुष्प चुन रहे हैं।

देवर्षि नारद ने सीता से कहा था कि तुम्हारे हृदयेश तुम्हें पुष्प वाटिका में मिलेंगे। देवर्षि के वचन का स्मरण होते ही राजकिशोर को देखने की लालसा पावन प्रेम में परिवर्तित हो गई-

**सुमिरि सिय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।**

**चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।।**

**(रा० १/२२९)**

अब वे अत्यन्त आकुलता से भयभीत मृगछौनी के समान चकित होकर चारों तरफ निहार रही हैं। चाह है, उत्कण्ठा है, आतुरता है शोभासिन्धु की एक झलक पाने की।

भाई सहित राम वाटिका की सुषमा से आनन्दित हो पुष्प चुन रहे थे। इतने में ही एक अनुपम ध्वनि श्रवण में पड़ी जिसे सुनकर वे चकित हो गये। महाकवि लिखते हैं-

**कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि।।**
**मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।।**
**अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।।**

**(रा० १/२३०-१ से ३)**

कंकण, करघनी तथा पायजेब के नूपुरों की रुनक-झुनक मधुर ध्वनि सुन राम का चित्त भी स्वभावतः उस दिशा में आकर्षित हो गया। यह चित्त इतनी सुगमता से किसी शब्द की ओर आकर्षित होने वाला नहीं है। उसकी अचलता का संकेत आगे स्वयं राम ने अपने अनुज से किया है। आभूषणों की ध्वनि में दिव्यता का आभास हो रहा है और जान पड़ता है कि विश्व विजय की कामना से मानो कामदेव ने ही विजय की दुंदुभि बजा दी हो. ऐसा हृदय में विचार कर अपने अन्तर्भाव को लक्ष्मण के प्रति व्यक्त करते हुए ज्योंहि श्रीराम ने उस ध्वनि की दिशा में दृष्टिपात किया त्योंहि उनके नेत्र चकोरवत् चन्द्रानना सीता के मुखचन्द्र को निहारते ही रह गये। उस अनुपम दृश्य का वर्णन महाकवि के शब्दों में ही पढ़िए-

**भय बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।।**

**(रा० १/२३०-४)**

सीता की अपार सौन्दर्य राशि को देखकर राम के सुन्दर नेत्र अपनी सहज चंचलता से विरत हो अचंचल हो गये अर्थात् सिय मुखराशि से विनिःसृत रूप रश्मि से उद्भूत छविसुधा का पान करते हुए स्थिर हो गये। ऐसा प्रतीत होता है मानो निमि ने सकुचाकर दृगंचल ही त्याग दिया हो। प्राचीन कथा है कि महाराज निमि जनक के पूर्वज थे। गुरु वशिष्ठ के श्राप से अशरीरी हो गये थे, पश्चात् उन्होंने मनुष्य के पलकों पर निवास करने का वरदान प्राप्त किया इसीलिए पलक झपकने की क्रिया तथा तत्सम्बन्धित काल को निमेष कहा जाता है। राम के

अचंचल नेत्र अपलक हो सीता की रूप माधुरी का पान कर रहे हैं। कवि उद्भावना कर रहा है कि उस समय राम के सुन्दर नेत्र ऐसे टिके हुए हैं मानो उनकी पलकों पर रहने वाले महाराज निमि अपने ही कुल की किशोरी के प्रति राम नेत्र की अनुरक्ति देख सकुचा कर पलक त्याग दूर हो गये हों इसीलिए पलकें नहीं झपक रही हैं। कितनी अद्भुत उत्प्रेक्षा है महाकवि की यहाँ पर। उनके मानस महाकाव्य में मर्यादित श्रृंगाररस की निष्पत्ति काव्य जगत् की अनुपम कला का सीमान्त है। दो अर्धालियों में ही सीता के अनुपम अपार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रति राम की अनिर्वचनीय अनुरक्ति दोनों के ही सम्बन्ध में कुछ न कहते हुए भी बड़ी कुशलता के साथ सब कुछ कह जाना यह गोस्वामी जी के काव्य कला का ही चमत्कार है। श्रीराम स्वयं ही शोभा की सीमा हैं। उनकी सौन्दर्य सुषमा को देख देव ही नहीं दानव भी विमुग्ध हो उसकी महिमा का गान करने लगते हैं किन्तु सीता की शोभा अपार है उसे देखकर शोभाधाम राम भी विमुग्ध हो जाते हैं। उनकी अन्तर्दशा का वर्णन करते हुए महाकवि कहते हैं-

**देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।।**

**(रा० १/२३०-५)**

आनन्द सिन्धु सुखराशि राम के लिए भी यदि विश्व में कुछ सुखद है तो वह अद्वितीय, अनुपम तथा अवर्णनीय होगा, इसमें आश्चर्य नहीं है। इन्द्रियगम्य रसानुभूति को ही सुख कहा जाता है अतः सुख का आधार बाह्यजगत् से सम्बन्धित होने से लौकिक ही हुआ करता है। विश्व की विशिष्ट विभूतियाँ लौकिक जगत् से बहुत ऊपर हुआ करती हैं। यही कारण है कि जागतिक सौन्दर्य उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाता। श्रीराम विभूतिमत् व्यक्तित्व के सीमान्त हैं अतः उनके लिए लौकिक शोभा सुखद नहीं हो सकती। सिय की अलौकिक शोभा को देख राम का हृदय विमुग्ध हो उसकी सराहना करता है। सौन्दर्य रसानुभूति में मन के निमग्न हो जाने से तन और वाणी दोनों ही स्तम्भित हो गये हैं। कुछ कहा नहीं जा रहा। रसिक सम्प्रदाय के सन्तों ने पुष्प-वाटिका प्रसंग के नायक और नायिका के परस्पर प्रथम दर्शन में श्रृंगार रस से सम्बन्धित युद्ध की उद्भावना की है और इस अर्धाली का अर्थ करते हुए कहा है- 'हृदयँ सराहत बचनु न आवा।'(रा० १/२३०-५)

सीता की मधुर चितवन में उनके नेत्र रूपी बाण से राम का हृदय घायल हो गया इसलिए बोला नहीं जा रहा है। नारी के नेत्र को गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी बाण से उपमित किया है यथा-

**नारि नयन सर जाहि न लागा।**

**(रा० ४/२१-४)**

महाकवि द्वारा "हृदय सराहत" की शब्द योजना अनुपम है। सिय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में शब्द सामर्थ्य की निःसारता प्रत्यक्ष दीख रही है इसलिए वाणी मौन है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि -

**जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।।**

**(रा० १/२३०-६)**

मानो रचयिता ने अपनी सारी निपुणता को ही मूर्तिमान कर विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर दिया हो। सीता का सौन्दर्य विधाता की कृति नहीं है, यह उसका नैपुण्य तथा उसकी कलात्मकता ही मूर्तिमान होकर सीता के रूप में प्रकट हुई है। कितनी अद्‌भुत उद्‌भावना है महाकवि की। यहाँ पर उनकी-"समुझत बनइ न जाइ बखानी" की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ हो रही है। राम के नेत्र सीता की छवि सुधा का पान कर रहे हैं और हृदय विमुग्ध हो उसकी प्रशंसा में निरत है। क्या अनुपम सौन्दर्य है वह? ऐसा जान पड़ता है मानो-

**सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई।।**

**(रा० १/२३०-७)**

वह सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली है। सुन्दरता में जो सौन्दर्य है वह उसका ही प्रसाद है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो छविगृह में दीपसिखा जल रही हो। अभिप्राय यह कि मानो अब तक छबिगृह में अन्धेरा था। वह गृह अब सीता के सौन्दर्यरूपी दीपशिखा को प्राप्त कर जगमगा उठा हो। सुन्दरता की अगाधता को अभिव्यक्त करने के लिए इससे भी अधिक कुछ कहा जा सकता है, मेरे विचार से यह अकल्पनीय है। जो सुन्दरता को भी सौन्दर्य प्रदान करती हो उसकी छबि का बखान किस प्रकार किया जाये? जो अपने रूप सौन्दर्य की दीपशिखा से सुन्दरता के भवन को भी प्रकाश प्रदान करती हो, क्या उसके गुणगान में वाणी की गति हो सकती है? कवि के पास तो अक्षर एवं तद्‌गत अर्थ का ही बल होता है और ये दोनों ही वाणी और बुद्धिगम्य होने से प्राकृत हैं। इन प्राकृत साधनों से अप्राकृत छवि सुधा सिन्धु का वर्णन नहीं हो सकता। उपमा के द्वारा ही उपमेय का निर्दर्शन होता है किन्तु अनुपम के लिए तो उपमा की उद्‌भावना ही असम्भव है फिर उसका संकेतमात्र भी किस प्रकार किया जा सकता है? राम का हृदय हारकर चकित हो यह स्वीकार कर लेता है कि

**सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी।।**

**(रा० १/२३०-८)**

देहधारियों की कुमारियों के वर्णन में कवियों ने सभी उपमाओं को जूठी कर दिया है तो अब विदेह कुमारी के लिए किस उपमा का प्रयोग किया जाये। अपनी कविता कामिनी को श्रृंगारित करने के लिए महाकवि ने कितने चमत्कारपूर्ण अद्भुत अलंकारों का प्रयोग किया है, यहाँ पर यह देख अन्तर विमुग्ध हो धन्य-धन्य कह उठता है। इसका यथार्थ आनन्द तो काव्यकला के मर्मज्ञ ही ले सकते हैं। मानस महाकाव्य में नायिका महाकवि की दृष्टि में केवल उदात्त नायिका ही नहीं वह उसकी परमाराध्या स्वामिनी भी है। वह अनुपम है, अप्राकृत है अतः उसके गुण, रूप, शोभा, शील के बखान में जितना भी कवि कहता है उसे अल्प ही प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में कवि की ही नहीं उसके महाकाव्य के महान् नायक की भी यही स्थिति है-

**सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।**
**बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि।।**

**(रा० १/२३०)**

श्रीराम का अन्तर सीता के अलौकिक अनुपम सौन्दर्य की सराहना में निमग्न है जिससे शरीर भी शिथिल हो गया है। राम अपनी इस अप्रत्याशित दशा पर विचार करते हैं। अन्तरानुभूति को जब तक बाह्य अभिव्यक्ति न दी जाये तब तक हृदय सन्तुष्ट नहीं होता अतः श्रीराम पवित्र हृदय से समयानुसार अपने छोटे भाई लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

**तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई।।**
**पूजन गौरि सखीं लै आईं। करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं।।**

**(रा० १/२३१-१,२)**

"हे तांत! यह वही जनक की पुत्री है जिसके लिए धनुष यज्ञ हो रहा है अर्थात् जिसकी प्राप्ति का सौभाग्य धनुष भंग के साथ जुड़ा हुआ है। आज सखियाँ इसे गौरी पूजन के लिए ले कर आई हैं और ये पुष्प वाटिका को प्रकाशित करती हुई, अपने अनुपम सौन्दर्य के प्रकाश से फुलवारी को प्रकाशित करते हुए उसमें विचरण कर रही हैं।" आशय यह है कि वह वाटिका विहार के लिए नहीं गौरी पूजन के लिए यहाँ आई हैं और वह भी स्वेच्छा से नहीं उसे सखियाँ लेकर आई हैं। वह फुलवारी की शोभा नहीं देख रहीं अपितु अपनी उपस्थिति से उसे प्रकाशित

कर रही हैं। इन शब्दों में राम ने सीता के अनुपम शील और सौन्दर्य के सम्बन्ध में सभी कुछ कह दिया। अब आगे अपनी अन्तर् दशा को भी व्यक्त करते हुए कहते हैं-

**जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।।**
**सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।।**

**(रा० १/२३१-३,४)**

जिसकी अलौकिक शोभा को देखकर स्वभाव से ही पवित्र मेरा मन भी क्षुब्ध हो गया है, इसमें क्या कारण है यह तो विधानकर्त्ता विधाता ही जानता है किन्तु हे भाई ! इस समय मेरे शुभ सूचक अंग फड़क रहे हैं। राम को अपने निर्विकारी मन की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है। सहज पुनीत मन कभी पर नारी पर दृष्टि नहीं डालता और न ही उसके सौन्दर्य पर विमुग्ध ही हो सकता है। राम को अपने मन की ही नहीं अपने वंश की पवित्रता पर गर्व है, उसके महान् गौरव को वे जानते हैं और कहते हैं-

**रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ।।**

**(रा० १/२३१-५)**

मन की सहज पुनीतता का हेतु श्रेष्ठतम मानववंश की सन्तान होना है। रघुवंशियों के मन का यह सहज स्वभाव है कि वह कभी भी कुमार्ग पर पाँव नहीं रखता। उत्तम कुल में जन्म लेना भी महान् सुकृत का ही फल होता है। पवित्र कुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के मन को गर्भ रूप में ही वे पावन संस्कार प्राप्त होने लगते हैं जो अनेकों तपोपूत पूर्वजों के अमित अध्यवसाय से परिपुष्ट हुए होते हैं। यही कारण है कि पवित्र आत्माएँ सदैव ऐसे पावन वंश में ही शरीर धारण कर इस धरा को धन्य बनाने के लिए अवतरित हुआ करती हैं और अपने पवित्र दिव्याचरण से मानवता को गौरवान्वित करती हुई मानव जाति के लिए आदर्श उपस्थित करती हैं। पावन वंश में जन्म लेकर पवित्र संस्कारों से पोषित व्यक्ति ही यह घोषणा कर सकता है कि मेरे सहज पुनीत मन पर मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह स्वप्न में भी पर स्त्री की ओर दृष्टिपात नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में जो कुछ पुरुष मन के लिए कहा जा सकता है वही नारी मन के लिए भी कथ्य है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव समाज में अनादिकाल से ही इस प्रकार के पावन वंशों की प्रतिष्ठा रही है, आज भी है और मानव जाति को मर्यादायुक्त श्रेष्ठतम जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए प्रभु के मंगलमय विधान से भविष्य में भी रहेगी। वंशगत विशुद्ध

रक्त की परम्परा को स्वयं का बलिदान देकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न इसी उत्तमता की रक्षा में स्तुत्य होता है किन्तु इसके साथ महाकवि की यह उक्ति भी परम सत्य है कि-

**ते नरबर थोरे जग माहीं।**

**(रा० १/२३१-६)**

इस प्रकार के श्रेष्ठ मनुष्य इस जगत् में थोड़ी संख्या में ही हुआ करते हैं। सीता की अलौकिक शोभा से मन की क्षुब्धता तथा मंगलदायक अंगों के स्फुरण से भविष्य की सफलता सुखदता का संकेत करते हुए राम अपने छोटे भाई से वह सभी कुछ बता देते हैं जिससे उनकी विमुग्धता पर किसी प्रकार की आशंका न हो। भाई से वार्तालाप करते हुए भी राम का मन-मधुप सीता की रूपमाधुरी में ही विलुब्ध हो उनके मुख सरोज से उद्भूत छविमकरन्द का पान कर रहा है।

कुछ आलोचकों ने राम के इस कथन को नापसन्द किया है जो उन्होंने लक्ष्मण से कहा है। उनका कहना है कि ऐसी बात छोटे भाई से नहीं करनी चाहिए थी। मेरे विचार से इन आलोचकों का कोई दोष नहीं क्योंकि वे एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जहाँ मानव के लिए मनोभावों को सदा दबाये रखने वा आवृत रखने को ही सभ्यता का मापदण्ड समझा जाता है किन्तु उन्हें यहाँ पर यह बात याद नहीं रहती कि लक्ष्मण राम से केवल एक दिन के ही छोटे हैं। दोनों रघुसिंह हैं, दोनों शोभा की सीमा हैं-

**सोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा।**

**(रा० १/२३३-१)**

जिस अलौकिक शोभा को देखकर परम पुनीत राम का मन क्षुब्ध हो गया है उसके सम्बन्ध में लक्ष्मण को सजग करना राम का एक परम कर्त्तव्य बन जाता है वरन् अनर्थ की आशंका है क्योंकि सीता जी अभी अविवाहिता हैं। उनकी रूप माधुरी पर किसी भी पुरुष का मुग्ध होना अन्याय संगत नहीं कहा जा सकता इसलिए राम अपने आन्तरिक भावों से लक्ष्मण को अवगत करा देना उचित समझते हैं। आलोचकों की दृष्टि से श्रृंगार रस इससे भले ही फीका पड़ गया हो किन्तु गोस्वामी जी के विचार से, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मर्यादा की सम्भाल उस श्रृंगार रस की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। राम द्वारा किये गये इस संकेत ने ही लक्ष्मण को धनुष तोड़ने से विरत कर दिया था। लक्ष्मण ने स्वयं ही इसका

संकेत किया है-

**मेरो अनुचित न कहत लरिकाई-बस,**
**पर परमिति और भाँति सुनि गई है।**
**नतरु प्रभु-प्रताप उतरु चढ़ाय चाप**
**देतो पै देखाइ बल, फल, पापमई है।।**

**(गीतावली १/८५-२)**

"यदि मैं बालपन में कुछ कह दूँ तो उसे अनुचित न माना जाये। मैंने इस धनुष के विषय में ऐसी प्रतिज्ञा सुन रखी है कि जो इसे तोड़ेगा, उसे त्रिभुवन जय समेत वैदेही बिना विचारे ही वरण करेगी। यह परिणाम मेरे लिए पापयुक्त है अन्यथा मैं श्रीराम के प्रताप से सहज ही धनुष को चढ़ाकर बल का परिचय करा देता।" वस्तुतः आज के समाज में यह प्रणय सम्बन्ध जितना अमर्यादित माना जाता है उतना उस काल में नहीं था जब भारतीय चेतना यथार्थ के सम्बन्ध में सजग थी। गोस्वामी जी के समय की मान्यता कुछ भी रही हो किन्तु स्त्री-पुरुष का एक दूसरे के प्रति आकर्षण एक प्राकृतिक नियम है अतः उससे उद्भूत भावों को राम का लक्ष्मण के प्रति व्यक्त करना महाकवि की दृष्टि में अनुचित नहीं है। अस्तु ! नृप किशोर की अनुपम शोभा को निहारने की उत्कण्ठा लिए हुए जनकनन्दिनी सखियों के साथ वाटिका के उस स्थान पर जाती हैं जहाँ पर उस प्रिय सखी के नेत्र शोभाधाम की शोभा को देख धन्य हुए थे किन्तु अभी तक सीता के पीपासु नेत्र उस सौन्दर्य-रसामृत-सिन्धु की एक बूँद भी न पा सके। उनके अचंचल नेत्र चंचल हो चारों तरफ निहार रहे हैं। मन चिन्तित हो रहा है इस कल्पना से कि कहीं राजकुमार चले न जायें।

**चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता।।**
**जहँ बिलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।।**

**(रा० १/२३२-१,२)**

सीता चकित हो चारों ओर चितव रही हैं। "नृप किशोर कहाँ चले गये" यह जानने के लिए मन आतुर हो रहा है। बाल मृगनयनी सीता जहाँ दृष्टि डालती हैं वहीं मानो श्वेत कमल की पंक्ति बरस जाती है। इस प्रसंग में सर्वत्र महाकवि ने सीता को अल्पव्यस्क अवस्था की होने का संकेत किया है-

"जनु सिसु मृगी सभीत" तथा "मृग सावक नैनी।"आदि वाक्य इसके अवबोधक हैं। उनके अन्तर में विशुद्ध प्रेम ही तरंगायित हो रहा है। इसमें किञ्चित

मात्र भी काम का स्पर्श नहीं है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए ही यहाँ पर मृगी के छौने के समान नेत्र वाली सीता के दृष्टिपात में श्वेत कमल की वृष्टि की उत्प्रेक्षा की है। नेत्र अन्तर भाव के परिचायक हैं। भावना के साथ ही उनके रंग भी बदल जाते हैं । किसी कवि का यह कथन सर्वथा सत्य है-

**अमिय हलाहल मद भरे स्वेत श्याम रतनार।**
**जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।**

अमृत, विष तथा मद से भरे हुए नेत्र क्रमशः श्वेत, काले तथा रतनार अर्थात् कुछ लालिमा लिए हुए हुआ करते हैं और वे अपनी एक चितवन में ही गुणानुसार जीवन, मृत्यु तथा मस्ती रूप परिणाम भी दिया करते हैं। जनक-नन्दिनी के नेत्र उज्ज्वल हैं। वे निर्दोष सात्त्विक पवित्र स्नेह से युक्त अमृतमय जीवनी शक्ति के स्रोत हैं। उनकी दिव्य ज्योति जिस ओर पड़ती है वहाँ ही मानो पावनता की वृष्टि हो जाती है। श्वेत कमल पावनता का प्रतीक है। सीता के आकुल नेत्र चारों ओर नृप किशोर को ढूँढ ही रहे थे कि उसी समय सखियों ने इंगित करते हुए लताओं की ओट में श्यामल और गौर दोनों सुन्दर राजकुमारों को लखा दिया। ललचाये लोचन रूप माधुरी को देख हर्षित हो गये। उन्हें ऐसा लग रहा था मानो वे अपनी खोई हुई निधि को पहचान लिया हो-

**थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।।**
**अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।।**

**(रा० १/२३२-५,६)**

रघुपति श्री राम की छवि को देखते ही नेत्रों की चंचलता समाप्त हो गई, वे थकित हो एकटक रूपराशि को निहारने में ही निमग्न हो गये। पलकों का झपकना भी बन्द हो गया। अत्यन्त स्नेह विह्वला होने से शरीर शिथिल हो गया है। ऐसा लग रहा है मानो चन्द्रकिरण रस-रसिका चकोरी को सौभाग्य से शरद पूर्णिमा का शशि प्राप्त हो गया हो और वह उसे अपलक निहारती हुई उसके सुधारस पान से अपने संतप्त नेत्रों को शीतल कर रही हो। यह अनुपम छवि उसकी अपनी ही निधि है। जिसको आकुल नेत्र अब तक ढूँढ रहे थे वह उपलब्ध हो गया। देवर्षि नारद की भविष्यवाणी सत्य हो गई। अपनी निधि की सम्भाल स्वामी स्वयं ही करता है। कहीं वह फिर खो न जाये इसलिए उसे सुरक्षिततम स्थान में लाकर रखता है। सयानी सीता ने भी अपनी "रामछवि" निधि को लोचनपथ से लाकर हृदय के अन्तरतम में प्रतिष्ठित कर दिया और पलक रूपी

कपाट बन्ध कर लिए। अब उनके सर्वस्व अन्तर्तम में विराजित हैं अतः खो जाने की संभावना नहीं रही। परस्पर दर्शन से उद्भूत राम और सीता की आन्तरिक दशा एक जैसी हो गई है। हृदय से दोनों ही एक दूसरे के प्रति अलौकिक आकर्षण में आबद्ध हो अविच्छिन्न आत्मीयता की अनुभूति कर रहे हैं और दोनों ही एक दूसरे के प्रति पूर्णतया समर्पित हो चुके हैं। राम अपने अन्तर्भावों को अनुज के प्रति प्रकट कर देते हैं किन्तु सीता नारी मर्यादा की साकार विग्रह हैं, वे नेत्रपथ से अपनी अभीष्ट मूर्ति को अन्तरतम में विराजित कर पलक कपाट लगा लेती हैं। नीतिशास्त्र का कथन है-"स्त्रीणां भूषणं लज्जा।"(चा०सू०३६६) लज्जा ही नारी का श्रेष्ठ आभूषण है। सीता स्वभावतः उस दिव्याभूषण से अलंकृत हैं। वे अधिक देर तक उन्मुक्तता से राघव को निहार नहीं सकतीं। अपनी मर्यादा का उन्हें पूर्णतया भान है अतः प्रियतम को उर में लाकर अपनी अन्तर्दृष्टि से ही अनवरत अवलोक रही हैं। अब वहाँ न तो कोई विक्षेप है, न आवरण ही। अन्तर मिलन के आनन्दातिरेक से तन पुलकित हो शिथिल हो गया है। सीता की यह दशा सयानी सखियों से छिपी न रही। उनको प्रेमनिमग्नावस्था में ध्यानस्थ देख कुछ कह नहीं सकतीं। मन में सकुचा रही हैं-

**लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।**
**निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ।।**

**(रा० १/२३२)**

उसी समय दोनों भाई लता निकुंज से प्रकट हो गये। ऐसा जान पड़ा मानो दो निर्मल चन्द्र बादलों के आवरण को विलग करते हुए निकल आये हों। नीले-पीले कमल कान्तिवत् शरीरवाले दोनों भाई शोभा तथा सौन्दर्य की सीमा हैं।

**शोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।।**

**(रा० १/२३३-१)**

यहाँ पर महाकवि ने दोनों राजकुमारों के अमित सौन्दर्य का बड़ी ही कुशलता के साथ वर्णन किया है। भानुकुल भूषण को देखते ही सखियों में स्वयं को संभालने की भी सुधि न रही। युगलकिशोर अब बहुत निकट और बिल्कुल सामने हैं-

**सुमन समेत बाम कर दोना। "**

दोना लिए श्यामल किशोर की अत्यन्त लुनाई को देख सखियाँ स्तम्भित हो गई हैं। जनकनन्दिनी अभी नेत्र बन्द कर प्रियतम के ध्यान में निरत हैं। एक

सयानी सखी सिय की दशा देख धैर्य धारण कर उनके हाथ पकड़कर पलक उघारने का संकेत करते हुए कहती है-

**बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू।।**

**(रा० १/२३४-२)**

सखी सयानी है इसलिए प्रकारान्तर से व्यंग्य करते हुए कहती है-"गौरी का ध्यान बाद में कर लेना, इस समय भूपकिशोर को क्यों नहीं देख लेती?" वह जानती है कि सीता गौरी के ध्यान में नहीं नृपकिशोर के ही ध्यान में निमग्न है, फिर भी स्पष्ट न कह संकेत में ही कहती है। जब अभीष्ट प्रत्यक्ष उपस्थित हो तो कल्पना जगत् में उसके दर्शन का प्रयत्न अर्थहीन ही कहा जायेगा। सखी की बात सुनकर सकुचाती हुई सीता ने पलक उठा लिया। संकोच का कारण चोरी पकड़ा जाना है। नयन उघारते ही सामने दोनों रघुसिंहों को निहार सीता के नेत्र श्रीराम की शोभा में रम गये।

**नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा।।**

**(रा० १/२३४-४)**

नख से सिखा पर्यन्त उस सुकोमल सौन्दर्य माधुरी को निरख प्रेम विह्वल सीता को पिता की प्रतिज्ञा याद आ गई और उनका हृदय क्षुब्ध हो गया। इतने निकट से प्रियतम को निहारने का सौभाग्य सीता के लिए अप्रत्याशित था। प्रेमाधिक्य में सचमुच प्रेमी की दशा विचित्र हो जाती है। वियोग में प्रियतम अन्दर होते हैं और संयोग में बाहर। तभी तो वह वियोगावस्था में नेत्र बन्द कर प्रियतम को अन्दर से बाहर लाने के लिए हृदय में ही ढूँढता रहता है। संयोगावस्था में बाहर से खींचकर उन्हें अन्दर लाने के लिए आलिंगन करता है। प्रेम विह्वला सीता की स्थिति को जब सखियों ने देखा तो भयभीत हो कहने लगीं-"अब बहुत विलम्ब हो गया है" अभिप्राय यह कि अब चलना चाहिए-

**परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता।।**
**पुनि आउब इहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली।।**

**(रा० १/२३४-५,६)**

"कल फिर इसी समय यहाँ आयेंगी" ऐसा कहकर एक सखी मन में विहँसने लगी। उसका संकेत जनकनन्दिनी की ओर है, आशय यह है कि अब आज तो चलें कल पुनः इसी समय आकर नृपकिशोर की शोभा को निहार लेना। उसकी गूढ़ रहस्ययुक्त वाणी को सुनकर सीता सकुचा गईं। विलम्ब हुआ जान माँ

की नाराज़गी का भय भी लगा-

**धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितुबस जाने।।**

**(रा० १/२३४-७)**

हृदय से जिसे सर्वस्व समर्पित कर दिया हो उसका पलमात्र का वियोग भी अधीर बना देता है और जो सदैव से अपना ही हो उसे पहचानकर फिर उससे दूरी की तो कल्पना ही असह्य हो जाती है। सीता की आन्तरिक अवस्था उस मीन के समान है जिसे बरबस उसके प्रियतम नीर से विलग कर दिया जाता है। वे बड़े धैर्य के साथ पुनः अपने प्रियतम को हृदय में ले आईं और स्वयं को पिता के अधीन जान लौट पड़ीं। तन सखियों के साथ है और मन श्रीराम के। पाँव आगे पड़ रहे हैं और मन पीछे ही खींच रहा है। बड़ी ही विचित्र दशा है। भय तथा संकोचवश सखियों से कुछ कह नहीं सकतीं। अन्तर् में वियोगजन्य व्यथा को दबाये हुए वे बार-बार किसी बहाने से पीछे फिरकर निहारती जा रही हैं। कवि कहता है-

**देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।**
**निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि।।**

**(रा० १/२३४)**

मृग, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि देखने के बहाने से वे घूम कर श्रीराम की ओर निहार लेती हैं। बार-बार रघुवीर की छवि निरख प्रेम वृद्धि को ही प्राप्त हो रहा है। सीता को अपनी अचल निष्ठा पर पूर्ण विश्वास है। उनके हृदयेश अवश्य ही उन्हें प्राप्त होंगे, इसमें उन्हें किञ्चित भी सन्देह नहीं है। यदि कोई बाधक तत्त्व है तो वह कठोर 'शम्भु धनुष' जिसके साथ उनके सौभाग्य की प्रतिज्ञा जुड़ी हुई है-

**जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति।।**

**(रा० १/२३५-१)**

शिव चाप की कठोरता पर चिन्तित सी हो हृदय में श्रीराम की श्यामल मूर्ति को धारणकर वहाँ से चल पड़ीं। अभीष्ट सिद्धि में बाधक तत्त्वों के प्रति चिन्ता और क्षोभ का होना स्वाभाविक है। सीता की अभीष्ट सिद्धि में बाधक है पिता की प्रतिज्ञा और कठोर शिव चाप। पिता के प्रण पर क्षोभ तथा शंभु चाप की कठोरता पर चिंता है। करुणामयी पराशक्ति की अनुकम्पा से ही क्षोभ और चिन्ता से विमुक्त हुआ जा सकता है। पराशक्ति स्वरूपा ही महेशानी शिवा हैं। दैवी शक्ति को प्रसन्न करने में केवल प्रेमपूरित स्तुति और विनययुक्त प्रार्थना ही एकमात्र साधन

है। स्तुति में आराध्य की महिमा तथा उसके विरद का गान किया जाता है और प्रार्थना में अपनी दीनता को व्यक्त करते हुए अन्तर की चाह प्रकट की जाती है। अतः भाव भरे हृदय से जनकनन्दिनी पुनः भवानी के भवन में उपस्थित हो करबद्ध जगदम्बिका की स्तुति और उनसे प्रार्थना करती हैं-

**जय जय गिरिबरराज किसोरी। जय महेस मुख चंद चकोरी।।**
**जय गजबदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता।।**

**(रा० १/२३५-५,६)**

अर्थ स्पष्ट है। उपरोक्त अर्धालियों में अम्बिका की महिमा का गान करते हुए आगे अपनी आन्तरिक अभिलाषा भी व्यक्त करती हैं-

**पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख।**
**महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।।**

**(रा० १/२३५)**

महिमामयी की महिमा का गान कौन कर सकता है? पति को ही सर्वस्व सर्वाधार देवरूप में समझने वाली देवियों में अम्बिका का प्रथम स्थान है। आपकी अनुकम्पा से ही वह सौभाग्य मुझे प्राप्त हो सकता है। हृदय में विराजित मूर्ति ही मेरे जीवन का सर्वस्व है। सभी के उरपुर में निवास करने वाली सर्वेश्वरी की दृष्टि से ओझल ही क्या है? अतः आप मेरे हृदयगत मनोरथ को भी जानती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ कहना सर्वज्ञा के प्रति सन्देहजन्य अपराध ही होगा। इस प्रकार प्रेमयुक्त प्रार्थना में हृदयगत मनोरथ को प्रकट करती हुई वैदेही ने गिरिजा के चरणों में लुण्ठित हो उसे कस कर पकड़ लिया। वैदेही की विनय तथा प्रेमपूरित प्रार्थना से भवानी प्रसन्न हो गई। प्रसादरूप में उसके कण्ठ में सुशोभित सुमनमाल खिसक कर सीता के ऊपर गिर गई और मूर्ति मुस्कराने लगी। अर्चा विग्रह से स्वयं गिरे हुए सुमनमाल को देवता की प्रसन्नता का अवबोधक माना जाता है। प्रसन्नता से इष्ट द्वारा प्रदत्त वस्तु ही प्रसाद है अतः-

**सादर सियँ प्रसादु सिर धरेऊ। बोली गौरि हरषु हियँ भरेऊ।।**
**सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी।।**

**(रा० १/२३६-६,७)**

आदर सहित सीता ने उस प्रसाद रूप सुमनमाल को शीश पर धारण कर लिया। प्रसन्नता पूरित हृदय से आशीर्वाद देते हुए शिवा ने कहा-हे सीते! मेरी सत्य आशीष को सुनो। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी-

**नारद बचन सदा सुचि साचा। सो बरु मिलिहि जाहिं मनु राचा।।**

**(रा० १/२३६-८)**

देवर्षि नारद का वचन सदैव पवित्र तथा सत्य है। जिसमें तुम्हारा मन अनुरक्त हो गया है, वही वर तुम्हें प्राप्त होगा। साथ में यह भी बता दिया कि-

**मन जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुन्दर साँवरो।**
**करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो।।**

**(रा० १/२३६ छन्द)**

जिसमें तुम्हारा मन रम गया है वा जो तुम्हारे मन में रच गया है वही स्वभाव से ही सुन्दर साँवरा वर तुम्हें प्राप्त होगा। वह करुणा का निधान है, कोष है और सर्वज्ञ सुजान है। तुम्हारे शील और स्नेह को भलीभाँति जानता है। महेश्वर मुखचन्द्र चकोरी गिरिराज किशोरी की सत्य आशीष कभी असत्य नहीं हो सकती। सिय की मनचाही निधि मिल गई। हृदय में अपार हर्ष है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। साथ की सखियाँ भी प्रमुदित हैं। हर्षातिरेक में राजकिशोरी बार-बार गिरिराज किशोरी के चरणकमलों की वन्दना करती हुई निज मन्दिर की ओर प्रस्थान करती हैं। गौरी की अनुकूलता को जानकर सिय हिय में कितना हर्ष है वह कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह शब्द की सीमा से परे है। अब आनन्द मंगलदायी शुभ सूचक उनके वाम अंग भी फरकने लगे। यहीं से सीता के हृदय में श्रीराम के प्रति प्रथम दर्शन में ही पड़ा हुआ प्रेम बीज अनन्य निष्ठा के रूप में अंकुरित हो प्रतिपल वृद्धि को प्राप्त हो गया और वह विशाल वृक्ष बन गया जो जीवन के अनेक झंझावातों में भी अक्षयवट की भाँति अक्षय बना रहा।

महाकवि ने अपने महाकाव्य की नायिका तथा अपनी स्वामिनी सीता के स्वरूप को प्रथम दर्शन में ही सम्पूर्ण सद्‌गुणों से अलंकृत सौन्दर्य माधुरी को साकार मूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके स्नेहशील सौन्दर्य को परमपारखी सुजान श्री राम परख लिये हैं। राम की आन्तरिक दशा का वर्णन करते हुए महाकवि कहते हैं-

**प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी।।**
**परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही।।**

**(रा० १/२३५-२,३)**

प्रभु श्रीराम ने जब सुख, स्नेह, शोभा और सद्‌गुण की खान जानकी को जाती हुई जाना तो परम प्रेम की कोमल स्याही बनाकर उनके स्वरूप को अपनी

सुन्दर चित्ररूपी भीति पर चित्रित कर लिया। इन दो अर्धालियों में सीता के प्रति सुजान राम की विमुग्धता का पूर्णतया परिचय मिल जाता है। जिस प्रकार राम से विलग होना सीता के लिए दुसह हो रहा है उसी प्रकार सीता से विलग होना राम के लिए भी। अन्तर केवल इतना है कि विलग होते समय जनकनन्दिनी ने राम को अपने उर में विराजित कर लिया है और राम ने उन्हें अपने चित्त पर चित्रित। सीता सुख की खान है। सुखखान वह स्थान है जहाँ से सुख उत्पन्न होता है। राम ने स्वयं इस सत्य को अपने प्रथम चितवन में ही अनुभव किया है-

**देखि सीय सोभा सुखु पावा।**

**(रा० १/२३०-५)**

सुख का स्रोत शोभा है। शोभा केवल रूप से ही सम्बन्धित नहीं, वह सम्पूर्ण शोभन गुणों का अवबोधक शब्द है। सीता स्नेह की खान है इसमें भी राम ने प्रत्यक्ष अनुभव किया है-

**अधिक सनेहँ देह भै भोरी।**

**(रा० १/२३२-६)**

तथा -

**निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि।**

**(रा० १/२३४)**

इसके प्रमाण हैं। बार-बार निरखने पर भी तृप्त न होना प्रेमाधिक्य की ही निशानी है। सीता की अलौकिक शोभा राम के हृदय तन्त्री को हिलाकर अपनी महिमा का बखान करने के लिए विवश कर दिया है। इस सम्बन्ध में वे स्वय ही कहते हैं-

**केहि पटतरौं बिदेहकुमारी।**

**(रा० १/२३०-८)**

सीता सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली तथा छविगृह की प्रकाशिका होने से शोभा की भी खान हैं। सुकुमार सौन्दर्य के साथ ही अपने शील स्वभाव से भी उन्होंने श्रीराम के हृदय को स्वाधीन कर उसे विमुग्ध कर लिया है। अतः सुजान राम भलीभाँति जानते हैं कि वह सम्पूर्ण दिव्य गुणों की खान हैं।

नारी का सौन्दर्य उसकी अमूल्य निधि है। विश्व का सम्पूर्ण वैभव भी उस निधि की तुलना में तुच्छ होता है। वह अपने सौन्दर्यबल से ही प्रियतम को प्रमोद प्रदान कर स्वाधीन कर लेती है। नारी के सौन्दर्य-सरोज से विनिःसृत छवि मकरन्द

को पान करने के लिए पुरुष का मन मधुप सदैव लुब्ध रहता है। वह पुरुष के संताप को दूर करने में अपनी रूपसुधा का प्रयोग कर उसे कृतज्ञ बना लेती है। पुरुष के चित्त को आकर्षित करने के लिए नारी का सौन्दर्य ही प्रमुख कारण बनता है। सीता के अनुपम सौन्दर्य की प्रथम झाँकी ने ही राम को विमुग्ध कर लिया है। नारी के सौन्दर्य के साथ स्नेह तथा सद्‌गुणों का होना भी आवश्यक है अन्यथा उनके अभाव में वह सौन्दर्य पुरुष के लिए वरदान नहीं अभिशाप हो जाता है इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने आदर्श की मूर्तिमान देवी सीता को सुख, स्नेह, शोभा और गुण की खान कहा है। श्रीराम कुशल पारखी हैं, वे प्रथम दृष्टि में ही सीता में समस्त सद्‌गुणों का दर्शन पाते हैं। चा०सू० ४०८ में चाणक्य का कथन है- "यथा शरीरं तथा ज्ञानम्।" शरीर के अनुसार ही ज्ञान होता है। शरीर के लक्षणों को जानने वाले उसकी योग्यता का अनुमान लगा लेते हैं। एक दूसरे सूत्र में कहा है- "रूपानुर्वी गुणः" (चा०सू० ५२१) वस्तु हो या व्यक्ति, उसके रूप के अनुसार ही गुण हुआ करते हैं। यहाँ रूप शब्द अपने में वर्ण एवं आकृति का ही नहीं समग्र व्यक्तित्व का परिचायक है अर्थात् इसमें व्यक्ति के समस्त गुण सूचक लक्षणों का समावेश है। नारी का श्रेष्ठतम गुण है लज्जा। नीतिशास्त्र में उसे नारी का आभूषण भी कहा गया है। जो नारी अपने स्नेह धन को लज्जा के आवरण से आवृत नहीं कर सकती वह मानव समाज में श्रेष्ठतम पद पाने के योग्य नहीं होती। नारी हृदयगत प्रेम प्रेमास्पद की धरोहर तथा जीवन की गोप्यतम निधि है क्योंकि वह सृजनात्मक तत्त्व है। उसमें जीवनी शक्ति सन्निहित होती है। अतः वह मंगलमय विधान से प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु एकान्त में प्रियतम को समर्पण के लिए ही प्राप्त होता है। दार्शनिक दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक भावुक होती है क्योंकि वह हृदय प्रधान है किन्तु उसमें अपनी भावतरंगों को संयमित रखने की भी अद्‌भुत क्षमता होती है। सीता तो नारियों में चूड़ामणि हैं और धैर्य रूपा धरणि की पुत्री हैं। महाकवि ने -

**लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।।**

**(रा० १/२३२-८)**

**धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितुबस जाने।।**

**(रा० १/२३४-८)**

इन अर्धालियों में सीता के शोभा, शील, स्नेह, लज्जा, धैर्य आदि अमित उदात्त गुणों की ओर संकेत किया है एवं समस्त सद्‌गुणों की खान जानकर राम

परम प्रेम की कोमल स्याही से उन्हें अपने चित्त की भीति पर चित्रित कर लेते हैं और हृदय में सिय के सलोने सौन्दर्य की सराहना करते हुए भाई के साथ गुरु के पास प्रस्थान करते हैं। सरल स्वभाव राम गुरुचरणों में उपस्थित हो पूजार्थ लाये हुए पत्र पुष्प समर्पित करते हैं और छलरहित सहज भाव से पुष्प वाटिका में घटी हुई समस्त घटना तथा अपनी आन्तरिक दशा को यथावत निवेदन कर देते हैं। प्रसून प्राप्त कर महामुनि ने इष्ट की अर्चना की और दोनों भाइयों को सुफल मनोरथ होने की शुभाशीष प्रदान की जिसे सुन कर राम और लक्ष्मण प्रमुदित हो गये।

दिवस बीतते ही सायंकाल होने पर गुरु से आज्ञा प्राप्त कर दोनों भाई संध्यावन्दन करने चल दिये। पूर्व दिशा में सुन्दर चन्द्रमा उदित हो गया। उसे देखते ही श्रीराम सिय मुखचन्द्र की स्मृति से आनन्दित हो गये। अभी भी उनके नयन चकोर सिय मुख शशि सुधा रसपान के लिए आकुल हैं। उसके समान ही सद्योदित चन्द्र की छटा को देख कुछ क्षण के लिए सुखानुभूति हुई किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर यह भान हुआ कि अनुपम सिय मुख चन्द्र की समता में प्राकृत चन्द्र की कल्पना भी अपराध है क्योंकि उस पावन दिव्य चन्द्र से इस चन्द्र की तुलना में कहीं भी कोई संगति नहीं है अतः-

**सीय बदन सम हिमकर नाहीं।**

प्राकृत चन्द्र में एक नहीं अनेकों दोष हैं-

**जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक।**
**सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक।।**

**(रा० १/२३७)**

खारा समुद्र इसका जनक है फिर विष भी इसी के साथ प्रकट होने से इसका भाई है। दिन में यह तेजहीन हो मलीन हो जाता है और कालिमा से युक्त होने से कलंकित भी है। भला वह बेचारा गरीब चन्द्रमा सिय मुख की समता कैसे पा सकता है? न तो जन्म स्थान ही उत्तम है न साथ ही उत्तम है। मलिन तथा कलंकित होने से रूप भी उत्तम नहीं है। इतना ही नहीं-

**घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।।**
**कोक सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।।**

**(रा० १/२३८-१,२)**

गुण की दृष्टि से भी यह सीता की समता नहीं कर सकता, सदैव एक सा न रहकर घटता बढ़ता रहता है। विरहीजनों को अपनी शीतल रश्मियों के स्पर्श

से दुःख देता रहता है। अवसर प्राप्त कर राहु उसे ग्रस लेता है। चक्रवाक पक्षी के लिए शोकप्रद तथा कमल कुल का शत्रु है। इस प्रकार प्राकृत चन्द्र में एक नहीं अनेकों अवगुण हैं। वैदेही के मुख के साथ इसकी तुलना करने से अथवा उसके साथ इसे उपमित करने से एक अनुचित कार्य करने का घोर अपराध लगेगा। सीता विदेह राज जनक के अक्षय पुण्य की साकार मूर्ति है। महाराज जनक विश्व विख्यात तत्त्ववेत्ता हैं। धर्म, राजनीति तथा ब्रह्मविज्ञान में वे अप्रतिम गति रखते हैं। उनका ज्ञानसूर्य संसार रात्रि को नष्ट करता है। उनके वचन किरण की आभा पा मुनि कमल विकसित हो जाते हैं। परम तत्त्व के प्रति उनका गूढ़ प्रेम योग तथा भोग दोनों से सम्पुटित हो सदैव रहस्य ही बना रहता है। सीता ऐसे पुण्यश्लोक राजर्षि विदेहराज की पुत्री है। यशामृत से युक्त पावन वंश उनका जन्म स्थान है जिसका प्रभाव विश्वविदित है-

**पिता जनक जगबिदित प्रभाऊ।**

उनका संग उत्तम कुलोत्पन्ना पवित्र हृदया सयानी सखियों से है। वे दिन में भी अपनी अलौकिक शोभा से केवल स्वयं ही प्रकाशित नहीं होतीं बल्कि प्रकाश को भी प्रकाशित करती हैं-

**करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं।**

वे सर्वथा निष्कलंक तथा पावन हैं, सभी के लिए आनन्दप्रदा हैं, किसी से उनका बैर नहीं है अतः समस्त सात्त्विक गुणों की खान हैं। भला ऐसी यशस्वी सीता की बराबरी में बपुरे चन्द्रमा का स्थान कहाँ? महाकवि किसी वस्तु या व्यक्ति के गुणदोष निरूपण में प्रमुख रूप से उनके चार पहलुओं पर विचार करते हैं-वंश, संग, स्वभाव तथा व्यवहार। यहाँ पर भी सीता और चन्द्र के गुण-दोष विवेचन में इन चारों पहलुओं से ही विचार कर यह निश्चय किया है कि -

**सीय बदन सम हिमकर नाहीं।**

इसमें सन्देह नहीं कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का पता लगाने में आज भी उपरोक्त चारों अवयवों का ही आश्रय लिया जाता है। मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षियों तथा वृक्ष वनस्पतियों तक में इन चारों का महत्त्व अद्वितीय रूप में स्वीकारा जाता है और इन सभी में वंश की महता सर्वोपरि है क्योंकि अब गुण वंशानुसार ही हुआ करते हैं। गोस्वामी जी स्त्री पुरुष के सम्बन्धों में भी वंश, संग, धर्म और कर्म जिसको स्वभाव तथा व्यवहार के नाम से भी संबोधित किया जाता है, की समानता के विशेष समर्थक हैं। यहाँ पर चन्द्रमा के बहाने से राम ने श्रीजानकीजी के जीवन

का सूक्ष्मतम निरीक्षण करते हुए उनकी सर्वांगीण उत्तमता का बखान किया है।

जनकनन्दिनी का दर्शन हमें पुनः धनुषयज्ञ के अवसर पर यज्ञमण्डप में होता है किन्तु अब वे सर्वभाव से किसी की हो चुकी हैं तथा अपने अन्तर्मन से सर्वस्व समर्पण कर चुकी हैं। सन्तवर अपनी स्वामिनी की शोभा का बखान करते हुए कभी भी नहीं अघाते क्योंकि उनकी दृष्टि में वह जगदम्बिका रूप और गुण की खान है। प्राकृत नारियों के अंगों में अनुरक्त होने से विश्व के सौन्दर्य निरूपण में प्रयुक्त होने वाली उपमाएं उन्हें तुच्छ प्रतीत होती हैं। उनके विचार से-

**सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।।**

**(रा० १/२४७-३)**

उन प्रकृत उपमाओं से सिय सौन्दर्य के वर्णन की चेष्टा कुकवि कहलाकर अपकीर्ति अर्जन का ही कार्य होगा अतः उसे कोई भी सुकवि स्वीकार नहीं कर सकता। उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है कि-

**जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया।।**

**(रा० १/२४७-४)**

यदि किसी स्त्री के साथ सीता की तुलना करनी भी चाहें तो जगत् में ऐसी युवती है ही कहाँ? गोस्वामी जी की दृष्टि में सीता के शोभा सौन्दर्य की तुलना में प्राकृत नारियों की तो बात ही क्या है, देवांगनाओं तथा त्रिदेवियों में भी कोई नहीं जचा है। वे कहते हैं-

**गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।।**
**बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमासम किमि बैदेही।।**

**(रा० १/२४७-५,६)**

सरस्वती मुखर है अर्थात् बहुत बोलने वाली है। बहुत बोलना नारी के लिए भूषण नहीं दूषण है, गुण नहीं दोष है। मित तथा मधुर भाषण ही उसमें सौन्दर्य की वृद्धि करता है अर्थात् शोभित होता है। भगवती भवानी अर्ध अंगी हैं अर्थात् उनके आधे अंग में भगवान् शिव हैं इसलिए उन्हें अर्धनारीश्वर कहा जाता है। कामदेव की पत्नी रति भी अपने पति वियोग से पीड़ित है अतः वह भी सिय शोभा की तुलना में नहीं आ सकती। ऐसी करोड़ों रतियाँ उन पर न्यौछावर की जा सकती हैं। रही रमा की बात, वह भी सीता की तुलना में लघु ही प्रतीत होती है क्योंकि खारे समुद्र से आविर्भाव तथा बंधु विष और वारुणी के साथ स्नेह, भला ऐसी लक्ष्मी के समान वैदेही को कैसे कहा जा सकता है? जिसका कुल और सगे

सम्बन्धी दोनों ही दोषपूर्ण हैं अतः उस रमा के साथ सीता की तुलना नहीं की जा सकती। आगे महाकवि एक ऐसी लक्ष्मी की उद्भावना करते हैं जिसका आविर्भाव प्राकृतिक समुद्र से न होकर छविसुधा सिंधु से हुआ हो, वह किस प्रकार संभव है, इस सम्बन्ध में वे कहते हैं-

**जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।।**
**सोभा रजु मन्दरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू।।**

**(रा० १/२४७-७,८)**

**एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।**
**तदपि संकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल।।**

**(रा० १/२४७)**

पौराणिक कथा के अनुसार लक्ष्मी का आविर्भाव समुद्र मन्थन से हुआ था जिसमें खारे समुद्र को मन्दराँचल की मथानी बनाकर उसमें महाविषधर वासुकि नाग की रस्सी लगाई गई थी। कठोर पृष्ठ धारी कच्छप रूप में भगवान् स्वयं उसके तल में बैठकर मन्दराँचल को धारण किये थे। देवता और दैत्यों ने मिलकर उसको मथा था। जब लक्ष्मी का आविर्भाव हुआ था उसमें लक्ष्मी के आविर्भाव के जितने साधन हैं वे सभी प्राकृत, अशोभन तथा कठोर हैं। इस प्रकार के उपकरणों के प्रयोग से आविर्भूत हुई लक्ष्मी सीता की समता में किस प्रकार कही जा सकती है? इसके विपरीत यदि छवि रूप अमृत का समुद्र हो, परम लावण्य ही कच्छप रूप धारण कर उसके तल में बैठे शोभा रूप रस्सी से लिपटा हुआ श्रृंगार रस पर्वत को उस लावण्य रूप कच्छप पृष्ठ पर प्रतिष्ठित किया जाये और स्वयं कामदेव अपने करकमलों से उस छवि सुधा समुद्र का इन दिव्य उपकरणों से मन्थन करे, इस प्रकार के अद्भुत संयोग होने पर जब सुन्दरता तथा सुख की कारणभूता लक्ष्मी उत्पन्न हो तो भी कवि उसे संकोच के साथ ही सीता की तुलना में कहेगा। संकोच इसलिए कि सुन्दरता तथा सुखमूला लक्ष्मी की उत्पत्ति में जिन उपकरणों की कल्पना की गई है वे उत्तम तथा शोभनीय होते हुए भी त्रिगुणात्मक हैं और जो कुछ भी त्रिगुणात्मक है वह प्राकृत है अतः उसके साथ अप्राकृत, अलौकिक, दिव्यातिदिव्य सिय शोभा की तुलना कैसे की जा सकती है? जानकी का सौन्दर्य अलौकिक तथा अप्राकृत होने से अनुपम एवं अतुलनीय है। महाकवि ने यहाँ पर अभूतोपमालंकार के रूप में काव्यकला की कितनी सुन्दर झाँकी व्यक्त की है, विचार करते ही हृदय बरबस विमुग्ध हो धन्य-धन्य कहने लगता है। सीता के

अनुपम सौन्दर्य की अनुभूति को कितनी कुशलता से कवि व्यक्त कर रहा है, यह भी स्वयं में अनुपम है। सयानी सखियाँ मनोहर वाणी में मंगल गीत गाती हुई सीता को लेकर रंगमण्डप में चली जा रही हैं। कवि कहता है-

**रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी।।**

**(रा० १/२४८-४)**

रंगभूमि में सीता के पदार्पण करते ही उनके रूप को देखकर नर-नारी सभी मोहित हो गये। गोस्वामी जी ने मानस के उत्तरकाण्ड में कहा है-

**मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।।**

यह अनुपम रीति है कि नारी के रूप को देखकर नारी मोहित नहीं होती। बात सत्यं प्रतीत होती है क्योंकि आकर्षण सदैव विपरीत लिंग में ही होता है। लता पर लता नहीं अरुझाती विटप पर ही अरुझाती है। जहाँ पर यह बात कही गई है वहाँ माया और भक्ति इन दो नारियों के गुण-स्वभाव का विवेचन हो रहा है। दोनों ही ईश्वर की शक्तियाँ हैं किन्तु यहाँ की तो स्थिति ही भिन्न है। अप्राकृत रूप सौन्दर्य की राशि को देखकर प्राकृत नारियों का मोहित हो जाना आश्चर्यप्रद नहीं है। यही तो सिय स्वरूप की कमनीयता है केवल नर ही नहीं उसे देखकर तो नारियाँ भी विमुग्ध हो गई हैं। उनके कर-कमलों में जयमाल सुशोभित हो रहा है। सभी नृपतिगण अचानक ही उनकी ओर निहारने लगे। रंगभूमि में आते ही सीता के नेत्र आकुल हो श्रीराम को खोजने लगे। मुनि के समीप दोनों भाइयों को देख उनके ललचाये नेत्र अपनी निधि को पाकर वहीं लग गये, फिर तुरन्त ही उन्हें अपनी स्थिति का भान हो आया-

**गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।**
**लागी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि।।**

**(रा० १/२४८)**

गुरुजनों की लाज तथा उपस्थित समाज को देख वह सकुचा गई और रघुवीर को हृदय में लाकर सखियों की ओर देखने लगी। यहाँ पर कवि ने शोभा, स्नेह के साथ ही सीता की सजगता की ओर भी संकेत किया है। राम को हृदय में विराजित कर सखियों की तरफ इसलिए देखने लगी हैं क्योंकि यहाँ नेत्र बन्द करने का अवसर नहीं है। यज्ञमण्डप में श्रीराम और सीता दोनों ही विराजित हैं। नगर नर-नारी युगल छवि को निहारते हुए निहाल हो रहे हैं। आज दिन तक उनकी दृष्टि में ऐसी मनोहर जोड़ी देखने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिए सभी अपलक

हो राम और सीता की अनुपम छवि को देखते हुए मन ही मन विचार कर रहे हैं कि सीता के अनुरूप वर राम ही हैं-

**राम रूप अरु सिय छबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें।।**

**(रा० १/२४८-१)**

युगल मूर्ति को देख भाव विभोर हो रहे जनकपुर निवासी नर-नारी पलक नहीं गिरा रहे। विधाता से प्रार्थना करने लगे हैं कि-

**हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई।।**
**बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू।।**

**(रा० १/२४८-२,३)**

ज्ञान-विज्ञान के निधान विदेह को सभी जड़ बता रहे हैं। सीता जैसी गुणरूप निदान कन्या के लिए अनुरूप वर न ढूँढ कर धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा रखना यह विदेह की बुद्धिमता नहीं है, जड़ता है। विदेह दृढ़ प्रतिज्ञ हैं अतः विधाता से ही प्रार्थना करते हैं कि तुम अपनी करुणा से जनक की जड़ता हर कर उन्हें हमारी जैसी सुन्दर मति दे दो जिससे वे प्रण त्यांग कर सीता का राम से विवाह कर दें। यहाँ पर महाकवि ने कितनी कुशलता से ज़नसामान्य की भावुकता को चित्रित किया है, स्वयं में दर्शनीय है। लोकमत भाव विभोर होने पर कभी-कभी नैतिक मूल्यों को भी निरर्थक समझ बैठता है और उसी भावावेश में तत्त्ववेत्ताओं को भी विवेकशून्य करार कर देता है। राम सीता की मनोहर झाँकी को देख जन-समूह निहाल हो रहा है और इस लालसा में ही निमग्न है कि- "बरु सांवरो जानकी जोगू।" उसी समय विदेहराज ने बन्दीगणों को बोलकर अपनी प्रतिज्ञा की घोषणा करा दी। प्रतिज्ञा सामान्य नहीं है उसकी पूर्ति करने वाले के लिए पुरस्कार भी सामान्य नहीं है। शम्भु धनु भंजन हारे को-

**त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही।।**

**(रा० १/२५०-४)**

जनकनन्दिनी के अनिंद्य सौन्दर्य पर विमुग्ध भूपगणों में होड़ सी लग गई। 'कमठ पृष्ठ पबि कूट' से भी कठोर उस भवधनु को भंजन करना तो दूर रहा सहस्त्रों नृपतियों में से कोई उसे तिलभर हिला भी न सका। परिणाम निराशाजनक ही रहा-

**श्रीहत भए हारि हियँ राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा।।**

**(रा० १/२५१-५)**

जनकपुर निवासी राहत की श्वास लिए। अब आशा हो गई कि जनक अपनी जड़ता को त्याग कर जानकी का पाणिग्रहण साँवरे किशोर के साथ कर देंगे पर थोड़ी ही देर में उनकी यह आशा धूमिल हो गई जब विदेहराज ने निराश हृदय से अपनी प्रतिज्ञा की अटलता को सुनाते हुए यह घोषणा कर दी कि-

**तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू।।**
**सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ।।**

**(रा० १/२५२-४,५)**

उसी निराशा में एक आशा की किरण प्रस्फुटित हुई जब जनक के हताश हृदय के उद्‌गारों का प्रतिवाद करते हुए गम्भीर वाणी में लक्ष्मण ने रघुवंश के पौरुष का परिचय देते हुए कहा कि इस पुराने पिनाक की तो बात ही क्या, यदि रघुवंशमणि की आज्ञा हो तो ब्रह्माण्ड को भी कांचे घटके सदृश विचूर्ण कर दूँ, मेरू को मूली की सदृश तोड़ दूँ। रघुवंशमणि के होते हुए वसुन्धरा को वीर विहीन कहना उन्हें अपमानित करना है। श्रीराम ने इशारे से ही लक्ष्मण को शान्त करते हुए प्यार से निकट बैठा लिया। कौशिक मुनि ने जनक की दयनीय दशा को देखते हुए राम को आदेश दिया-

**उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा।।**

**(रा० १/२५४-६)**

श्रीराम सहज स्वभाव से ही गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर खड़े हो गए, गुरु चरणों की वन्दना कर उस ओर चल पड़े जहाँ रंगमंच पर शिवधनुष रखा हुआ था। अब तक की सारी घटनायें सीता के लिए किस प्रकार से सन्तापप्रद रही होंगी इसका अनुमान लगाना भी शक्य नहीं। सीता हृदय से स्वयं को राम के प्रति समर्पित कर चुकी है, उनके मन्जुल हृदय में हृदयेश विराज रहे हैं और अन्तर अखंडानन्द की अनुभूति में निमग्न है। शिव के कठोर पिनाक को भंजन करने के लिए सिरस सुमन से भी सुकुमार श्रीराम को मुनिवर का आदेश सुन वैदेही अधीर हो जाती है पर कर कुछ नहीं सकती आकुल होने के सिवाय। ऐसी स्थिति में निर्बल हृदय को अधीर हो विविध रूप में प्रकट दैवी शक्तियों का चिन्तन तथा उनसे गुहार वा प्रार्थना का ही सम्बल होता है। सीता की अन्तःस्थिति का वर्णन गोस्वामी जी के शब्दों में-

**तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही।।**

हृदय जिसे समर्पित किया है वह अत्यन्त सुकुमार है। जब सबल इष्ट का

सम्बल नहीं है तो स्वाभाविक ही अधीर मन जिस किसी की भी विनती करता भटकता रहेगा। यह बात सत्य है कि आकुल हृदय का आश्रय एक नहीं हो पाता वा यों कहिये कि व्याकुल मन अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए अनेकों दैवी शक्तियों का आश्रय ढूँढता है। वही स्थिति सीता की भी हो रही है। उनकी कुल देवी भगवती भवानी तथा भगवान् शिव हैं इसलिए सर्वप्रथम उनकी ही गुहार लगा रही हैं-

**मनहीं मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी।।**
**करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हितु हरहु चाप गरुआई।।**

**(रा० १/२५७-५,६)**

भवानी की आशीष तो प्रथम ही प्राप्त हो चुकी है।

**मन जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुन्दर साँवरो।**

अब साथ में महेश की अनुकम्पा की भी प्रार्थना है। अपनी सेवकाई से अर्थात् आराधना, प्रार्थना से प्रसन्न हो चाप की गरुता हर लो। चाप तो महेश का ही है उसकी गरुता में महेश की ही शक्ति है। वह शक्ति अपने शक्तिमान के ही सदैव अधीन है अतः मुझ पर कृपा कर चाप की गुरुता को हर लें जिससे सुकुमार राम उसे उठा सकें। आकुल हृदय में आस्था की स्थिरता नहीं रह पाती। सीता की भी वही स्थिति है। आगे गणपति से प्रार्थना कर रही हैं-

**गननायक बरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउँ तुअ सेवा।।**
**बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी।।**

**(रा० १/२५७-७,८)**

हे गननायक, वरदायक देव! आज ही के लिए आपकी इतनी आराधना की है। बार-बार मेरी प्रार्थना को सुनकर शम्भु चाप की गरुता को आप कम कर दें। आराधक की आराधना के पीछे अपनें अभीष्ट की प्राप्ति में आराध्य की सहायता की अभिप्सा ही तो होती है। यदि उसकी पूर्ति में आराध्य सहायक न हो तो फिर आराधक के लिए आराधना का प्रयोजन ही क्या रहे? जनक-नन्दिनी की मनः स्थिति भी इस समय ऐसी ही है अतः वे अपने अभीष्ट की प्राप्ति में स्वयं के सम्पूर्ण सुकृत का विसर्जन कर उसे सार्थक बनांना चाहती हैं।

**देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।**
**भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर।।**

**(रा० १/२५७)**

शरीर पुलकित है, नेत्र प्रेमाश्रु से परिपूर्ण हैं, बारम्बार रघुवीर को निहारती हैं और देवताओं से प्रार्थना कर उनकी सहायता की आशा से अधीर मन को धीरज बंधाती हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि जनकनन्दिनी की इस प्रार्थना क्रम में कवि ने पंचदेवोपासना का संकेत किया है। शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य तथा विष्णु, इन पाँच रूपों में सनातन धर्मानुयायी एक ही परमसत्ता की आराधना करते हैं। जनकनन्दिनी भी महेश, भवानी तथा गणेश की प्रार्थना करके फिर सूर्य को प्रार्थना करती हैं। उपरोक्त दोहे में सुर शब्द सूर्य के लिए ही प्रयुक्त हुआ है अतः-

**तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।।**

**(रा० १/२५९-५)**

इस अर्द्धाली में भगवान् विष्णु की प्रार्थना है। अब राम धनुष के निकट पहुँच गये हैं। सीता सखियों के साथ उसके पास ही कहीं विराज रही हैं जहाँ से श्रीराम को अच्छी प्रकार से निरख सकती हैं। सीता की अन्तर-वेदना का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

**नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा।।**
**अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।।**

**(रा० १/२५८-१,२)**

अच्छी तरह नेत्र भर कर राम की शोभा को निरख, पिता प्रतिज्ञा को याद कर अन्तर आकुल हो कराह उठा। अहो! पिता ने बड़ा ही कठोर हठ ठाना है, हानि-लाभ कुछ भी नहीं समझ रहे। मंत्री सभीत है वह भी उचित सलाह नहीं दे रहा, कोई दूसरा भी समझाने वाला नहीं है। इस अभिज्ञ समाज में यह बहुत अन्याय हो रहा है। अत्यन्त सुकुमार राम धनुष को उठा नहीं सकते, उन्हें धनुष तोड़ने के लिए कहना भी अन्याय है क्योंकि-

**कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।।**

**(रा० १/२५८-४)**

कहाँ वज्र से भी अधिक कठोर शंकर का पिनाक और कहाँ सिरस सुमन से भी अधिक सुकोमल श्यामल किशोर राम। किंचित भी तो सम्भावना नहीं है अभीष्ट प्राप्ति की-

**बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा।।**

**(रा० १/२५८-५)**

हे विधाता! किस आशा पर यह अधीर उर धैर्य धारण करे। क्या सिरस

के फूल के कण से कभी हीरे को छेदा जा सकता है? केवल पिता जनक ही नहीं सम्पूर्ण बुद्ध समाज आज अबुद्ध हो गया है, किसी को भी यह विसंगति दिखाई नहीं दे रही। अधीर उर में जड़-चेतन का भी भान नहीं रह जाता। शिवशिवा, गणेश, सूर्य आदि देवों से चाप की गुरुता को कम करने की प्रार्थना कर चुकी है पर सन्तोष नहीं है। अब शम्भु चाप की शरण में जाना ही एक मात्र उपाय दीख रहा है-

**सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभुचाप गति तोरी।।**
**निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी।।**

**(रा० १/२५८-६,७)**

यहाँ पर कितनी सूक्ष्मता से कवि अपनी विश्ववंदनीया नायिका के अन्तर्तम की अभिव्यक्ति कर रहा है, अन्य कवियों के लिए स्पृहणीय है। यहाँ पर सुकोमल नारी हृदय की सुकुमारिता अपनी काष्ठा को स्पर्श कर चुकी है। अभीष्ट प्राप्ति में आशंका ही इस अधीरता में हेतु है, तद्जन्य परिताप असह्य हो रहा है। कवि के शब्दों में-

**अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं।।**

**(रा० १/२५८-८)**

अधीरता में केवल अपना अन्तर ही नहीं सम्पूर्ण विश्व ही शिथिल सा हो जाता है। उस दशा में लगता है काल भी गतिहीन हो गया है। यही दशा जनकनन्दिनी की हो रही है-

**प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।**
**खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल।।**

**(रा० १/२५८)**

प्रेम तथा आतुरता युक्त नेत्रों से प्राणेश की ओर निहार कर फिर पृथ्वी की तरफ देखते हुए चंचल नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो चन्द्रमण्डल रूपी डोल में कामदेव की दो मछलियाँ क्रीड़ा कर रही हों। सीता की दयनीय दशा का चित्रण कवि आगे कर रहा है-

**गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।।**
**लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना।।**

**(रा० १/२५९-१,२)**

कुछ कहना चाहते हुए भी जब कहा नहीं जाता तब अन्तर हाहाकार कर

उठता है, वह वीरान सा हो जाता है। ऐसी अवस्था में अन्तर् सूख जाता है और उसकी सरसता अश्रु कण के रूप में नेत्रों के रास्ते बाहर निकल आती है। सीता की भी यही स्थिति है। उनकी वाणी रूपी भ्रमरी उसी में बन्द हो गई है, बाहर नहीं आ सकी वा प्रकट नहीं हो रही है। नेत्रों का जल नेत्रों के कोनों में ही रच जाता है, नीचे गिरने नहीं पाता। ऐसे लगता है जैसे परम कृपण व्यक्ति सोने को किसी कोने में ही छिपाये रखता है वही दशा सीता के नेत्रों में छुपे अश्रु बिन्दुओं की है। अन्तर की व्याकुलता को अनुभव कर स्वयं में ही सकुचा गई। धैर्य धारण कर अपनी अटल निष्ठा पर विश्वास करते हुए अन्तर्यामी प्रभु को साक्षी रख निश्चय करती है-

**तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।।**
**तौ भगवानु सकल उरबासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।।**

**(रा० १/२५९-४,५)**

सर्वउरवासी भगवान् सर्वसमर्थ हैं, मेरी अन्तर्निष्ठा को जान अवश्य ही रघुबीर की दासी होने का सौभाग्य प्रदान करेंगे क्योंकि-

**जेहिं कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू।।**
**प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सबु जाना।।**

**(रा० १/२५९-६,७)**

जिसका जिस पर सच्चा स्नेह होता है वह अवश्य ही उसे प्राप्त कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं। प्रभु की ओर देखकर दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। यह शरीर इन्हीं का होकर रहेगा इस प्रण के साथ ही स्वयं को सर्वविधि प्राणेश को समर्पित कर उन्हीं में निमग्न हो गयी। अब तक जो विभिन्न देवों की प्रार्थना करती रही हैं उन सब के प्रतिफल के रूप में प्राणेश के प्रति अनन्यता का उदय हुआ और इस अनन्यता की अनुभूति कृपानिधान सुजान राम को भी हो गई। प्रभु को अनन्यता ही प्रिय है। अनन्या सीता की आन्तरिक दशा को देख राम का अन्तर उद्वेलित हो उठा-

**सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसें। चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसें।।**

**(रा० १/२५९-८)**

सीता की विशेष व्याकुलता को विलोक कर श्रीराम ने धनुष तोड़ने का निश्चय कर लिया और जिस प्रकार से गरुड़ छोटे से सर्प की ओर उसे निगल जाने के लिए देखता है उसी प्रकार से राम ने धनुष की ओर देखा। वैदेही अत्यन्त

व्याकुल हैं। उनके लिए निमेष कल्प के समान बीत रहा है। उनकी दशा को देखकर राम सोचते हैं-

**तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा।।**
**का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें।।**
**अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।।**

**(रा० १/२६१-२,३,४)**

जल के अभाव में जिस प्यासे की मृत्यु हो जाये, उसके लिए फिर अमृत का सरोवर किस काम का? कृषि के सूख जाने पर वृष्टि किस काम की? समय चूक जाने पर केवल पश्चाताप ही हाथ रह जाता है। इस प्रकार विचार करते हुए श्रीराम ने जानकी की तरफ देखा और अत्यन्त प्रेम का अनुभव कर प्रभु श्रीराम पुलकित हो गये और मन ही मन गुरु को प्रणामकर सहज भाव से ही धनुष को उठाकर विखण्डित कर दिया। प्रथम दर्शन से लेकर अब तक सीता के प्रेम में सदैव वृद्धि ही होती रही है। उनकी शोभा ही अलौकिक नहीं है प्रीति भी अलौकिक है। धनुष टूटते ही सखियाँ विश्वविजय और कीर्ति से सुशोभित जयमाल को पहनाने के लिए सीता को साथ लेकर श्रीराम के पास आती हैं और सीता से कहती हैं-

**पहिरावहु जयमाल सुहाई।**

सीता जयमाल पहनाने के लिए हाथ उठाती हैं किन्तु प्रेमवश हो पहनाया नहीं जा रहा। यह सोचती हैं कि जयमाल पहनाते ही पुनः राजमहल में लौटना होगा। वियोग की कल्पना ही असह्य हो रही है। जितना अधिक समय प्राणेश की सन्निधि में बीत जाये वही सार्थक है। जयमाल पहनाकर प्रियतम को निहारते हुए ठगी सी खड़ी रह जाती हैं। सखियाँ बार-बार कह रही हैं-सीते! स्वामी के चरण का स्पर्श करो किन्तु वे वियोग भय से भयभीत हो स्पर्श नहीं कर रहीं। गोस्वामी जी लिखते हैं-

**गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।**
**मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।।**

**(रा० १/२६५)**

इन्हीं पावन चरणों का स्पर्श कर अहिल्या निष्पाप हो पतिलोक को प्राप्त हुई हैं। मेरे तो ये ही चरण आश्रय हैं, अतः इन्हें स्पर्श के पश्चात् कहीं अन्यत्र न जाना पड़े, इस भय से सीता चरण स्पर्श नहीं करती हैं-

**करति न चरन परस अति भीता।**

जनकनन्दिनी की इस अलौकिक प्रीति को देख रघुवंशमणि मन ही मन मुस्करा रहे हैं। रंगमण्डप में राम और सीता की जोड़ी ऐसी सुशोभित हो रही है कि मानो छवि और श्रृंगार दोनों साकार विग्रह में एक स्थान पर ही उपस्थित हो गये हों। सीता ने प्रथम दर्शन में ही श्रीराम को अपना सर्वस्व स्वीकार कर लिया था, बाद में भगवती उमा का अमोघ आशीर्वाद भी प्राप्त हो गया और अब धनुष टूट जाने पर तो लौकिक दृष्टि से भी कोई बाधा नहीं रह गई है क्योंकि- **'टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू।'** आगे तो केवल वंश व्यवहार का पालन करना मात्र रह गया है। बीच में ही एक अन्य बाधा आ उपस्थित हुई। शिव धनुषभंग का समाचार सुन भृगुकुल भूषण परशुराम रंगमण्डप में प्रवेश करते हैं, उनके रौद्र रूप को देख उपस्थित जनसमुदाय भयभीत हो चिन्तित हो जाता है।

**भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता।।**

**(रा० १/२७०-७)**

आश्चर्यचकित हो सीता सखियों से उनके सम्बन्ध में पूछती हैं और परशुराम के क्षत्रिय द्रोही स्वभाव को सुनते ही वे काँप जाती हैं। उनके लिए अर्धनिमेष भी कल्पवत् प्रतीत हो रहा है। टूटे हुए धनुष को देखकर महाराज जनक से उसके तोड़ने वाले के सम्बन्ध में भृगुनन्दन जानना चाहते हैं किन्तु भयवश हो विदेह कोई उत्तर नहीं दे पा रहे-

**सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।**
**हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु।।**

**(रा० १/२७०)**

जनसमुदाय को भयभीत तथा जानकी को डरी हुई जान हर्ष-विषाद से रहित हो श्रीराम स्वयं को अपराधी के रूप में परशुराम के सामने उपस्थित करते हैं और जब राम की प्रभुता को पहचान वैष्णव धनुष उन्हें समर्पित करते हुए स्तुतिकर परशुराम वन को प्रस्थान करते हैं तो गोस्वामी जी लिखते हैं-

**बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु उदयँ चकोरकुमारी।।**

**(रा० १/२८६-६)**

त्रिभुवन विजयी स्वामी की प्रेयसी होने का सौभाग्य प्राप्त कर जनकनन्दिनी निर्भय और निश्चिंत हो गई हैं। स्नेहासिक्त नेत्रों से राघव को इस प्रकार निहार रही हैं मानो पूर्ण चन्द्र के उदित होने पर प्रमुदित हो चकोरी निहारती हो। सभा विसर्जन हो जाती है और प्रियतम का चिन्तन करते हुए सखियों के साथ

सीता अन्तःपुर को चली जाती हैं। जिसको सर्वस्व समर्पित कर दिया हो, उससे पलमात्र की दूरी भी सह्य नहीं होती। सीता के लिए तो लोकरीति की पूर्ति में ना जाने कितने दिन और व्यतीत होंगे। प्रियतम का दर्शन रंगभूमि के पश्चात् पुनः उन्हें विवाह मण्डल में मिलता है। आज उनके प्राणेश दूल्हा रूप में विवाह मण्डप में विराजित हैं। कुल पुरोहित की आज्ञा से सखियाँ षोडशों श्रृंगार से सुसज्जित कर सीता को साथ ले मधुरवाणी में मंगल गीत गाती हुई मन्द गति से मण्डप में प्रवेश करती हैं। दुल्हन के रूप में सीता की शोभा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं-

**सोहति बनिता बृंद महुँ सहज सुहावनि सीय।**
**छबि ललना गन मध्य जनु सुषमा तिय कमनीय।।**

**(रा० १/३२२)**

सहज ही सुन्दरी सीता वनिता वृन्द में ऐसी शोभित हो रही है मानो छवि रूपी ललनाओं के मध्य में कमनीय सुष्रमा तिय शोभा पा रही हो अर्थात् साक्षात् परम मनोहर शोभारूपी नारी शोभित हो। छबि गृह दीप शिखा की सी ही अभूतोपमा यहाँ भी है। सिय सौन्दर्य के समक्ष अपनी शब्द सामर्थ्य की लघुता का अनुभव करते हुए कवि अपनी लाचारी व्यक्त करता है-

**सिय सुन्दरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई।।**

**(रा० १/३२३-१)**

सौन्दर्य के सम्बन्ध में अब इससे अधिक कहा ही क्या जा सकता है। रूप की राशि सब भाँति से पुनीत सीता को मण्डप में आते हुए बरातियों ने देखा और श्रद्धा से उनका हृदय झुक गया। दिव्यता की अनुभूति से मनुष्य का हृदय स्वभावतः झुक कर नमन करने लगता है। पुत्रों के सहित महाराज दशरथ के हर्षानन्द की सीमा नहीं है। उपस्थित मुनिगण आशीर्वचन कर रहे हैं। इस प्रकार सीता मण्डप में आ उपस्थित होती हैं। आचार्यगण वैदिक विधान से गौरी पूजन कराकर मधुपर्क आदि की विधि सम्पन्न करते हैं और-

**एहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंघासनु दियो।**

**(रा० १/३२३-छन्द)**

दूलह रूप प्रियतम के समीप ही वह दुलहन रूप में विराजित हैं। गुरुजन के मध्य में उन्मुक्त हो एक दूसरे को देख नहीं सकते। कनखियों से ही परस्पर निहार रहे हैं। कवि कहता है-

सियराम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसें करै।।
(रा० १/३२३-छन्द २-५,६)

सीता और राम का आपस में अवलोकना तथा परस्पर का प्रेम किसी को दीख नहीं रहा है, जो मन, बुद्धि तथा श्रेष्ठ वाणी के लिए भी अगोचर है उसकी अभिव्यक्ति कवि कैसे कर सकता है-

कबिहि अरथ आखर बस साँचा।

कवि के पास तो अक्षर तथा उसके अर्थ का ही बल होता है और ये दोनों ही प्राकृत हैं। राम सीता के अलौकिक स्नेह सौन्दर्य का बखान वे कैसे कर सकते हैं? महारानी सुनयना के साथ महाराज जनक वैदिक विधि अनुसार दूलह श्रीराम का चरण पखारते हैं। फिर वर-वधू दोनों के कुलगुरु शाखोच्चार करते हैं जिसमें दोनों वंशों की पावन परम्परा का स्मरण किया जाता है। शाखोच्चार के साथ ही पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता है-

सुखमूल दूलहु देखि दम्पति पुलक तन हुलस्यो हियो।
करि लोक बेद बिधानु कन्यादानु नृपभूषन कियो।।
(रा० १/३२४-छन्द)

सुख के मूल श्रीराम को दूलह रूप में देखकर दम्पत्ति का हृदय उल्लास से भर गया और शरीर पुलकित हो गया। लौकिक तथा वैदिक विधानानुसार सम्पूर्ण कृत्य सम्पन्न कर नृपभूषण विदेह ने कन्यादान करके स्वयं को कृतकृत्य बना लिया।

विवाह संस्कार में गोस्वामी जी लोक तथा वेद विधि के समर्थक हैं। वे विवाह को एक महान् धार्मिक संस्कार मानते हैं। यही कारण है कि उनके महाकाव्य के नायक-नायिका लोकोत्तर होते हुए भी लोकरीति का पालन करते हैं। कन्या के विवाह में गोस्वामी जी की मान्यता है-

जौं घर बरु कुलु होई अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा।

घर, वर और कुल की उत्तमता को देखकर ही कन्या का विवाह करना चाहिए। घर उत्तम हो, वर उत्तम हो और वंश भी उत्तम हो तभी कन्या प्रदान करनी चाहिए। इन तीनों में यदि एक की भी न्यूनता हो तो कन्या प्रदान करना उचित नहीं है। विवाह में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार की विधियों का पालन करना चाहिए। इनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है।

हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों में विवाह की कई पद्धतियों का वर्णन है। उनमें से कुछ उत्तम, कुछ मध्यम, कुछ निम्न तथा कुछ निकृष्ट कोटि की भी पद्धतियाँ हैं। उनमें ब्राह्म, देव तथा आर्ष विवाह उत्तम, गान्धर्व विवाह मध्यम, आसुर विवाह निम्न तथा राक्षस विवाह निकृष्ट कोटि का कहा जा सकता है। माता-पिता द्वारा घर, वर, कुल की उत्तमता को भली-भाँति देखकर लौकिक वैदिक विधानानुसार सर्वविध संस्कार सम्पन्न कर कन्यादान की विधि उत्तम 'ब्राह्म' विवाह है। आजकल इसे दूसरी भाषा में अरेन्ज्ड मैरिज(arranged marriage) अर्थात् सुव्यवस्थित विवाह कहते हैं। हमारे वर्तमान समाज में इस पद्धति का ही आदर है। उसी की प्रतिष्ठा है। वर-कन्या की पसन्दगी में जो परस्पर प्रेम वृद्धि से विवाह-सम्बन्ध किया जाता है, उसे गान्धर्व-विवाह कहते हैं। वर्तमान का प्रचलित प्रेम विवाह वा "लव मैरिज"(love marriage) ही गान्धर्व विवाह है। इसे मध्यम स्थान इसलिए मिला है क्योंकि इसमें न तो घर, वर, कुल की उत्तमता का ही विचार रहता है और न ही वर-वधू के परिवार की सम्मति ही। अतः इसके भविष्य के परिणाम में परिवार वा समाज नहीं अपितु स्त्री व पुरुष ही उत्तरदायी होते हैं। "प्रेम विवाह" में सृजन की उत्कट अभिलाषा नहीं रति अनुराग का ही आकर्षण मुख्य होता है, इसलिए इसे मध्यम श्रेणी में स्वीकारा जाता है। आसुर विवाह में वर कन्या की रुचि से उसका अपहरण कर उसके साथ विवाह कर लेता है और कन्या की रुचि के विपरीत बलात् अपहरण कर विवाह करने को राक्षस विवाह कहा गया है। कई ग्रन्थों में इससे भी निकृष्टतम "पैशाच विवाह" का जिक्र है किन्तु मेरी राय में उसे विवाह की संज्ञा देना ही अनुचित सा जान पड़ता है।

" रामचरितमानस" एक उत्तम कोटि का सांस्कृतिक महाकाव्य है। उसके परमधीरोदात्त नायक मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मानव समाज में मर्यादा की प्रतिष्ठा ही इस महाकाव्य के नायक के समग्र जीवन वृत्त का मुख्य ध्येय है। सुसंस्कृत मानव-समाज में विवाह सम्बन्ध जीवन की महानतम् घटना है। इसके घटित होने में पूर्ण सजगता अपेक्षित है इसीलिए गोस्वामीजी ब्राह्म विवाह का समर्थन करते हैं। क्योंकि उसमें कन्या के अनुरूप ही घर, वर और कुल को देखने की व्यवस्था है। इस विधि में कन्या का पिता उसका हाथ पकड़कर उसे सुयोग्य वर को समर्पित करता है और वह देव तथा अग्नि की साक्षी में कभी भी किसी भी अवस्था में उसको न त्यागने की प्रतिज्ञा करते हुए ग्रहण करता है। अब तक के इतिहास में ब्राह्म विवाह की विधि से सम्पन्न हुए दाम्पत्य जीवन जितनी व्यापकता से सफलता

के आदर्श उपस्थित किये हैं उसकी तुलना में अन्य किसी भी पद्धति में देखने को नहीं मिलता। आजकल तथाकथित शिक्षित एवं उन्नत कहे जाने वाले वर्ग में प्रेम विवाह को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है किन्तु इसमें यथार्थतः प्रेम की अपेक्षा युवक-युवतियों में वासनात्मक स्वच्छन्द सम्बन्ध की कामना ही मुख्य कारण है। आजकल प्रायः अपरिपक्व मस्तिष्क के अनुत्तरदायी वर्ग द्वारा ही बाह्य आकर्षण से उद्वेलित तथा ऐन्द्रिक उत्तेजना से अभिभूत होकर अविचारपूर्ण दाम्पत्य जीवन को स्वीकार करने की कामना से ही इस प्रकार की चेष्टा की जा रही है जो परिणाम में व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवन को अव्यवस्थित तथा दुःखित बनाने में ही कारण होगी। वर्तमान का पश्चिमी समाज प्रायः इसी प्रवृत्ति का शिकार बना हुआ है और आर्थिक सम्पन्नता होते हुए भी अव्यवस्थित तथा अस्थिर दाम्पत्य जीवन के परिणाम से उत्पन्न सन्ताप से विदग्ध है। स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वयं के जीवन को अस्थिर तथा असुरक्षित पाकर मानसिक सन्तुलन खोते जा रहे हैं और इसके परिणाम में उनमें विविध प्रकार के अपराधों की दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है। उन देशों में समाज हितेक्षु प्रबुद्ध वर्ग जन-सामान्य की इस प्रकार की प्रवृत्तियों से विक्षुब्ध हो चिंतित है और उसको रोकने के लिए विविध प्रकार के उपाय ढूँढ रहा है किन्तु अब तक उसे किसी प्रकार की सफलता नहीं मिल पाई है। स्वच्छन्द यौन प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए परिणाम की भयंकरता से आज पश्चिमी जगत् संत्रस्त है। ईश्वरीय विधान से यदि भारतीय अध्यात्म योग, विज्ञान तथा संयम का संदेश लेकर उसके प्रचारक, अनेकों विद्वान्, सन्त, योगी उसकी सहायता के लिए न पहुँचे होते तो स्थिति कितनी भयंकर होती उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। मेरी राय है कि वर्तमान में प्रेम-विवाह की आड़ में स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द सम्बन्ध को न्याय संगत ठहराने वाले तथाकथित शिक्षित स्त्री-पुरुषों को इस सम्बन्ध को गम्भीरता से युरोप तथा विशेष कर अमेरिका की स्थिति का अध्ययन करके फिर उसके औचित्य को सिद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए।

ब्रह्मर्षि व्यासदेव द्वारा रचित तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा संवर्धित पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित महाभारत ग्रन्थ वैदिक काल से लेकर लगभग दो सहस्राब्दियों पूर्व तक के भारतीय जन-जीवन की समग्र उपलब्धियों का संचित कोष है। उसमें ऋषि प्रज्ञा प्रसूत हमारा सर्वविधि ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा प्राचीन इतिहास सभी कुछ सुरक्षित है। महाभारत में हमें विविध विधियों से सम्पन्न होने वाले वैवाहिक सम्बन्धों तथा उनके परिणामों का वर्णन प्राप्त

होता है। भारतीय प्राचीन परम्परा में देव विवाह तथा क्षात्र विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है किन्तु वह जन-सामान्य के जीवन से सम्बन्धित नहीं था। कुछ विशिष्ट लोगों में उसका प्रयोग होता रहा है। ब्राह्म विवाह तो जन-सामान्य में प्रचलित था ही। अधिकांश दाम्पत्य जीवन इसी विधि से सम्पन्न होता रहा है। प्राचीन इतिहास में इसके सफल जीवन के अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। देव विवाह में कन्या को अपनी रुचि अनुसार वा अनुरूप पति वरण करने की स्वतन्त्रता होती थी किन्तु यह स्वतन्त्रता एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रहती थी। प्रायः ब्राह्मण क्षत्रियों में ही इस प्रथा का प्रचलन रहा है। ब्राह्मण कन्याएँ अपनी योग्यतानुसार पति प्राप्त करने के लिए विशिष्ट गुण एवं योग्यता सम्पन्न ऋषिकुमारों से शास्त्रार्थ तक किया करती थीं और सुयोग्य विजेता के प्रति स्वयं को समर्पित कर उसे पति रूप में वरण करती थीं। क्षत्रिय कन्याओं के लिए स्वयंवर की व्यवस्था में उच्च कुल के उत्तम गुण ऐश्वर्य सम्पन्न नृपतिगण तथा श्रेष्ठ मुनिगणों को ही आमन्त्रित किया जाता था और कन्या को उनमें से ही अपनी रुचि अनुसार पति वरण की अनुमति दी जाती थी। ब्राह्मण समाज और क्षत्रिय समाज के स्वयंवर की प्रथा में यह अन्तर था कि ब्राह्मण कन्या स्वेच्छा से ऋषिकुमार का ही वरण कर सकती थी जबकि क्षत्रिय कन्या के लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों में से पति वरण करने की व्यवस्था थी, इसके अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं। सत्यवान्-सावित्री, नल-दमयन्ती, अगस्त्य-लोपामुद्रा आदि ऐसे अनेकों पावन दाम्पत्य की कीर्ति युगों से गाई जा रही है। वे सभी देव विवाह की विधि की ही देन हैं। देव विवाह तथा दाम्पत्य विवाह में बड़ा अन्तर है। देव विवाह में आकर्षण वा वरण में ज्ञान तथा गुण की प्रधानता होती है। उसके लिए पार्वती की भाँति कभी-कभी कठोर तपस्या भी करनी पड़ती है किन्तु गान्धर्व विवाह में आकर्षण का हेतु बाह्य सौन्दर्य, वासनात्मक वृत्ति अथवा ऐश्वर्य ही हुआ करता है। महाभारत में गान्धर्व विवाह का महाराज दुष्यन्त तथा शकुन्तला का इतिहास प्रसिद्ध है। क्षात्र विवाह में उदाहरण विशेष रूप से दो ही मिलते हैं। उसमें किसी प्रतिज्ञा पूर्ति के साथ कन्या का विवाह सम्पन्न होता है किन्तु यह प्रतिज्ञा सामान्य कन्याओं के लिए नहीं की जाती। अनुपम शील-सौन्दर्य की अधिष्ठातृ देवियों के विषय में ही ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं; जैसे धनुष भंग के साथ सीता की तथा मत्स्य भेदन के साथ द्रोपदी की कथा प्रचलित है।

प्राचीन काल में एक आर्ष विवाह का भी जिक्र आता है जिसमें रूप, गुण शीलवती कन्या को प्राप्त करने के लिए वर को कन्या के पिता को कुछ देकर

प्रसन्न करना होता था। कुछ वर्गों में आज भी यह प्रचलित है। आसुर विवाह के उदाहरण में भगवान् कृष्ण द्वारा रुक्मिणी तथा अर्जुन द्वारा सुभद्रा का अपहरण कर विवाह सूत्र में आबद्ध होने की कथा प्रचलित है। भीष्म पितामह द्वारा अपने भाइयों के लिए काशिराज की अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामक कन्याओं का हरण कर अम्बिका और अम्बालिका के साथ अपने भाई का विवाह करना राक्षस विवाह का उदाहरण है। उपरोक्त संक्षिप्त वैवाहिक पद्धतियों के विवरण से विश्वास हैं कि अब यह तथ्य स्पष्ट हो गया होगा कि मानव समाज की सुव्यवस्था तथा उसे सुखी दाम्पत्य जीवन प्रदान करने में ब्राह्म विवाह(arranged marriage) ही एक उत्तम विधि है। यह कहना शक्य नहीं कि इस विवाह पद्धति से सम्पन्न हुआ दाम्पत्य जीवन शत-प्रतिशत सुव्यवस्थित तथा सुखी ही होता है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अन्य प्रचलित विविध विधियों से इस पद्धति में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को सुरक्षित रहने की अधिक सम्भावना है।

राम सीता के दाम्पत्य सम्बन्ध की सम्पन्नता में हमें श्रेष्ठतम तीन पद्धतियों का दर्शन होता है। पुष्प वाटिका में दोनों दिव्य विभूतियों का परस्पर शील-सौन्दर्य तथा दिव्य गुणों से आकर्षित हो विशुद्ध प्रेम की अनुभूति के साथ एक दूसरे के प्रति समर्पण देव विवाह, धनुष भंग से प्रतिज्ञा पूर्ति के साथ क्षात्र विवाह और-

**करि लोक बेद बिधानु कन्यादानु नृपभूषन कियो।**

**(रा० १/३२४-२०)**

के साथ ब्राह्म विवाह सम्पन्न होता है। कन्या के पिता को उसके जन्म के साथ ही उसके लिए सुयोग्य वर की चिन्ता का बीज पड़ जाता है और शनैः-शनैः कन्या की वृद्धि के साथ ही वह बीज अंकुरित हो बढ़ने लगता है। जब तक वह किसी सुयोग्य वर को पाकर कन्या का दान नहीं कर देता तब तक उसे शान्ति नहीं आती। सीता जैसी शोभाशील सम्पन्ना सर्वगुणकारी कन्या का पिता होने का सौभाग्य महाराज जनक को प्राप्त हुआ। उन्हें सीता के लिए सुयोग्य वर की चिन्ता थी इसीलिए उन्होंने शिव धनुष भंग के साथ ही सीता के विवाह की प्रतिज्ञा की। वे जानते थे कि कोई सामान्य वीर इस धनुष को उठा भी नहीं सकता, तोड़ना तो दूर की बात है और हुआ भी यही। जब कोई वीर धनुष को तिल भर हिला भी न सका तो उस समय महाराज जनक पर क्या बीती होगी उसकी कल्पना करना बुद्धि से परे की बात है। उनके व्यथित हृदय की स्थिति का अवबोधन उनके ही शब्दों में-

**कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ।**

**(रा० १/२५२-५)**

उनके निराश हृदय को आशा की झलक मिलती है शौर्ययुक्त लक्ष्मण की वाणी से किन्तु उनके सन्ताप का अन्त तब होता है जब विश्वामित्र श्रीराम को आदेश देते हैं-

**उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा।।**

**(रा० १/२५४-६)**

गुरु आज्ञा पाकर श्रीराम धनुष को उठा कर दो खण्ड कर रंगमंच पर डाल देते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं-

**जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।।**

**(रा० १/२६३-४)**

जो व्यक्ति अथाह जल में तैरता हुआ थक गया हो और डूबने की पूर्ण सम्भावना आ उपस्थित हुई हो उसी घबराहट में अचानक उसके पाँव के नीचे थल मिल जाये तो सुख तथा शान्ति उस समय उस व्यक्ति को प्राप्त होती है वैसा ही सुख महाराज विदेह को धनुष टूटने पर प्राप्त हुआ। आज उनके जैसा सौभाग्य भाजन और कौन दूसरा हो सकता है जिनकी प्राणाधिक्य प्रिय पुत्री का पाणिग्रहण विश्व विजयश्री की अनुपम कीर्ति के साथ श्रीराम कर रहे हैं। महाकवि लिखते हैं-

**क्यों करै बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति साँवरी।**

**(रा० १/३२४-२३)**

राम की श्यामल मूर्ति ने विदेह को सचमुच विदेह बना दिया है। वे प्रार्थना करने में भी असमर्थ हैं। पाणिग्रहण, अग्नि में लाजार्पण, गाँठ बन्धन, भाँवरी और सिन्दूर दान आदि की सभी क्रियाएँ विधिवत् सम्पन्न हुई और इन सभी का महाकवि ने बड़े ही मनोरम शब्दों में वर्णन किया है। राम वाम भाग में सुशोभित सीता को देख मण्डप हर्षोल्लास से भर गया-

**भरि भुवन रहा उछाहु राम बिबाहु भा सबहीं कहा।**
**केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यहु मंगलु महा।।**

**(रा० १/३२५-१३)**

सच है महामंगल का पूर्ण बखान भला अकेली जिह्वा से किस प्रकार हो सकता है। आनन्द और उल्लास सर्वत्र ही छाया हुआ है। ऐसा संयोग तो सृष्टि में सौभाग्य से ही कभी प्राप्त होता है।

**राम सरिस बरु दुलहिनि सीता। समधी दसरथु जनकु पुनीता।।**

**(रा० १/३०४-२)**

राम जैसा वर, सीता जैसी वधू तथा दशरथ और जनक जैसे समधि, यह सर्वविधि उत्तम संयोग तो अनन्त पुण्य का ही परिणाम है और ये -

**पुण्य पयोनिधि भूप दोउ।**

दोनों नृपति सुकृत के ही समुद्र हैं। एक कन्या के लिए ही सुयोग्य वर की चिन्ता थी। अब चारों राजकुमारों के साथ चारों कन्याओं का विवाह उसी विधि से सम्पन्न हो गया और पुरवासियों की प्रार्थना विधाता ने पूरी कर दी जोकि आँचल पसार कर किया करते थे-

**पुर नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।**
**ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ एहिं पुर हम सुमंगल गावहीं।।**

**(रा० १/३११ छन्द)**

माँडवी, उर्मिला, श्रुतकीर्ति का विवाह क्रमशः भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के साथ सम्पन्न हो गया। मानस महाकाव्य में भरत तथा लक्ष्मण के पावन चरित्र का महाकवि ने विशद् रूप से वर्णन किया है। प्रसंगानुसार शत्रुघ्न के चरित्र के सम्बन्ध में भी काफी कुछ कहा है किन्तु पावनचरिता पति परायणा उनकी सहधर्मिणी देवियों के सम्बन्ध में विवाहोत्सव के सिवाय अन्यत्र कहीं कोई चर्चा नहीं आती। सम्भव है वह इसलिए न की गई हो कि महाकाव्य का ध्येय मुख्यतः राम चरित्र का वर्णन करना है, राम परिवार चरित्र का नहीं। आदिकवि वाल्मीकि महर्षि ने भी उनके सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

उत्तर भारत की प्रथा है विवाह सम्पन्न होने के बाद वर-वधू को कोहबर ले जाने की। घर के एक कोने में दीवार पर देवियाँ गोबर से लीप कर उस पर चित्र उरेहती हैं और उसके कल्याणप्रदा कुल देवता की भावना करती हैं। वर-वधू को उसके पास ले जाकर उससे प्रार्थना कर आशीष प्राप्त करने को कहती हैं। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने दोहावली में कहा है-

**अपनो ऐपन निज हथा तिय पूजहिं निज भीति।**
**फरइ सकल मन कामना तुलसी प्रीति प्रतीति।।**

**(दोहावली ४५४)**

अपने हाथ से लीपे हुए अपनी ही दीवार पर अपने द्वारा ही चित्रित देवियाँ

अपनी ही भीति की पूजा करती हैं। प्रीत की प्रतीति ऐसी है कि उनकी सभी मनोकामना वहीं से ही पूर्ण हो जाती हैं। यह प्रथा लोकरीति का एक सुन्दर दृश्य उपस्थित करती है। उस समय वर-वधू के साथ केवल सौभाग्यशाली स्त्रियाँ तथा वधू की सहेलियाँ ही हुआ करती हैं। महाकवि उस दृश्य का बड़ा ही सुन्दर वर्णन करते हैं-

**पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न।**
**हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पिआसे नैन।।**

**(रा० १/३२६)**

सीता बार-बार राम की ओर चितै कर सकुचा जाती हैं किन्तु उनका मन नहीं सकुचाता, पुनः-पुनः देखने के लिए विवश कर देता है। प्रेम के प्यासे उनके नेत्र मनोहर मछलियों की छवि को हर रहे हैं। कितनी कोमल कल्पना है कवि की यहाँ पर। वर-वधू के अन्तर भावाभिव्यक्ति की कितनी अनुपम छटा है। महाकवि लोकरीति के प्रति उतना ही आदर रखते हैं जितना वेदविधि के प्रति क्योंकि ये दोनों ही उनकी कविता सरिता के मंजुल किनारे हैं-

**लोक बेद मत मंजुल कूला।**

विवाह में भी दोनों मान्यताओं का समान स्थान है। उनके ही शब्दों में-

**कोहबरहिं आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।**
**अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै।।**
**लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं।**
**रनिवासु हास बिलास रस बस जन्म को फलु सब लहैं।।**

**(रा० १/३२७-छन्द २)**

सुहागिनी स्त्रियाँ दूलह-दुलहिनों को कोहबर ले आईं। अत्यन्त प्रेम निमग्न हो मंगल गीत गाती हुईं लौकिक रीति सम्पन्न करने लगीं। इस रीति में 'लहकौर' एक प्रथा है जिसमें कोहबर में आने पर वर-वधू एक दूसरे को ग्रास देते हैं अर्थात् एक दूसरे को एक ग्रास खिलाते हैं और बाद में पान का बीड़ा दोनों आधा-आधा खाते हैं। उपस्थित युवतियाँ वर के साथ हास-परिहास करती हैं। गौरी श्रीराम को तथा शारदा सीता जी को लहकौर प्रथा समझा रही हैं और रनिवास हास-विलास में निमग्न है। इसके साथ ही विवाहोत्सव की अन्तिम रीति भी सम्पन्न हो गई। सीता जानती हैं कि प्रियतम की मनोहर झाँकी अब नेत्रों से विलग होने वाली है। वह लज्जावश सम्मुख तो देख नहीं सकतीं, प्यासे नेत्र अभी भी अतृप्त ही रह गये हैं।

हाथ में कंगन धारण किये हुए हैं जिसमें विविध जाति के उत्तम नग जड़े हैं। दूलह रूप राम की अनुपम शोभा उन नगों में प्रतिबिम्बित हो रही है। सीता उस अनुपम छटा को नगों के माध्यम से अपलक हो निहार रही हैं। पीपासु नेत्र छवि सुधा का पान कर तृप्त हो रहे हैं। महाकवि लिखते हैं-

**निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की।**
**चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी।।**

**(रा० १/३२७-छन्द-३)**

अपने हाथ की मणियों में रूप सौन्दर्य के निधान श्रीराम का प्रतिबिम्ब दीख रहा है। जानकी उसी को देखने में निमग्न हैं। वियोग के भय से न तो वे अपने नेत्रों को हिलाती हैं और न अपनी बाहों रूपी लता को। इस झाँकी का वर्णन कवितावली में भी कवि ने किया है-

**दूलह श्रीरघुनाथु बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।**
**गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।।**
**रामको रूप निहारति जानकी कंकनकें नग की परिछाहीं।**
**यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।।**

**(कवितावली-१/७)**

जानकी कंगन के नग में रामरूप की परिछाहीं निहार रहीं हैं, उन्हें अपनी भी सुध नहीं है इसलिए हाथ और नेत्र दोनों जहाँ के तहाँ टिक गये हैं। वियोग के भय से न वे हाथ हिला रहीं हैं न नेत्र।

विवाह की सम्पूर्ण विधि सम्पन्न हो गई है। अब वे राम की अभिन्ना हैं। प्रियतम के साथ ही गुरुजनों की चरणवन्दना कर अखण्ड सौभाग्य की आशीष प्राप्त कर रही हैं। शील सौन्दर्य की साकार मूर्ति सर्वगुणसम्पन्ना सीता तथा उन जैसी ही उनकी अन्य बहनों को पुत्रवधू रूप में प्राप्त कर अवध नरेश भी धन्य हो गये हैं। उनका सौभाग्य आकाश से भी महान् है। भला अब उसकी महिमा का गान कौन कर सकता है?

नारी पिता नहीं पति गृह की शोभा है। एक न एक दिन उसे पितृ गृह का त्याग करना ही होता है चाहे वह माता-पिता की कितनी भी प्रिय क्यों न हो। उसकी नियति ही यह है। कल्याणी सीता को भी अब जनकपुर से विदा लेनी है। जिस पुत्री को प्राण से अधिक प्यार किया उसका सदैव के लिए पितृ गृह से विलगाव का दृश्य बड़ा ही करुण होता है। जानकी तो माता-पिता ही नहीं समस्त

परिजनों के जीवन की ज्योति हैं। रानियों ने जब बारात की विदाई का समाचार सुना तो वे राजकुमारियों के वियोग की सम्भावना से ऐसी व्याकुल हो गईं जैसे जल के अभाव में मछलियाँ होती जाती हैं। बड़ा ही करुण दृश्य है। रनिवास का सारा हास-विलास करुणा में परिवर्तित हो गया। उस दृश्य का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं-

**पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावनु देहीं।।**
**होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी।।**
**सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।।**
**अति सनेह बस सखीं सयानी। नारी धरम सिखवहिं मृदु बानी।।**

**(रा० १/३३४-३ से ६)**

इन अर्धालियों में महाकवि ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में भारतीय परम्परागत श्रेष्ठ कुल की कन्या की विदाई का करुणरस पूरित चित्र प्रस्तुत किया हैं। रानियाँ बार-बार सीता को गोदी में लेकर आशीष देती हुई पारिवारिक जीवन को सरस, सुन्दर तथा सुखमय बनाने की शिक्षा देती हैं। हमारे समाज में आज भी विवाह के पश्चात् लड़की की विदाई के समय शिक्षा देने की प्रथा प्रचलित है। लड़की अपने जाने-पहचाने परिवार को छोड़कर एक बिल्कुल नये वातावरण में तथा अपरिचित लोगों में जाती है। वहाँ उसे कोई भी अपना पूर्वपरिचित नहीं मिलता। स्वयं को उस नये वातावरण में किस प्रकार ढालना है, उन नये लोगों के साथ किस प्रकार व्यवहार करना है, उस नये परिवार की परम्पराओं का आदर करते हुए किस प्रकार उसका पालन करना है तथा अपने कृत्य से पिता और पति दोनों कुलों को किस प्रकार से गौरवान्वित करना है, इन सारी बातों की सीख उसे पितृगृह से विदा होते समय गुरुजनों द्वारा प्राप्त होती है। सीता को आशीष देते हुए माताएं कह रही हैं कि तुम सदैव अपने पति की प्रिय होओ, तुम्हारा अहिवात अचल रहे, यही हमारी आशीष है। वहाँ जाकर सासु-ससुर तथा गुरु की सेवा करना और पति का रुख देख उसकी आज्ञा का अनुसरण करना। किसी का स्नेहभाजन होने के लिए उसकी आज्ञा का अनुसरण ही एकमात्र साधन होता है क्योंकि-

**आग्या सम न सुसाहिब सेवा।**

सासु, ससुर तथा गुरुजनों की सेवा करना धर्म है और पति की रुचि अनुसार उनकी आज्ञा का पालन करना परम धर्म है। यही उसके अखण्ड प्रेम को

प्राप्त करने का मूल मन्त्र है जिसकी सीख माताएँ सीता को दे रही हैं। सयानी सखियाँ अत्यन्त स्नेहवश हो कोमल वाणी में नारी धर्म की शिक्षा देती हैं।

नारी सृष्टि की सृजनात्मिका शक्ति है। उसके व्यक्तित्त्व का निर्माण पितृगृह में होता है और प्रयोग पतिगृह में। सुशिक्षा से ही व्यक्ति में वैशिष्ट्य का विकास होता है, जिससे वह स्वयं को सात्त्विक सृजन में उपयोगी सिद्ध कर पाता है। सीता तो शिशुकाल से ही श्रेष्ठतम संस्कारों में पोषित है, उसे विवेकनिधि विदेहराज जनक की प्राण प्रिय पुत्री होने का गौरव प्राप्त है। स्वधर्म के सम्बन्ध में उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है। विदाई के अवसर की सीख तो यहाँ परम्परा का पालन मात्र है।

अवधेश अब अवध के लिए प्रस्थान करना चाहते हैं। भाइन्ह सहित राम विदा लेने के लिए राजमहल में पधारते हैं। महारानी सुनयना उनका सर्वविधि सत्कार करती हैं। अश्रुपूरित नेत्रों से बार-बार जानकी को हृदय से लगा आशीष देती हैं और श्रीराम को सौंपते हुए उनसे विनय करती हैं-

**करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।**
**बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ बिदित गति सब की अहै।।**
**परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबी।**
**तुलसीस सीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी।।**

**(रा० १/३३६ छन्द)**

'हाथ जोड़कर बार-बार विनय करते हुए यह कहती हैं-हे सुजान राम! तुम तो सभी की गति को जानते हो। परिवार, पुरवासी, मुझको और महाराज को यह सीता प्राण से भी अधिक प्रिय है, ऐसा जानना और इसके शील स्नेह को देखते हुए अपनी किंकरी करके मानना।' विनय करने की कितनी कोमल विधि है। सीता हम सभी को प्राणप्रिय है, इसके शील और स्नेह का ध्यान रखना तथा अपनी किंकरी मानना, इन चन्द शब्दों में महारानी ने अपने अन्तर के समस्त भावों को व्यक्त कर दिया है और सुजान राम से वह सब कुछ कह दिया है जो पुत्री की सम्भाल के सम्बन्ध में कहना चाहती थी। जिसको प्राण से अधिक प्यार किया उस पुत्री को आज अपरिचित हाथों में समर्पित करते हुए कितनी व्यथा हो रही होगी इसकी कल्पना कौन कर सकता है! अधीर माताएँ बार-बार धैर्य धारण कर राजकुमारियों को बुलाती हैं और गले लगा कर रोने लगती हैं। कुछ दूर पहुँचाकर लौट पड़ती हैं, फिर जाकर गले लगा लेती हैं। माताओं की यह दशा देख सखियों ने उन्हें बिलग

कर दिया और वे वियोग की व्यथा से व्याकुल हो विलाप कर रही हैं। बड़ी ही करुण दशा है रनिवास की। महाकवि कहते हैं-

**मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु।**

**(रा० १/३३७)**

ऐसा लगता है मानो विदेहराज की नगरी में करुणा और विरह ने अपना डेरा ही लगा लिया हो। सीता का वियोग सभी के लिए असह्य हो रहा है। केवल प्रियजन, परिजन, प्रजाजन ही नहीं-

**सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए।।**
**ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही।।**
**भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती।।**

**(रा० १/३३८-१ से ३)**

जानकी ने जिन तोते और मैना को पाला था, सोने के पींजरों में रखकर पढ़ाया था, वे व्याकुल होकर पुकार रहे हैं "वैदेही कहाँ है?" उनके इस प्रकार से करुण क्रन्दन को सुनकर धीरज किसको नहीं त्याग देगा? जब पशु-पक्षी सिय वियोग की व्यथा से इस प्रकार व्याकुल हो गये तो मनुष्यों की दशा किस प्रकार से वर्णन की जा सकती है? जनकनन्दिनी अपनी करुणा की वृष्टि केवल पुरजन पर ही नहीं पशु-पक्षियों पर भी समान रूप से करती रही हैं। अतः उनके असह्य वियोग से सभी व्याकुल हो विलाप कर रहे हैं। उसी समय महाराज जनक भाई के साथ रनिवास में आ गये। सीता को देखते ही उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु छलक पड़े। उनकी दशा का वर्णन कवि के शब्दों में-

**सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी।।**
**लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की।।**
**समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचारु न अवसर जाने।।**

**(रा० १/३३८-५,६,७)**

प्राणप्रिय पुत्री जो आज तक परिवार की शोभा रही है आज से वह सदैव के लिए पराई हो रही है। पिता की जीवन ज्योति सीता ने अपनी शोभा सुयश से पितु कुल को प्रकाशित किया है। ऐसी पुत्री के वियोग की घड़ी धैर्यवान् पिता को भी अधीर बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सीता को देखते ही परम विरागी जनक का भी धैर्य जाता रहा। ज्ञान के प्रकाश में मोह उसी प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अंधकार। महाराज विदेह विवेक सिन्धु हैं। इनके निकट

मोह की गंध नहीं हो सकती किन्तु ज्ञान की भी एक मर्यादा है। जब जीवन रस स्नेह रूप में निर्झरित होने लगता है तब उसकी सरसता उस सीमा को मिटाती हुई उसे पार कर जाती है। सीता की विदाई के समय महाज्ञानी विदेह की भी यही स्थिति है। परिजन वियोग की पीड़ा से विलाप करती हुई सीता को देखते ही उनका मन अधीर हो उठा। ज्ञान की मर्यादा से मुक्त हो उन्होंने पुत्री को हृदय से लगा लिया। अश्रुप्रवाह करते हुए स्नेहाधिक्य से शरीर शिथिल हो गया। महाराज को प्रेम विह्वल दशा में देख कुशल मन्त्रीगण विविध प्रकार से समझाते हुए धीर बँधाने लगे किन्तु यह अवसर ही ऐसा है जिसमें प्रेमपयोधि की उर्मियों में डूब जाने के भय से बुद्धि अपने विवेक वैराग्य रूपी पुत्रों को साथ लिए एक तरफ खड़ी हो निहारती हुई ठगी सी रह जाती है। विवेक वारिधि विदेह पुत्री स्नेह से विमुग्ध हो बारम्बार उसे हृदय से लगाकर धैर्य बँधाते हैं और सुन्दर सुसज्जित पालकी मँगाते हैं। सम्पूर्ण रनिवास स्नेह सागर में निमग्न है। पुत्री की विदाई का मुहूर्त निकला जा रहा है यह देख-

**प्रेम बिबस परिवारु सबु जानि सुलगन नरेस।**
**कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह सुमिरे सिद्ध गनेस।।**

**(रा० १/३३८)**

सीता के असह्य वियोग व्यथा से सभी नारियों सहित महारानी सुनयना भी अचेत हैं इसलिए कोई भी सुहागिनी राजकुमारियों को पालकी पर बैठाने नहीं आ रही। परिवार की विरह जन्य इस करुण दशा को देख महाराज ने सुन्दर मँगलमय मुहूर्त जानकर सिद्धि सहित गणेश का स्मरण करते हुए स्वयं ही पुत्रियों को पालकी पर चढ़ाकर विदा कर दिया। भगवती सीता के जीवन का एक सुन्दर, सरस एवं सुखद अध्याय यहीं सम्पूर्ण होता है।

मानस महाकाव्य में महाकवि ने सीता के विवाह तथा विदाई के अवसर पर महाराज जनक द्वारा विविध प्रकार की वस्तुएँ दहेज में दिये जाने की चर्चा की है। विवाह के समय-

**कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडपु पूरी।।**

**(रा० १/३३६-२)**

दहेज की बहुतायत कुछ कही नहीं जाती। स्वर्ण और मणियों से सारा मण्डप भर गया है। कवि ने आगे की अर्धालियों में विविध प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं का विवरण देते हुए दहेज की प्रशंसा भी की है। इसी प्रकार विदाई के

समय-

**दाइज अमित न सकिअ कहि दीन्ह बिदेहँ बहोरि।**
**जो अवलोकत लोकपति लोक सम्पदा थोरि।।**

**(रा० १/३३३)**

महाराज विदेह ने फिर से अपरिमित दहेज दिया जो कहा नहीं जाता जिसे देखकर लोकपालों के लोक की सम्पदा भी थोड़ी जान पड़ती थी। अतिश्योक्ति अलंकार में इस प्रकार दहेज की वस्तुओं का वर्णन भले ही किया गया हो किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि के आदर्श ब्राह्म विवाह की व्यवस्था में भी दहेज का स्थान है। महर्षि वाल्मीकि ने भी अपने आदि काव्य में इसका वर्णन किया है।

वर्तमान में दहेज प्रथा को एक सामाजिक कलंक माना जाता है। इस प्रथा के विकृत परिणाम से प्रतिदिन सैंकड़ों दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ में ही विखण्डित हो रहे हैं और सैंकड़ों नवोढ़ाओं की जीवन कलिका पूर्णतया खिलने से पूर्व ही मुरझा जाती है। कुछ विचारकों का कथन है कि वर्तमान में मानस महाकाव्य केवल काव्य ही नहीं है. भारतीय जनजीवन में वह धर्मशास्त्र के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लिया है। उनके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जनजीवन के आदर्श रूप में विराजित हैं और यह महाकाव्य उनके पावन इतिहास का ही निदर्शन करता है। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ में दहेज जैसी प्रथा की प्रशंसा उचित नहीं लगती चूँकि इससे इस बुराई को बचाये रखने में ही बल मिलता है जोकि लोकहित में नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में मेरी यह राय है कि दहेज कोई प्रथा नहीं है न यह कोई बुराई है। कन्या के विवाह के साथ उसका पिता जो कुछ भी अपनी सामर्थ्यानुसार विविध प्रकार की वस्तुएँ उसे प्रदान करता है वह दहेज कहा जाता है। इस दहेज के लिए न तो वरपक्ष की ओर से कोई माँग होती है और न कन्या के पिता को उसके लिए विवश ही किया जाता है क्योंकि मानस महाकाव्य में हमें इस प्रकार की प्रवृत्ति का कहीं दर्शन नहीं होता है। भला कौन ऐसा हृदयहीन पिता होगा जो अपनी कन्या को विदा करते समय सामर्थ्यानुसार उसके साथ में कुछ नहीं देना चाहेगा? और कौन विचारशील व्यक्ति कन्या के लिए पिता द्वारा दिये गये दान को मानवजाति पर कलंक अथवा बुराई बतायेगा? वैदिक साहित्य में भी विविध प्रकार के मूल्यवान् अलंकारों से अलंकृत करके कन्यादान की विधि बताई गई है।



नीतिशास्त्र में कहा गया है कि कन्या जो कुछ भी अपने पितृ-गृह से

लेकर ससुराल में आती है वह उसकी निजी सम्पत्ति होती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी स्त्री की निजी सम्पत्ति के विषय में यह बात कही गई है। कोई पिता यदि अपनी पुत्री को अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश दान में देता है तो वह दोष युक्त नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में सैंकड़ों वैवाहिक जीवन प्रारम्भ में ही टूट जाने में तथा अर्धविकसित जीवन कलिकाओं के मुरझा जाने में दहेज कारण नहीं है। कन्या के साथ उनके पिता से वर पक्ष द्वारा विविध प्रकार की वस्तुएँ, निश्चित धन राशि की माँग को दहेज जैसे पवित्र शब्द के साथ जोड़ना सर्वथा अनुचित है। विकृत मानव मस्तिष्क जिस प्रकार से अन्ध विश्वास को धर्म तथा प्रमाद को ही ईश्वर इच्छा नाम देकर उनको सुरक्षित रखना चाहता है ऐसे ही यदि कोई अर्थलोलुप व्यक्ति वर पक्ष की प्रलोभन पूर्ण माँग को दहेज का नाम देकर उसे शास्त्र सम्मत सिद्ध करना चाहे तो उसके लिए क्या कहा जा सकता है। मानस महाकाव्य में भगवती उमा एवं सीता के विवाह का सुन्दर एवं विशद वर्णन है। दोनों के पिता अपनी प्राणप्रिय कन्या के साथ दहेज प्रदान करते हैं और वर पक्ष उसे प्राप्त कर उसका अधिकांश वहीं सुयोग्य पात्रों को दान कर देता है। मेरे विचार से इस प्रकार की दहेज विधि आज भी उतनी ही प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण है जितनी कभी प्राचीन काल में थी। पिता अपनी आन्तरिक तुष्टि के लिए स्वेच्छा से ही पुत्री की विदाई के समय विविध प्रकार के वस्त्राभूषण तथा वस्तुएँ उसे प्रदान करता है विवशता वश दण्ड रूप से नहीं।

वर्तमान की बुराईयों के कारण को ढूँढ कर उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार की बुराइयों की जड़ ऋषि प्रसूत धर्म ग्रन्थों में ढूँढने की कुचेष्टा भ्रान्त धारणा का ही परिणाम है, इससे न तो बुराइयों को दूर ही किया जा सकेगा और न उससे कोई समाधान ही उपलब्ध होने का। मेरे विचार से तथाकथित दहेज के नाम पर वर्तमान में जो कुछ भी किया जा रहा है उसकी जड़ में है स्त्री के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व को उचित स्थान न देना। जितनी आवश्यकता कन्या के लिए सुयोग्य वर की होती है उससे कहीं अधिक आवश्यकता वर के लिए सुयोग्य कन्या की भी। कन्या का पिता उसे अपने ऊपर एक भार समझता है और उसे उतारने के लिए वह सदैव चिन्तित रहता है। वर पक्ष के लोग उसकी इस निर्बलता को जानते हैं इसलिए विविध प्रकार की अपनी माँग पूरी करने के लिए उसे विवश करते हैं। ऐसी स्थिति में कन्या अपने पिता की परेशानी को देखती है और न चाहते हुए भी मूक हो सब कुछ सहन करती है। हर एक पिता अपनी पुत्री को

अपने से अधिक सम्पन्न परिवार में, कन्या से अधिक सुयोग्य वर के साथ ब्याहने का प्रयत्न करता है और इससे उसकी परेशानी और अधिक बढ़ जाती है। वर पक्ष की माँग पूरी न हो पाने पर वा वर की अपेक्षा कन्या के अयोग्य होने पर ससुराल में उसे आदरपूर्ण स्थान नहीं मिल पाता जो कि उसे मिलना चाहिए। परिणाम में वह स्वयं को उपेक्षिता अनुभव कर संतप्त होती है और उसमें एक ऐसी हीन भावना का जन्म होता है जो उसे कभी-कभी आत्महत्या तक के लिए विवश कर देता है। ऐसा भी देखा जाता है कि वरपक्ष के लोग कन्या के पिता से अपनी माँग पूरी कराने के लिए उसे परेशान करते हैं और विविध प्रकार की पीड़ा भी पहुँचाते हैं। गम्भीरता से विचार करने पर बुराई में एक नहीं कई कारण दिखाई देते हैं। मेरे विचार से उन कारणों को बड़ी सुगमता से दूर किया जा सकता है यदि समाज उन्हें दूर करने के लिए तैयार हो तो। प्रथम ऐसी दुर्घटनाओं में वर पक्ष के पुरुषों की अपेक्षा नारियाँ ही विशेष कारण होती हैं जैसे लड़के की बहन आदि। नारी वर्ग यदि स्वयं में सतर्क हो अपनी महत्ता को सही रूप में समझते हुए एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखे और समाज तथा परिवार में उसे उचित स्थान देने की चेष्टा करे तो बहुत कुछ अंशों में यह बुराई दूर हो सकती है। द्वितीय कन्या का पिता कन्या को भार न समझे और उसका सम्बन्ध समान स्तर पर, समान योग्यता युक्त वर के साथ करने का प्रयत्न करे तो वह अधिक परेशानी से बच सकता है। ऐसी स्थिति में ससुराल में जाकर कन्या में न तो हीन भावना का ही जन्म होगा और न वह स्वयं को उपेक्षित ही पायेगी। तीसरी बात यह है कि जिस परिवार वा व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार के प्रलोभन पूर्ण कुकृत्य किये जायें, समाज सतर्क हो उसका सर्वथा बहिष्कार कर दे तो उस व्यक्ति वा परिवार को कभी कोई कन्या प्रदान न करे। यदि सतर्कता के साथ सामाजिक स्तर पर ऐसा हो जाये तो कभी कोई व्यक्ति वा परिवार स्त्री पुरुष के पवित्रतम वैवाहिक सम्बन्ध में अनर्थकारी अर्थ को लादने का दुस्साहस न करेगा और न उसके परिणाम में घटित होने वाली अमानवीय घटनायें ही घटेंगी।

श्रीरामचरितमानस में वर पक्ष की ओर से न तो कहीं दहेज की माँग है और न उसकी महत्ता ही। विवाह के अवसर पर वधू के शील सौन्दर्य को ही सब देखते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। दहेज में क्या कुछ मिला है इसकी कोई चर्चा तक नहीं करता। दहेज़ दाता की तो प्रशंसा है पर उसके ग्रहीता की उसके प्रति उत्सुकता कहीं नहीं दीखती। बहुओं के ससुराल आने पर वहाँ के लोग तथा

सासुयें उनके शोभा शील सौन्दर्य को देखकर निहाल हो जाती हैं, उनमें यह जानने की उत्सुकता नहीं दीखती कि उनके साथ और क्या कुछ मिला है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि ब्राह्म विवाह की विधि में कन्या को दहेज देने की चर्चा अवश्य करते हैं किन्तु किसी प्रथा के रूप में नहीं। दहेज देना बुराई नहीं है, माँगना वा चाहना बुराई है। जहाँ व्यक्ति की महत्ता को वस्तु वा सिक्के के साथ दबा दिया जाता है वहीं सारी विनाशकारी बुराइयाँ पनपने लगती हैं। मानव समाज को सदैव इससे सावधान रहना चाहिए और स्त्री तथा पुरुष दोनों के व्यक्तित्त्व को समान आदर देते हुए उनमें निहित सृजनात्मक शक्तियों को सही रूप में प्रयोग करना चाहिए, यही उसके लिए हितप्रद मार्ग है।

शोभा और श्री के साथ सीता मिथिला से विदा हो अवध के लिए प्रस्थान करती हैं। उनके शील-सौन्दर्य की सुकीर्ति तो पहले से ही यहाँ पहुँच गई है अब विवाह सम्पन्न कर वधुओं के सहित बरात का आगमं सुन अवधपुरवासी आनन्द विभोर हो रहे हैं। दुलहिनों का स्वागत करने के लिए अयोध्या नगरी स्वयं भी दिव्य दुल्हिनवत् सजी हुई है। समस्त पुरवासियों के भवन, गली, बाजार सभी कुछ सुन्दर रूप में सजा है। भूप भवन की तो शोभा ही निराली है। ऐसा लगता है मानो समग्र उत्साह साकार रूप में राजमहल में ही आ विराजे हों। सभी की अन्तर लालसा है राम वैदेही की अनुपम छवि को एक बार अवलोकने की। सुहागिनी नारियाँ सर्वविध श्रृंगार से सुसज्जित हो राजमन्दिर में प्रवेश करती हैं। कौशल्या आदि राम माताओं की तो दशा ही अवर्णनीय है। प्रेमाधिक्य से वे विह्वल हो गईं। उन्हें अंपने शरीर की भी दशा का बोध नहीं है। महाकवि कहते हैं-

**मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भए गाता।।**

**(रा० १/३४६-१)**

आनन्दातिरेक से माताओं का शरीर शिथिल हो गया है। उनके चरण चलते ही नहीं हैं। वधुओं के सहित पुत्रों के परिछन का मंगल साज संवार कर सभी आतुरता से प्रतीक्षा कर रही हैं। इस लोकरीति में विवाह में जब दूलह घर से विदा होता है तो माता परिछन करती है, ससुराल पहुँचता है तो वहाँ सास परिछन करती है और जब वधू के साथ घर लौटता है तो पुनः माँ उन दोनों का परिछन करती हैं। इस क्रिया में माताएँ मंगल पदार्थों को वर-वधू पर न्यौछावर करती हैं तथा गृह कार्य में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं को उस पर वारती हैं-

**कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिएँ मात।**

**चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात।।**

**(रा० १/३४६)**

सोने के थाल में मांगलिक द्रव्यों को सजा कर कर-कमलों में लिए हुए माताएँ प्रमुदित हो वर-वधू का परिछन करने लगती हैं। हर्षाधिक्य से उनके शरीर पुलकावली से पूरित हैं। गुरुवर वशिष्ठ की आज्ञा से गणपति गौरी गरीश का स्मरण करते हुए अवधेश, सुसज्जित समाज तथा वर-वधुओं समेत हर्षित हृदय से पुर में प्रवेश करते हैं। पुरवासियों ने आगे से आकर महाराज की वन्दना की। श्रीराम को देखते ही सभी आनन्द से भर गए। सभी पुरवासी पुलकित हो विविध प्रकार की वस्तुएँ निछावर करते हैं और पुरनारियाँ आनन्दित हो आरती उतारती हैं। नगर वासियों को आनन्दित करते हुए वधुओं सहित राजकुमार राजद्वार पर आ गये। माताएँ मुदित हो परिछन करने लगीं। विविध प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ उन पर न्यौछावर करती हैं-

**बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानन्द मगन महतारी।।**
**पुनि पुनि सीय राम छबि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी।।**

**(रा० १/३४९-३,४)**

बहुओं सहित चारों पुत्रों को देख माताएँ परम आनन्द निमग्न हैं। सीता और राम की अलौकिक छवि को बार-बार निहारते हुए प्रमुदित हो स्वयं के जीवन को धन्य मानती हैं। एक पुत्र के विवाह के लिए बरात गई थी लौटने पर चारों पुत्रों के साथ उनके अनुरूप सौन्दर्य मूर्ति बहुओं को देख अपार आनन्द होना स्वाभाविक ही है-

**सखीं सीय मुख पुनि पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही।।**

**(रा० १/३४९-५)**

सीता के मुख चन्द्र को सखियाँ बारम्बार निहार कर निहाल होती हैं और अपने पुण्य की सराहना करती हुईं मंगल गीत गाती हैं। वैदिक विधि तथा कुल परम्परा की रीति को पूर्ण कर अर्घ्य तथा पावड़े देते हुए बहुओं के सहित पुत्रों का परिछन कर माताएँ उन्हें राज-भवन में ले आती हैं। सुन्दर सिंहासन पर वर-वधू को बैठाकर प्रथम् उनका वैदिक विधि से पूजन करती हैं फिर बारी-बारी से आरती करती हैं। वैदिक विधान में वर विष्णु स्वरूप होता है और वधू लक्ष्मी स्वरूपा इसीलिए विवाह के समय उनके मस्तक पर किरीट और चन्द्रिका जिसे मौर तथा मौरी कहते हैं, बाँधा जाता है। ये दोनों देवत्व के चिन्ह हैं। उस अवस्था में देवत्व

की भावना से ही उनका पूजन आदि किया जाता है क्योंकि यहीं से वे दोनों सृजन और पालन के दिव्य कार्य की प्रतिज्ञा में आबद्ध होते हैं। शील-सौन्दर्य सम्पन्ना वधुओं को प्राप्त कर माताओं के आनन्द की सीमा नहीं है-

**लोक रीति जननीं करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं।**
**मोद बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहिं मुसुकाहिं।।**

**(रा० १/३५०-ख)**

माताएँ अपने कुलाचार के अनुसार लोक रीति करती हैं जिसमें कई ऐसी विधियाँ हैं जिससे वर-दुलहिनें सकुचा रहे हैं। इस आमोद-प्रमोद को देखते हुए श्रीराम मन ही मन मुस्कराते हैं। सभी मंगल कृत्य सम्पन्न होता है। बहुएँ अपने निवास स्थान पर ले जाई जाती हैं। अब आज से उनके जीवन का एक नया युग प्रारम्भ होता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से माता-पिता के लिए पुत्री तथा पुत्रवधू का समान स्थान है। सासु और श्वसुर बहुओं को उसी प्रकार से लाड-प्यार किया करते हैं जिस प्रकार अपनी पुत्री को। गोस्वामी जी पर्दा प्रथा के समर्थक नहीं हैं। वर्तमान में देश के कुछ भागों में प्रचलित पर्दा प्रथा का स्थान हमारे प्राचीन समाज में नहीं था। बड़ों के प्रति विनयशील लज्जा की अभिव्यक्ति कुल-वधू का श्रेष्ठतम भूषण है किन्तु इससे पर्दा प्रथा का कोई सम्बन्ध नहीं। हमारे देश में नारी समाज के लिए यह मुस्लिम काल की देन है। अतः गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में इसे स्थान नहीं दिया। महाराज दशरथ सभी सुहृद जनों को दान सम्मान आदि से सन्तुष्ट कर विदा करते हैं, फिर हर्षानन्द से युक्त रनिवास में पधारते हैं और बहुओं के सहित पुत्रों को देख प्रमुदित हो उन्हें गोद में लेकर अपार सुख का अनुभव करते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं-

**बधू सप्रेम गोद बैठारीं। बार बार हियँ हरषि दुलारीं।।**

**(रा० १/३५४-४)**

दशरथ पुत्रवधुओं को प्रेम सहित गोद में बैठाकर बार-बार हृदय में हर्षित हो उनका दुलार किया, लाड़-प्यार किया। गृहपति का यह कर्त्तव्य होता है कि वह पत्नी को ननोढ़ा बहू की सम्भाल के सम्बन्ध में सावधान करे। नारी बहू बनकर जब ससुराल में आती है तो वह वहाँ के लोगों के स्वभाव से, वहाँ के रीति-रिवाज़ से, वहाँ के वातावरण से सर्वथा अपरिचित होती है। ऐसी स्थिति में उसका व्यवहार सर्वथा वहाँ के लोगों, प्रथाओं तथा वातावरण के अनुकूल ही हो ऐसा सम्भव नहीं होता। यह दायित्व सासु पर ही होता है कि वह मातृवत् स्नेह से बहू में उस परिवार

के प्रति आत्मीयता तथा प्रियता का संचार करे और अपने वात्सल्यपूर्ण कोमल व्यवहार के साथ उसे अनुकूल आचरण की शिक्षा प्रदान करे। भिन्न वातावरण में पली हुई तथा पराये घर से आई हुई लड़की में प्यार से ही आत्मीयता का सृजन किया जा सकता है शासन से नहीं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अपनत्व के अभाव में स्नेह और सेवा भाव का उदय नहीं हो सकता और इसके बिना पारिवारिक जीवन वीरान हो जाता है। महाकवि इसी भाव को व्यक्त करने के लिए महाराज दशरथ द्वारा अपनी महारानियों को बहुओं के लिए स्नेहयुक्त सम्भाल की सीख देने की योजना करते हैं।

**नृप सब भाँति सबहिं सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाईं रानी।।**
**बधू लरिकनीं पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं।।**

**(रा० १/३५५-७,८)**

महाराज ने सब प्रकार सभी का सम्मान करके कोमल वचन कहते हुए रानियों को बुलाया और उनसे कहा बहुएँ अभी बच्ची हैं, पराये घर में आई हैं, इनको इस प्रकार रखना जैसे नेत्रों को पलकें रखती हैं। क्या इससे भी अधिक उत्तम बहुओं के संभालने की कोई सीख दी जा सकती है? कितना कोमल भाव है "लरिकनी" शब्द में। इससे स्वभावतः पिता की ममता टपक रही है। पलकें सदैव सावधान हो प्रत्येक स्थिति में नेत्रों की रक्षा करती हैं, उनमें कभी भी प्रमाद वा शिथिलता नहीं आती। इसी प्रकार पर घर से आई हुई बहुओं की सर्वविधि संभाल करनी चाहिए।

अयोध्या में आकर सीता के जीवन का एक अभीप्सित तथा सुखद अध्याय प्रारम्भ होता है। वे चकोरीवत् सदैव प्रियतम के मुखचन्द्र से विनिसृत सुधारस का पान करती रहती हैं। अपनी श्रद्धायुक्त सेवा से उन्होंने सभी सासुओं के हृदय को जीत लिया है। प्रियजन, प्रजाजन में भी शील-स्नेहयुक्त सुकोमल व्यवहार की कीर्ति फैली हुई है। वे अपने पवित्र व्यवहार से सासु-ससुर की ही नहीं परिजन, प्रजाजन के भी आदर की भाजन बन गई हैं। वे भविष्य में होने वाली अयोध्या की साम्राज्ञी हैं। उनके पावन आचरण तथा प्रजा के प्रति अक्षुण्ण स्नेह को देख अवधपुरवासी भविष्य में होने वाले सम्राट् तथा साम्राज्ञी की कल्पना से ही आनन्द विभोर हो जाते हैं। अयोध्या आनन्दमयी तो पहले से ही थी किन्तु अब-

**आए ब्याहि रामु घर जब तें। बसइ अनंद अवध सब तब तें।।**

**(रा० १/३६१-५)**

जब से राम सीता के साथ ब्याह कर आये हैं तब से सम्पूर्ण आनन्द सदैव अयोध्या में ही निवास करता है। सन्तमत के अनुसार शक्तियुक्त शक्तिमान् ही पूर्णानन्द का स्रोत है। शक्ति के बिना वह पूर्णानन्द प्राप्त नहीं कर पाता। सीता शक्तिस्वरूपा हैं। पुरुषोत्तम राम उनके बिना अब तक अधूरे थे इसलिए अवध में सर्वभाँति से नित्य आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती थी। अभिप्राय यह है कि आनन्द दो भागों में बँटा हुआ था-आधा अवध में और आधा मिथिला में। अब जब से राम ब्याह कर श्रीसीता जी के साथ अवध में आये हैं, तभी से सम्पूर्ण आनन्द अयोध्या में स्थायी रूप से निवास करने लगा है।

नियति का चक्र बड़ा ही कठोर है। वह कभी भी किसी के प्रति कोमल नहीं होता चाहे वह मानव हो वा देव। यह चक्र द्वन्द्वात्मक है। हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन तथा मृत्यु, ये सभी इस चक्र के अरे हैं, जो स्वभावतः अपनी गति से आते-जाते रहते हैं। इस चक्र की गति आदि-अन्त रहित शाश्वत है। यह नियति-चक्र प्राकृत है किन्तु इसकी अनुभूति करने वाला द्रष्टा अप्राकृत। इस प्राकृत चक्र पर चढ़कर ही इसके सहज गुणों से तादात्म्य अनुभव कर वह समस्त द्वन्द्वों का भोक्ता बनता है। यदि वह स्वयं के अप्राकृत एवं द्रष्टा रूप को जानकर चक्र के साथ तादात्म्य स्थापित न करे तो चक्रारूढ़ होते हुए भी उसके अरों के परिणामों से उसे पीड़ित होना न पड़े। मानव समाज को इस गुह्यतम रहस्य को समझाने के लिए ही प्रभु के मंगलमय विधान से इस भूतल पर अनेकों तत्त्व द्रष्टा ऋषि, मुनि, महात्मा, महापुरुष, मसीहा तथा स्वयं भगवान् भी अवतरित होकर आते हैं और वे अपने विचार, आचार, व्यवहार द्वारा इस चक्र पर आरूढ़ रहते हुए भी इसके प्रभाव से असंग एवं अछूता रहने का उत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं। भक्तों की भावमयी भाषा में इसे ही भगवान् पुरुषोत्तम की लीला कहा जाता है। जिस प्रकार प्राकृत शाश्वत है उसी प्रकार पुरुषोत्तम का यह लीला चक्र भी शाश्वत है। मानस महाकाव्य में महाकवि ने पुरुषोत्तम श्रीराम के उसी लीला चक्र की महिमा का गान किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तथा उनकी प्रिय वल्लभा जानकी नियति चक्र पर आरूढ़ होते हुए भी उसके परिणामों से वे किस प्रकार सर्वथा असंग एवं अछूते रहे हैं इस सत्य का अवबोधन कराना ही इस महाकाव्य का उद्देश्य है। अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही सन्तवर काव्य नायक श्रीराम की वन्दना करते हुए कहते हैं-

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।

मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा।।

(रा० २/ श्लोक-२)

रघुकुल को आनन्दित करने वाले श्रीराम के मुखार्विन्द की जो शोभाश्री राज्याभिषेक का समाचार पाकर न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न तापस वेष में वनवास के दुःख से मलिन ही, वह शोभाश्री मेरे लिए सुन्दर मंगल की प्रदाता हो। इस वन्दना में नियति चक्र द्वारा प्राप्त हुए हर्ष-विषादप्रद द्वन्द्वों से श्रीराम को सर्वथा असंग एवं अस्पृष्ट होने का संकेत किया है। श्रीराम प्रिय वल्लभा सीता तो उनकी छाया है। यदि बिम्ब में विकृति नहीं है तो प्रतिबिम्ब में उसकी सम्भावना कैसे हो सकती है?

अयोध्या का आनन्द चन्द्रकला की भाँति दिनोंदिन वृद्धि को ही प्राप्त हो रहा है। राजा-प्रजा सभी धर्मानुसार आचरण करते हुए सर्वविध सुख का उपभोग कर रहे हैं। प्रजा की अभिलाषा है महाराज अब सम्पूर्ण राजकार्य का भार श्रीराम को सौंप कर अपने जीवन काल में ही विमुक्त हो जायें, महाराज दशरथ की भी यही अन्तिम अभिलाषा है। गुरुदेव की अनुमति तथा मन्त्रीगण की सम्मति प्राप्त कर श्रीराम राज्याभिषेक की घोषणा कर दी जाती है जिसे सुनकर प्रजा के हर्षोल्लास की सीमा नहीं है। गुरु वशिष्ट स्वयं श्रीराम के निवास स्थान पर पधार कर उन्हें इसकी सूचना देते हैं और सीता के सहित राम को उस दिन संयमित रहने की आज्ञा प्रदान करते हैं। अपनी मनोरथ बेलि को फलित होती हुई देख महारानियों के आनन्द की सीमा नहीं है मानो सम्पूर्ण अवध राज्य अनुपम आनन्द रस का ही संदोह हो।

अवधराजमन्दिर में आये सीता को बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं किन्तु प्रियतम के प्यार तथा गुरुजन की सेवा में कुछ पता नहीं लगा, कालचक्र किस प्रकार किस गति से बीत गया। अब आज वे प्रियतम के साथ युवराज्ञी पद पर आसीन होने वाली हैं। भगवती गिरिजा का पूजन कर उनसे प्रियतम मंगल की कामना उनकें नित्यचर्या का प्रमुख अंग है। वे समझती हैं कि इस सौभाग्य में अंबिका की अनुकम्पा ही कारण है। प्रियजन, प्रजाजन राज्याभिषेक की तैयारी में निमग्न हैं परन्तु विधान की गति कुछ और ही दिखाने के लिए सक्रिय है। कौन जानता था कि यह अगाध आनन्द सागर कुछ क्षणों में सूख जाने वाला है? कौन जानता था कि सीता के लिए सास-श्वसुर तथा परिजनों के स्नेह की शीतल छाया में राजभवन के मधुर जीवन की यह अन्तिम प्रभात होगी? सीता कनक भवन में

विराजित हैं। कुशल दासियाँ उसे सर्वभाँति से सुसज्जित करने की तैयारी में निरत हैं। वातावरण में चारों तरफ चहल-पहल है। आज का दिन सभी के लिए चिर अभिप्सित सौभाग्य का दिन है। सभी आनन्द मग्न हैं। उसी समय अचानक समाचार प्राप्त होता है कि भाग्यचक्र पलट गया है। अब उसके प्राणेश को महाराज के द्वारा युवराज पद पर प्रतिष्ठित होने की नहीं अपितु चौदह वर्ष के लिए कठोर वनवास की आज्ञा मिली है किन्तु कारण अज्ञात है। समाचार पाते ही वह आकुल हो उठती हैं। कनक भवन की चहल-पहल नीरवता में तथा हर्ष-आनन्द, विषाद एवं व्यथा में बदल जाता है। कितना दुःखद आघात है। कठोर नियति की क्रूरता पर आज दुःख भी दुःखी हो रहा है। जो जानकी पल भर के लिए भी प्रियतम से विलग होने की कल्पना नहीं कर सकती उसी के समक्ष आज अचानक चौदह वर्षों तक के लिए प्राणेश के वियोग की सम्भावना उपस्थित हो गई है। कितनी भयावह सम्भावना है वह, क्या इसकी कोई कल्पना कर सकता है? तैयारी राज्याभिषेक की हो रही थी, उसकी प्रसन्नता उसे थी वा नहीं यह कौन कह सकता है? वह अपने प्रियतम की अन्तः स्थिति को भली-भाँति जानती हैं-

**पिय हिय की सिय जाननिहारी।**

**(रा० २/१०२-३)**

इसलिए इतना तो कहा जा सकता है कि जब राज्याभिषेक से श्रीराम को ही कोई प्रसन्नता नहीं थी तो सीता के लिए क्यों हो सकती है? वैभव विलास तो पिता के घर पर ही बहुत कुछ देख लिया है अब तो उसके जीवन का बस एक ही व्रत है- प्रियतम की सेवा तथा उनकी प्रसन्नता में जीवन की सार्थकता। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में-

**रामस्यतु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसहशानना।**
**धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रिय हिते रताः।।**

**(वा०रा०३-१४/१५)**

वह विशालाक्षी, पूर्ण चन्द्रानना सीता अपने पति श्रीराम की धर्मपत्नी तथा उन्हें अत्यन्त प्रिय है। वह अपने स्वामी का सदैव हित करने में ही निरत रहती है। पितृगृह से विदा होते समय माता के द्वारा नारी धर्म की शिक्षा में यही समझाया गया है-

**सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।।**

**(रा० १/३३४-५)**

सासु-ससुर तथा गुरु तीनों ही सेव्य हैं, इनकी सेवा करनी ही चाहिए, किन्तु इन सबका सम्बन्ध पति के नाते है इसलिए पति के रुख को, रुचि को देखकर उसकी आज्ञा का अनुसरण करना चाहिए। नारी का श्रेष्ठतम धर्म पति की आज्ञा का अनुसरण करना ही है। नीतिशास्त्र में भी यही बात बताई गई है- "भर्तृ वशवर्तिनी भार्या।" (चा०सू०३३५) भार्या व पत्नी वही है जो पति के अनुकूल रहे। उसकी रुचि में स्वयं की रुचि को एक करके जो कुछ पति की प्रियता का सृजक हो वही करे। तभी तो वह "संतत पिर्यहि पियारी" हो सकती है। सीता जी पितृगृह से मिली शिक्षा का पूर्णरूपेण अनुकरण करती हैं-

**सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।।**

**(रा० २/२५२-२)**

इस सेवकाई का ही परिणाम है कि वह सासु, ससुर, परिजन प्यारी हैं। उन्हें विश्व के वैभव से क्या प्रयोजन? केवल प्रियतम की अर्चना के साथ गुरुजनों की सेवा यही उनका नित्य धर्म है, किन्तु असम्भावित प्रियतम के वनगमन के समाचार ने उन्हें आकुल कर दिया। वह सास के पास जाकर चरणवन्दना करके बैठ गई। श्रीराम माता से वनगमन की आज्ञा लेने के लिए उपस्थित हैं, माँ नारी धर्म की रक्षा तथा बन्धु विरोध को दृष्टि में रख कर राम को वन जाने का आदेश दे देती हैं किन्तु एक नई समस्या माँ कौशल्या के समक्ष आ खड़ी हो गई। यद्यपि सीता जी ने कुछ नहीं कहा फिर भी उनकी दशा को माँ देख रही है, एक नारी ही नारी के हृदय की गति को पहचान सकती है। माँ ने भाँप लिया-

**सोइ सिय चलन चहति बन साथा।**

**(रा० २/५९-७)**

कितनी दर्दनाक परिस्थिति है उस माँ के समक्ष। वह जिसको नेत्र की पुतरी के समान स्नेहासिक्त हो संभाल करती रही है, वही सीता नमित मुख हो उसके समक्ष विलोचनों से वारि बरसाती हुई बैठी है। सीता जी की उस दशा का वर्णन महाकवि के शब्दों में ही पढ़िए, वह करुणा पूर्ण दृश्य पाहन हृदय को भी पिघला देने वाला है-

**समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।**
**जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ।।**

**(रा० २/५७)**



**दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी।।**

**बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूप रासि पति प्रेम पुनीता।।**

**(रा० २/५८-१,२)**

रूप की राशि, पति प्रेम पुनीता सीता नीचे मुख किये हुए बैठी सोच रही है। अत्यन्त सुकुमारी जान सास आकुल हो उठी है। वातावरण में करुणा पूर्ण नीरवता छा गई, किसी से कुछ कहते नहीं बन रहा। लज्जालु स्वभाव वाली सीता इस विकट परिस्थिति में भी स्वयं को संयमित किये हुए है, कितना अगाध धैर्य है। वह मन में ही चिन्ता कर रही है-

**चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू।।**
**की तनु प्रानु कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना।।**

**(रा० २/५८-३,४)**

चिन्ता वियोग की नहीं है केवल इस बात की है कि देखें किस पुण्यवान से उनका साथ होगा। प्राणनाथ वन को चलना चाहते हैं तो सीता को राज प्रासाद में रहने की तो कल्पना ही नहीं हो सकती। साथ तो जाना ही है, किन्तु यह पता नहीं कि शरीर और प्राण दोनों ही प्राणनाथ के साथ चलेंगे वा केवल प्राण ही से इनका साथ होगा। इन्हीं द्विविध सम्भावनाओं को लेकर विधाता की करनी के विषय में निश्चय नहीं कर पा रही है-

**चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी।।**
**मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं।।**

**(रा० २/५८-५,६)**

उस नीरव वातावरण में केवल एक ही मधुरव हो रहा है वह है सीता जी के नूपुरों का। चिन्तारत अवस्था में सीता अपने पद नख से धरनी पर कुछ लिख रही हैं। यह सोच की अवस्था में होने वाली नारी की स्वाभाविक क्रिया है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी इसका वर्णन किया है-

**पुलक सिथिल तन बार बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन।।**

**(रा० २/२८१-६)**

**जनु करुना बहु बेष बिसूरति।**

**(रा० २/२८१-७)**

प्रेम की विह्वल दशा में चिन्तातुर नारी की यह एक सहज स्थिति है, किन्तु कुछ विद्वानों ने यह भी माना है कि अभी तक सीता जी ने स्पष्ट वन जाने के लिए कुछ कहा नहीं है। माता कौशल्या राम से कहती हैं-

**सोइ सिय चलन चहति बन साथा।**

**(रा० २/५९-७)**

तो उनको इसका पता कैसे लगा। अतः यहाँ कल्पना कर ली जाती है कि 'नख लेखति धरनी' में वे मुख से कुछ न कहते हुए जमीन पर लिखकर चलने की प्रार्थना कर रही हैं। सीता की दशा ही यह संकेत कर रही है कि वह प्रिय वियोग की स्थिति में प्राण नहीं रख सकेंगी। बारह वर्ष की लम्बी अवधि बीत चुकी है अयोध्या में आये, माता कौशल्या उनके स्वभाव से सुपरिचित हैं अतः बिना कुछ कहे भी इसका अनुमान लगा सकती हैं। हाँ! नूपुरों की मधुर ध्वनि के विषय में करुणा भाव को व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है मानो वे प्रार्थना कर रहे हैं कि सीता के पदकमल वन-गमन के समय हमारा त्याग न करें। महाकवि ने आगे का प्रसंग भी बड़ी ही मर्म-स्पर्शी भाषा में व्यक्त किया है-

**मन्जु बिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम महतारी।।**
**तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सास ससुर परिजनहि पिआरी।।**

**(रा० २/५८-७,८)**

सुन्दर नेत्रों से जल बहाती हुई सीता को देख राम की माता ने कहा-हे पुत्र, सुनो! अत्यन्त सुकुमारी सीता सास-ससुर तथा परिजनों को अत्यन्त प्रिय है। वस्तुतः महतारी का हृदय ही इस व्यथा का सही अनुभव कर सकता है। कन्या एक महतारी से अलग हो विवाह के बाद दूसरी महतारी की गोद में आती है। भारतीय संस्कृति के इस वैशिष्ट्य को अनुभव कर हृदय गद-गद हो जाता है। कहाँ है वह भावमय सरस सम्बन्ध अन्य किसी संस्कृति में? अपनी पुत्रवधू के प्रति एक आर्यनारी के हृदय के उद्‌गार सुनिये-

**पिता जनक भूपाल मनि ससुर भानुकुल भानु।**
**पति रबिकुल कैरव बिपिन बिधु गुन रूप निधानु।।**

**(रा० २/५८)**

**मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई।।**
**नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहि लाई।।**
**कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली।।**
**फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा।।**

**(रा० २/५९-१ से ४)**

अर्थात् माँ का कथन है राजाओं में शिरोमणि महात्मा जनक पिता हैं,

सूर्यकुल के सूर्य महाराज दशरथ ससुर, रवि कुल रूपी कुमुद वन को प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रवत् सम्पूर्ण गुणों तथा रूप के भण्डार श्रीराम जिनके पति। फिर मैंने भी रूप की राशि सुन्दर गुण तथा शील सम्पन्ना प्यारी पुत्रवधू पाई है। आँख की पुतली बनाकर मैंने इससे प्रेम बढ़ाया है और अपने प्राणों को जानकी ही में लगा रखा है। कल्पलता के समान बहुत प्यार से, बड़े लाड़ प्यार से, अपने स्नेह द्वारा सींच कर इसका पालन किया है। अब इस लता के फूलने-फलने के समय विधाता वाम हो गया, कुछ जाना नहीं जाता परिणाम में क्या होगा? सीता जी जब ब्याह कर आई थी तो अवस्था में बहुत छोटी थी। महाराज दशरथ ने अपनी रानियों को यह उपदेश दिया था-

**बधू लरिकनीं पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं।।**

**(रा० १/३५५-८)**

बहुएँ अभी लरिकनी हैं, मासूम हैं, ये पराये घर में माता-पिता से बिलग होकर आई हैं। जिस प्रकार पलकें नेत्र की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार तुम सब इनकी संभाल करना। कितनी सुन्दर सीख है नवविवाहिता वधू के लिए एक आर्य श्वसुर की। सासुओं ने भी इस शिक्षा को क्रियान्वित किया है। कवि ने लिखा है-

**सुन्दर बधुन्ह सासु लै सोईं। फनिकन्ह जन सिरमनि उर गोईं।।**

**(रा० १/३५८-४)**

लरिकनि कितना कोमल शब्द है। सासु सुन्दर वधुओं को साथ लेकर इस प्रकार सोती हैं जैसे सर्प अपनी मणि को अन्दर छिपा कर सोता है। कितना लाड, कितना प्यार, कितना वात्सल्य है सास के हृदय में अपनी पुत्रवधू के लिए। भारतीय नारी के जीवन में यह स्नेह ही मातृ-पितृ वत् सास श्वसुर की सेवा करने के लिए आदर का सर्वोच्च स्थान बनाता है। आगे भी माँ की व्यथा भरी वाणी सुनिये-

**पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।।**
**जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।।**
**सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा।।**
**चन्द किरन रस रसिक चकोरी। रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी।।**

**(रा० २/५९-५ से ८)**

सीता ने पर्यङ्क गोद और हिन्डोले को छोड़कर कठोर पृथ्वी पर कभी पाँव नहीं रखा। मैं सदा संजीवनी मूरी के समान सजगता से इस की संभाल करती रही हूँ। कभी दीपक की बाति तक हटाने को भी नहीं कहती। वही सीता अब

तुम्हारे साथ बन चलना चाहती है। हे रघुनाथ! उसे अब क्या आज्ञा होती है? चन्द्र किरणों की अमृत रस रसिका चकोरी क्या कभी तीक्ष्ण तापमय सूर्य की ओर आँख कर सकती है?

**करि केहरि निसिचर चरहिं दुष्ट जन्तु बन भूरि।**
**विष बाटिकाँ कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि।।**

**(रा० २/५९)**

हाथी, सिंह, राक्षसादि अनेकों दुष्ट जन्तु वन में विचरते रहते हैं। हे पुत्र ! क्या विष की वाटिका में संजीवनी बूटी शोभा पा सकती है? पहली बात तो सीता ने कठोर पृथ्वी का स्पर्श ही नहीं किया है और माँ इसे संजीवनी जड़ी की तरह संभालती रही है। माँ का संकेत है कि वहाँ न तो कोई इसको संभालने वाला ही होगा और न राजमहल जैसे सुविधा के साधन होंगे। रसमय वातावरण में शिशुकाल से ही पली होने के नाते किसी प्रकार की कठोर परिस्थिति को सहन करने का अभ्यास उसे नहीं है। भला वह ऐसे विकट वन में कैसे रह सकेगी? क्या नारियाँ वन में नहीं रहती? इस प्रश्न की आशंका में माँ कह रही है-

**बन हित कोल किरात किसोरी। रचीं बिरंचि विषय सुख भोरी।।**
**पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ।।**

**(रा० २/६०-१,२)**

वन के लिए तो विधाता ने ऐश्वर्य सुख से अपरिचित कोल, भीलों की किशोरियों को ही रचा है। पाषाण में रहने वाले प्राणियों के समान जिन का स्वभाव है, उन्हें वन में कभी क्लेश नहीं होता। उनके अतिरिक्त-

**कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू।।**
**सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती।।**

**(रा० २/६०-३,४)**

वे तपस्वियों की स्त्रियाँ भी वन में रहने योग्य होती हैं जिन्होंने तपस्या के लिए सम्पूर्ण भोगों का त्याग कर दिया है, किन्तु हे वत्स! भला बताओ सीता किस प्रकार वन में रह सकती है, जो चित्र के बन्दर को भी देखकर डर जाती है?

**सुरसर सुभग बनज बन चारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी।।**

देव सरोवर के कमल वन में विहार करने वाली राज हंसिनी क्या गन्दले जल में रहने योग्य है? ऐसा विचार कर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो वैसी ही मैं जानकी को शिक्षा दूँ। इतना कहने के बाद माँ ने अपनी चाह भी प्रकट कर दी-

**जौं सिय भवन रहै कह अम्बा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा।।**

**(रा० २/६०-६)**

माता कहती है यदि सीता घर में रह जाए तो मुझको प्राण अवलम्बन मिल जायेगा। उपर्युक्त चौपाइयों को पढ़ने वाला कौन ऐसा बुद्धि का धनी है जो गोस्वामी जी को नारी निन्दक वा नारी विरोधी होने का लाँछन लगायेगा? एक आर्य माता के हृदय का यहाँ कितना सजीव चित्रण है। क्या नारी के प्रति हेय दृष्टि रखने वाला कोई कवि नारी हृदय की तह में पैठ कर उसके भावों को इस प्रकार से लोक मानस तक पहुँचाने का सफल कार्य कर सकता है? नहीं, यह सर्वथा असम्भव है। यहाँ कौशल्या जी के शब्दों में एक आदर्श सास का प्यार टपक रहा है, किन्तु वह यह भी जानती हैं कि पुत्र वधू को सीख तो वह दे सकती हैं पर आज्ञा तो उसका पति ही उसे दे सकता है। नारी धर्म की शिक्षा में भी यही बात कही गई है-

**पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।**

**(रा० १/३३४-५)**

इसलिए माँ बार-बार कहती है कि तुम जो आज्ञा दो, वही सीता को सीख दी जाए। कितना उज्ज्वल आदर्श है यह। यहाँ पर मैं सभी आर्य महिलाओं से निवेदन करूँगा कि जिन्हें कभी सास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो वे मानस की इन चौपाइयों को पढ़ कर अपने कर्त्तव्य की सीख प्राप्त करें। तभी वे पुत्र वधू की श्रद्धा भाजन बन सकती हैं अन्यथा उनके साथ जो कुछ व्यवहार होगा उसकी जिम्मेदारी उनकी ही होगी। एक स्वतन्त्र वातावरण में पली हुई युवा नारी जब बहू बन कर एक नये परिवार में जाती है तो वह शासन की नहीं, शिक्षा तथा प्यार की पात्र होती है। वर्तमान समाज में जो पारिवारिक सम्बन्ध विच्छृंखलित होते जा रहे हैं उसमें बहुत सीमा तक सास बहू का अवाँछनीय व्यवहार भी कारण बन रहा है। इस सम्बन्ध में कलि वर्णन प्रसंग में तुलसी का यह कथन कि-

**सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।।**

**(रा० ७/१०१-४)**

पुत्र माता-पिता को तभी तक मानते हैं जब तक स्त्री का मुख नहीं देखते। अभिप्राय यह कि विवाह होने के बाद ही पुत्र माँ-बाप से अलग हो जाते हैं, चिन्तनीय है। गोस्वामी जी इसे कलि का प्रभाव भले ही मानते हों, किन्तु इसमें दोषी काल नहीं व्यक्ति का कर्म है। बहुधा सास श्वसुर की शासन वृत्ति ही बहू को

अपने पति के समक्ष आँसू बहाने में कारण बनती है और उसी का आगे चल कर परिणाम होता है पारिवारिक विघटन। ब्याह कर आई हुई बहुओं के प्रति महाराज दशरथ का भाव तथा पुत्र वधुओं के साथ सासुओं का स्नेहासिक्त व्यवहार, यह प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए आदर्श है क्योंकि आज जो पुत्र है कल उसे भी पिता बनना है, आज जो बहू है कल वह भी सास बनेगी। अतः समुचित आचरण की शिक्षा पूर्व से ही ग्रहण करनी चाहिए।

आगे का प्रसंग राम और सीता का संवाद यह भी स्त्री-पुरुष के जीवन के लिए प्रेरणा स्रोत है। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि गोस्वामी जी की दृष्टि में सीता आदर्श नारी की साकार मूर्ति है। वह नारी जो पुरुष की सुख-समृद्धि में तो भागीदार बने पर विपत्ति के समय उससे विमुख हो जाये, तुलसी की दृष्टि में वह कुनारी है। ऐसी कुनारी शूल सम हुआ करती है क्योंकि उसका व्यवहार कपट पूर्ण होता है-

**सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी।।**

**(रा० ४/७-९)**

सुनारी का जीवन इससे भिन्न होता है। आपत्ति काल उसके प्रेम परीक्षा की घड़ी होती है। जैसा कि पूर्व में बताया है-

**धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी।।**

**(रा० ३/५-७)**

ऐसी परीक्षा की घड़ी में अपना सर्वस्व बलिदान कर विश्व के सम्पूर्ण विलास वैभव को तृण-वत् त्याग कर वह नारी पति का अनुगमन करती है। फिर सीता जी तो सुतीय मणि हैं सतियों में भी शिरोमणि। उनको भला विश्व का वैभव कैसे आकर्षित कर सकता है? राम का भय, विषाद, परिताप दिखाते हुए सीता को वनवास की स्थिति से परिचय कराना भी उचित है क्योंकि सीता उससे बिल्कुल अनभिज्ञ है। सुकुमारी सीता दूर से मृग झुण्डों को देख कर भले आनन्द विभोर होती है, विविध भाँति के पक्षियों को स्वर्ण पिंजरे में रख कर भले लाड़-प्यार करती और पढ़ाती हो, किन्तु विकट जन्तुओं को देखने तक की वह अभ्यस्त नहीं है। भालु, बाघ, वृक, केहरि और नाग की तो बात ही दूर रही वह दीवार पर अंकित बन्दर के रूप को भी देखकर भयभीत हो जाती है। अभी वह अनजाने में, भावावेश में आकर साथ चल देती हैं तो जंगल में उस की संभाल की एक नई समस्या खड़ी हो जाएगी इसीलिए माता के समक्ष सकुचाते हुए भी परिस्थिति को

ध्यान में रख कर प्रभु श्रीराम ने-

**कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परितोष।**
**लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष।।**

**(रा० २/६०)**

विवेकमय प्रिय वचन कह कर माँ को सन्तोष दिलाया। फिर वन के गुण और दोषों को स्पष्ट करते हुए जानकी जी को समझाने लगे। हे राजकुमारी! मेरी शिक्षा को ध्यान से सुनो। हृदय में कुछ अन्य भाव नहीं समझ लेना, जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ वह हम दोनों के हित में है। यदि अपना और मेरा कल्याण चाहती हो तो मेरी बात मान कर घर में ही रहो। मेरी आज्ञा के पालन में ही तुम्हारा धर्म निहित है। मेरी आज्ञा है कि तुम सास की सेवा करो। इसमें हे भामिनी! घर में रहने से ही सब प्रकार की भलाई है। मेरे विचार से आदर के साथ सास-ससुर की पूजा से बढ़कर तुम्हारे लिए कोई दूसरा धर्म नहीं है। जब-जब माता मेरी सुध कर प्रेम में विह्वल हो स्वयं को भूल जाएगी, हे सुन्दरी! तब-तब तुम पुरानी कथायें कह कर उसे कोमल वाणी में समझाना। हे सुमुखि! सत्य शपथ के साथ मैं स्वभावतः कह रहा हूँ कि केवल माता के लिए ही तुम्हें घर पर रख रहा हूँ, मेरी आज्ञा का पालन कर घर पर रहने से गुरु और वेद सम्मत धर्माचरण का फल बिना परिश्रम के ही तुम्हें मिल जाएगा, किन्तु हठ करना उचित नहीं है क्योंकि हठ के वश होकर गालव मुनि तथा नहुष नरेश आदि ने संकट ही सहे हैं। तुम जानती हो दिन जाते देर नहीं लगती। मैं पिता की आज्ञा का पालन कर शीघ्र ही लौट आऊँगा। हे सयानी सुन्दरी! मेरी सीख को सुनो अर्थात् साथ जाने का विचार छोड़ दो। हे प्रिय! यदि तुम प्रेम वश हो हठ करोगी तो परिणाम में दुःख ही पाओगी। कारण कि वन कठिन, क्लेशदायक तथा भयानक है, वहाँ की घोर गर्मी-सर्दी, वर्षा और झंझावात सभी भयंकर हैं। रास्ते में तीखे कुश, काँटे तथा चुभने वाले कंकड़ होंगे, उन पर बिना पदत्राण के ही पैदल चलना होगा। हे किशोरी! तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं तथा रास्ते में बड़े-बड़े विशाल दुर्गम पर्वत हैं, भला तुम वहाँ चल कैसे सकोगी? जंगल में पर्वतीय गुफायें, खोह, दर्रे, नदियाँ, भयंकर नद और नाले ऐसे अगम्य तथा गहरे हैं कि उन्हें देखा तक नहीं जाता। रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे भयानक शब्द करते हैं कि धीर पुरुषों का भी धैर्य भाग जाता है। इतना ही नहीं प्रिये! ज़मीन पर सोना, वृक्षों की छाल पहनना, कन्द-मूल-फल का भोजन करना होगा और ये वस्तुएं भी सदा सुलभ नहीं

होंगी, समयानुसार ही मिला करेंगी। यह तो वन की भयंकरता तथा दैनिक आवश्यकताओं की असुविधा की बातें हैं। इससे भी भयंकर बात यह है कि मनुष्यों का भक्षण करने वाले राक्षस फिरते रहते हैं। वे अनेकों प्रकार के कपट रूप धारण कर लेते हैं जिससे उनको पहचान कर बचना भी कठिन कार्य है। पहाड़ का पानी भी बहुत हानिप्रद होता है। प्रिये! विपिन की विपत्ति का वर्णन नहीं हो सकता। वन में भीषण सर्प, भयानक पक्षी और स्त्री-पुरुष को चुरा लेने वाले राक्षसों के झुंड के झुंड फिरते रहते हैं। वन की भयानकता को याद कर धीर पुरुष भी भयभीत हो जाते हैं। फिर हे मृग-लोचनी! तुम तो स्वभाव से ही भीरु हो। हे हंसगामिनी! तुम वन के योग्य नहीं हो, तुम्हारे वन जाने से लोग मुझे अपयश देंगे अर्थात् बुरा कहेंगे। वल्लभे ! तुम वन में जीवित नहीं रह सकोगी। मान सरोवर के सुधा सलिल से पली हुई हंसनी क्या कभी खारे समुद्र में जीवित रह सकती है? नवीन आम के वन में विहार करने वाली कोकिला क्या करील के जंगल में शोभा पाती है? हे चन्द्रानने ! हृदय में ऐसा विचार कर तुम घर पर ही रहो वनवास में घोर कष्ट हैं। स्वाभाविक ही हित चाहने वाले माता-पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा को जो स्वीकार नहीं करता वह परिणाम में अघा कर हृदय से पश्चाताप करता है क्योंकि अवश्य ही उसके हित की हानि होती है। इस उपदेश में राम ने सीता को जंगल की विकटता तथा भयंकरता बताकर भय दिखाया, वनवासी जीवन की कठोरता बता कर विषाद और अपनी आज्ञा के उल्लंघन से भविष्य में संकट तथा हित हानि की बात कह कर परिणाम में परिताप भी दिखाया। साथ ही आज्ञा मान कर घर पर रहने में शारीरिक सुख-सुविधा के साथ ही बिना प्रयास के ही धर्म फल पाने का प्रलोभन भी दिया। बार-बार सुकुमारी, सुन्दरी, चन्द्रानने, मृगलोचनी, भामिनी आदि सम्बोधन के द्वारा अपने प्रेम को भी प्रकट किया और अन्त में सुकुमारता, सुकोमलता तथा सहज भीरुता के कारण वन में साथ चलने के अयोग्य बताया।

दैवी प्रकृति के पुरुष मिले हुए सुख को बाँट कर भोगने की भावना रखते हैं किन्तु मिले हुए दुःख में किसी को भी भागीदार बनाना पसन्द नहीं करते। कारण कि भावात्मक तथा विचारात्मक जितने सूक्ष्म तत्त्व हैं इनको बाँटने से वृद्धि होती है तथा भोगने से नाश। सुख-दुःख भावात्मक पदार्थ हैं उनकी भी यही स्थिति है इसलिए सज्जन पुरुष सुख की वृद्धि के लिए उसका विश्व में वितरण करते हैं तथा दुःख के नाश के लिए उनका स्वयं भोग कर लेना ही उत्तम समझते हैं। श्रीराम

दैवी प्रकृति के साकार रूप हैं, यह उनको प्रिय नहीं लगता कि कोई उनकी इस प्रतिकूल परिस्थिति में हिस्सेदार हो। मिले हुए दुःख को स्वयं भोग कर नष्ट करना ही उचित मानते हैं किन्तु नारी-पुरुष की अर्धांगिनी होती है, वह केवल सुख में ही नहीं पुरुष के दुःख में भी हाथ बँटाती है, यह उसका सहज धर्म है। राम की दृष्टि में भले ही सास ससुर की पूजा से श्रेष्ठ नारी के लिए कोई अन्य धर्म न हो किन्तु सीता की दृष्टि इससे भिन्न है। आज्ञा पालन भी परम धर्म हो सकता है, किन्तु कहीं-कहीं पर वह सही धर्म से बहुत दूर भी कर देता है। सीता अपने धर्म के सही स्वरूप को समझती है, वह विदेह-तनया है, नारी धर्म की शिक्षा उनको अपनी सयानी सखियों से ही नहीं विवेकनिधि पिता से भी मिली है।

**बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारी धरम कुल रीति सिखाई।।**

**(रा० १/३३९-१)**

सीता अपने लोक धर्म, कुल धर्म को भी जानती है। इस अवसर पर उनके लिए क्या करणीय है इसका उन्होंने निर्णय कर लिया है। इस निर्णय को भले ही हठ की संज्ञा दी जाये, किन्तु जो भी हो यह अपरिवर्तनीय है। प्राणनाथ की शीतल सीख सुन कर सीता उसी प्रकार व्याकुल हो जाती है जैसे सर्द ऋतु की चाँदनी को पाकर चकई। चन्द्र की शीतल चाँदनी चकई के लिए दाहक होती है, क्योंकि रात्रि में वह अपने प्रियतम से अलग रहती है, उसी प्रकार राम का उत्तम उपदेश वियोगप्रद होने से सीता के लिए सन्तापक सिद्ध हुआ। प्रियतम के स्नेहासिक्त वचन सुनकर उनके सुन्दर नेत्रों में जल भर आया, कुछ उत्तर भी देते नहीं बनता। विदेह कुमारी व्याकुल हो गई, यह सोचकर कि मेरे शुचि स्नेही स्वामी मुझे छोड़कर जाना चाहते हैं, हन्स गामिनी तुम वन के योग्य नहीं हो, कितने आघातप्रद हैं ये शब्द। धरनी सुता है, अतः विकट परिस्थिति में भी धैर्य धारण करना इनका सहज गुण है। धैर्य की परीक्षा भी तो विपत्ति के समय ही हुआ करती है। बरबस नेत्रों से बहने वाले वारि को रोक लिया और अवनि सुता उर में धैर्य धारण कर सास के चरणों की वन्दना करते हुए कहने लगी, हे देवी! मेरी इस बड़ी ढिठाई वा अविनय को क्षमा कीजियेगा। सम्भवतः आज प्रथम बार ही माता के सामने उनके पुत्र तथा पुत्रवधू को वार्तालाप करने का अवसर आया है, वह भी परिस्थिति से पीड़ित होकर। अतः दोनों तरफ संकोच की झलक मिलती है। यह एक आर्य परिवार का सर्वोत्तम आदर्श रूप है। सास-ससुर के समक्ष पति से वार्त्तालाप आर्य नारी की मर्यादा के अनुकूल नहीं, किन्तु विवशता है, जीवन-मरण

का प्रश्न है। मर्यादा कोई भी हो उसकी भी एक सीमा है। जीवन के लिए मर्यादा है मर्यादा के लिए जीवन नहीं। गोस्वामी जी के शब्दों में-

**अंजन कौन आँखि जो फूटै बहुतै कहौं कहाँ लौं।**

सीता जी सास से क्षमा प्रार्थना करके आगे जो कुछ कहने जा रही हैं वह युगों तक नारी समाज के लिए प्रेरणाप्रद आलोक स्तम्भ बना रहेगा। नारी जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने वाली यह सीता जी की विचारधारा आर्य नारी जाति की गरिमा का आधार है। आर्य नारी इन्हीं विचार तथा भावों से परिपुष्ट हो अपने जीवन की दिशा निर्धारित करती है फिर उसके संमक्ष विकराल काल की भयंकरता का भय तथा विश्व वैभव की प्रभुता का प्रलोभन अपना कोई अस्तित्त्व नहीं रखता। वह सम्पूर्ण सुख-सुविधा के साधनों को तिलांजलि देकर अपनी आस्था की प्रतिष्ठा के लिए कन्टकाकीर्ण पथ पर अग्रसर हो जाती है। समुद्र अपनी मर्यादा भले ही छोड़ दे, सूर्य ताप शून्य भले ही हो जाए, अग्नि अपनी दाहकता से भले ही वंचित हो जाए, किन्तु आर्य नारी को उसकी निष्ठा से कोई भी डिगा नहीं सकता। गोस्वामी जी ऐसी आर्य नारी की शतशत वन्दना करते हैं। उनके विचार से वह देवी मानव मात्र की बुद्धि को विमल करने की क्षमता रखती है-

**जनकसुता जग जननी जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।**
**जाके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।**

**(रा० १/१८-७,८)**

मानव मात्र को निर्मल मति प्रदान करने वाली करुणानिधान श्री राम की अतिशय प्रिय श्री सीता जी नारी जीवन की सार्थकता का मंत्र बता रही है-

**दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहिं बिधि मोर परम हित होई।।**
**मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं।।**

**(रा० २/६४-६,७)**

प्राणपति ने घर रह कर सासु-ससुर की सेवा तथा पति आज्ञा पालन द्वारा बिना क्लेश उठाये ही धर्माचरण का फल प्राप्त करने की सीख दी है। उनकी शिक्षा के अनुकरण में मेरा परम हित निहित है, इसमें सन्देह नहीं। प्राणपति की सीख क्या कभी अहितप्रद हो सकती है? सर्वथा असम्भव! इसमें आशंका के लिए अवकाश ही नहीं है, किन्तु मैंने भी गम्भीरता से अपने विषय में विचार किया है। मेरी समझ में यह सत्य आया है कि नारी के लिए पति-वियोग के समान दूसरा दुःख इस संसार में कोई नहीं है। दुःख के कितने भेद हो सकते हैं इसकी कोई

सीमा नहीं। अवस्था तथा परिस्थिति विभिन्नता से उन दुःखद अनुभूतियों में भी अन्तर हो सकता है। यह तो विश्व भर की निष्ठावान् नारियों के लिए परम सत्य है कि पति वियोग के समान नारी जाति के लिए अन्य कोई दुःखद स्थिति नहीं है। इस लोक की तो बात ही क्या है-

**प्राननाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान।**
**तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान।।**

**(रा० २/६४)**

हे प्राणनाथ! हे करुणा के धाम! हे सुन्दर सुखद सुजान! हे रघुकुल रूपी कुमुद को प्रफुल्लित करने वाले चन्द्र! तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मेरे लिए नरक के समान है। कारण स्पष्ट है; पति पाद-पदमों में अनुरक्त स्त्री के मन मधुप के लिए उसके अभाव में सुख कहाँ? नरक और स्वर्ग की व्याख्या स्पष्ट है। उसका सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूतियों से है किसी स्थान विशेष से नहीं। जहाँ पर आन्तरिक अभिलाषाओं की पूर्ति होती है वह स्वर्ग है तथा जहाँ पर अपनी इच्छायें अपूर्ण रहती हों, वा उनके प्रतिकूल स्थिति हो वह नरक है। जहाँ पर हम एक दिव्य लोक की कल्पना करते हैं वहाँ की विशेषताएँ आखिर क्या हैं? यही न कि वहाँ पर कल्प वृक्ष है, कामधेनु है जो मानव को इच्छित फल प्रदान करते हैं। जरा-मरण, रुग्णता आदि मानव को प्रिय नहीं अतः स्वर्ग में इसके अभाव की भी कल्पना करते हैं। इस प्रकार सर्वविधि सुन्दर प्रिय की प्राप्ति का स्थान स्वर्ग है और इसके विपरीत नरक। नरक में प्यासे को जल नहीं मिलता, भूखे को भोजन नहीं मिलता, शीतलत्व के स्थान पर दाहकता, कोमलता के स्थान पर कठोंरता, सौन्दर्य के स्थान पर वीभत्स, यही सब तो नरक का भीषण भयानक चित्र है। प्रियतम का वियोग सम्पूर्ण दुःखों तथा संयोग सुखों का आकर है। सीता जी की दृष्टि में तथाकथित सुरपुर प्राणनाथ के बिना घोर संतापदायक नरक के सिवा और कुछ नहीं है। केवल सीता के लिए ही नहीं समग्र मानव हृदय की यही स्थिति है। आगे के विवेचन में सीता ने नारी जीवन से सम्बन्धित समस्त स्वीकृत धर्मों के आधार को स्पष्ट किया है-

**मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई।।**
**सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई।।**

**(रा० २/६५-१,२)**

समाज में हम देखते हैं कि जितने सम्बन्धी हैं उन सब के साथ भिन्न-भिन्न

प्रकार का कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है। पुरुष की अपेक्षा नारी के जीवन में इन कर्त्तव्य रूप धर्मों की स्थिति अधिक जटिल है क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र सम्बन्धों की दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। नारी, समाज के एक नहीं दो परिवारों के प्रति उत्तरदायी होती है। उसके जीवन में उत्थान-पतन का सम्बन्ध दोनों परिवारों को प्रभावित करता है। इस सम्बन्ध में चित्रकूट में सीता जी को तापसी वेश में देखकर उनके विवेक निधि पिता जनक के जो उद्‌गार हैं वे नारी की कर्त्तव्य निष्ठा-जन्य महत्ता को समझने के लिए द्रष्टव्य हैं। कवि के शब्दों में-

**तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोषु बिसेषी।।**
**पुत्रि पबित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ।।**
**जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अण्ड करोरी।।**
**गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे।।**
**पितु कह सत्य सनेहँ सुबानी। सीय सकुच महुँ मनहुँ समानी।।**

**(रा० २/२८७-१ से ५)**

सीता जी को तपस्विनी वेश में देखकर जनक जी को विशेष प्रेम और सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा, हे पुत्री! तुमने दोनों कुल पवित्र कर दिये। तेरे निर्मल यश से सारा जगत् उज्ज्वल हो रहा है, ऐसा सभी लोग कहते हैं। तेरी कीर्ति रूपी नदी देवनदी गंगा जी की पावनता को जीत कर करोड़ों ब्रह्माण्डों में बह चली है। गंगा जी ने पृथ्वी पर तीन ही स्थानों को बड़ा बनाया है अर्थात् तीर्थ रूप दिया है जिनमें गंगोत्री, प्रयाग तथा गंगा सागर हैं पर तेरी इस कीर्ति सरिता ने अनेकों सन्त समाज रूपी तीर्थ स्थान बना दिये हैं। पिता जनक ने तो स्नेहासिक्त सत्य बात कही, परन्तु अपनी प्रशंसा सुनकर सीता मानो संकोच में समा गई हो। ज्ञात होता है कि पितृ कुल तथा पति कुल दोनों को अपने आचरणों से पवित्र उज्ज्वलमय कीर्ति प्रदान करने वाली नारी के लिए जनक के द्वारा निकले हुए यह गोस्वामी जी के ही उद्‌गार हैं। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि तुलसी के हृदय में आदर्श नारी का कौन सा चित्र है? क्या सीता इस आदर्श को कभी उपस्थित कर पाती यदि वह राम द्वारा दिये गये उपदेश का अनुकरण करती तो? राम की आज्ञा तथा उनके द्वारा निरूपित नारी धर्म सास-श्वसुर की सेवा को मुख्य स्थान देता है-

**एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा।।**

**(रा० २/६१-५)**

**आयसु मोर सासु सेवकाई।**

नारी धर्म क्या है? सीता इससे अपरिचित नहीं है। सासु, ससुर तथा गुरुजनों की सेवा का महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु ये सब कुछ किसके नाते से? सीता जी का कहना है कि माता-पिता, बहन-भाई, प्रिय परिवार तथा हित चिन्तक सुहृद जनों का समुदाय, ये सभी पिता कुल से सम्बन्धित हैं। सासु, ससुर, गुरु, स्वजन, सम्बन्धी तथा सहायक और सुन्दर, सुशील, सेवा परायण तथा सुखद सन्तति, हे नाथ ! ये सारे दुनिया के जहाँ तक स्नेह और नाते हैं सभी पति के बिना स्त्री के लिए सूर्य से भी अधिक सन्तप्त करने वाले हैं। माता-पिता द्वारा वर को समर्पित हो जाने के पश्चात् नारी का सारा जीवन पति के साथ एक हो जाता है अथवा वह स्वयं में ही कट जाती है और इसकी पूर्ति दुनिया का कोई भी सम्बन्धी नहीं कर सकता चाहे वह सुन्दर, सुशील, सुखदाई अपनी कोख से उत्पन्न हुई सन्तान ही क्यों न हो-

**तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोकु समाजू।।**
**भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू।।**
**प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।।**

**(रा० २/६५-४,५,६)**

शरीर, धन, पृथ्वी, नगर और राज्य पति के बिना स्त्री के लिए ये सब शोक का समाज है। भोग रोग के समान है, भूषण भार रूप है और सारा संसार नारकीय पीड़ा के सदृश है। हे प्राणनाथ! तुम्हारे बिना जगत् में मुझे कहीं कुछ भी सुखदाई नहीं है। कितना यथार्थ चित्रण है यहाँ पर एक आर्य नारी की आन्तरिक भावना का। इतना ही नहीं आगे देखिये-

**जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।।**

**(रा० २/६५-७)**

जैसे बिना जीव के शरीर और बिना जल की नदी व्यर्थ तथा त्याज्य है, हे नाथ! वैसे ही पुरुष के बिना स्त्री का जीवन है। कितनी हृदय स्पर्शी उपमा है। यहाँ बिल्कुल यथार्थ का सटीक चित्रण किया है। गोस्वामी जी के समय में ही नहीं आज भी हम अपने सामाजिक जीवन में देख सकते हैं, नारी इस तथ्य को स्वयं ही अनुभव करती है और वस्तुतः यह नारी हृदय के ही उद्गार हैं। इसकी अभिव्यक्ति अपनी सूक्ष्मतम् संवेदनशीलता से अनुभव कर महाकवि कर रहा है। नारी हृदय का बिना अनुभव किये क्या कोई उसका इतना सजीव वर्णन कर सकता है? मानस एक सांस्कृतिक महाकाव्य है। सीता उसकी प्रमुख नायिका है। वह लोकहित की

साधना में कवि द्वारा उपस्थित की हुई आदर्श नारी है इसलिए वे किसी भी प्रकार के भय वा प्रलोभन में ना आकर बड़े मार्मिक शब्दों में अपनी आस्था व्यक्त कर रही हैं और बता रही हैं कि पुरुष के बिना नारी जीवन केवल वीरान, नीरस तथा निःस्सार है। जिस नारी को इस यथार्थ की अनुभूति हो गई हो वह भला प्रियतम से विलग रहने की कल्पना ही कैसे कर सकती है? अब स्पष्टतः अपनी बात कह रही हैं-

**नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें।।**

**(रा० २/६५-८)**

शरद पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रवत् आपके मुखचन्द्र को देखते हुए आपके साथ रहने में ही मुझे सब प्रकार का सुख है। यह सब कुछ राम द्वारा दिये गए धर्म उपदेश के उत्तर में कहा गया है। परिवार विहीन वन की कठिनता के विषय में आगे निवेदन है-

**खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।**
**नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल।।**

**(रा० २/६५)**

यह सत्य है कि सुख-दुःख दोनों ही मानसिक सृष्टि का परिणाम हैं। बाह्य जगत् की सुविधा या असुविधा इसमें कारण नहीं बनती। वनवास में जितनी असुविधाएं थीं जानकी जी की दृष्टि में वही श्रेष्ठतम् सुविधाओं से भी महत्त्वपूर्ण हो जायेंगी प्रियतम के सान्निध्य में। पक्षी और पशु ही मेरे कुटुम्बी होंगे, वन ही नगर और वृक्षों की छाल ही निर्मल दुकूल (पीताम्बर) होंगे, पत्तों की बनी झोंपड़ी ही स्वर्ग के समान सुखों की मूल होगी।

**बनदेवीं बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा।।**
**कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई।।**
**कन्द मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौध सत सरिस पहारू।।**
**छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी।।**

**(रा० २/६६-१ से ४)**

उदार हृदय वन के देवी और देवता ही हमारे सासु-ससुर के समान मेरी सार सम्भाल करेंगी। कुश और कोमल पत्तों की सुन्दर साथरी ही प्रभु के साथ कामदेव के सुकोमल तोशक के समान होंगी। कन्द, मूल, फल ही अमृत के समान आहार होंगे और वन के विशाल पहाड़ ही अयोध्या के सैंकड़ों राजमहलों के समान

होंगे। क्षण-क्षण प्रभु के चरण कमलों को देखते हुए मैं ऐसे ही प्रमुदित रहूँगी जैसे दिन में चकवी रहती है। दृष्टि ही सृष्टि का स्वरूप है। दृष्टि के परिवर्तित होते ही सृष्टि बदल जाती है। ऐसे रहस्य का उद्घाटन ही इन चौपाइयों का मुख्य प्रयोजन है, किन्तु यह दृष्टि परिवर्तन किसी विशेष परिस्थिति में ही सम्भव हो पाता है। सीता की इस दृष्टि परिवर्तन के कारण को भी सुनिये-

**बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे।।**
**प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना।।**
**अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ सँग मोहि छाड़िअ जनि।।**
**बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुनामय उर अन्तरजामी।।**

**(रा० २/६६-५ से ८)**

हम जब किसी दुःखद परिस्थिति के प्रति सुखद भाव बनाते हैं तो इसका यह अभिप्राय होता है कि जिसके बदले में उसे स्वीकार किया गया है वह उससे भी अधिक दुःखद और भयंकर होगी। वन की विकट परिस्थितियों के साथ जो यह सीता की सुखद कल्पना वा समझौता है उनकी दृष्टि में प्रियतम वियोग की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है। उनका कहना है, हे नाथ! आपने वन के बहुत से दुःख, भय, विषाद और संताप कहे परन्तु हे कृपानिधान! वे सब मिलकर भी क्या प्रभु वियोग से होने वाले दुःख के लवलेश के समान हो सकते हैं? हे सुजान शिरोमणि ! ऐसा जान कर आप मुझे यहाँ न छोड़िये, साथ ले लीजिए। हे स्वामी ! मैं अधिक क्या विनय करूँ? आप करुणामय सबके अन्तर की जानने वाले हैं। हृदय को पिघला देने वाली कितनी विनम्र प्रार्थना है! अन्तर्तम का निश्चय सुनिये-

**राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।**
**दीनबन्धु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान।।**

**(रा० २/६६)**

हे सुन्दर, सुखद, स्नेह और शील के निधान दीनबन्धु! यदि चौदह वर्ष की अवधि तक के लिए आप मुझे अयोध्या में रखते हैं तो जब तक आप सामने हैं तभी तक मेरे प्राण रहेंगे, यह जान लीजिये। जिस बात को नमित मुख बैठी सोच रही थी उसी की यह स्पष्ट घोषणा है-

**की तनु प्रान कि केवल प्राना।।**

**(रा० २/५८-४)**

इसी प्रकार का भाव गीतावली के इस पद में भी प्रकट किया गया है-

कृपानिधान सुजान प्रानपति, संग बिपिन ह्वै आवोंगी।
गृहतें कोटि-गुनित सुख मारग चलत, साथ सचु पावोंगी।।
थाके चरनकमल चापौंगी, श्रम भए बाउ डोलावोंगी।
नयन-चकोरनि मुखमयंक-छबि सादर पान करावोंगी।।
जौ हठि नाथ राखिहो मो कहँ, तौ सँग प्रान पठावोंगी।
तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावोंगी।।

(गीतावली २/६)

हे कृपानिधान सर्वज्ञ प्राणनाथ ! मैं आपके साथ वन को अवश्य चलूँगी। आपके साथ राह चलने में हमें इस राजमहल से करोड़ों गुणा अधिक आनन्द मिलेगा, आपके थक जाने पर पद पकंज की सेवा करूँगी, थकान हो जाने पर पंखा करूँगी, आपके मुख चन्द्र की छवि का नयन चकोरों को पान करवाने का अवसर मिलेगा। हे नाथ ! यदि कहीं आपने हठ करके मुझे यहाँ रख दिया तो मैं अपना प्राण तो अवश्य ही आप के साथ भेजूँगी, आप के वियोग में जीवित रह कर क्या फिर मैं दुनियाँ में मुख दिखा सकती हूँ ? आगे की चौपाइयों में भी इसी प्रकार की प्रार्थना है-

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी।।
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं।।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं।।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी।।
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि बात बयारि न मोही।।

(रा० २/६७-१ से ६)

बातें लगभग सारी वही हैं जो उस गीत के अर्थ में बताई गई हैं। इसमें एक बात सीता जी अपने प्रथम दर्शन की स्मृति को व्यक्त करते हुए कह रही हैं। पसीने की बूँदों से युक्त श्याम शरीर को देखकर प्राणपति के दर्शन करते हुए दुःख के लिए मुझे अवकाश ही कहाँ रहेगा? इस प्रकार के श्रम कण युक्त श्यामल गात को पुष्प वाटिका में भी देखा था-

भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाए।

(रा० १/२३३-३)

शेष सारी अभिलाषाएँ पूर्ण तन्मयतायुक्त सेवा से सम्बन्धित हैं। इन

प्रार्थनाओं में यह भी भाव झलक रहा है कि केवल अपने वियोग-जन्य संताप के दुःख से अधीर होकर नहीं अपितु प्राणनाथ की सेवा की अभिलाषा ही साथ चलने की चाह में कारण है। भय का जो मुख्य कारण वन में "निसिचर निकर नारि नर चोरा" बताया था। उनके उत्तर में कह रही हैं-

**को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा।।**

**(रा० २/६७-७)**

जिस प्रकार सिंहनी को खरगोश और गीदड़ नहीं देख सकते इसी प्रकार प्रभु के साथ मुझे आँख उठाकर देखने वाला कौन है? कितना आत्मविश्वास है एक आर्य नारी में, यह भी दर्शनीय है। कई बार राम ने सीता को अत्यन्त सुकोमलाँगी, सुकुमारता के कारण वन जाने के अयोग्य बताया था-

**हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू।।**
**मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली।।**

**(रा० २/६३-५,६)**

इसके प्रतिवाद में सीता का एक प्रश्नात्मक उत्तर है-

**मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू।।**

**(रा० २/६७-८)**

**ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।**
**तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पाँवर प्रान।।**

**(रा० २/६७)**

मैं सुकुमारी हूँ और नाथ वन के योग्य हैं। आपको तप उचित है और मुझ को राज्य का ऐश्वर्य भोग। ऐसे कठोर वचन सुनकर भी जब मेरा हृदय न फटा तो हे प्रभु ! लगता है कि यह पाँवर प्राण आपके वियोग का भीषण दुःख भी सहेंगे। राम द्वारा यह कथन-

**राजकुमारि! कठिन कन्टक मग, क्यों चलिहौ मृदु पद गजगामिनी।**
**दुसह बात, बरषा, हिम, आतप कैसे सहिहौ अगनित दिन जामिनी।।**

**(गीतावली २/५)**

सीता को बहुत आघातप्रद रहा। इससे भी अधिक पीड़ाप्रद रहा घर रहने के लिए स्पष्ट आदेश। इसलिए सीता स्पष्ट शब्दों में पूछती है-

**कहो तुम बिनु गृह मेरो कौन काजु?**
**हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै, पति कानन कियो मुनिको साजु।**

तुलसिदास ऐसे बिरह-बचन सुनि कठिन हियो बिदरो न आजु।

(गीतावली २/७)

इस को सीता ने राम की निष्ठुरता माना और इस निष्ठुर वचन कहने का कारण पूछा है-

प्रिय निठुर बचन कहे कारन कवन?

जानत हौ सबके मन की गति, मृदुचित परम कृपालु, रवन।

(गीतावली २/८)

सीता की आकुलता का कारण स्पष्ट है। अपने बारह वर्ष के दाम्पत्य जीवन में ऐसी कौन सी न्यूनता नज़र आई जिसके कारण राम घर रहने की आज्ञा प्रदान कर रहे हैं। इसी आशंका से वह आकुल हो जाती है। शरीर वियोग की बात तो दूर रही प्रियतम के बचन गत वियोग को भी वह सम्भाल न सकी-

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी।।

देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना।।

(रा० २/६८-१,२)

उनकी इस विकल दशा को देखकर राम समझ गये यदि हठ कर इनको यहाँ रखा गया तो वह अपना प्राण त्याग देंगी। सीता की दशा को सम्भालते हुए बड़ी स्नेहासिक्त वाणी में राम ने कहा-

मैं तुमसों सतिभाव कही है।

बूझति और भाँति भामिनि कत, कानन कठिन कलेस सही है।।

(गीतावली २/९)

हे प्रिय! मैंने तुमसे सद्भाव युक्त सही बात कही है। तुम अपने हृदय में इसको दूसरे भाव से क्यों सोचती हो? वस्तुतः जंगल का जीवन कठिन क्लेशों से युक्त है, किन्तु फिर भी यदि तुम चलना चाहती हो तो चलो-

कहेउ कृपालु भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा।।

नहिं बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन गवन समाजू।।

(रा० २/६८-३,४)

प्रार्थना सफल हुई, निष्ठा ने विजय पाई। सीता की दशा का क्या कोई अनुमान लगाया जा सकता है? कवि केवल इतना ही कह सकता है-

बूड़त बिरह-बारिनिधि मानहु नाह बचनमिस बाँह गही है।

(गीतावली २/९)

विरह रूपी समुद्र में डूबते-डूबते ही स्वामी ने अपने साथ चलने की बात कह कर मानो बाँह पकड़ कर उबार लिया हो। बस फिर क्या था?

**प्राननाथ के साथ चलीं उठि, अवध सोकसरि उमगि बही है।**
**तुलसी सुनी न कबहुँ काह कहुँ, तनु परिहरि परिछाँहि रही है।**

**(गीतावली २/९)**

कवि की दृष्टि में स्त्री पुरुष की छायावत सदैव उसके साथ रहती है। किसी भी अवस्था में उसको विलग नहीं किया जा सकता। पति के साथ जाने के लिए आज्ञा पाकर जहाँ सीता को अपने जीवन की सार्थकता की अनुभूति हो रही है वहाँ अन्तर्तम में एक चुभन भी है। वह चुभन है सासु-ससुर की सेवा से वंचित होने की। माता कौशल्या के चरणों में गिरते हुए अपनी अन्तर वेदना को किस प्रकार प्रकट करती है, वह भी द्रष्टव्य है-

**तब जानकी सासु पग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी।।**
**सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा।।**
**तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू।।**

**(रा० २/६९-३,४,५)**

तब जानकी सास के पाँव लगी और बोली, हे माता ! मेरी प्रार्थना सुनिये, मैं बड़ी ही अभागी हूँ, सेवा करने के समय दैव ने मुझे वनवास दे दिया। मेरा मनोरथ सफल न किया। माता ! आप क्षोभ का त्याग कर दें, सदैव अपना छोह न छोड़ें, अपनी कृपा बनाये रखें। कर्म की गति बड़ी कठिन है, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। धर्म संकट की स्थिति में सीता के लिए पति का अनुगमन तथा सास की सेवा, इन दोनों में प्रथम ही वरणीय रहा, उन्होंने वही चुना। इसकी महत्ता तथा औचित्य को सास भी जानती है, उसने भी पुत्र स्नेह तथा पति धर्म में से पति धर्म को ही श्रेष्ठ माना है। उसकी भी अवस्था ऐसी ही थी-

**धरम सनेह उभयँ मति घेरी।**

**x x x x x**

**बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी।**

**(रा० २/५५-३,६)**

इस धर्म निष्ठा ने प्राण से भी अधिक प्यारे पुत्र को यह कहने को बाध्य कर दिया-

**जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ।।**

**(रा० २/५७-४)**

भला उस माता को अपनी पुत्र वधू की यह निष्ठा अप्रिय क्यों लगेगी? ठीक है यह चाह थी कि यदि राम की अनुपस्थिति में सीता पास रहेगी तो प्राण को अवलम्बन मिल जायेगा, किन्तु यह केवल भावावेश की बात थी। प्राण का अवलम्बन तो नारी के लिए पति है। इसीलिए माता ने कहा था-

**जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ सन्देहू।।**

**(रा० २/५६-६)**

**यह बिचारि नहीं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।**
**मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।।**

**(रा० २/५६)**

सीता के साथ जाने में माँ की व्यथा और सन्तुष्टि दोनों हैं। कारण है कि अब प्राण प्रिय राम अधूरे नहीं, पूरे हैं, अकेले नहीं दोनों साथ हैं। माँ यह जानती है कि तापस तिय तप के लिए भोग का त्याग कर देती है। आज उसके "राम तापस बेष बिसेषि उदासी" बन कर वन में जा रहे हैं। अतः उनकी पत्नी सीता के लिए भी भोग का त्याग ही उचित है, किन्तु सीता की धर्म निष्ठा के साथ विनयशीलता अनुपम है-

**सुनि सिय बचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहौं बखानी।।**
**बारहिं बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरजु सिख आसुष दीन्ही।।**
**अचल होउ अहिबातु तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।।**

**(रा० २/६९-६,७,८)**

**सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।**
**चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहिं बार।।**

**(रा० २/६९)**

सीता के विनय बचन को सुनकर सासु व्याकुल हो गई। कवि कह रहा है उस माँ की दशा का किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है, जिसका इकलौता पुत्र तथा जीवन मूरि जिमि लालित पालित सुकुमारी वधू सुदीर्घ काल के लिए अचानक ही विलग किये जा रहे हों। सीता को बार-बार हृदय से लगा कर माता ने धैर्य धारण कर वनवासी जीवन को कुशलता से निबाहने के लिए सीख दी और आशीर्वाद दिया कि जब तक गंगा यमुना की धारा पृथ्वी पर बहे तब तक तुम्हारा सुहाग अमर हो। भारतीय संस्कृति में विवाहिता नारी के लिए इससे उत्तम और कोई आशीर्वाद नहीं है। अपने लिए नहीं-

आसिरबचन लहे प्रिय जी के।

(रा० २/२४६-३)

सास ने अनेकों प्रकार की शिक्षायें और आशीर्वाद दिया। सीता बड़ी श्रद्धा और प्रेम से बार-बार सास की चरण वन्दना करके सिर झुकाकर वन के लिए चल पड़ी। कितना दुःखद दृश्य रहा होगा वह, कितनी बड़ी ट्रेजेडी रही! आज भी उस दृश्य की कल्पना कर हृदय द्रवित हो जाता है। क्या कहीं दुनिया के इतिहास में नारी का यह आदर्श रूप उपलब्ध होता है? यह औपन्यासिक विवेचन मात्र नहीं है। भारत की इस पुनीत धरती पर घटित हुई एक ऐतिहासिक सत्य घटना है, जो युगों से यहाँ के जनमानस को अभिभूत किये हुए है, जो युगों से भारतीय नारी के लिए धर्म पालन के गौरव निर्माण करने में प्रेरणा स्रोत बनी हुई है।

यह दुःखद दृश्य इतने में ही समाप्त नहीं होता। हम देखते हैं बहुधा चोट पर ही चोट लगा करती है। मानव जीवन क़ी भी कुछ इसी प्रकार की कहानी है। पति संग बनगमन से रोकने के लिए आगे दो बार और सीता के समक्ष भय और प्रलोभन मिश्रित स्नेहासिक्त शिक्षा देने वाले सुहृदजन आते हैं, वे प्रसंग भी दर्शनीय हैं। सीता और लक्ष्मण को साथ लिए राम पिता की चरण वन्दना कर वन गमन की आज्ञा माँग रहे हैं। महाराज दशरथ का हृदय हाहाकार कर रहा है। अकारण निरपराध राम ऐसे मातृ-पितृ भक्त पुरजन परिजन प्रिय प्रजा पालक आज्ञाकारी राजकुमार का राज्य निष्कासन, पिता के लिए असह्य पीड़ाप्रद है। यह निश्चित है कि राम विरह में प्राण पखेरू तनु कोटर में नहीं रहेंगे। इन सारे अनर्थों की जड़ राजा स्वयं को ही मान रहे हैं। यदि राज्य देने की योजना न बनती तो वनवास क्यों मिलता? इससे भी अधिक राजा के हृदय में संताप का कारण बना हुआ है राम का उदार स्वभाव-

राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ।।
राउ सुनाइ दीन्ह वनवासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू।।

(रा० २/१४९-६,७)

राजा ने राम को आज्ञा पालन अथवा वन गमन से विरत करने के लिए छल छोड़ कर विविध प्रकार के प्रयत्न किये, किन्तु उस अटल सत्य-निष्ठ के समक्ष सब व्यर्थ रहा-

तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही।।
कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सासु ससुर पितु सुख समुझाए।।

**सिय मनु राम चरन अनुरागा। घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा।।**

**(रा० २/७८-२,३,५)**

तब राजा ने सीता को हृदय से लगा लिया और अत्यन्त स्नेह से विविध प्रकार की शिक्षा दी। वन के दुःसह दुःखों को बताया और सासु-ससुर तथा माता-पिता के पास रहने के सुख को भी समझाया, किन्तु सीता का मन राम के चरणों में अनुरक्त था इसलिए उनको घर रहना सुगम तथा वन में रहना भयानक या दुःखदाई नहीं लगा। नारी को पितृ गृह से भी प्यार होता है यह महाराज को ज्ञात है। अतः आपका कहना है-

**पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी।।**

**(रा० २/८२-५)**

यही संदेश आगे सुमन्त के द्वारा भी भेजा है, किन्तु शील, संकोच की प्रतिमा सीता ससुर को उत्तर में कुछ नहीं कहती। इस कुछ नहीं कहने में कवि कह रहा है उपेक्षा नहीं संकोच है-

**सीय सकुच बस उतरु न देई।**

**(रा० २/७९-१)**

सीता का वन गमन किसी को भी सह्य नहीं है। राजकुमारों का वन-भ्रमण कोई नई बात नहीं है। मृगयादि के लिए तो स्वेच्छा से उनका विचरण होता ही रहता है जैसाकि आगे खर-दूषण के दूतों को उत्तर में राम ने कहा था-

**हम छत्री मृगया बन करहीं।।**

**(रा० ३/१९-९)**

यहाँ दुःख की बात है- 'तापस बेष बिसेषि उदासी' की शर्त जो कि चौदह वर्षों के लिए है। उसमें राजमहल में रहने वाली सुकोमलांगी सीता ऐसी राजकुमारी का इस प्रकार वनवास तो और भी पीड़ाप्रद है। इसलिए -

**सचिव नारि गुर नारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी।।**

**तुम्ह कहुँ तो न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू।।**

**(रा० २/७८-७)**

वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने सीता को वन की विपत्तियों को बताते हुए समझाया। मन्त्री सुमन्त्र की पत्नी तथा गुरु वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती तथा और भी सयानी समझदार स्त्रियाँ स्नेह पूरित वाणी से कहने लगीं कि राजा ने तुमको तो वनवास नहीं दिया है न रानी ने तुम्हारे लिए तो वनवास नहीं माँगा है। अतः इस

समय तुम्हें सास, ससुर, गुरु जो कुछ भी कह रहे हैं वही करणीय है। इन अर्धालियों में हमें गोस्वामी जी के समय के समाज में धर्म-मर्यादा के नाम से प्रचलित उस लोक-मत का दर्शन होता है जिसमें पारिवारिक व्यवस्था में नारी का जीवन कितना कसा हुआ था। पति को अपेक्षा सास-ससुर की आज्ञा ही माननीय हुआ करती थी।

हर एक उत्तम से उत्तम समाज व्यवस्था में कालान्तर में विकृति आ जाना स्वाभाविक है क्योंकि मानव मस्तिष्क सदा एक सा नहीं रहता। फिर अशिक्षित समाज मान्य अधिकारों के प्रति तो अहं की वृत्ति रखता है, किन्तु तदनुसार स्वयं के कर्त्तव्य की पूर्ति नहीं कर पाता। यही कारण है कि वह अपने अधीनस्थ व्यक्ति पर स्नेह नहीं शासन करने लगता है जिससे उनका विकास नहीं होता।

मध्ययुगीन नारी समाज के लिए यही नियम प्रचलित था। सासु-ससुर, गुरुजन सेवा के भाजन हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी आज्ञा उतनी ही माननीय है जितनी कि परम धर्म रूपी पति प्रेम तथा सेवा में सहयोगी हो। गोस्वामी जी मध्यकालीन नारी समाज में विशेषकर नव विवाहित बहुओं पर सास-ससुर के इस अनुचित शासन की वृत्ति से परिचित थे इसलिए मानस की आदर्श नारी सीता के प्रति उनके पितृ-गृह से प्राप्त होने वाली नारी धर्म की शिक्षा में इस मान्यता को उन्होंने स्थान नहीं दिया-

**सासु ससुर गुर सेवा करेहू।**

**(रा० २/३३४-५)**

सासु-ससुर तथा गुरु की सेवा करनी उचित ही है। हमारे वैदिक विवाह पद्धति में भी पुरुष द्वारा की जाने वाली शर्तों में एक यह भी शर्त है, किन्तु जहाँ तक आज्ञा पालन का सम्बन्ध है वहाँ पति रुख को ही प्रधानता दी है, इसीलिए गोस्वामी जी का कथन है-

**पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।**

**(रा० १/३३४-५)**

भारत के ग्रामीण जीवन में ही नहीं बल्कि शिक्षित समाज में भी इस प्रकार की अनुपयोगी तथा अनुचित धारणायें आज भी हमें देखने को मिलती हैं। यह हमारी प्राचीन पारिवारिक संस्कृति का सही नहीं विकृत स्वरूप है। नारी के प्रति इस अनुचित शासन को देख कर ही महाकवि का हृदय व्यथित हो जाता है

और वधू बनकर पितृ गृह से विदा होनेवाली नारी के लिए बरबस मुख से निकल जाता है-

**कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।।**

**(रा० १/१०२-५)**

सीता एक सुशिक्षित परिवार की पुत्री है तथा ब्याह कर एक सुसांस्कृतिक परिवार में आई है। उसके सास-ससुर अपने अधिकार और कर्त्तव्य के विषय में अच्छी तरह सजग हैं इसीलिए उसके वन जाने पर व्याकुल होते हुए भी किसी प्रकार का अनुचित दबाव नहीं डाल रहे। कौशल्या स्वयं आदेश न देकर राम से पूछती हैं कि जो तुम्हारी आज्ञा हो वही मैं सीता को समझाऊँ। कितना उज्ज्वल आदर्श है, कितनी उत्तमता से कवि ने भारतीय संस्कृति के समुज्ज्वल स्वरूप को अभिव्यक्त किया है किन्तु मन्त्री पत्नी तथा गुरु पत्नी एवं अन्य सयानी देवियों का यह तर्क कि तुम्हारे लिए तो वनवास का वरदान नहीं माँगा है अतः तुम्हें वही करना चाहिए जो सास-ससुर तथा गुरु कहते हैं। यह सीता को अप्रिय ही नहीं व्यथाप्रद भी लगा, किन्तु अपने सुशील स्वभाव से उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया-

**सिख सीतलि हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि।**
**सरद चंद चंदिनि लगत जनु चकई अकुलानि।।**

**(रा० २/७८)**

शीतल, हितकारी, मधुर और कोमल सीख सुनकर भी सीता को प्रिय नहीं लगी। वे इस प्रकार व्याकुल हो गईं जैसे शरद ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी लगने से चकई व्याकुल हो जाती है। गुरुजनों को उत्तर देना भी तो उचित नहीं होता अतः मौन रहना ही सीता ने उचित समझा। उसी समय कैकेई ने मुनिपट भूषण तथा पात्र लाकर सामने रख दिया। राम ने सहर्ष उसे धारण किया और जानकी लक्ष्मण सहित माता-पिता की वन्दना की और वन को चल पड़े। सीता के लिए यहीं सासु-ससुर की स्नेहसिक्त शीतल छाया तथा सेवा कार्य निपुण श्रद्धा और प्रेममय दास दासियों की सेवा एवं परिजन, प्रजाजन के अगाध आदरयुक्त राजभवन के मधुर जीवन की इति हो जाती है और सेवा निरत देवर तथा प्राणधन प्रियतम के साथ वनवासी जीवन का नया अध्याय आरम्भ हो जाता है।

राजा ने मन्त्री सुमन्त को रथ लेकर साथ जाने के लिए कहा और साथ ही यह भी कहा कि राम को लौटाने की कोशिश करना। यदि धैर्यवान् राम लक्ष्मण लौटना स्वीकार न करें तो उनसे निवेदन करना कि मिथिलेश किशोरी को ही

लौटा देवें। सीता जब भयानक जंगल को देख कर भयभीत होने लगे तब अवसर पाकर मेरा सन्देश कहना कि महाराज ने कहा-हे पुत्री! घर लौट चलो वन में बहुत क्लेश हैं। अन्त में व्याकुल होकर सुमन्त से कहा-

**एहिं बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ न होइ प्रान अवलंबा।।**
**नाहिं त मोर मरनु परिनामा। कछु न बसाइ भएँ बिधि बामा।।**

**(रा० २/८२-६,७)**

इस प्रकार से तुम बहुत से उपाय करना। यदि सीता लौट आती है तो मेरे प्राणों को अवलम्बन मिल जायेगा अन्यथा तो मेरी मृत्यु निश्चित है। विधाता के विपरीत होने पर किसी का बस नहीं चलता।

दूसरे दिन राम श्रृंगबेरपुर पहुँचे, वहाँ रात्रि विश्राम किया। निषादराज ने उनके लिए कंद, मूल, फलादि की व्यवस्था कर शयन के लिए कुस साथरी आदि बना दी। सीता के साथ राम ने इस प्रकार से प्रथम रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल जब श्रीराम वटवृक्ष का दूध मँगाकर अपने सुन्दर अलकावलि को जटा के रूप में परिणत करने लगे तो सुमन्त ने सजल नेत्रों से महाराज दशरथ का सन्देश सुनाया तथा लौटने की प्रार्थना की। राम द्वारा न लौटने के निश्चय से विदित होने पर फिर सीता को लौटा देने के लिए पिता का सन्देश कहा और यह भी निवेदन किया कि-

**सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू।**

**(रा० २/९६-६)**

**जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया।।**
**नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना।।**

**(रा० २/९६-७)**

**मइकें ससुरें सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।**
**तहँ तब रहहिं सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान।।**

**(रा० २/९७)**

सीता के पिता के घर तथा ससुराल में दोनों स्थानों में सब प्रकार की सुख-सुविधायें हैं। जब जहाँ रहने की रुचि हो वहाँ रह सकती है जब तक विपत्ति की बिहान अर्थात् चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण नहीं हो जाती। सुमन्त ने निवेदन किया-

**बिनतीं भूप कीन्ह जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती।।**

**(रा० २/९७-१)**

राजा की यह आज्ञा नहीं, प्रार्थना है। जिस दीनता और प्रेम से राजा ने प्रार्थना की वह (दीनता और प्रेम) कहा नहीं जा सकता-

**पितु सँदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना।।**
**सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू।।**

**(रा० २/९७-२,३)**

कृपानिधान राम ने पिता का सन्देश सुनकर सीता को अनेकों प्रकार से समझाया और कहा कि यदि तुम लौट जाओगी तो सास, ससुर, परिवार तथा प्रियजनों की चिन्ता, व्यथा मिट जायेगी। प्रत्येक बात के कहने और सुनने की भी सीमा होती है। सीता को जो सबसे अधिक चुभने वाली बात है वह है उनको वन के दुःखों से बार-बार भय दिखाना तथा घर में प्राप्त होने वाले सुखों का प्रलोभन देना। इस विषय में पहले भी राम को यह कहकर कि-"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू" निरुत्तर कर दिया था, किन्तु यहाँ पुनः उन्हीं बातों को सुनकर नहीं रहा गया। विनम्र शब्दों में कहने लगी-

**सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही।।**
**प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी।।**
**प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई।।**

**(रा० २/९७-४,५,६)**

हे परम स्नेही प्राणपति! सुनिए हे करुणामय प्रभु ! आप तो परम विवेकी हैं, यथार्थ को जानते हैं, प्रत्यक्ष धर्मा हैं, कृपा करके विचार तो कीजिए। शरीर को छोड़कर छाया अलग कैसे रह सकती है? सूर्य की प्रभा उसको छोड़ कर कहाँ जा सकती है? चाँदनी चन्द्र से अलग हो कहाँ जा सकती है? सनातन संस्कृति में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का यह उत्तमतम चित्रण है। हमारे यहाँ प्राचीन काल में नारी का क्या स्थान था सामाजिक जीवन में, इससे इसका संकेत मिलता है। साथ ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी की दृष्टि में आदर्श आस्थावान् धर्मपत्नी का पुरुष के जीवन में क्या स्थान है। नारी को अपने पति के साथ अभिन्न रूप से छायावत् अनुगमन करना चाहिए। जिस प्रकार प्रभा भानु से तथा चाँदनी चन्द्र से कभी भी अलग नहीं की जा सकती, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष का दाम्पत्य भी अविभाज्य है। क्या प्रभा रहित सूर्य का कोई महत्त्व है? क्या चाँदनी रहित चन्द्रमा की कोई उपयोगिता है? बिल्कुल नहीं। महाकवि की दृष्टि में इसी प्रकार गृहस्थ में नारी रहित पुरुष का जीवन भी अनुपयोगी एवं महत्त्वहीन होता है। दार्शनिकों का

मत है कि शिव में इकार शक्ति का स्वरूप है। जिस प्रकार इकार रहित शिव शव मात्र रह जाता है उसी प्रकार शक्ति रहित शक्तिमान की भी दशा होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक नारी अपने राम की सीता है और पति के जीवन में उसका वही स्थान है। यह व्यक्ति विशेष के लिए ही नहीं है, वैदिक संस्कृति में स्वीकार किया गया हुआ सार्वभौम सत्य है।

सीता जी जानती हैं कि अवधवासी परिजन तथा प्रियजन उनकी सुकुमारता, सुकोमलता तथा सरलता जन्य भीरुता से सुपरिचित हैं, इसीलिए सभी को उनके वनगमन की अधिक व्यथा है। मंत्रीवर सुमन्त के माध्यम से वे सभी प्रियजनों को अपना संदेश पहुँचाना चाहती हैं। अवध से प्रस्थान करते समय उनको अपनी दृढ़ता तथा मान्यता को प्रकट करने का अवसर नहीं मिल पाया था। संयोग से अब वह उपस्थित हो गया है-

**पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई।।**
**तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी।।**

**(रा० २/९७-७,८)**

**आरति बस सनमुख भइउँ बिलगु न मानब तात।**
**आरजसुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात।।**

**(रा० २/९७)**

पति को प्रेममय विनती सुनाकर सीताजी सुमन्त से सुन्दर सुकोमल वाणी में कहने लगीं। मंत्रीवर! आप मेरे पिता तथा ससुर के समान ही हितैषी हैं, आपको बदले में मैं उत्तर देती हूँ, यह बहुत ही अनुचित है किन्तु किया ही क्या जाये? हे तात! मैं आर्त्त हो कर वा दुःखी होकर ही आज आपके सम्मुख हुई हूँ, आप बुरा न मानियेगा। आर्यपुत्र! स्वामी के चरणकमलों के बिना जगत् में जितने जहाँ भी नाते हैं सभी मेरे लिए व्यर्थ हैं। कितनी दृढ़ता है, कितना आत्मविश्वास है, कितना गौरव है उपर्युक्त कथन में। नारी मात्र के लिए सीता का यही अमर सन्देश है जो युगों से आस्थावान् नारी के लिए महामन्त्र बना हुआ है। इसी आत्मविश्वास पर सीता आगे कहती है-

**पितु वैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा।।**
**सुख निधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें।।**

**(रा० २/९८-१,२)**

मैंने पिता के वैभवविलास को देखा है जिनके चरण रखने की चौकी में

सर्व शिरोमणि राजाओं के मुकुट-मणियाँ मिलती हैं अर्थात् बड़े-बड़े नृपति जिसकी वन्दना करते हैं अथवा जो मणि अन्य राजाओं के मुकुट में होती है वह मेरे पिता के चरण रखने की चौकी में लगी हुई है। जो सब प्रकार के सुखों का भण्डार है ऐसा पितृगृह भी मुझे प्रियतम वियोग से भूलकर भी नहीं भाता। कहने का अभिप्राय है कि शिशुकाल से ही अनुपम ऐश्वर्य में पली हूँ, मैं उस विषय से अपरिचित नहीं और ससुर गृह की तो बात ही क्या कहें-

**ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ।।**
**आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई।।**
**ससुरु एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासु।।**
**बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा।।**

**(रा० २/९८-३ से ६)**

ससुर मेरे कौशलराज चक्रवर्ती सम्राट हैं जिनका प्रभाव चौदह भुवन में प्रकट है, इन्द्र भी आगे होकर जिनका स्वागत करता है और अपने सिंहासन के अर्धभाग में बैठने के लिए स्थान देता है। इस प्रकार प्रभावशाली ऐश्वर्यवान् मेरे ससुर तथा मातृवत् लाड़ प्यार करने वाली सास एवं प्रिय कुटुम्बीजनों में से कोई भी श्री रघुपति पद पद्म पराग के बिना मुझे स्वप्न में भी सुखदाई नहीं लगते। सारांश यह कि मेरे लिए रामविहीन सुखद अयोध्या तथा मिथिला की कल्पना ही नहीं की जा सकती। स्त्री के लिए सुख का साधन ऐश्वर्य नहीं पति है-

**अगम पंथ बनभूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा।।**
**कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।।**

**(रा० २/९८-७,८)**

**सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।**
**मोर सोचु जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ।।**

**(रा० २/९८)**

दुर्गम रास्ते, जंगली ऊबड़-खाबड़ धरती, पहाड़, विशालकाय हाथी, विकराल सिंह, अथाह तालाब और नदियाँ, कोल-किरात, मृग और पक्षी ये सभी प्राणपति के संग मुझे सुख देनेवाले होंगे। सास-ससुर के चरण पकड़ कर मेरी ओर से प्रार्थना कीजियेगा कि वे ज़रा भी सोच न करें, मैं स्वभाव से ही वन में सुखी हूँ-

**प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीर धुरीन धरें धनु भाथा।।**
**नहिं मग श्रम भ्रम दुख मन मोरें। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें।।**

वीरों के अग्रगण्य धुरन्धर, धनुष और बाणों से भरे तरकस धारण किये हुए मेरे प्राणनाथ तथा प्रिय देवर साथ हैं। इससे न तो मुझे रास्ते की थकावट है, न भ्रम है और न किसी प्रकार का दुःख ही है। अतः आप सब मेरे लिए भूलकर भी सोच न करें। इस कथन में सीता ने यह स्पष्ट कर दिया कि बार-बार वन दुःख का भय दिखाना व्यर्थ है। मैं इन सब बातों से अनभिज्ञ नहीं हूँ। मैं भावावेश में उठकर नहीं चली हूँ, खूब सोचविचार कर निर्णय किया है, यह अपरिवर्तनीय है। मेरे दुःख की सम्भावना करके दुःखी होना वा चिन्ता करना व्यर्थ है। मैं अपने प्राणनाथ के बिना विश्व के सभी सुख-साधनों तथा सुखद सम्बन्धों को भी व्यर्थ समझती हूँ। वन में सर्वविध सुख हैं क्योंकि प्राणेश्वर साथ हैं, वीर देवर साथ हैं। कितनी सरल शीतल वाणी में सब कुछ कह दिया गया है। नारी की इस आस्था को ही गोस्वामी जी उसका सर्वस्व मानते हैं और इसी कारण से उसकी पुरुष से भी प्रथम अभिवन्दना करते हैं।

सुकोमल सौन्दर्य के साथ भीरुता का होना भी स्वाभाविक है। लज्जा एवं शील के समान ही भीरुता भी नारी का भूषण बन जाती है। यह भीरुता जानकी में है, इसको राम ने कई बार अनुभव किया हैं। धनुष टूटने पर जब भृगुकुल कमल पतंग श्री परशुराम जी का आगमन हुआ उस अवसर पर भी उनके कोप को देखकर-

**सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।**

**(रा० १/२७२)**

वन आने के लिए मना करते समय में भी यही कहा था-

**मृगलोचनि तुम भीरु सुभाए।**

**(रा० २/६३-४)**

इस प्रकार की भीरुता कायरता का परिमाप नहीं होती। वह तो प्रिय को प्रमुदित करने में ही सहायक होती है। सुमन्त के प्रति जो कुछ सीता ने अपने उद्गार प्रकट किये उससे उनके आन्तरिक यथार्थ को राम भी समझ गये। यही कारण था कि दुबारा कभी भी लौटने के लिए नहीं कहा -

**पिय हिय की सिय जाननिहारी।**

**(रा० २/१०२-३)**

अतः प्रियतम की प्रसन्नता के लिए ही वह सब कुछ करती है। सुमन्त के लौटने पर राम गंगा को पार कर प्रयाग की ओर प्रस्थान करते हैं किन्तु सीताजी

नारी हैं। नारी श्रद्धा स्वरूपा है, उसकी दृष्टि में सृष्टि का जो कुछ भी पावन है वह पूज्य है। पूज्य की पूजा कर आशीर्वाद प्राप्त करने की भावना नारी की स्वाभाविक वृत्ति है। अतः गंगा तट पर खड़ी होकर-

सियँ सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी।।
पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहिं पूजा तोरी।।

(रा० २/१०३-३)

यह मनोरथ मानना नारी की सहज क्रिया है, सीता भला उससे अछूती कैसे रह सकती हैं? वह देव सरिता से पति-देवर संग कुशल लौटने का मनोरथ कर रही है और उसके बदले में पूजा करने की मानता मान रही है। यह नारी हृदय का कितना सरस चित्रण है। सौन्दर्य में शारीरिक सुकुमारता की तो मुख्यता होती ही है, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है चित्तगत सुकोमलता एवं सरसता का। सौकुमार्य एवं सरसता युक्त सौन्दर्य ही नारी जीवन की वह निधि है जिसको समर्पित कर वह अपने प्रियतम के हृदय को सदा के लिए मुग्ध कर लेती है। सीता की आन्तरिक तथा शारीरिक सुकुमारता को गोस्वामी जी ने कवितावली में बड़ी ही कुशलता के साथ चित्रित किया है। अयोध्या छोड़ने के बाद श्रृंगवेरपुर तक तो रथ से जाना हुआ था। बिना पदत्राण के पयादे ही कठोर पृथ्वी पर चलने का अवसर तो गंगा पार करने पर ही आया। गंगाजी से प्रार्थना करने के बाद-

पुरतें निकसी रघुबीरबधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जलकी, पुट सूखि गए मधुराधर वै।।
फिर बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटि करिहौं कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।।

(कवितावली ११)

इस एक ही सवैये में सीता की सुकुमारता के साथ ही नारी सुलभ सरलता एवं अधीरता का कितना सुन्दर चित्रण है। कुछ कदम आगे बढ़ने पर ही मधुराधर सूख गये। वह सीता जिसने कभी कठोर अवनि पर पाँव नहीं रखा था आज उसे पयादे ही ग्रीष्म ऋतु के संतप्त गंगा की रेत में चलना पड़ रहा है। विधि की कितनी क्रूर विडम्बना है। लक्ष्मण गंगाजी से जल लाकर सूखते हुए मधुराधर को शीतल करना चाहते हैं, किन्तु राम इस प्रकृति की कठोर क्रूरता पर चिन्तारत हो बिना पीछे देखे चले जा रहे हैं। कुछ आगे बढ़ जाने से सीता ने पति को सम्बोधित करते हुए कहा-

जलको गए लक्खनु, हैं लरिका, परिखौ, पिय ! छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े।।
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकीं नाहको नेहु लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।।

(कवितावली १२)

कितना दर्दनाक दृश्य है, श्रमित होने पर भी श्रम की शिकायत नहीं। अतः कैसे कह सकती है यह ? धैर्य के साथ कहती रही है-

मोहि मग चलत न होइहि हारी।

(रा० २/६७-१)

फिर कुछ कदम चलने के बाद ही हार कैसे स्वीकार कर ली जाये। प्रिय की सेवा करने के साथ आई हैं उसी के लिए निवेदन कर रही हैं, ज़रा घड़ी भर के लिए छाया में बैठ जायें। तपती बालू में झुलसे हुए आपके चरणों को धोकर शरीर पर आये पसीने को पौंछ दूँ और थोड़ा पंखा झालकर इस ताप को दूर कर दूँ। यही तो करने की चाह थी साथ आने में-

पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं।।

(रा० २/६७-३)

इन पदों में गोस्वामीजी ने मानव हृदय को स्पर्श करने वाले एक मानव तथा मानवी का चित्र अंकित किया है। मेरे विचार से ब्रह्म अवतारी राम की अपेक्षा उपर्युक्त शब्दों में चित्रित राम मानव मन के अधिक निकट हैं। उनके साथ की सीता सृष्टि, पालन, संहारकर्तृ माया नहीं अपितु एक आदर्श पति परायणा नारी है जो सहस्राब्दियों से जनजीवन को अपने पवित्र जीवन से आकृष्ट करती आ रही हैं। सीय राम के पंथ कथा से सम्बन्धित एक अनुपम झाँकी देखिये। जिस किसी गाँव के निकट से निकलते हैं तो वहाँ के नर-नारी इन अनोखे पथिकों को देखने के लिए दौड़ पड़ते हैं। एक गाँव के निकट एक वट वृक्ष के नीचे बैठकर तीनों मूर्तियाँ विश्राम करने लगीं। राम-लक्ष्मण को गाँव के बालक, वृद्ध तथा युवा पुरुष घेरकर खड़े हो गये। सीताजी के पास ग्राम की स्त्रियाँ चारों तरफ से घेरकर बैठ गईं। राज परिवार में पली हुई सीता को ग्रामीण जीवन की सरस आत्मीयता का दर्शन करने का यह प्रथम अवसर था। जहाँ की यह घटना कवि वर्णन कर रहा है उसके निकट ही उसका जन्म स्थान है जो वर्तमान में राजापुर के नाम से जाना जाता है। ग्रामवासियों की इन अद्भुत पथिकों के प्रति उत्सुकता स्वाभाविक है। इस उत्सुकता

को पुरुष वर्ग ने तो संकोच वश दबाये रखा, किन्तु सरल हृदय देवियों ने प्रकट कर ही दिया। गोस्वामी जी के शब्दों में देखिये-

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेहँ सकुचाहीं।।
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ।।
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं।।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गवाँरी।।

(रा० २/११६-४ से ७)

सीता के समीप ग्रामीण स्त्रियाँ जाती हैं, किन्तु संकोचवश चाहते हुए भी कुछ पूछ नहीं पाती। बारम्बार उनकी चरणवन्दना करती हैं और स्वाभाविक सरल तथा कोमल वाणी में कहती हैं। यहाँ "लागहिं पाएँ" शब्द बिल्कुल ग्रामीण नारी जीवन की झाँकी व्यक्त कर रहा है। ग्रामवासियों को पहचानने में अब सन्देह नहीं रहा। जानती हैं कोई राजकुमारी ही हैं क्योंकि साथ के पुरुष सुन्दरता तथा शौर्य की साकार मूर्ति हैं। जानना केवल इतना ही है कि उनसे इनका सम्बन्ध क्या है। यह उत्सुकता भी नारी सुलभ स्वभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है। हे राजकुमारी! हमारी प्रार्थना है स्त्री स्वभाव से कुछ पूछना चाहती हैं, किन्तु डर भी लगता है। हे स्वामिनी ! हमारी इस धृष्टता को क्षमा करना, गंवारीनि जानकर बुरा न मानना। कुछ पूछने से पूर्व इतनी बड़ी भूमिका यह भी सरल हृदय का ही परिचायक है। पूछना क्या है-

राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।।

(रा० २/११६-८)

स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन।।

(रा० २/११६)

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।।

(रा० २/११७-१)

ये दोनों राजकुमार स्वभाव से ही सुन्दर हैं। मरकत मणि, पन्ना तथा स्वर्ण ने इन्हीं से आभा पाई है। श्याम-गौर वर्ण वाले सुन्दर किशोर दोनों ही शोभा के धाम हैं। शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान इनके मुख तथा शरद कमल के समान इनके नेत्र हैं। हे सुमुखी ! करोड़ों कामदेव को लज्जित करने वाले ये दोनों तुम्हारे क्या लगते हैं? प्रश्न को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ग्रामीण

देवियाँ वस्तुतः गँवारी नहीं हैं। इन्हें पन्ने और कनक का ज्ञान है। अतः गुंजा धारण करने वाली कोल-भीलों की स्त्रियाँ नहीं हैं। ये पठित भी लग रही हैं क्योंकि मनोज के सौन्दर्य की भी जानकारी है। सीता को शायद प्रसन्न करने के लिए ही विनोद में पूछ रही हैं, किन्तु लज्जालु स्वभाव वाली सीता अब इन ग्रामीण महिलाओं को क्या उत्तर दे-

**सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सिय मन महुँ मुसुकानी।।**
**तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।।**

**(रा० २/११७-२,३)**

उनकी स्नेहमय कोमल वाणी सुनकर सीता सकुचा गई और मन ही मन मुस्कराने लगी। हँसी मन में है अधर तक नहीं आने दिया। कारण कि कहीं वे अपनी इस अज्ञानता को उपहास न समझ लें। उत्तर में कुछ कहते भी नहीं बन पा रहा है। वर-वरणी श्रेष्ठ वर्णवाली अर्थात् गुणवाली सीता उनकी ओर विलोक कर फिर धरणी की ओर विलोकने लगी। वह दोनों ओर के संकोच से सकुचा रही है। बताने में लज्जा रूप संकोच है और न बताने में उन सरल हृदया ग्राम वधूटियों का निराशाजन्य दुःख। इन अर्धालियों में प्रयुक्त हुए वरवरणी तथा धरणी शब्द साभिप्रायी हैं। सीता धरणीसुता हैं इसका उल्लेख कवि ने कई स्थानों पर किया है यथा-

**धरनिसुता धीरजु धरेउ। समउ सुधरमु बिचारि।।**

**(रा० २/२८६)**

**धरि धीरज उर अवनि कुमारी।**

**(रा० २/६४-४)**

ग्राम वधूटियों की ओर निहारकर पुनः पृथ्वी की ओर निहारने का भाव यह है कि माता के सामने कैसे कहें कि वे क्या लगते हैं? यहाँ पर विलोकन शब्द भी भाव विशेष से देखने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उत्तर तो देना ही है किन्तु किसी और ढंग से-

**सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।।**
**सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे।।**

**(रा० २/११७-४,५)**

बाल मृगनयनी प्रेमयुक्त सकुचाते हुए कोकिल बयनी मधुर वाणी में बोली, जो सहज स्वभाव वाले सुन्दर गौर वर्ण के हैं इनका नाम लक्ष्मण है, ये मेरे छोटे

देवर हैं। नारी के लिए मितभाषी होना ही शोभनीय होता है। सरस्वती मुखरता के कारण ही कवि को सीता की तुलना में अनुकूल नहीं थी। सकुच स्वभावशीला सीता मितभाषिणी है। फिर यहाँ प्रश्न भी अटपटा सा है जैसे-

रामु मातु समीप कहत सकुचाहीं।

वैसी ही स्थिति सीता के सामने भी उपस्थित हो गई है। शायद यह प्रथम अवसर है जन-समूह के बीच प्रियतम का परिचय देने का। बाल मृगनयनी शब्द भी भाव गाम्भीर्य का अवबोधक है क्योंकि धरणि की तरफ देख रही है। संकोचयुक्त चितवनि में कवि उसी प्रकार की उपमा का प्रयोग करता है यथा-

जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।

(रा० १/२३२-२)

जनु सिषु मृगी सभीत।।

आदि इसके उदाहरण हैं। सीता बाल मृगनयनी नहीं अब मृगलोचनी है, युवा है-

मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।

किन्तु कवि ने भाव विशेष को अभिव्यंजित करने के लिए यहाँ. बाल मृगनयनी का सार्थक प्रयोग किया है। दूसरी अर्धाली के-

नामु लखनु लघु देवर मोरे।

(रा० २/११७-५)

में अभिधा नहीं लक्षणा का प्रयोग है। जहाँ वाच्यार्थ सटीक हो वह अभिधा है किन्तु जहाँ अन्य अभिव्यक्ति की तरह संकेत हो उसे लक्षणा कहते हैं। आर्य नारी पति का परिचय देने में लक्षणा का ही ऐसे अवसरों पर प्रयोग कर सकती है, किन्तु रसानुभूति की लालसा से ग्राम वधूटियों ने जो प्रश्न किया था उसकी पूर्ति नहीं हुई। सीता के वचन को सुनकर एक महिला ने अब स्पष्ट शब्दों में ही पूछ लिया-

सीस जटा, उर-बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहें।
तून सरासन-बान धरें तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं।।
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मनु मोहैं।
पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ साँवरे-से सखिं रावरे को हैं।।

(कवि०२-२१)

यहाँ चितै तुम त्यों में कवि ने अपने नायक की मर्यादा का कितनी

शालीनता से निर्वाह किया है-

**जेहि सपनेउँ पर नारि न हेरी।**

**(रा० १/२३१-६)**

अब सीता के वचन निकालने की गुंजायश ही न रही परिचय अवश्य ही देना पड़ेगा। तो क्यों न स्पष्ट मुँह उठाकर फटाक से कह दे कि वे मेरे पति हैं? नहीं, कदापि नहीं। फिर तो सारा रस ही समाप्त हो जायेगा। फिर लज्जाशीलता, सुशीलता तथा विजयशीलता की अतुलनीय गरिमा ही ढह जाएगी। जानकी भलीभाँति जानती है कि वे सयानी क्या चाहती हैं? अतः-

**सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकीं जानी भली।**
**तिरछै करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली।।**

**(कवितावली २/२२)**

इस भावाभिव्यक्ति की छटा इन अर्धालियों में देखिये-

**बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।।**
**खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि।।**

**(रा० २/११७-६,७)**

कितनी मोहक योजना है यह? माधुर्यपूर्ण भावाभिव्यक्ति का यह चारुत्व स्वयं में अनुपम है। लज्जावश अपने चन्द्रमुख को आँचल में छुपाकर प्रियतम को निहार, भौंहें टेढ़ी करके, खंजन पक्षी से मंजुल नयनों को तिरछा करते हुए सीता ने इशारे से उन्हें कह दिया कि वे मेरे पति हैं। वाह रे महाकवि! नारी हृदय की गहनतम अनुभूति तुम्हारे में धन्य है। फ़िर भी कुछ आलोचक तुम्हें नारी निन्दक की उपाधि देते हैं। सच है-

**काक कहहिं कल कंठ कठोरा।**

**(रा० १/७-१)**

इस निबन्ध का प्रयोजन मानस का साहित्यिक विवेचन नहीं है। फिर भी सरस भावाभिव्यक्ति के इस अनुपम कलाकौशल को देख विमुग्ध हृदय स्वयं की कृतज्ञता ज्ञापन करने के प्रलोभन का सम्वरण नहीं कर सका इसीलिए इन ग्राम वधूटियों में मिलकर वह भी निमग्न हो आनन्द लूटते हुए महाकवि की महिमामयी नायिका को आशीर्वाद देने की बजाये उसको ही धन्यवाद देने लगा। अब उनकी दशा भी देखिये जिन्होंने उन 'खंजनु मंजु तिरीछे नयनों' का प्रत्यक्ष दर्शन किया है-

**भईं मुदित सब ग्रामवधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।।**

**अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस।**
**सदा सोहागिनी होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस।।**

**(रा० २/११७)**

इससे अधिक प्रसन्नता की कल्पना भी तो नहीं की जा सकती इस सम्बन्ध में। ग्राम वधूटियाँ इस प्रकार प्रसन्न हैं मानों दरिद्रों को राज्य वैभव को लूट लेने की छूट मिल गई हो। अत्यन्त प्रेमवश होकर बार-बार पाँव भी पड़ती हैं और आशीर्वाद भी देती हैं, जब तक पृथ्वी शेष के सिर पर अवस्थित है तब तक तुम सौभाग्यवती रहो किन्तु मानव की प्रसन्नता मार्ग में चलते हुए छाया के विश्राम के सदृश्य क्षणिक है। राम की रुचि देख लक्ष्मण ने लोगों से आगे का मार्ग पूछा, यह संकेत था कि अब चलना है। सम्भावित वियोग ने नर-नारियों की खुशी छीन ली। अधीर हो स्नेहयुक्त वाणी में नारियाँ सीता से प्रार्थना करती हैं-

**जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी।**

**(रा० २/११८-२)**

**दरसनु देव जानि निज दासी। लखी सीयँ सब प्रेम पिआसी।।**

**(रा० २/११८-३)**

सीता उनकी प्रेम प्यास को समझती है अतः बड़ी आत्मीयता से आश्वासन देती हैं-

**मधुर बचन कहि कहि परितोषीं। जनु कुमुदिनीं कौमुदीं पोषीं।।**

**(रा० २/११८-४)**

'कहि-कहि' से अभिप्राय है कि एक नहीं सभी चाहती हैं कि दो शब्द सुमन उनके लिए भी झर जायें और ममता की मूर्ति सीता सभी को मधुर वचनों से सन्तुष्ट कर रही हैं। मानो चाँदनी ने कुमुदिनियों को विकसित कर संतुष्ट कर दिया हो। कुशल कलाकार ने कितना सजीव उस दृश्य का वर्णन किया है, इसका अनुभव वे लोग ही कुछ अंशों में कर सकते हैं जो ग्रामीण देवियों के सरल स्वभाव तथा सरल आत्मीयतायुक्त व्यवहार से कुछ परिचित होंगे। नारी की नारी के प्रति जानने की सहज उत्सुकता तथा उसकी विमुग्धता एवं सहानुभूति, स्नेहवन्दना; शुभाशीष आदि की स्वभावजन्य अभिव्यक्ति यहाँ साकार हो गई है। नारी जीवन का इतना सरल चित्रण उसके प्रति उपेक्षा भाव रखने वाला क्या कभी कर सकता है? गोस्वामी जी को नारी निन्दक का तकमा देने वालों को मानस के इन प्रसंगों को दुराग्रह मुक्त होकर पढ़ना चाहिए। वाल्मीकि की सम्मति अनुसार राम

चित्रकूट में निवास करने लगे। कोल-भीलों ने सुन्दर दो पर्णकुटी बना दीं-एक ललित लघु एक विशाल।

**लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।**
**सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत।।**

**(रा० २/१३३)**

वस्तुतः राम अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष विषाद से रहित हैं। सीता तो उनकी छाया है। जब राम में ही विषाद का लेश नहीं तो सीता में उसकी कल्पना कैसी? यहाँ "रति रितुराज समेत" मदन की उपमा देकर हरष-विषाद रहित रघुराऊ की यथार्थता चरितार्थ कर दी है। जिस अटल आस्था को लेकर सीता वन में राम के साथ आई थी उसमें नित्यप्रति वृद्धि हो रही है। उसे न तो कभी पितृ तथा ससुर गृह के ऐश्वर्य का ही ध्यान आया और न प्रियजनों का ही। उसके जीवन का समग्र सम्बन्ध प्राणपति में ही प्रतिष्ठित है। वन में भी उसने एक सुन्दर परिवार बना लिया जिसकी कल्पना वह अवध के राजमहल में ही मन ही मन करती थी-

**खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।**
**नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल।।**

**(रा० २/६५)**

वह कल्पना साकार हो गई। कुशल कथाकार महाकवि कथा का सांगोपांग कितना सुन्दर निर्वाह करता है यह स्वयं में अनुपम है। अपनी स्वामिनी की अभीप्सा को साकार रूप देते हुए गोस्वामी जी उसे चित्रित कर रहे हैं-

**राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी।।**
**छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी।।**
**नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी।।**
**सिय मनु राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा।।**

**(रा० २/१४०-१ से ४)**

नगर, परिवार तथा घर की सुधि विसार कर सीता राम के साथ सदा प्रसन्न रहती है। बारम्बार प्रियतम के मुख चन्द्र को निहारते हुए इस प्रकार आनन्दित रहती हैं जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर चकोर। प्रियतम का प्रेम नित्य नवीन वृद्धि को प्राप्त होता देख वह दिन में चकवी के समान हर्षित रहती है। सीता का मन श्रीराम चरणों में अनुरक्त है इसलिए वन उसको अयोध्या के समान प्रिय लगता है। यहाँ पर चकोरी और कोकी दोनों उपमायें सार्थक हैं। इसका अभिप्राय यह है

कि सीता अहर्निश राम में अनुरक्त हो प्रमुदित रहती है। यही तो राम से कहा था-

रहिहहु मुदित दिवस जिमि कोकी।

अब यहाँ उसका नया परिवार बहुत ही सुन्दर तथा सुखद है। सही रूप में गृहस्थाश्रम का रसास्वादन तो ऐसी ही स्थिति में होता है-

परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा।।
सास ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअ सम कंद मूल फर।।
नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई।।

(रा० २/१४०-५ से ७)

प्रियतम के साथ पर्णकुटी प्यारी लगती है। मृग और पक्षियों का प्रिय परिवार है। मुनिं पत्नियाँ सास के समान तथा श्रेष्ठ मुनिजन ससुर के समान स्नेह और संभाल करते हैं और कन्द, मूल, फलादि का आहार उसे अमृत के समान लगता है। सारांश यह कि वह अपने प्रियतम के साथ वन में रहते हुए देवदुर्लभ जीवन का आस्वादन कर रही है। राम की भी दिनचर्या में वही कुछ होता है जिससे सीता और लक्ष्मण आनन्दित रहें-

सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।।

(रा० २/१४१-१)

हाँ, सुहृदजनों की स्मृति में कभी-कभी राघव स्वयं दुःखी हो जाते हैं, उसमें भी-

सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेहु सीलु सेवकाई।।

(रा० २/१४१-४)

यह सब विशेष दुःख का कारण हो जाता है। राम को दुःखी देखकर लक्ष्मण और सीता भी उसी प्रकार दुःखी हो जाते हैं-

जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं।

(रा० २/१४१-६)

सीता और लक्ष्मण को दुःखी देखना प्रभु को प्रिय नहीं-

प्रिया बंधु गति लखि रघुनन्दनु। धीर कृपाल भगत उर चन्दनु।।
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता।।

(रा० २/१४१-७,८)

भक्तों के हृदय को शीतल करने वाले धीर-कृपाल रघुनन्दन सीता और लक्ष्मण की अधीरता को देखकर कोई पवित्र कथा सुनाने लगते हैं जिससे दोनों सुख प्राप्त करते हैं। प्राचीन इतिहास का यही प्रयोजन है कि उसके श्रवण से मनुष्य

को शान्ति मिलती है। मानव इतिहास में अब तक जितने भी प्रातः स्मरणीय महापुरुष हुए हैं सभी ने जीवन के कठोरतम यथार्थ को अपने धैर्य, उत्साह एवं विवेक के साथ संघर्ष करते हुए ही पार किया है। उनका आदर्श सदैव परवर्त्ती मानव समाज के लिए प्रेरणाप्रद हुआ करता है। धर्म के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले व्यक्ति के लिए पूर्व के महापुरुषों की पुनीत गाथायें अमृत संजीवनी वत् नवीन जीवन संचार का काम देती हैं। हम श्रीसीता राम के ही पुनीत चरित्र को देखें। वह युगों से ही अवसादग्रस्त भारतीय समाज को आश्वस्त कर जीवन संग्राम में विजयश्री को वरण करने की प्रेरणा देता आ रहा है। इसीलिए आर्य सनातन संस्कृति की संकटपूर्ण घड़ी में युगधर्म द्रष्टा परमर्षि गोस्वामी तुलसीदास ने सीयराम यश सलिल सुधा को प्रदान कर आकुल जनमानस में शीतलता का संचार किया। पराशक्ति तथा परमेश्वर की साकार विभूति को सीता-राम के रूप में अपने बीच में अनुभव करते हुए हिन्दू समाज निराशा को त्याग पुनः सजग होकर क्रूरकर्मा आततायी शत्रुओं के समक्ष खड़ा हो गया और इससे वह केवल स्वयं को सुरक्षित ही नहीं रख सका बल्कि दुर्दान्त शत्रुओं को परास्त करने में भी सफल रहा।

हिन्दू देवियों के लिए आज भी सीता और सावित्री आस्था के लिए प्रतिमान हैं। स्वधर्म रक्षा के लिए जिस तरह का बलिदान हिन्दू ललनाओं ने किया है, वह विश्व इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ इन देवियों के समक्ष सीता का आदर्श था, वहीं उन क्षत्राणियों के लिए प्रेरणा स्रोत भी जिन्होंने अपने स्वत्व की सुरक्षा में धधकती हुई ज्वाला को सहर्ष आलिंगन किया था। सीता के राम महान् हैं, वह स्वयं में उनसे भी महान् हैं क्योंकि अपने सर्वस्व का उन्हीं में विलय कर उनसे अभिन्न हो गई हैं। दाता ग्रहीता से सदैव महान् हुआ करता है, किन्तु उसमें दातापने की अभिज्ञा भी न रहे यह स्वर्गीय महत्ता की सीमान्त है। हम मानवीय धरातल पर सीता की उसी महत्ता का अनुभव करते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में उनको मानवीय सीमा से परे ले जाकर जगत् विधातृ रूप में प्रतिष्ठित कर देना मेरे विचार से मानवता के साथ अन्याय है। भावातिरेक में आस्थाभिभूत हो महाकवि ऐसे अवसरों पर इस प्रकार के उद्गार व्यक्त कर देते हैं यथा सीता के इस त्यागमय जीवन के विषय में-

**सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम विषय बिलासु।**
**राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आचरजु तासु।।**


फिर भी महाकवि सदैव उस देवी सीता के साथ जीवन के नित्य सम्बन्ध

की सूचना देते रहते हैं। जिस प्रकार पिता को पुत्र तथा माता को पुत्री अपना आदर्श मान जीवन पथ पर अग्रसर होते हैं उसी प्रकार विश्व के सभी नर-नारी उनकी सन्तति होने से उनके आदर्श जीवन का अनुगमन करें, यही उनकी रचना का प्रयोजन है। सुख-दुःख का कारण बाह्य नहीं आन्तरिक स्थिति हुआ करती है। राम, सीता और लक्ष्मण के साथ घोर जंगल में भी मंगल को अनुभव कर रहे हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में-

रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत।।

(रा० २/१४१)

इस दोहे से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी स्वर्गीय जीवन को इस धराधाम पर ही देखने के अभीप्सु हैं। वे मनुष्य के उदात्त गुणों द्वारा धरती का ही स्वर्गीकरण करना चाहते हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब गृहस्थ जीवन में राम जैसा पुरुष हो, सीता जैसी स्त्री हो और लक्ष्मण जैसा बन्धु हो। पुरुष के सुख-दुःख में भागीदार होना तथा अपनी क्रिया-कलाप द्वारा सदा उसको प्रमुदित करना नारी का स्वधर्म है और सदैव सर्वविधि संभाल करते हुए नारी को सुखी रखना पुरुष का कर्त्तव्य है। दम्पत्ति के इस प्रकार के परस्पर व्यवहार पर ही पारिवारिक जीवन की पावनता सुरक्षित रह सकती है। परिवार की पावनता ही सामाजिक सुन्दरता में उत्तम घटक बनती है। विश्व के सुखद स्वरूप की कल्पना को साकार बनाने के लिए पारिवारिक पावनता अनिवार्य है। इस सत्य को प्रत्यक्ष करने वाली ऋषि मनीषा 'धन्योः गृहस्थाश्रमः' का गुणगान करती है। नारी परिवार की पवित्रता की धुरी है। अतः उसकी दृढ़ता अनिवार्य है। नारी को दृढ़ तथा सम्पुष्ट बनाने वाले तत्त्वों में पुरुष का अक्षुण्ण प्यार प्रमुख रसायन है-

नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें।।

(रा० २/१४२-१)

जिस प्रकार पलकें नेत्र गोलक की संभाल करती हैं इसी प्रकार श्रीराम प्रियतमा सीता तथा अनुज लक्ष्मण को संभालते हैं। यदि परिवार का मुखिया प्रियजनों की इस प्रकार संभाल करता है तो स्वर्ग के वैभव को वह भूमि पर ही उतार लाता है। उसका जीवन फिर केवल उसके तथा उस सीमित परिवार के लिए ही हितप्रद नहीं होता बल्कि प्राणी मात्र के लिए मंगल का सृजन करता है-

**एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी।।**

**(रा० २/१४२-३)**

इस अर्धाली से यही उत्तम भाव ध्वनित होता है। सीताराम के इस वनवासी जीवन में धर्म संकट की घड़ी तब उपस्थित हो गई जब प्रजा और परिवार के साथ महात्मा भरत उन्हें अवध लौटा ले जाने की प्रार्थना लेकर चित्रकूट में आ गये। राम के लिए वह परीक्षा की घड़ी थी। उन की मनः स्थिति का अनुमान महाकवि की इस अर्धाली से लगाया जा सकता है "उत पितु वच इत बन्धु सकोचू" किन्तु द्वन्द्वात्मक दशा होगी। ऐसी स्थिति में राम के लिए समाधान का एक ही आधार था- महात्मा भरत की विवेक शीलता, सज्जनता तथा आज्ञा पालकता। शुद्ध, सात्त्विक हृदय पटल पर स्वभावतः भविष्य में घटने वाली घटनाओं की छाया आ जाती है। इस मनोविज्ञान के आधार पर भविष्य में घटने वाली घटनाओं का स्वप्नावस्था में पूर्व आभास हो जाता है। मानस में इस तथ्य का कई स्थलों पर उल्लेख है। भरत के चित्रकूट आगमन का पूर्वाभास विशुद्ध चेता सीता को स्वप्न में ही हो जाता है-

**सहित समाज भरत जनु आए।**

**(रा० २/२२६-४)**

तथा- 'देखी सासु आन अनुहारी' में दशरथ की मृत्यु का भी संकेत है। राम जानते हैं कि सीता के विशुद्ध मानस पटल पर स्वप्नावस्था में जो कुछ भी अंकित हुआ है, यह यथार्थ का पूर्वाभास है। अतः-

**सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोच बस सोच बिमोचन।।**

**(रा० २/२२६-६)**

अपना निश्चय प्रकट करते हुए कहते हैं-

**लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।।**

यहाँ पर नारी के स्थिर तथा विशुद्ध चित्त की पावनता पर राम का अटूट विश्वास देखिए। साथ ही मानस में रावण द्वारा नारी के विषय में व्यक्त किये हुए विचार जिसमें वह-

**साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असोच अदाया।।**

**(रा० ६/१६-३)**

को उसका स्वाभाविक अवगुण घोषित करता है। कितना वैषम्य है इन दोनों धारणाओं में। जो लोग मानस में नारी अवमानना की बातें करते हैं उनके

लिए यह प्रसंग मननीय है।

चित्रकूट में कई सभायें होती हैं, यहाँ तक की एक महिला सभा भी होती है, किन्तु हमें इसमें सीता का कहीं दर्शन नहीं होता। सीता अपने धर्मक्षेत्र तथा कर्मक्षेत्र को अच्छी प्रकार से जानती है, वह अपने कर्त्तव्य में रत है। सतर्कता इतनी है कि जनकपुरवासी जो महाराज मिथिलेश के साथ चित्रकूट आए हैं उनसे मिलने के लिए वह सास की आज्ञा के बिना नहीं जाती। मानस में महाकवि ने सनातन संस्कृति की मर्यादा में पली हुई नारी के आदर्शमय जीवन को सीता के चरित्र में चित्रित किया है। वह केवल शील, सौन्दर्य व लज्जा की ही साक्षात मूर्ति नहीं है, उसमें आन्तरिक सुकुमारता के साथ ही समुद्रवत् गम्भीरता तथा धरनी के समान अचल धैर्य भी है। हम समाज में देखते हैं कि अधिकांश पारिवारिक जीवन के विखण्डित होने में नारी की मुखरता ही कारण होती है। मैं समझता हूँ कि महिला जगत् को सीता के इस गंभीर जीवन से युगों तक परिवार को पावन बनाने वाली यह शिक्षा प्राप्त होती रहेगी। भरत की माता ने राम को वनवासी बनाया है, किन्तु सीता के हृदय में कैकेई के प्रति किंचित भी आमर्ष नहीं है। भरत के प्रति भी उसका अगाध स्नेह है। भरत को यद्यपि यह विश्वास है कि सीता-राम उनकी निर्दोषता को जानते हैं और इस विश्वास को उन्होंने प्रकट भी किया है-

**परिहरि रामु सींय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं।।**

**(रा० २/१८२-३)**

किन्तु हृदय में एक भय सा बना रहा यह सोचकर कि कहीं कानन के कष्टमय जीवन ने सीता में उनके प्रति उपेक्षा उत्पन्न न कर दी हो। जब चित्रकूट में आकर सीता के चरणों में लुण्ठित हो गए और सीता ने अपने स्नेहासिक्त करकमलों को करुणा के साथ उनके सर पर फेरते हुए मन ही मन आशीष देकर उठाकर बैठाया तो किंचित् जो भय था वह भी जाता रहा। उस दृश्य को महाकवि के शब्दों में ही देखिये-

**सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पदुम परागा।।**
**पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए।।**
**सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेहँ देह सुधि नाहीं।।**
**सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता।।**

**(रा० २/२४२-३,४,५)**

भारतीय संस्कृति में सम्बन्धगत भाव की प्रधानता है क्योंकि पारिवारिक

जीवन का सारा व्यवहार इसी पर निर्भर होता है। भरत राम से कुछ घण्टों ही छोटे हैं। शारीरिक अवस्था में सीता भरत से बहुत छोटी है, किन्तु आर्य संस्कृति में बड़ी भाभी को मातृवत् पूज्या स्वीकार किया गया है। इस भाव का ही यह परिणाम है कि भरत शत्रुघ्न सीता के चरण रज को मस्तक पर धारण करते हैं और सीता स्नेह में निमग्न हो उनके सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दे रही हैं। कितनी पावन प्रेरणा है इस आदर्शमय दृश्य में परिवार को पावन बनाने की। सारा परिवार चित्रकूट में आ गया है यह सीता को ज्ञात हो गया है, किन्तु धरणि सुता को अधीरता नहीं है। मिलने की प्रतीक्षा वह अपने स्थान पर ही करती हैं। गुरुदेव के साथ सारे परिवार को लेकर राम आश्रम पर आते हैं। मर्यादानुसार सर्वप्रथम-

**सीय आइ मुनिबर पग लागी। उचित असीस लही मन मागी।।**
**गुरपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली पेमु कहि जाइ न जेता।।**
**बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के।।**

**(रा० २/२४६-१,२,३)**

चरंणवन्दना का क्रम भी मर्यादानुसार ही है। गुरु सर्वश्रेष्ठ हैं उनका चरण स्पर्श सर्वप्रथम उचित है। गुरु पत्नी तथा मुनियों की स्त्रियों का चरण वन्दन करके हृदय को प्रिय लगने वाले वा प्रियतम के चिरंजीवी होने का आशीर्वाद प्राप्त किया। फिर-

**सासु सकल जब सीयँ निहारीं। मूदे नयन सहमि सुकुमारीं।।**
**परीं बधिक बस मनहुँ मरालीं। काह कीन्ह करतार कुचालीं।।**

**(रा० २/२४६-४,५)**

सुकुमारी सीता ने जब सासुओं को देखा तो सहमकर नेत्र बन्द कर लिए। उसका कोमल हृदय उस दृश्य को देख नहीं सकता था। वह सोचने लगी विधाता ने क्या अनर्थ कर डाला। सासुओं की दशा ऐसी थी जैसे हंसनियाँ बधिक के फन्दे में फँस गई हों। मूदे नयन में कितनी अन्तर वेदना भरी है सुकुमारी सीता इसको देखने में सक्षम नहीं। सासुओं को भी सीता को वनवासिनी वेश में देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। दैवी विधान में जो भी कुछ हो उसे सहना ही पड़ता है-

**जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील नलिन लोयन भरि नीरा।।**
**मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई।।**

**(रा० २/२४६-७,८)**

**लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।**

हृदयँ असीसहिं पेम बस रहिअहु भरी सोहाग।।

(रा० २/२४६)

कितना करुण दृश्य था वह ! इसकी अनुभूति केवल इतने से ही की जा सकती है कि -

तेहि अवसर करुना महि छाई।

(रा० २/२४६-८)

इन सासुओं में कैकेयी भी है, किन्तु सीता को उससे कोई द्वेष नहीं है। सबके चरण वन्दन कर अनुराग से हृदय लग रही है। राम तो माताओं में सर्वप्रथम कैकेयी से ही मिले हैं-

प्रथम राम भेंटी कैकेई।

(रा० २/२४४-७)

जब तक अवधपुरवासी चित्रकूट में रहे सीता का केवल एक ही कार्य था, सासुओं की सेवा। इतनी तन्मयता से समान रूप से तीनों सासुओं की सेवा करती है कि किसी को पता भी नहीं लगता-

सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।।
सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं।।

(रा० २/२५२-२,४)

उसकी सेवा भाव तथा सरलता को देख कर कैकेयी अपनी कुटिलता पर पश्चाताप करती है-

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।।

(रा० २/२५२-५)

अब तीर हाथ से निकल चुका था, हो ही क्या सकता है?

महि न बीचु बिधि मीचु न देई।

(रा० २/२५२-६)

कुसंग के आवेश में आकर परिवार में विघटन पैदा करने वाली महिलाओं को इससे सीख लेनी चाहिए अन्यथा बाद में पश्चाताप ही हाथ लगता है। केवल मृत्यु ही उसकी उपेक्षा नहीं करती, बल्कि नरक में भी उसे मुँह छिपाने के लिए थल नहीं मिलता। परिवार को विखण्डित होने से बचाने की प्रेरणा सीता के जीवन से ग्रहण करनी चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि मानव एक निर्बल प्राणी है। उसमें भी-

**हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना।।**

**(रा० १/११६-७)**

ज्ञान-अज्ञान, अहमिति-अभिमान, हर्ष-विषाद ये जीव के धर्म हैं। पूर्ण पवित्रात्मा दैव योनि को प्राप्त होता है और पूर्ण पापात्मा तिर्यक योनि को। मनुष्य जीवन पुण्य तथा पाप दोनों का मिश्रित परिणाम है। इस रहस्य को जानते हुए किसी सुहृद द्वारा किया गया कुटिल व्यवहार उसके किसी पाप विशेष का ही परिणाम समझना चाहिए। अज्ञानता में ही कुटिल कार्य की प्रवृत्ति जागृत होती है किन्तु अज्ञानता नित्य नहीं है। ज्ञानोदय के पश्चात् उसकी कहीं गन्ध नहीं रह जाती। इस ज्ञान-अज्ञान में सुसंग और कुसंग ही कारण होते हैं-

**बिनसइ उपजइ ग्यान जिमी पाइ कुसंग सुसंग।**

**(रा० ४/१५-ख)**

सीता जीवन के इस यथार्थ से परिचित है क्योंकि वह जनकराज की पुत्री तथा श्रीराम की प्रिया हैं। जगत् तथा जीवन के मर्म को जानने वाला ही व्यवहार को कुशलता से निभा पाता है। यही कर्म कुशलता गीता की भाषा में योग है। सीता अपनी व्यवहार कुशलता से ही कुटिल रानी को अपनी कुटिलता पर पश्चाताप करने को विवश कर देती है। पश्चाताप वह पावन नीर है जिससे अन्तर का कल्मष धोया जाता है।

भरत लौटाने की प्रार्थना लेकर आए हैं। इस सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी सभाएँ हो रही हैं, किन्तु सीता को इससे कोई प्रयोजन नहीं। प्रियतम की छत्रछाया में रहते हुए गुरुजनों की सेवा यही वह अपना कर्मक्षेत्र मानती है। वह जानती है कि उसके करुणामय प्रभु परमं विवेकी हैं। अतः पारिवारिक समस्याओं में मुखर होने की उसे आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। कितना महान् धैर्य है इस आर्य नारी में। तभी तो अपने पारिवारिक जीवन को आदर्श रूप में प्रस्तुत कर राम ने एक ऐसे आदर्श राज का सृजन किया जो- "न भूतो न भविष्यति।"

पितृ परिवार के प्रति नारी का सहज लगाव होता है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि उसी परिवार में वह सर्वप्रथम आँख खोलती है, उसी की गोद में लालित होकर जीवन के प्रभात का दर्शन करती है, उसकी शिराओं में उसी परिवार का रक्त संचरित होता है, किन्तु विवाह के पश्चात् उसका जीवन क्षेत्र बदल जाता है। नारी एक सर्जना शक्ति है उस शक्ति का समुचित उपयोग पितृ गृह में रहकर नहीं हो पाता क्योंकि उस शक्ति को आन्दोलित कर सृजनोन्मुख करने की

आवश्यकता होती है। इसके लिए उससे श्रेष्ठ तथा सबल गुणों से युक्त पुरुष ही श्रेष्ठ साधन होता है। आर्य संस्कृति में इस वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर मनीषियों ने अनुलोम रूप में स्त्री पुरुष के विवाह सम्बन्ध की व्यवस्था की है जिसका अभिप्राय है सृजन के लिए श्रेष्ठ सृजक सत्ता के समक्ष शक्ति का समर्पण। इस समर्पण के पश्चात् नारी श्वसुर कुल की सृजनात्मिका शक्ति होती है। अब उसकी सम्भाल का भार उस परिवार पर ही अवलम्बित होता है। ऐसी अवस्था में वह श्वसुर कुल के गुरुजनों की आज्ञानुवर्ती होती है। यही कारण है कि सीता सासुओं से आदेश प्राप्त कर फिर प्रियजनों, परिजनों से मिलने जाती है। वह भी स्वयं नहीं, महारानी सुनयना स्वयं कौशल्या से इसके लिए आवेदन करती हैं। कितने महान् आदर्शमय परिवार हैं दोनों। आज भी भारत में इस प्रकार के परिवार का दर्शन यत्र-तत्र मिलता है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आधुनिकता की आँधी में ढहते हुए पारिवारिक जीवन मूल्यों के प्रासाद को देख आशंका होने लगती है कि कहीं यह पवित्र परम्परा विछिन्न न हो जाए। फिर भी ऐसी स्थिति में युग धर्म-द्रष्टा परमर्षि गोस्वामी जी की अमर कृति श्रीरामचरितमानस के प्रति बढ़ता हुआ जनमानस का झुकाव आशा की एक किरण प्रदान कर हृदय को आश्वस्त कर देता है। मानस की सीता को पढ़ने वा सुनने वाला नारी समाज अवश्य ही अपने गौरव के प्रति सजग होगा यह मुझे पूर्ण विश्वास है। पितृकुल के मोह में आकर पति कुल के परिवार को विखण्डित करने की कुचेष्टा करने वाली महिलाओं को भी सीता के चरित्र से सीख लेनी चाहिए। चित्रकूट में माता सुनयना के साथ सीता प्रियजनों से मिलने जाती हैं, किन्तु वह सोचती हैं कि

**इहाँ बसब रजनीं भल नाहीं।**

**(रा० २/२८७-७)**

कितनी सतर्कता है अपने कर्त्तव्य के प्रति, किन्तु संकोचशीला यह स्पष्ट नहीं कह सकी, रुख से संकेत करती है-

**लखि रुख रानि जनायउ राऊ। हृदयँ सराहत सीलु सुभाऊ।।**

**(रा० २/२८७-८)**

और वह सासुओं की सेवा के लिए लौट आती है। ऐसी पुत्री पर किस पिता को गर्व नहीं होगा। महाराज जनक का यह उद्गार अक्षरशः सत्य है-

**पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ।।**

**(रा० २/२८७-२)**

प्रेम पालित बालिका के हृदय में माता-पिता के प्रति ममत्व का होना स्वाभाविक है। किन्तु कर्त्तव्य का पथ बहुत कठोर है इसलिए-

**सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।**
**धरनिसुताँ धीरजु धरेउ समउ सुधरमु बिचारि।।**

**(रा० २/२८६)**

इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीता को अपने माता-पिता में अगाध प्रेम है और पिता के प्रेम की भी एक झलक इन पंक्तियों में देखिये-

**जनक राम गुर आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई।।**
**लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन पेम प्रान की।।**

**(रा० २/२८६-३,४)**

जनक जी जानकी को पावन प्रेम और प्राणों की पाहुनी जानकर हृदय से लगा लेते हैं। महाकवि एक रूपक के द्वारा विदेह की मनः स्थिति को चित्रित करते हैं-

**उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू।।**
**सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा।।**
**चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु।।**
**मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की।।**

**(रा० २/२८६-५,६,७,८)**

हृदय में अनुराग उदधि उमड़ पड़ा, राजा का मन मानों प्रयाग हो गया। उस उदधि के अन्दर उन्होंने सीता के स्नेह रूपी अक्षय वट को बढ़ते देखा, उस पर राम प्रेम रूपी बालक सो रहा था। राजा का ज्ञान रूपी चिरंजीव मुनि व्याकुल हो डूबते-डूबते मानों उस राम प्रेम रूपी बाल मुकुन्द का अवलम्बन पाकर बच गया। पुराण विदित मार्कण्डेय ऋषि का प्रलय दर्शन तथा तीर्थराज प्रयाग के अक्षय वट पत्र पर प्रलय काल में भी बाल मुकुन्द भगवान् को शयन करते हुए देखकर व्याकुलता से डूबते हुए बच जाने की कथा के दृष्टान्त से गोस्वामी जी ने जनक के प्रेम की अगाधता में सीता के स्नेह वट पत्र पर राम प्रेम रूपी शिशु को देखकर उनके ज्ञानरूपी मार्कण्डेय को डूबते हुए बच जाने का कुशलता के साथ सुन्दर कलात्मक रूप में चित्रण किया है। माता-पिता के अगाध प्रेम ने भी सीता को कर्त्तव्य पालन में एक रात्रि के लिए भी विरत न किया और वह ससम्मान विदा लेकर सासुओं की सेवा में उपस्थित हो जाती है। दोनों राज समाजों की चित्रकूट

की वापसी भी एक करुणामय दृश्य है। सीता वहाँ भी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं होती-

**परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्रानप्रिय प्रेम पुनीता।।**
**करि प्रनामु भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हियँ न हुलासू।।**
**सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहु प्रीति समाई।।**

**(रा० २/३२०-१,२,३)**

प्राण-प्रिय प्रेम पुनीता से कवि का संकेत है कि माता-पिता की ममता उस प्रेम में किंचित् भी अन्तर न ला सकी। दोनों परिवारों के प्रेम में निमग्न हो कर वह उनके प्रति अपने अगाध अनुराग को प्रकट करती है, किन्तु वह अनुराग धर्म साधन में बाधक नहीं साधक है-

**सुनि सिख अभिमत आसिष पाई।**

**(रा० २/३२०-३)**

आदि शब्द इसी आशय को प्रकट करते हैं-

**गुर गुरतिय पद बंदि प्रभु सीता लखन समेत।**
**फिरे हरष बिसमय सहित आए परन निकेत।।**

**(रा० २/३२०)**

सभी प्रियजनों को विदा करके-

**प्रभु सिय लखन बैठि बट छाहीं। प्रिय परिजन वियोग बिलखाहीं।।**
**भरत सनेह सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी।।**
**प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेम बस बरनी।।**
**तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना।।**

**(रा० २/३२१-३ से ६)**

वियोग की अवधि थोड़ी नहीं चौदह वर्ष है। जिन प्रियजनों से पल भर भी विलग रहना प्रिय नहीं उनसे चौदह वर्ष का बिलगाव कितना पीड़ाप्रद होगा, किन्तु कर्म की भूमि बहुत कठोर है। महानता के उच्चतम शिखर को छूने के लिए कितने महान् तप की आवश्यकता होती है इससे हम उसका अनुमान लगा सकते हैं। भरत के स्नेहासिक्त स्वभाव, विनम्र कोमल वाणी, मन, कर्म, वचन से अपने प्रति प्रेम और अटूट विश्वास के राम कायल हैं। स्वयं श्रीमुख से उनकी प्रशंसा करते हैं, किन्तु फिर भी उनकी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं-

**सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।।**

**सो मैं सत्य सुलभ करि पावा। ते जेतिहूँ पुर अपजस छावा।।**

**(रा० २/२८-६,७)**

यही समझा कर भरत को चौदह वर्ष के लिए धैर्य के साथ प्रजापालन का उपदेश देते हैं-

**जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती।।**
**समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मन की।।**
**तुम्हहि बिदित सबही कर करमू।आपन मोर परम हित धरमू।।**

**(रा० २/३०५-१,२,३)**

भरत की विवेक शीलता को प्रत्यक्ष अनुभव किया है और विश्वास भी है-

**भरत कहे महुँ साधु सयाने।**

**(रा० २/२२७-५)**

अतः अन्त में कहते हैं-

**सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू।।**

**(रा० २/३०६-३)**

गोस्वामी जी वेदमत के साथ लोकमत का भी आदर करते हैं क्योंकि व्यक्ति तथा समाज के विकास में दोनों ही सहायक होते हैं। लोकमर्यादा में कुल धर्म, जाति धर्म आदि का मुख्य स्थान होता है यदि वह आत्म धर्म में बाधक नहीं है तो अवश्य पालनीय है। आत्म धर्म का प्रमुख उद्देश्य लोक हित की साधना है जिसमें भोग नहीं त्याग ही साधक का सम्बल बनता हैं। हम राम तथा उनके परिवार को इस आत्म धर्म की साधना में रत तथा त्याग रूपी सम्बल युक्त पाते हैं। सभी के सभी इस साध्य की उपलब्धि वा साधना की सफलता के लिए बड़े-बड़े बलिदान के लिए सदैव तत्पर दिखाई देते हैं। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति अनुसार इस लोक की साधना के फल रूप में ही राम राज्य की प्रतिष्ठा हुई थी जो युगों से मानव समाज के लिए आदर्श बना हुआ है। लोकहित साधन की निष्ठा के लिए राम चित्रकूट की पर्णकुटी में विराजित हैं। प्रिय परिजन वियोगजन्य कुहासे को कर्त्तव्य निष्ठा की प्रखर किरणों ने खा लिया है-

**सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।**
**भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर।।**

**(रा० २/३२१)**



इस लोक मंगल साधन की साधिका शक्तिरूपा सीता राम के साथ भक्ति

की साकार प्रतिमा ही सुशोभित हो रही हैं। जिस प्रकार श्रद्धा-भक्ति के बिना कोई भी साधक अपने साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता, उसी प्रकार राम के लिए सीता तथा पुरुष के लिए नारी का महत्त्व है। उपर्युक्त दोहे में गोस्वामी जी ने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है।

सीता के जीवन में सबसे सुखद समय कौन सा रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं। कुछ विद्वान बाल्यकाल से लेकर वनगमन से पूर्व तक का समय मान सकते हैं, कुछ की राय से नारी में पूर्ण सुखानुभूति पुरुष के स्नेह सम्बन्ध में आबद्ध होने पर ही हुआ करती है, इसलिए विवाह के बाद तथा वनगमन से पूर्व का समय ही सीता का सबसे सुखद समय कहा जा सकता है। कुछ का मत यह है कि नारी में स्वभावतः ऐश्वर्य पर प्रभुत्व की महत्त्वाकांक्षा होती है, सीता के लिए वनवास से लौट कर साम्राज्ञी के पद पर आसीन होने से अन्त तक का समय ही सबसे सुखद समय कहा जा सकता है क्योंकि वाल्मीकि रामायण की अन्तरंग परीक्षा होने पर अब यह बात सिद्ध हो गई है कि राम राज्य के बाद की सीता वनवास वा सीता त्याग की कथा आदिकवि की रचना नहीं है, यह प्रक्षिप्त अंश आदिकवि के बहुत बाद बल्कि महाभारत काल के भी बहुत बाद में उसमें जोड़ा गया है। किस आशय की पूर्ति के लिए राम के पावन चरित्र को दूषित करने वाले इस अन्यायपूर्ण कार्य को उनके साथ जोड़ा गया कहा नहीं जा सकता।

वाल्मीकि रामायण की नारद कथित मूल रामायण में इस प्रक्षिप्त अंश का कोई संकेत नहीं है। इसी प्रकार महाभारत के रामोपाख्यान में भी इसका ज़िक्र नहीं है। यह याद रखना चाहिए कि महाभारत भारतीय इतिहास का विश्वकोष है अतः इतनी महत्त्वपूर्ण घटना का उसमें न होना प्रक्षिप्त का सूचक है। उसके परवर्ती कुछ प्राचीन पुराणों में भी सीता त्याग की कोई कथा नहीं मिलती। ऐतिहासिक दृष्टि से सीता त्याग तथा लवकुश युद्ध आदि की कहानी बहुत बाद की गढ़ी हुई है। महाकवि गोस्वामी जी भी इस तथ्य से परिचित थे अतः उन्होंने महाकाव्य मानस में इसको स्थान नहीं दिया इसलिए जानकी के जीवन का सबसे सुखद काल राज्याभिषेक के बाद ही कहा जा सकता है। सीता के प्रकृत स्वभाव को देखते हुए कई विद्वानों ने यह अनुभव किया है कि सीता जैसी नारी के जीवन का सबसे सुखद काल राम के वनगमन के बाद से लेकर रावण द्वारा हरी जाने के पूर्व लगभग तेरह वर्षों को ही माना जाना चाहिए। मेरे विचार से भी वनवासी

जीवन ही सीता के लिए सर्वश्रेष्ठ सुख का संदोह रहा होगा। नारी स्वभावतः प्रकृतिप्रिय होती है। प्राकृतिक वातावरण में व्यवधानरहित प्रियतम के प्यार से अधिक उसके लिए कुछ प्राप्तव्य नहीं होता। वह उन्मुक्त वातावरण जो काननवास के समय सीता को मिला था बहुत कम नारियों के भाग्य में होता है। एकान्त उपासना का इससे सुन्दर अवसर ही कहाँ मिल सकता है? यही तो सीता की आन्तरिक चाह थी "सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं"उसके लिए स्वर्ण अवसर मिल गया था। सात्त्विक स्नेह की पिपासु नारी अधिकार तथा ऐश्वर्य की महत्ता को कभी भी स्वीकार नहीं करती। वे नारियाँ और होती हैं जिनको प्रभुता से प्यार होता है। सीता ने स्वयं के लिए उसकी सराहनीयता तथा व्यर्थता का निदर्शन किया है-

**तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान।**

**(रा० २/६४)**

वस्तुतः प्रियतम के साथ वह-

**अवध सौध सत सरिस पहारू।**

**(रा० २/६६-३)**

का अनुभव करती रही है। समय-समय पर महाकवि उसी का मदन रति, वासव सचि तथा ज्ञान-भक्ति की उपमा से संकेत कर रहे हैं। प्रियतम के साथ पर्णकुटी में सीता कितनी आनन्दित रहती रही होंगी इसकी कल्पना तो कोई प्रियतम की प्रेम पिपासिनी, एकान्त अनुरागप्रिय सात्त्विक नारी ही कर सकती है। जिस प्रकार से सीता प्रसन्न रहती है-

**सीय लखन जेहि विधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।।**

**(रा० २/१४१-१)**

बस इससे अधिक और उसे क्या चाहिए था! अवध का जीवन मर्यादा में आबद्ध था वहाँ राम के समक्ष केवल सीता की प्रसन्नता का ही प्रश्न नहीं बल्कि समस्त परिवार तथा प्रजाजन की प्रसन्नता की चिन्ता थी।

**जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।।**

**(रा० १/२०५-५)**

आदर्श राजा के लिए यही करणीय भी है, किन्तु वनवास के समय पुत्रवत् स्नेह भाजन लखन तथा प्राणप्रिय सीता की सुख-सुविधा के सिवा राम के समक्ष लगभग तेरह वर्षों तक और दूसरा कोई करणीय कार्य नहीं रहा। उसमें भी लक्ष्मण तो स्वयं ही सीता-राम की सेवा के लिए उनका अनुगमन कर वन में आए

हैं। उनकी आराध्या माता सुमित्रा का आदेश है-

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं।।

(रा० २/७५-९)

माता ने अपने पुत्रवती होने की सार्थकता ही इसी में मानी है।

सिय-रघुबर-सेवा सुचि ह्वैहौ तौ जानिहौं, सही सुत मोरे।

(गीतावली २/११-३)

औंर लक्ष्मण ने इसे साकार करके दिखाया-

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।।

(रा० २/१४२-२)

जिस प्रकार अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा, सँभाल करता है उसके लिए वह परिवार, समाज ही नहीं, बल्कि विश्व का सर्वस्व और अपना जीवन तक समर्पित कर देता है, उसी प्रकार अपना सर्वस्व समर्पित कर लक्ष्मण सीय-राम की सेवा में रत रहते हैं। फिर जहाँ प्राणनाथ प्रिय देवर साथ हों और प्रियतम प्रेम से तथा देवर सेवा से सदैव सँभाल करता हो वहाँ सीता के सुख की सीमा कहाँ? वह सचमुच प्राकृतिक वैभव की साम्राज्ञी हैं। इस सात्त्विक ऐश्वर्य के समक्ष त्रिलोकी का वैभव तुच्छ है।

राघव अपने हाथों से स्वयं सुमन चुनकर लाते हैं। स्वयं ही उससे विविध प्रकार के आभूषण बनाते हैं। अपने करकमलों से उन्हें सीता के अंग-प्रत्यंगों में पहनाते हैं। प्रियतम द्वारा इस प्रकार के सत्कारयुक्त प्यार को प्राप्त करने का सौभाग्य क्या किसी साम्राज्ञी को नसीब हो सकता है? क्या उन कुसुम निर्मित आभूषणों की समता नाना रत्नजड़ित स्वर्गाभूषण कर सकते हैं? कितना सुन्दर है, कितना मधुर है, कितना प्रसादप्रद है यह सीताराम का वनवासी जीवन? मर्यादित भाषा में महाकवि द्वारा वर्णित प्रिया-प्रियतम की एक झाँकी देखिये-

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितानकी।
मंदाकिनी-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगानकी।।
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुन्दर गिरी निरझर झर,
जन-कन घन-छाँहँ, छन प्रभा न भानकी।

सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंच बानकी।।
बिरचित तहँ परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम-पानकी।।
सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक-करनि का कहौं कलानिधानकी।
माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी।।

(गीतावली २/४४)

मर्यादित श्रृंगार रस का कितनां सजीव चित्रण है 'प्यास परसपर पीयूष प्रेमपानकी' में माधुर्य का कितना चारुत्व है? सुमननि भूषण-बिभाग ही नहीं बल्कि धातु राग भी स्वयं सिय अंग में लिखते हैं और कलानिधान तिलक भी स्वयं ही करके प्राण वल्लभा को श्रृंगारित करते हैं। प्रकृति की छटा चारों ओर छिटक रही है ऐसे मधुमय वातावरण में जहाँ ऋतुराज सब ऋतुओं में विराजित रहता है, एकान्त पर्णकुटी में प्रिया-प्रियतम मधुर हास-विलास करते हैं। ऐसा एकान्त, प्रियतम का प्यार सर्वस्व समर्पिता विश्व वैभव को तृणवत तिलांजलि देने वाली सीता ऐसी देवी के सौभाग्य में ही हो सकता है। तृतीय सोपान के प्रारम्भ में इसी प्रकार एक दिन की मधुर हास-विलास की वेला में जयन्त द्वारा सीता के चरणों में चोंच प्रहार की घटना का उल्लेख है। यह घटना वाल्मीकि रामायण में भी वर्णित है। गोस्वामी जी ने काग के रूप में इन्द्र रूप जयन्त द्वारा किया गया यह निकृष्ट कार्य बताया है। राम उपासक वैष्णव सम्प्रदाय में एक शाखा रसिक सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित है। उसका कथन है कि भगवान् श्रीराम श्रीसीता जी के साथ सदैव चित्रकूट में विहार करते हुए रास-विलास किया करते हैं। उस सम्प्रदाय के मत से चित्रकूट में रहते हुए श्रीराम ने एक हज़ार नौ सौ निन्यानवे महारास किया था जिसमें देवांगनायें आकर भाग लिया करती थीं। उन्हीं देवांगनाओं में जयन्त की पत्नी भी थी। इसका समाचार कहीं से जयन्त को लग गया और वह राम के प्रति ईर्ष्या से व्याकुल हो गया। राम के सामर्थ्य की परीक्षा लेने के लिए जिस दिन आखिरी महारास की तैयारी कर रामेश्वरी श्रीसीताजी को स्वयमेव सर्वरूप में

श्रृंगारित कर दिव्य फटिकशिला पर उनकी गोद में सिर रख कर विश्राम कर रहे थे, उसी समय जयन्त ने आकर चोंच से प्रहार कर दिया जिससे वह रासरस भंग हो गया। जयन्त को तो एक नेत्र करके राम ने प्राणदान दे दिया किन्तु अन्तिम रास की पूर्ति अपने कृष्णावतार में करने का आश्वासन दे सुर देवियों, वन देवियों आदि को विदा किया। राम उपासकों में रसिक सम्प्रदाय का आविर्भाव कृष्ण उपासना के अनुकरण पर बहुत बाद में हुआ है तत्सम्बन्धी साहित्य भी अर्वाचीन है। फिर भी सोलहवीं शताब्दी के पूर्व के रचित हनुमत्संहिता तथा वृह्द कोशल खंड आदि जिसमें राम द्वारा अनेकों महारास लीलाओं का वर्णन मिलता है इससे गोस्वामी जी अवश्य परिचित रहे होंगे। यद्यपि फटिक शिला की पर्णकुटी पर परस्पर प्रेम पीयूष के पान की लालसा लिए मधुर हास-विलास की ओर संकेत है, किन्तु इसे महारास आदि ऐसी किसी योजना का संकेत नहीं कह सकते। यह विशुद्ध सीता राम के सरस वनवासी जीवन का चित्रण मात्र है, जिसके विषय में कहा गया है-

**सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत।**

**(रा० २/१३३)**

जिस प्रकार वृन्दावन के रसिक जन मानते हैं कि राधा कृष्ण का नित्य विहार धाम वृन्दावन है यहाँ से एकं कदम भी कृष्ण बाहर नहीं जाते। बृज को छोड़कर मधुपुरी व द्वारिकापुरी जाने वाले कृष्ण ब्रह्म कृष्ण नहीं, बल्कि दुष्ट दमन का कार्य करने वाले विष्णु के अवतार कृष्ण हैं। उसी प्रकार राम रसिक सम्प्रदाय की धारणा चित्रकूट के विषय में है। उनका विश्वास है कि ब्रह्म राम अपनी आह्लादिनी शक्ति सीता के साथ चित्रकूट में ही रह गये थे। आगे दुष्ट दलन का कार्य तो नारायणावतार राम ने माया सीता को साथ लेकर किया, किन्तु मैं यहाँ पर ब्रह्म राम तथा परा शक्ति सीता का विवेचन नहीं कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में वह महामानव राम तथा महामानवी सीता का पावन आदर्शमय चरित्र है जो मानव मात्र के लिए वन्दनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

जहाँ तक अवतारवाद की मान्यता का प्रश्न है उसे मैं अचिंत्य सत्ता का मानवीकरण तथा मानवीय सत्ता का दिव्यीकरण समझता हूँ। अवतारवाद की उद्‌भावना भारतीय दर्शन की महानतम अनुपम उपलब्धि है, आवश्यकता है उसको गम्भीरता से समझने की। जो उपनिषद् प्रतिपादित अनन्त अचिंत्य सच्चिदानन्द सत्ता से भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता के रूप में अभिव्यक्त हुआ इस विराटविश्व के रहस्य को समझ पायेगा, वही अवतारवाद की यथार्थता का अनुभव कर सकेगा, दूसरा

नहीं। सर्वरूप में व्याप्त सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति के लिए दो प्रकार की उद्भावनाएँ की जाती हैं: जागरण तथा अवतरण। बुद्धि प्रधान ज्ञानयोग जागरण प्रतिपादक है तो हृदय प्रधान भक्तियोग अवतरण का अवबोधक। इन दोनों में तत्त्व भेद नहीं केवल साधन भेद से अनुभूति भेद ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से दिव्य गुणगण के धाम राम सीता उस अचिंत्य सत्ता सच्चिदानन्द के अवतार हैं। केवल राम सीता ही नहीं प्रत्येक नाम रूप में उसी की अभिव्यक्ति है इसलिए प्रत्येक प्राणी का विशेषकर मानव मात्र का उनसे सजातीय सम्बन्ध है। मानव मात्र इसलिए कह रहा हूँ कि वह इस यथार्थ को समझने की योग्यता रखता है जबकि अन्य जीव नहीं। मानस के कुछ भावाभिव्यक्ति के स्थानों को छोड़ देवें तो सीता का चरित्र हमारे समक्ष सर्व सात्त्विक गुणों से युक्त एक आदर्श आर्य नारी के जीवनवृत्त के रूप में ही दिखाई देता है।

चित्रकूट से प्रस्थान करते समय हम सीता को एक तपस्विनी क्षत्राणी के रूप में अत्रि प्रिया महासती अनुसूइया के चरणों में बैठकर नारी धर्म की शिक्षा ग्रहण करते हुए देखते हैं। पतिव्रत के सम्बन्ध में जितनी सुन्दर और स्पष्ट शिक्षा यहाँ मिलती है उतनी शायद ही किसी अन्य संस्कृति के साहित्य में उपलब्ध हो सके।

नारी धर्म के विवेचन में यहाँ कुछ अतिरेक अवश्य हो गया है, किन्तु इससे हमें पतिव्रत धर्म की धारणा का प्राचीन रूप दिखाई देता है। इस विषय का समुचित चिन्तन मानस की नारी का स्वरूप और उसके विचार, भाव तथा क्रिया पक्ष का दिग्दर्शन करा देता है। अनुसूइया की सीता की सीख हमें उसके धर्म के प्रति सजग रहने के लिए दिये गये उपदेश की याद दिलाता है-

**अनुसूइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता।।**
**रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई।।**
**दिब्य बसन भूषन पहिराए। जे नित नूतन अमल सुहाए।।**
**कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारिधर्म कछु ब्याज बखानी।।**

**(रा० ३/४-१ से ४)**

परम शीलवती सीता विनम्रता से अनुसूइया के चरण पकड़ कर उनसे मिली। ऋषि पत्नी के हृदय में अत्यन्त सुख हुआ। उसने आशीर्वाद देकर सीता को अपने निकट बैठा लिया और ऐसे दिव्यवस्त्राभूषण पहनाये जो नित्य नये निर्मल और सुहावने बने रहते हैं। फिर ऋषि पत्नी उसके बहाने से मधुर कोमल वाणी में

नारी धर्म का बखान करने लगी। घर आए हुए प्रिय पाहुनों को वस्त्रादि देने की प्रथा आज भी भारत में प्रचलित है। किसी को निकट बैठाना अत्यन्त आदर तथा प्यार का सूचक है। आदरणीया तथा वयोवृद्धा होने से धर्म शिक्षा देना भी कर्त्तव्य है। सभी गुरु नारियों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हमें मानस में दिखाई देती है यथा-

**तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही।**

**(रा० २/२५२-४)**

**सुनि सिख अभिमत आसिष पाई।।**

**(रा० २/३२०-३)**

सीता को अपने वैराग्य पर अभिमान नहीं है यद्यपि वह ज्ञान अम्बुनिधि की कन्या है। परम विवेकी पति की प्रियतमा फिर भी शिक्षा सभी से ग्रहण करती है, किन्तु सभी के लिए धर्म का रूप समान नहीं है। धर्म कल्याण पथ का दूसरा नाम है। कल्याण पथ सभी के लिए एक सा नहीं हो सकता इसलिए गीतादि धर्मशास्त्रों में स्वधर्म की ओर आस्थावान् होने की सीख दी गई है। सीता एक गृहस्थाश्रमी नारी है अतः उसको नारी धर्म की शिक्षा ही मिलनी चाहिए। आत्मा परमात्मा के तात्त्विक उपदेश तो सत्संग आदि के माध्यम से ही सुने जा सकते हैं। पति का कर्त्तव्य है वह स्वयं पुनीत कथाओं के माध्यम से उसे जीवन के विविध विषयों में योग्य बनावे तथा पत्नी सहित गुरु चरणों में बैठकर दिव्य ज्ञान का अर्जन करे। राम इस कर्त्तव्य में सदैव सतर्क रहते हैं। वे सीता के साथ गुरुसेवा तथा उनका मधुर हितप्रद आदेश प्राप्त करते रहते हैं। फिर भी सीता स्वधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए सुश्रद्धा से सदैव जिज्ञासु बनी रहती है। मानस में अनुसूइया का धर्मोपदेश नारी जगत् के लिए अनुपम है। वे कह रही हैं-

**मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी।।**
**अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही।।**

**(रा० ३/५-५,६)**

हे राजकुमारी ! माता-पिता, भाई ये सभी हित करने वाले हैं, किन्तु वे सब एक सीमा तक ही सुख दे सकते हैं। उनके सुख देने की एक सीमा है, परन्तु पति तो स्त्री को अमित सुख देता है। वह नारी अधम है जो उसकी सेवा नहीं करती। यह हम सबका जाना हुआ सत्य है कि धर्मशीला नारी के दुनिया में जितने नाते हैं सभी भेदात्मक हैं। मानवीय सभ्यता का स्वरूप ही यह है कि वह स्वयं के असुन्दर को कुशलता से आवृत्त रखे। सृष्टि अपने समग्र रूप में सत्य है, किन्तु

शिव तथा सुन्दर नहीं। अशिव अंश को शिव बनाने की विधा ही संस्कृति कही जाती है तथा असुन्दर अंश के सौंदर्यकरण का नाम सभ्यता है। सुशिक्षा के द्वारा ही मानव सुसंस्कृत तथा सभ्य बनता है। जीवन के अशिव अंश को जिसने जितनी मात्रा में संशोधित, परिमार्जित करके शिव बना लिया वह उतना ही सांस्कृतिक कहा जाता है, किन्तु असुन्दर अंश को समग्र रूप में सुन्दर नहीं बनाया जा सकता क्योंकि उसका सम्बन्ध रूप से है। रूप शतशः प्राकृत होता है अतः इसका शतशः परिवर्तन नहीं किया जा सकता इसीलिए मानव ने रूपगत असुन्दर अंश को कुशलता के साथ आवृत्त रखने के लिए वस्त्राभूषण का सृजन किया है। स्त्री हो वा पुरुष उसे सदैव यह कृत्रिमता, यह आवरण प्रिय नहीं लगता। यही कारण है कि जब जहाँ पर वह स्वयं को अधिक निरावृत कर पाता है उसे वहाँ ही विशेष प्रकार की प्रसन्नता की अनुभूति होती है, किन्तु वह सभ्यता की हत्या कर सर्वथा निरावरण नहीं हो पाता क्योंकि वह मानवीय समाज के प्रतिकूल है। यह बात सत्य है कि मानव समाज बहुत कुछ अंशों में स्वनिर्मित संसार में ही निवास करता है प्राकृतिक जगत् में नहीं। जगत् प्राकृतिक है पर संसार कृत्रिम। मानव में प्रकृति को ग्रहण कर उसको बहुत कुछ सीमा तक अपने अनुकूल बना लेने की सामर्थ्य है। संस्कृति तथा सभ्यता उसके इसी सर्जना शक्ति का परिणाम है। उसके प्रति लगाव होना भी स्वाभाविक है। अतः उसे वह शतशः मिटाकर प्राकृत बनना भी पसन्द नहीं करता। आवरण में बन्धन तथा निरावरण में स्वतन्त्रता की सहजानुभूति होती है इसलिए मानव को आवरण प्रिय नहीं, किन्तु वह निरावृत भी हो नहीं सकता।

मानवीय प्रकृति के विशेषज्ञ मनीषियों ने इस समस्या के समाधान के लिए जीवन को समाज तथा परिवार इन दो भागों में विभाजित कर दिया है। समाज में आवरण आवश्यक है, वह जितना कुशलतापूर्ण होगा उतना ही सभ्य समाज का निर्माण कर सकेगा। परिवार में मानव स्वतन्त्र है वहाँ कम से कम कृत्रिमता की आवश्यकता होती है। घर वह स्थान है जहाँ पहुँचकर मानव अपने जीवन से कृत्रिम अंश को उतारकर उन्मुक्तता का अनुभव कर सके। पूर्ण उन्मुक्त जीवन का आस्वादन पुरुष केवल स्वगृह में ही ही कर सकता है। इसी प्रकार नारी को पूर्ण निरावृत तथा उन्मुक्त जीवन का आस्वादन करने के लिए केवल पति की गोद है इसीलिए वह अमित दानी कहा जाता है। मानवीय सभ्य समाज में नारी के लिए पति का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि पूर्णानन्द की अनुभूति का वही एक मात्र आश्रय होता है। वह अधम नारी है जो उस अमित दानी का आदर नहीं

करती। भारतीय समाज रचना में नारी की पावनता को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योंकि वही समाज का जन्मदात्री है। वही परिवार की धुरी है। आगे की चौपाइयों पर कुछ लोग टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि गोस्वामी जी ने नारी के प्रति न्याय नहीं किया है, किन्तु हम उसे देखेंगे कि सामाजिक सुव्यवस्था के लिए यह कितना आवश्यक है-

**धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी।।**

**(रा० ३/५-७)**

गोस्वामी जी की यह अर्धाली तो भारतीय जनजीवन की कसौटी ही बन गई है, इसका जन-मानस में इतना प्रभाव है कि अपठित समाज में भी मुहावरे के रूप में इसका प्रयोग होता रहता है। इस अर्धाली का जनमानस में वेदमन्त्र से भी अधिक आदर है, अतः इसके रचयिता की महत्ता इसी से विदित हो जाती है। मैंने भी मानस में नारी जीवन की महत्ता का अनुशीलन करने के लिए इस अध्याय के प्रारम्भ में इस अर्धाली को ही निष्कर्ष रूप में स्वीकार किया है। इसी पर विशेष विचार प्रारम्भ में ही किया जा चुका है, पिष्ट पेषण उचित नहीं-

**बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना।।**
**ऐसेहु पति कर किएँ अपमानां। नारि पाव जमपुर दुख नाना।।**
**एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा।।**

**(रा० ३/४-८,९,१०)**

हमें यहाँ पर 'वृद्ध रोगबस' आदि शब्दों का आशय बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। कुछ लोग नासमझी के कारण ही इन शब्दों के आधार पर गोस्वामी जी को लांछित करते रहे हैं कि उन्होंने वृद्ध विवाहादि की बुरी प्रथाओं को बल दिया है। इस अर्धाली में पति की असमर्थता वा अयोग्यता के विषय में कहा गया है। वह इस अभिप्राय से नहीं कि दरिद्र वा स्वार्थी पिता लालच वश होकर जिस किसी वृद्ध, अन्धे, लूले, लंगड़े, क्रोधी के साथ कन्या का विवाह कर दे, उसका धर्म है कि वह उसकी सेवा करते हुए नारकीय जीवन बिताए। ऐसा अर्थ समझने वाले वा करने वाले ही इस निकृष्ट कृत्य के समर्थन के अपराधी हैं, महाकवि नहीं। महाकवि ने कन्या के विवाह के विषय में अपनी सम्मति इन शब्दों में व्यक्त की है-

**जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा।।**

**(रा० १/७१-३)**

वह तो यहाँ तक भी कहते हैं-

न त कन्या बरु रहउ कुआरी।

(रा० १/७१-४)

अभिप्राय यह है कि अयोग्य वर से विवाह नहीं करना चाहिए। इस अर्धाली का भाव है कि विवाहित जीवन के बाद पति यदि वृद्ध, रोगी, नासमझ, निर्धन, अन्धा, बहरा, क्रोधी तथा अत्यन्त हीन हो जाए तो भी उसका अपमान नहीं करना चाहिए। जिस पति के साथ अनुकूलता में अमित सुख का भोग किया है, प्रतिकूलता में उसको अपमानित करने वाली नारी वास्तव में अधम है। ऊपर की अर्धाली में जिसे आपत काल कहा है, उस आपत काल का ही यह विवेचन वा स्पष्टीकरण है। समय से पूर्व ही वार्धक्य आ सकता है, स्वस्थ शरीर भी रुग्ण हो सकता है, विद्वान् की भी बुद्धि मारी जा सकती है, सम्पन्न पति भी काल क्रम से निर्धन हो सकता है, कमल नेत्र पति भी अन्धा हो सकता है, किसी दुर्घटना से उसकी स्वस्थता समाप्त हो सकती ही, रोग बस चिड़चिड़ापन आ सकता है, सुशील पति भी क्रोधी हो सकता है और कालचक्र से दाता, भिखारी तथा प्रभुता सम्पन्न भी अत्यन्त दीन हो सकता है, यह सब कुछ सम्भव है। यही पुरुष के लिए विपत्ति काल है जिस अवस्था में प्रियजनों की परीक्षा होती है। नारी पुरुष की अर्धांगिनी होती है, ऐसी विपदा की अवस्था में उसके लिए उचित है कि वह पति का साथ दे, उसकी संभाल करे, उसका तिरस्कार वा अपमान न करे। भला कौन समझदार व्यक्ति इसे नारी जाति पर अन्याय की घोषणा करेगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि यह आपत्ति नारी पर भी आ सकती है, ऐसी स्थिति में कवि की पुरुष के लिए क्या सलाह होगी? इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी नारी को भी पुरुष की अर्धांगिनी बताते हैं, अतः पुरुष के लिए भी वही नियम लागू होता है।

भारतीय जन जीवन में आज भी यह देखा जा सकता है। हमारी संस्कृति की जड़ नगरों में नहीं गाँवों में है। ग्रामीण स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को हम उस पवित्र भावना से युक्त पाते हैं। विपत्ति में स्त्री-पुरुष का एक दूसरे के प्रति आदर का व्यवहार करना सर्वथा उचित एवं मानवता की दृष्टि से भी अनिवार्य है क्योंकि यहाँ पर नारी-धर्म की शिक्षा दी जा रही है इसलिए उसको ही लक्ष्य करके यह बात कही जा रही है। पुरुष के विपत्ति काल में यदि नारी उसका त्याग कर किसी अन्य पुरुष का वरण करती है तो वह निराश्रय हो जाता है क्योंकि नारी के लिए यह

सम्भव नहीं कि दूसरे पुरुष को वरण करके वह पूर्व पुरुष की सहायक हो सके क्योंकि पुरुष स्वभावतः नारी पर पूर्णाधिकार चाहता है, किन्तु प्राचीन काल में पुरुष के लिए बहु विवाह की प्रथा होने से एक स्त्री के रहते हुए भी दूसरी के सम्भाल की वृत्ति सहज थी। सामाजिक तथा पारिवारिक सुव्यवस्था के लिए नारी का निष्ठावान् होना परमावश्यक है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि गोस्वामी जी इस सम्बन्ध में किसी वर्ग विशेष के पक्षपाती हैं। कलियुग की अनाचार युक्त स्थिति के वर्णन में वे ऐसे पुरुष की भर्त्सना करते हैं जो-

**कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।।**

**(रा० ७/१०१-३)**

कुलवती सती स्त्री को घर से निकाल कर वा उसकी उपेक्षा कर घर में हाव-भाव, हास-विलास में चतुर दासी को ले आते हैं। सारांश यह कि व्यक्ति, परिवार तथा समाज की व्यवस्था में जो कुछ शिव और सुन्दर है गोस्वामी जी उसी के हिमायती हैं, मानव को प्रकारान्तर से उसी की सीख देते हैं। उनका कहना है कि शरीर, वाणी तथा मन से पति के चरण-कमलों में प्रेम करना स्त्री के लिए बस यही धर्म, व्रत और नियम है किन्तु यहाँ पर ईश्वरोपासना का विरोध नहीं समझना चाहिए। गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में स्वयं कहा है-

**जाके प्रिय न राम बैदेही।**
**तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।**

इस सम्बन्ध में ब्रजांगनाओं का उदाहरण देकर कहा है- "भये सब मंगलकारी।" यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है वह पत्नी के लिए पति के प्रति निष्ठावान् होने की शिक्षा के रूप में है इसलिए धर्म, व्रत नियमादि नारी के लिए वही हैं जिसमें पति की प्रसन्नता हो। पिछली अर्धाली में कहा गया है कि आपत् काल में पति का अपमान करने वाली नारी नरक में नाना प्रकार की यातना भोगती है, क्योंकि वह पापमय कृत्य है। इस पंक्ति में उसके धर्माचरण का संदेश है। अब आगे पतिव्रता स्त्रियों की श्रेणियाँ बताते हैं-

**जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं।।**
**उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।।**

**(रा० ३/५-११,१२)**

इस प्रसंग के विषय में सन्त समाज में यह धारणा प्रचलित है कि गोस्वामी जी यहाँ अनन्य पतिव्रत के माध्यम से अनन्य भक्ति का संदेश दे रहे हैं-

'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' आदि वाक्य इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सूफी मत में जीव ईश्वर की प्रिया व पत्नी के रूप में स्वीकार किया जाता है। गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती सन्त कबीर आदि भी- "राम मेरे पिया मैं राम की बहुरिया" की भावना व्यक्त करते रहे हैं। इस भाव में ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'खसम' शब्द तो बहुत ही प्रचलित रहा है। सूफी तथा निर्गुणी सन्त मत के अतिरिक्त कृष्ण उपासना में ही नहीं राम उपासना में भी रसिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। मधुर भाव वस्तुतः पूर्ण समर्पण का भाव है। भक्ति बिना भाव के नहीं होती फिर साकार उपासना तो विशेषकर भाव पर ही अवलम्बित होती है। निराकार की उपासना करने वाले ईसा-मुहम्मद आदि भक्तों ने भी परमात्मा के साथ पुत्र, पैगम्बर आदि का सम्बन्ध स्वीकार किया था। विशेष रूप में भक्ति को पंचधा स्वीकार किया गया है जिसमें पिता, स्वामी, मित्र, पुत्र और प्रियतम भाव प्रधान होते हैं। इन में केवल मधुर भाव वा प्रियतम भाव की अपेक्षा अन्य सभी भावों में भेद वा दूरी बनी ही रहती है। मधुर भाव इसलिए अभेदात्मक माना जाता है कि उसमें किंचित् मात्र भी आवरण के लिए स्थान वा अवकाश नहीं रहता। आवरण ही अविद्या है उसका एक स्वरूप 'मैं' भी है। 'मैं' वा 'अहम्' का 'सः' में समर्पण ही अखण्ड 'अस्मि' का सर्वोत्तम साधन है। कुछ वैष्णवाचार्यों ने भी जीव को भोग्य तथा ईश्वर को भोक्ता रूप में स्वीकार किया है। गोस्वामी जी इन सभी भावों से सुपरिचित थे इसलिए यहाँ-

**जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं।**

**(रा० ३/५-११)**

**राम भगत जग चारि प्रकार।**

**(रा० १/२२-६)**

का साम्य देखते हुए यदि कोई कल्पना कर ले कि पतिव्रत के माध्यम से भक्ति तत्त्व का ही उपदेश है तो आश्चर्य की बात नहीं। अभिधा के रूप में ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण कि यहाँ पर एक ऋषि पत्नी अपने पाहुनी रूप में आई हुई राजकुमारी को नारी धर्म की शिक्षा दे रही है-

**सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।**

**(रा० ३/५-१२)**

जिसमें यह प्रयोग स्वाभाविक है। इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि गोस्वामी जी के विचार में जिस प्रकार भक्तों की चार श्रेणियाँ हैं,

उसी प्रकार पतिव्रता स्त्रियों को भी उन्होंने चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया है और इस विभाजन के पीछे उनकी वही भक्ति सम्बन्धी मान्यता ही कारण हो सकती है-

**मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें।।**

**(रा० ३/५-१३)**

यहाँ पर अन्य पुरुष को भ्राता, पिता, पुत्र की दृष्टि से देखने वाली नारियों को मध्यम कोटि में रखना कुछ तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' वाली बात शतशः व्यावहारिक नहीं है। यह तो हो नहीं सकता कि स्त्री किसी पुरुष जाति को देख ही नहीं सकती। आखिर भ्राता, पिता पुत्रादि भी तो पुरुष ही हैं। इन पुरुषों को यदि पुरुष जाति में स्वीकार नहीं करेगी तो क्या मानेगी? क्योंकि भ्राता, पिता, पुत्र की दृष्टि रखती है तो मध्यम कोटि में आ जाती है इसलिए उत्तम कोटि की पतिव्रता तो कोई हो ही नहीं सकती। सीता भी पिता, ससुर आदि की भावना गुरुजनों में करती ही है। सुमन्त से कहती है-

**तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी।**

**(रा० २/९७-८)**

हनुमान को भी कहती हैं-

**सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।**

**(रा० ५/१७-८)**

लक्ष्मण को देवर रूप में कई बार सम्बोधित किया है। आखिर पुरुष वर्ग के साथ तो व्यावहारिक अवस्था में सीता ऐसी पति परायणा को भी इस प्रकार के भाव बनाने ही होते हैं। वह पुरुष के पुरुषत्व को कैसे अस्वीकार कर सकती है?

मीरा के जीवन की एक घटना प्रचलित है। एक बार वृन्दावन में वे जीव-गोस्वामी जी के दर्शन करने की अभिलाषा से मिलने गईं। कहा जाता है कि जीव-गोस्वामी किसी नारी को दर्शन नहीं देते थे। उन्होंने उत्तर में कहला दिया कि मैं किसी नारी से नहीं मिलता। उत्तर सुन कर भक्तिमती मीरा ने कहा कि ब्रज में तो एक ही पुरुष रहता है वह है ब्रजराज। उसके अतिरिक्त तो मैं किसी को पुरुष समझती ही नहीं। यदि कोई और भी पुरुष है यहाँ, तो मैं भी उसे देखना पसन्द नहीं करती। मीरा के इस प्रत्युत्तर से जीव-गोस्वामी जी बहुत शर्मिन्दा हुए और स्वयं ही जाकर मीरा माता को ले आए। सुना जाता है कि बाद में कई महीनों तक मीरा जी वहाँ पर रहीं और आपस में सत्संग का लाभ लेते रहे। इस घटना से इतनी बात तो

समझ में आ जाती है कि भक्ति मार्ग में एक प्रभु को ही सम्पूर्ण जीवों का अंशी, भोक्ता, नियन्ता आदि पुरुष रूप में मानकर अन्य सभी जीवों को पराशक्ति की अभिव्यक्ति मानते हुए तात्त्विक दृष्टि से गोपी वा सखी के रूप में स्वीकार कर लें, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र कल्पना जगत् में नहीं वह तो यथार्थ की ठोस धरती पर है इसलिए पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के प्रति नारी का भ्राता, पिता, पुत्रवत् दृष्टिकोण ही समीचीन लगता है। उसके लिए मध्यम श्रेणी की बात करना उचित नहीं लगता क्योंकि उत्तम श्रेणी की पतिव्रता इस लक्षण के अनुसार तो कल्पना जगत् में भले ही सम्भव हो, किन्तु यथार्थ जगत् में तो उसकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। शायद इसी अतिवाद से बचने के लिए सन्त समाज ने इस प्रसंग को सामान्यतः नारी धर्म सम्बन्धी स्वीकार कर लक्षणा से इसे जीव रूपी नारी के लिए ईश्वर के प्रति अनन्यता का उपदेश मान लिया।

**धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।।**
**बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।।**

**(रा० ३/५-१४,१५)**

जो स्त्रियाँ अपने धर्म को विचारकर वा अपने कुल की मर्यादा समझकर परपति प्रेम से विरत रहती हैं वे निम्न श्रेणी की हैं ऐसा वेद कहता है, किन्तु जो स्त्रियाँ मौका न मिलने से वा भय बस स्वयं को मजबूरन बचाये रखती हैं, वे अधम कोटि की हैं। यहाँ पर यदि इस प्रकार से विचार किया जाए तो भावार्थ स्पष्ट हो जाता है। उत्तम कोटि के मन में यह धारणा रहती है कि मेरे पति के सिवा कोई अन्य पुरुष नहीं है। मानसिक स्थिति की यह बात है क्योंकि वह अपने पति को तो परमेश्वर का मूर्त रूप मानती है। ऐसी स्थिति में बाहर व्यवहार रूप में कुछ भी सम्बोधन करती हो, किन्तु मन से अन्य पुरुष के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। मध्यम कोटि की नारी अन्य पुरुष के अस्तित्व को तो स्वीकार करती है, किन्तु उनको अवस्थानुसार अपने भाई, पिता, पुत्रवत् देखती है। तीसरी श्रेणी की नारियाँ पुरुष के अस्तित्व को तथा उसके आकर्षण को भी स्वीकार करती हैं, किन्तु धर्म मर्यादा तथा कुल मर्यादा की दृष्टि से स्वयं को बचाये रखती हैं। चौथी श्रेणी में वे आती हैं जो केवल भय बस वा अवसर न मिलने से बची रहती हैं। मेरे विचार से भाव की अभिव्यक्ति में यही क्रम समीचीन है। सारांश यह कि उत्तम श्रेणी की नारियाँ भी व्यवहार क्षेत्र में वही सम्बन्ध स्वीकार करती हैं जो मध्यम श्रेणी की। अन्तर इतना ही है कि वहाँ मनः स्थिति में अन्य पुरुष की स्वीकृति नहीं

रहती किन्तु दूसरी में रहती है-

**पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई।।**
**छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी।।**

**(रा० ३/५-१६,१७)**

पति की प्रवंचना कर वा पति को धोखा देकर जो परपति के साथ रति करती है वह तो सैंकड़ों जन्मों के दुःखों को नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी? पति वंचक शब्द विशेषार्थक है। प्राचीन काल में पति की अनुमति से सन्तान प्राप्ति के लिए नियोग आदि की प्रथा प्रचलित थी और यह मौर्यकाल में भी शायद रही होगी क्योंकि आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में उसको स्वीकार किया है। यहाँ पर गोपियों का उदाहरण देना अनुचित है क्योंकि कृष्ण में अनुरक्त नारियाँ उनको परपति नहीं अपना नित्य तथा चिरंतन पति मानती थीं। रति शब्द अनुराग तथा भोग दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ पर जो क्षणिक सुख की बात कही गई है इससे अनुराग नहीं ऐन्द्रिक संसर्ग ही अभिप्रेत है, क्योंकि अनुरक्ति नरक का कारण नहीं हो सकती। ऐन्द्रिक आकर्षण से प्रेरित हो पर-पति के साथ रति नारकीय जीवन का हेतु बन जाए तो आपत्ति ही क्या है? इतना ही नहीं-

**पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई।।**

**(रा० ३/५-१९)**

पति के अनुकूल आचरण करने वाली नारी के लिए जो कर्म-विपाक में दण्ड विधान है उसका यहाँ कथन है 'पति बंचका' नारी अगले जन्म में युवावस्था में ही वैधव्य को प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर विधवापन का कारण पति के साथ विश्वासघात है और ऐसा विश्वासघात किसी प्रकार के प्रलोभन के कारण ही किया जाता है। नीति शास्त्र का कथन है कि विश्वासघाती के लिए नरक में भी स्थान नहीं मिलता, उसका कभी भी उद्धार नहीं होता, "विश्वासघातिनों न निष्कृतिः।" (चा.सू. ५२३) फिर जो अमित दानी भर्ता के साथ विश्वासघात करने वाली हो उसके लिए कहा ही क्या जाये? गोस्वामी जी के समय में विधवा पाप की पुतली मानी जाती थी। किसी भी शुभ कार्य में उसकी उपस्थिति अवांछनीय थीं। आज की दुनिया काफी बदल चुकी है फिर भी इस दृष्टि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। विधवा विवाह की गति भी अभी बहुत मन्द है। मध्यकाल में ही नहीं, बल्कि कुछ क्षेत्रों में तो कुछ वर्षों पूर्व तक यह प्रचलित था कि आजीवन, समाज में अपमानित जीवन बिताते हुए नारकीय यातना भोगने की अपेक्षा पति के शव के

साथ ही प्रचण्ड अग्नि ज्वाला का आलिंगन करना नारियाँ श्रेष्ठ समझती थीं। सती प्रथा इसी अमानवीय वृत्ति का परिणाम थी।

मेरे विचार से भारत की उन्नततम् हिन्दू जाति जो शताब्दियों तक मुट्ठी भर अर्ध-सभ्य विदेशियों द्वारा रौंदी जाती रही, परतन्त्र हो नारकीय यातना भोगती रही उसमें निरीह निःसहाय नारी समाज के साथ यह पैशाचिक व्यवहार-जन्य पाप भी एक कारण रहा है। महाभारत में व्यासदेव लिखते हैं, "जिस परिवार की बहु-बेटियाँ दुःख मिलने के कारण शोक मग्न हो आँसू बहाती हैं उनका शीघ्र ही नाश हो जाता है।" जिस जाति में धर्म के नाम पर जीते जी नारी चिता पर चढ़ने के लिए विवश की जाती रही है उसके पाप की क्या कहीं सीमा हो सकती है? यह सनातन संस्कृति की मान्यता नहीं है। आतताई अर्धसभ्य म्लेच्छों के अत्याचार से स्वयं के सत्त्व की सुरक्षा करने के लिए कुछ देवियों ने स्वयमेव अग्नि की धधकती ज्वाला को सहर्ष आलिंगन किया। बाद में बंगाल आदि क्षेत्रों में इसकी प्रथा सी चल पड़ी। धीरे-धीरे यह धर्म का अंग माना जाने लगा, किन्तु यह पिशाची प्रथा कुछ क्षेत्र तक ही सीमित रही। पंजाब से लेकर बिहार तक इसको कभी आश्रय नहीं मिला था। पुरुष की मृत्यु के साथ नारी का जल मरना न तो मानवीय ही था और न धर्म संगत ही।

किसी जाति के पतन काल में जब बौद्धिक विपर्यय उत्पन्न होता है तो इस प्रकार की अनेक प्रथायें प्रचलित हो जाती हैं। हाँ! यदि कोई नारी पति की वियोगावस्था में उसकी पावन स्मृति के साथ स्वयं को तपोपूत करती हुई जीवन-यापन करना चाहती है तो वह बात अलग है, किन्तु मजबूर करके किसी को पति परायणा बनाये रखने की वृत्ति अनुचित है। फिर भी नारी के लिए विधवापन हर एक दृष्टि से महान् दुःख है, अभिशाप है इसीलिए पति बंचका के लिए नियति ने इस प्रकार का दण्ड निश्चित् किया है। यह याद रखना चाहिए कि लोक धर्म का आधार आस्था है, तर्क नहीं। तर्क तो केवल उसके अनुसंधान में ही सहायक होता है। इसी प्रकार से यहाँ पर नारी धर्म के विषय में जो कुछ कहा गया है वह आस्था पर ही अवलम्बित है। आगे का उदाहरण पौराणिक है जो विशुद्ध आस्था पर आधारित है।

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसि का हरिहि प्रिय।।



(रा० ३/५ क)

परम पावन नारी यदि स्वयं को अपावनि कहती है तो यह उसकी उदारता है। यह बात मैं पीछे कह आया हूँ कि महाकाव्य तथा नाटकादि प्रबन्धों में अनेकों पात्र होते हैं इसलिए वहाँ के उल्लिखित वाक्यों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि तत्सम्बन्धित प्रसंग को देखते हुए वक्ता को भी ध्यान में रखा जाये। गोस्वामी जी नारी को पावन मति मानते हैं-

**धन्य सती पावन मति तोरी।**

(रा० ७/५५-७)

शंकर उनके गुरु हैं इसलिए अपने मन्तव्यों को वे उनके द्वारा ही कहलाते हैं। पावनमति को सहज अपावन कैसे कहेंगे? यहाँ पर एक नारी पतिव्रत धर्म की महत्ता बता रही है। उसमें एक पौराणिक कथा का उदाहरण देकर यह कहना चाहती है कि नारी की महत्ता पति सेवा से ही है अन्यथा वह पति के प्रतिकूल हो स्वयं के सहित समाज को अपावन ही बनाती है-

**अजहूँ तुलसिका हरिहि प्रिय जसु गावत श्रुति चारि।**

इस प्रकार से अन्वय कर इसका अर्थ करना उचित नहीं है। कारण कि तुलसिका की कथा वैदिक नहीं पौराणिक है इसलिए "जसु गावत श्रुति चारि" को "पति सेवत सुभ गति लहइ" के साथ लगाना होगा। 'सहज अपावन नारीं' पति की सेवा करके ही शुभगति को प्राप्त करती है। इसकी कीर्ति चारों वेद गाते हैं। उदाहरण में आगे कहा है कि पति सेवा के प्रभाव से ही आज भी तुलसिका भगवान् को प्रिय है-

**सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।**
**तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित।।**

(रा० ३/५-ख)

'हे सीता सुनो ! तुम्हारा तो नाम लेकर नारियाँ पतिव्रत धर्म का अनुष्ठान करती हैं। तुम्हें तो राम प्राण से भी प्रिय हैं। यह कथा तो मैंने संसार हित के लिए कही है।' यहाँ पर बहुत थोड़े में ही भारतीय नारी के जीवन आदर्श को बड़ी कुशलता के साथ कहा गया है। यह उपदेश सनातन है और सनातन मानव रचना में वह अपना सनातन मूल्य रखता है। सनातन संस्कृति की साकार प्रतिमा श्रीसीता को यह सनातन नारी धर्म की सीख अवश्य ही सुखद लगी होगी-

**सुनि जानकीं परम सुखु पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा।।**

(रा० ३/६-ख)

उपदेष्टा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का यह सुन्दर उपाय है: आदर के साथ उसकी चरण वन्दना। सुशीलता की अधिष्ठात्री सीता भला यह कैसे भूल सकती है? वनवास का अधिकांश भाग राम का चित्रकूट में ही बीता था। गोस्वामी जी ने गीतावली तथा मानस में भी वहाँ के सुन्दर-सुखद दृश्य का बड़ी निपुणता के साथ चित्रण किया है। कुटिया के आसपास सुन्दर पुष्प-वाटिका लगी है, तुलसी के पौधे भी लगे हैं, उनको लक्ष्मण तथा सीता जी ने अपने हाथों से लगाया है और उनको स्वयं ही सींचते भी हैं। अनेकों प्रकार के रंग-बिरंगे पक्षी पाल रखे हैं जो विविध प्रकार के मधुर शब्द करते हुए आश्रम के वातावरण को मधुर तथा सुहावना बनाए रखते हैं। विविध प्रकार के मृग भी पाल रखे हैं, जो उन्मुक्त हो किलोल करते हुए आश्रम के आसपास कूदते हैं, थिरकते, विचरण करते हैं। पर्णकुटी के पास ही विशाल वट वृक्ष है, उसकी छाया में एक विस्तृत वेदिका बनी हुई है जिसको सीता जी स्वयं लीप-पोत कर सुन्दर बनाये रखती हैं। उसी वेदिका पर बैठ कर नित्य प्रति मुनि मण्डली के साथ श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मण ज्ञानचर्चा सुना करते हैं। कितना सुन्दर तथा सुहावना दृश्य है, उस आश्रम की कल्पना कीजिएगा। गोस्वामी जी कहते हैं वहाँ पर सब ऋतुओं में ऋतुराज बसन्त का निवास रहता है, सभी हिंसक जीव वहाँ पर अपने सहज वैर को भूल कर एक साथ विचरण तथा विश्राम करते हैं। आगे कहते हैं-

**अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहु ओरा।।**

**(रा० २/२३६-७)**

भारतीय परम्परा राजतन्त्र की रही है, किन्तु वह राजतन्त्र स्वछन्द कभी नहीं रहा। उस राजतन्त्र की व्यवस्था से वर्तमान के किसी भी देश का तथाकथित प्रजातन्त्र ईर्ष्या कर सकता है। प्रजा को सुराज्य चाहिए, सुव्यवस्था चाहिए वह चाहे राजतन्त्र द्वारा मिले वा प्रजातन्त्र की पद्धति से, जनसामान्य को इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मनुष्य को स्वभावतः विकास से प्रेम है, वह जो कुछ है उससे अधिक होना चाहता है। उस होने की लालसा में 'है' का सावधानी से समर्पण ही कर्म है। इस कर्म की स्वतन्त्रता तथा उसके परिणाम की उपलब्धि उसकी आन्तरिक माँग है, इसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान उसे प्रिय नहीं। मानव ने सामूहिक रूप से स्व के हित की रक्षा के लिए ही राज्य संस्था का सृजन किया है। उस संस्था की उपयोगिता केवल इसी में है कि मानव की कर्म-साधना तथा उसके परिणामोपलब्धि में पड़ने वाली बाधाओं से उसका संरक्षण करे, किन्तु उसकी कर्म-साधना और

फल प्राप्ति के जन्म सिद्ध अधिकार में बाधक न बने। अपने संरक्षण तथा विकास में सहयोग के लिए मानव अपने श्रमजन्य उपलब्धि का कुछ अंश सहर्ष उस राज्य संस्था को समर्पित करता है। यदि वह संस्था शक्ति सम्पन्न होने के कारण अपने जन्मदाता तथा पोषक प्रजा को ही प्रमादवश शोषण का शिकार बना ले और उसके श्रम पर स्वयं को समृद्ध तथा सुखी बनाने में ही निमग्न रहे तो उसे कुराज कहते हैं। ऐसे कुराज के विषय में गोस्वामी जी ने लिखा है-

**तैदसमुख कुरुराज ज्यों जइहहिं बारह बाट।**

गोस्वामी जी यथा राजा तथा प्रजा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है-

**चाहिए धर्मसील नर नाहू।**

**(रा० २/१७९-१)**

चित्रकूट वर्णन में यह विशेष रूप से व्यक्त किया है-

**राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।।**

**(रा० २/२३५-५)**

इस सुराज के सृजन में सीता का बहुत बड़ा सहयोग है। कम से कम वाल्मीकि तथा तुलसी ये दोनों ही राम चरित्र के प्रधान गायक महिषी सीता रहित किसी रामराज्य की कल्पना तक नहीं कर सकते थे इसलिए इनकी महान् रचनाओं में जो श्रीराम के राज्य का आदर्श स्वरूप मिलता है वह सीता संयुक्त राम के आदर्शमय जीवन का ही परिणाम है। राज्य संस्था का प्रमुख प्रजा का प्रतिनिधि होता है चाहे वह राजतन्त्र की प्रणाली से चुना गया हो वा प्रजातन्त्र की। उसका विवेक सम्मत कर्त्तव्यानुष्ठान प्रजा के लिएं मार्ग दर्शन का कार्य करता है। ऐसे राजा वा राज्य नेता की उपस्थिति ही प्रजा के स्नेह, समतायुक्त जीवन तथा सम्पत्ति सम्पन्न समाज का कारण बनती है। चित्रकूट के प्राकृत वैभव में स्थान का वैशिष्ट्य नहीं "राम वास" ही कारण है-

**जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मंगलदायकु।।**

**(रा० २/१३७-५)**

**करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगतबैर बिचरहिं सब संगा।।**

**(रा० २/१३८-१)**

**कामद भे गिरि राम प्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा।।**

**(रा० २/२७९-१)**

उत्तरकाण्ड में भी यही बात कही गई है-

**बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई।।**

**(रा० ७/२०-८)**

क्योंकि प्रजा सदैव राजा की और जनता नेता की अनुवर्तिनी हुआ करती है। गोस्वामी जी का मत है कि राजा "ईश अंस भव" होता है। उसका प्रभाव केवल चेतन तक ही नहीं जड़ पर भी है क्योंकि जड़ में भी तो जीवन तत्त्व विद्यमान है इसलिए राम की उपस्थिति में-

**फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।**

**(रा० ७/२३-१)**

राम ने सीया और लक्ष्मण सहित बहुत वर्षों तक चित्रकूट में निवास किया और यहाँ पर-

**राम संग सिय रहति सुखारी।**

**(रा० २/१४०-१)**

गोस्वामी जी ने सीता के सुखद जीवन का वर्णन किया है। गीतावली में छः ऋतुओं में चित्रकूट के सुखद सौन्दर्य का वर्णन है और एक पंक्ति के सार रूप में कहा है-

**चित्रकूट-कानन-छबि को कबि बरनै पार।**
**जहँ सिय-लषनसहित नित रघुबर करहिं बिहार।।**

**(गीतावली २/४७-२१)**

श्रीराम अब यहाँ से प्रस्थान करने की महर्षि अत्रि से आज्ञा माँगते हैं-

**आयसु होइ जाउँ बन आना।**

**(रा० ३/६-२)**

प्रभु की रुचि देख न चाहते हुए भी ऋषि कहते हैं-

**केहि बिधि कहौं जाहु अब स्वामी।**

**(रा० ३/६-९)**

मुनि की चरण-वन्दना कर सीता-लक्ष्मण सहित राम दूसरे वन को प्रस्थान करते हैं, इसका कारण स्पष्ट रूप में राम ने अगस्त्य ऋषि को बताया है-

**तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ।।**
**अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही।।**

**(रा० ३/१३-२,३)**

महर्षि अगस्त्य के परामर्श से ही राम पंचवटी में आकर पर्णकुटी बनाते हैं और सुखपूर्वक सीता लक्ष्मण के साथ वहाँ निवास करते हैं किन्तु पंचवटी निशाचर बहुल क्षेत्र होने से मुनि समाज से सुशोभित नहीं है जैसे चित्रकूट के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है-

**बट छायाँ बेदिका बनाई। सियँ निज पानि सरोज सुहाई।।**

**(रा० २/२३७-८)**

**जहाँ बैठि मुनि गन सहित नित सिय रामु सुजान।**
**सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।।**

**(रा० २/२३७)**

पंचवटी में तो राक्षसों से संत्रस्त मुनिगण बड़ी कठिनाई से अपना निर्वाह करते थे। राम के आगमन से अब सभी आश्वस्त हो गये हैं-

**जब तें राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीति त्रासा।।**

**(रा० ३/१४-१)**

मुनि मण्डली का वह सामूहिक सत्संग आदि का क्रम यहाँ पर नहीं है। श्रीराम स्वयं ही सीता और लक्ष्मण के साथ बैठकर ज्ञान चर्चा किया करते हैं। यहीं पर लक्ष्मण द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर में राम ने ज्ञान-विराग, भक्ति-माया, जीव-ईश्वर आदि के साथ ही स्वधर्म अर्थात् भागवत् धर्म का उपदेश किया है। इस प्रकार लगभग तेरह वर्षों तक सीता ने अपने प्राणनाथ के एकान्तिक अनुपम प्यार तथा प्रिय देवर की सेवा से आनन्दित हो स्वर्गस्पर्धीय वनवासी जीवन व्यतीत किया। यहाँ ही उनके वनवासी जीवन का सुखद अध्याय सम्पूर्ण होता है।अब यहाँ से ही सीता के महानतम व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का वह अध्याय प्रारम्भ होता है जिसकी गरिमा से विमुग्ध होकर महर्षि आदि कवि ने कहा है-

**काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत।**

इस सम्पूर्ण रामायण काव्य में सीता का चरित्र ही महान् है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड को आदि कवि की कृति नहीं माना जाता फिर भी उपर्युक्त निष्कर्ष आदि कवि के विचारों को ही प्रकट करता है भले ही किसी अन्य ने इसे लिखा हो। जिस प्रकार वनवास के तेरह वर्ष व्यतीत हुए थे, उसी प्रकार से यदि सम्पूर्ण वनवास काल पूर्ण हो जाता तो सम्भवतः जन-सामान्य के हृदय में ईश्वरत्व की साकार मूर्ति के रूप में आज जो राम की प्रतिष्ठा है वह न होती और इसके साथ ही विश्व में नारी जीवन के इतिहास को गौरव मण्डित करने वाले सीता के

उस पावन चरित्र का भी पूर्ण प्रकाश न हो पाता। प्रतिकूलता में ही तो धीरज धर्मादि की परीक्षा होती है। फिर आज जो मानव के समक्ष राम-सीता का चिरन्तन पवित्र इतिहास सर्वांगीण मानव जीवन के लिए आदर्श तथा प्रेरणा स्रोत बना हुआ है, वह किस प्रकार हो सकता था? विपत्ति, कठिनाईयाँ, संघर्ष आदि जीवन को निखार देते हैं, जिस प्रकार अग्नि में तपा सोना अपनी दीप्ति को प्रकट करता है, इसी प्रकार से दुःखद परिस्थितियों की अग्नि में तपा हुआ चरित्र अपनी आभा से समग्र मानवता को आलोकित कर देता है। वनवास के अन्तिम चरण में हम इसी प्रकार की प्रतिकूलता से जूझते हुए राम और विशेषकर सीता को पाते हैं। सीता एक प्रेमसुधा सरोवर में विहार करने वाली राज हंसिनी थी। लंका की उस डाबर झील में भी वह अपने को शुद्ध सुरक्षित रख सकी यह उनकी ही महत्ता थी। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार सीता के "स्वर्गस्पर्धीय" जीवन में एकाएक विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा।

गोस्वामी जी भक्त थे उनको यह सह्य नहीं था कि सीता के पवित्र अंग को कोई राक्षस स्पर्श तक करने की धृष्टता करे इसलिए उन्होंने सीता के स्थान पर माया सीता के हरण की बात की है। दार्शनिक दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाये तो इसकी यथार्थता सिद्ध हो सकती है क्योंकि जीवन के दो पहलू हैं एक चेतन वा शरीरी दूसरा जड़ वा शरीर। चेतन की स्थिति सदैव चित्तवृत्ति के साथ होती है। जड़ शरीर कहीं भी क्यों न हो यदि चित्तवृत्ति उसके साथ नहीं है तो तत्त्वतः यही कहना होगा कि केवल छाया मात्र है सारतत्त्व नहीं। हम देखते हैं कि राम वियोगिनी सीता की भी यही दशा है। यदि इस स्थिति को देखते हुए यह कहा जाये कि वास्तविक सीता तो राम के हृदय में थी, लंका में केवल छाया सीता गई थी तो अयथार्थ न होगा। अब इस रहस्य को व्यक्त करने के लिए भक्त कवि किस प्रकार की योजना बनाता है यह उसकी रुचि पर निर्भर है। कवि क्रान्तदर्शी होता है वह भाव जगत् का सूक्ष्मतम द्रष्टा है। उसकी दृष्टि में भाव जगत् की सूक्ष्मता साकार होकर उसी प्रकार से स्पष्ट दिखाई देती है जैसे सूक्ष्म वेक्षण यन्त्र के द्वारा सूक्ष्म पदार्थ। महाकवि गोस्वामी जी तो भाव जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को अभिव्यक्त करने में सिद्धहस्त थे। राम तथा सीता के साथ उनका केवल इतना ही सम्बन्ध नहीं था कि वे उनके कथा नायक तथा चरित्र गायक थे, बल्कि इससे भी महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उनका उपास्य तथा उपासक का था, जहाँ तत्त्वतः भेद के लिए गुंजायश ही नहीं रह जाती। भक्ति सूत्र में नारद जी कह रहे हैं

तस्मिंसतज्जने भेदाभावात्।

भक्त और भगवान् में उपास्य एवं उपासक में भेद का अभाव होता है। इसका कारण भी बताया है "तन्मयः" क्योंकि भक्त अपने भगवान् में तन्मय हो जाता है। इसी बात को कीट भृंग न्याय से दार्शनिक भाषा में समझाया गया है। गोपियों की दशा का वर्णन करते हुए महात्मा नन्द दास ने कहा है-

भृंगीभय से भृंग होय इक कीट महाजड़।
कृष्ण प्रेम से कृष्ण होय यह नहिं अचरज बड़।।

भक्त चूड़ामणि गोस्वामी जी का समग्र जीवन ही राममय हो गया था। उनकी दृष्टि में जो रमण करने वाला है वही राम नहीं; जिसमें रमण करता है वह भी राम ही है। इस तथ्य को उन्होंने अपनी पावन कृतियों में सर्वत्र प्रकट किया है-

सीय राममय सब जग जानी।

(रा० १/८-२)

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानी।।

(रा० १/७-ग)

बिस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।

(रा० ६/१४)

अग जग रूप भूप सीता बर।।

इन वाक्यों में इसी अनुभूत सत्य का उद्घाटन करते हैं। अतः सीता राम के चरित्र चित्रण में वे केवल बाह्य क्रिया-कलापों को ही अंकित नहीं करते उनके आन्तरिक भाव जगत् के रहस्यों का भी यत्र-तत्र अभिव्यंजन करते हैं। बड़ा सुहावना दृश्य है गोदावरी के तट पर पर्णकुटी के बाहर वेदिका पर श्रीराम सीता के साथ विराजित हैं। चित्रकूट से बिल्कुल भिन्न यहाँ का वातावरण है। चित्रकूट में तो कोल किरातों ने बड़ी निपुणता से दो पर्ण शालाएँ बना दी थीं, किन्तु यहाँ पर तो स्वयं राम और लक्ष्मण ने मिलकर पर्णकुटी का निर्माण किया है-

गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।

(रा० ३/१३)

थोड़ी सी दूरी पर लक्ष्मण की कुटिया है, वो भी प्रशान्त वातावरण में प्रकृति का आनन्द ले रहे हैं। उसी समय अचानक एक सुन्दर वस्त्राभूषण से सुसज्जित सुन्दरी राम के सम्मुख आ उपस्थित हो जाती है। उसके हाव-भाव तथा बातचीत करने का ढंग कुछ अजीब सा है। अपना परिचय देते हुए वह राम के

समक्ष प्रणय प्रस्ताव रख देती है। सीता के जीवन में इस प्रकार की नारी का दर्शन प्रथम था, जिसकी वह कभी शायद कल्पना भी नहीं कर सकती थी। वह सब कुछ उस नारी के हाव भाव में देखकर चकित रह गई। वह नारी थी सूपर्णखा जो राम को अपने सौन्दर्य की छटा से विमोहित कर उनके साथ प्रणय सम्बन्ध करने को उतावली हो रही थी, शायद राम ने आँख उठाकर देखना भी उचित नहीं समझा। सीता के मुखार्विन्द की ओर चितवते हुए इशारा कर दिया कि वह मेरा भाई भी तुम्हारी ही तरह कुँआरा है, उसके पास जाओ। यह एक व्यंग्य था क्योंकि न तो वह कुँआरी थी और न लक्ष्मण ही। राम की बात सुनकर वह लक्ष्मण के पास गई। लक्ष्मण ने उत्तर दिया सुन्दरी! मैं तो उनका दास हूँ, मेरे यहाँ भला तुम्हें क्या सुविधा मिलेगी? लौटकर पुनः राम के पास गई। अब उसकी समझ में बात आई कि इसके पास जो यह सुन्दरी विराजित है उसका यदि काम तमाम कर दिया जाए तो यह मुझे स्वीकार कर लेगा। इस इरादे से वह सीता की हत्या करने पर उतारू हो गई जिसके परिणाम में उसे नाक कान से हाथ धोना पड़ा। यही वह अशुभ घड़ी थी जहाँ से सीता की घोर विपत्ति का बीजारोपण हुआ। जहाँ तक निशाचरों से शत्रुता और उनसे निपटने की बात थी उसमें सीता को किंचित् भी सन्देह नहीं था। वह अपने प्राणनाथ के पौरुष को अच्छी प्रकार से जानती थी। उसकी दृष्टि में पुरुष सिंह दोनों भाइयों के समक्ष सम्पूर्ण निशाचर वर्ग खरगोश तथा गीदड़ के समान था-

**को प्रभु संग मोहि चितवनिहारा। सिंह बधुहि जिमि ससक सियारा।।**

**(रा० २/६७-७)**

यह उसकी कल्पना मात्र नहीं थी। किशोरावस्था में ही राम के पराक्रम को शिवधनु भंजन के समय प्रत्यक्ष देखा था। सीता के लिए भयावह थी केवल इस सरस, प्रशान्त वनवासी जीवन में अकारण उत्पन्न होने वाली यह विषाक्त परिस्थिति। आदि कवि ने इस प्रसंग में एक घटना का वर्णन किया है। नरभक्षी राक्षसों के घोर अत्याचार से मुनि समाज को पीड़ित देख उनको आश्वासन देते हुए राम राक्षस रहित पृथ्वी करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रतिज्ञा का उल्लेख तो गोस्वामी जी ने भी किया है-

**निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।**
**सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।।**

**(रा० ३/९)**

उस प्रतिज्ञा को सुनकर सीता द्वारा जो कुछ कान्ता सम्मत बातें कही गईं उसकी चर्चा गोस्वामी जी ने नहीं की। वाल्मीकि के अनुसार सीता वहाँ पर अकारण किसी से शत्रुता करने तथा हिंसा में प्रवृत्त होने में राम को विरत होने की सलाह देती है, किन्तु राम अपने क्षात्र धर्म के पालन में इसका औचित्य बताते हैं। यह सुनियोजित कार्य तो होना ही था। इसी उद्देश्य से राम को पंचवटी में निवास करने को अगस्त्य ऋषि ने सलाह दी थी। किन्तु सीता हरण की घटना भी हो सकती है, इसकी मुनियों को सम्भावना न थी। राम अभी भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार कर ही रहे थे कि इतने में चौदह सहस्र राक्षसों को लेकर खरदूषन और त्रिशिरा आ उपस्थित हुए। आँधी के समान निशाचरों को आता देख सीता भयभीत हो गई। जिसकी आशंका थी वही सामने प्रत्यक्ष हो रहा था। प्रियतम को विशेष साधनहीन देख भयभीत होना स्वाभाविक ही था। प्रेम बड़ा ही कोमल होता है अतः छोटी सी भी बात सदैव प्रेमास्पद के अनिष्ट की आशंका उत्पन्न कर देती है। सीता के भय का भी यही कारण था। सुकोमल हृदया सीता कहीं युद्ध के विकराल दृश्य को देख व्याकुल न हो जाये इसलिए प्रभु ने लक्ष्मण से कहा-

**लै जानिकिहि जाहु गिरि कंदर। आवा निसिचर कटकु भंयकर।।**

**(रा० ३/१८-११)**

राम यह भी जानते हैं कि -

**निसिचर निकरि नारि नर चोरा।**

इसलिए कहा-

**रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर धनु पानी।।**

**(रा० ३/१८-१२)**

अकेले राम चौदह सहस्र राक्षसों से युद्ध कर रहे हैं यह देख देवगण भी भयभीत थे-

**सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी।**

**(रा० ३/२०-२७)**

किन्तु रणभूमि में राम ने सभी को धराशाई कर दिया। इस युद्ध में उनका सम्मोहन अस्त्र विशेष कारागार रहा। उसी के प्रभाव से-

**देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो।**

**(रा० ३/२०-२९)**

विजयश्री को वरण कर राम अहं शून्य सरल भाव से पुनः पर्णकुटी में लौट आए-

तब लछिमन सीतहि लै आए। प्रभु पद परत हरषि उर लाए।।
सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता।।

(रा० ३/२१-२,३)

विजयी प्रियतम को देख कितना आह्लाद हुआ होगा उस समय सीता को, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वही सुकोमल श्यामल शरीर, वही प्रसन्न मुद्रा, इतने विशाल युद्ध की विजयश्री का किंचित् गर्व नहीं। महाकवि 'चितव' शब्द में भाव विशेष का संकेत करते हैं। मानस में चितवन के साथ चारुता का सम्बन्ध होता है। विशेष प्रेम की दशा का संकेत करने के लिए गोस्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग किया है यथा-

चितवनी चारू भृकुटि बर बांकी।

(रा० १/२१९-८)

रामहि चितई रहे थकि लोचन।।

(रा० १/२६९-८)

चितवति चकित चहुँ दिसि सीता।

(रा० १/२३२-१)

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता।।

(रा० ३/१७-११)

आदि ऐसे अनेकों उदाहरण मानस तथा अन्यत्र भी महाकवि की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। भाव विशेष की अभिव्यक्ति में गोस्वामी जी का शब्द विन्यास यह एक अलग से निबन्ध का विषय है। सीता की मधुर चितवन ने जो भी कुछ किंचित् श्रम हुआ होगा युद्ध में उसको भी हर लिया। राम प्रसन्न हैं, सीता तथा लक्ष्मण भी प्रसन्न हैं। अब एक विशाल शत्रु समूह से संघर्ष प्रारम्भ हो चुका है अतः अब उन्मुक्त वातावरण का निश्चिन्त जीवन नहीं रहा। निशाचरों की छल-बल युक्त अनीति का राम को पूर्ण बोध है इसलिए अब एक क्षण के लिए भी सीता को अकेले छोड़ना उचित नहीं समझते। निर्भय तथा निश्चिंत रहते हुए भी सदा सतर्क रहना यह तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी है, किन्तु जहाँ कुछ शत्रु वर्ग तैयार हो गए हों वहाँ तो बिल्कुल असावधानी के लिए अवकाश नहीं रह जाता। कई दिन बीत गये थे उस घोर संग्राम को हुए, सीता सदैव आशंकित रहा करती थी। प्रियतम के अथाह पौरुष का बोध था इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं थी। राम का सतत प्रयत्न सीता को प्रमुदित रखने के लिए होता था। पर्णकुटी में वेदिका पर बैठे राम

कुछ पवित्र कथा सुना रहे थे तथा सीता और लक्ष्मण सुन रहे थे। गीतावली के एक पद में महाकवि उस घटना का विवरण इस प्रकार से देते हैं-

बैठे हैं राम-लषन अरु सीता।
पंचबटी बर परनकुटी तर, कहैं कछु कथा पुनीता।।
कपट कुरंग कनकमनिमय लखि, प्रियसों कहति हँसि बाला।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला।।
प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गवहिं चाप-सर लीन्हें।
चल्यों भाजि, फिरि फिरि चितवत मुनिमख-रखवारे चीन्हें।।
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिनके पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसी उर आछे।।

(गीतावली ३/३)

कभी भी राम जब सीता और लक्ष्मण को उदास देखते हैं तो कोई पुनीत कथा सुनाने लगते हैं जिससे दोनों प्रसन्न हो जाते हैं। चित्रकूट में भी यही क्रम चलता रहा-

लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता।।

(रा० २/१४१-८)

आज भी अवश्य ही सीता का दिल धड़क रहा होगा इतनी महान् विपत्ति आने वाली है उसका पूर्वाभास न हुआ हो, ऐसा हो नहीं सकता। सीता की प्रसन्नता के लिए ही प्रभु-

लगे कहन कछु कथा पुनीता।

(रा० २/१४१-८)

गोस्वामी जी ने मारीच के कपट मृग के रूप में आने के पूर्व ही मानस में राम द्वारा नरलीला करने की बात सीता से बता देने का उल्लेख किया है। राम के कहने से सीता अपनी मायामई छाया वहाँ पर बिठा देती है और आप पावक में निवास कर लेती है, किन्तु आदि कवि ने इस प्रकार की घटना का संकेत नहीं किया है।

मेरे विचार में राम ब्रह्म के अवतार हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। अवतारवाद भारतीय दर्शन की श्रेष्ठतम् उपलब्धि है। यह मनुष्य और परमात्मा के बीच में एक सबल सत्ता का सृजन करती है। अद्वैत सिद्धान्त में इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। यह ब्रह्म प्रकृति तथा पुरुष की

अव्यक्त वा कारणावस्था का ही नाम है, ऐसा उपनिषद् वाक्यों से ज्ञात होता है। चित्त वृत्ति निरोध की अन्तिम अवस्था में इस परम सत्य का साक्षात्कार भी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उस अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति जिस प्रकार समष्टि विराट् में होती है, उसी प्रकार व्यष्टि रूप में मानव में भी होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव विराट् की प्रतिमूर्ति है। जहाँ मनुष्यत्व का विकास पूरा होता है वहीं ईश्वरत्व का पूर्ण प्रकाश कहा जाता है। सत्-चित्-आनन्द की विशेषाभिव्यक्ति होने से ही ऐसे पुरुष को विभूति वा अवतार कहते हैं। वह मानवता का पूर्ण विकसित स्वरूप है वा यों कहिए कि यहाँ मानवता के रूप में उस देव की दिव्यता का अवतरण हो गया है। उस अचिंत्य देव के देवत्व का अवतरण पूर्ण रूप में मानवता के माध्यम से ही हो सकता है इसीलिए कहा गया है-

**ना हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।**

सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठतम और कुछ भी नहीं है। मानस में भी गोस्वामी जी ने श्रीराम के मुख से कहलवाया है-

**सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए।।**

**(रा० ७/८६-४)**

कहने का अभिप्राय यह है कि राम ब्रह्म के अवतार भले ही हों उससे मानवता उन पर गर्व करेगी, किन्तु राम के चरित्र को ब्रह्म चरित्र कहना वा मानना मानवता के साथ अन्याय होगा। राम को मानवत्व से सुदूर ले जाकर ईश्वरत्व की श्रेणी में प्रतिष्ठित करना मैं मानवता के सत्त्व को छीनकर उसे कंगाल बना देना समझता हूँ। राम को ईश्वर कोटि में बैठा देने से मानवता की निधि तो छीनी ही जाती है इससे राम की महत्ता को भी न्यून बना दिया जाता है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि मानव रूप में अवतरित परमेश्वर हमारे लिए परमेश्वरत्व से भी अधिक उपयोगी हैं क्योंकि वह हमारे अधिक निकट हो जाता है। हम उसके चरण चिन्हों का आसानी से अनुकरण कर सकते हैं। यदि सीता एक आर्य नारी है तो वह महान् है, उनका चरित्र महान् है, उनका धैर्य, उनका आत्मविश्वास, उनकी पति परायणता, उनका घोर विपत्ति में भी धर्म से विचलित न होने वाला धैर्य यह सब बातें महान् हैं, आदर्श हैं, आराध्य हैं, अनुकरणीय हैं। ऐसी सीता पराशक्ति का साक्षात्कार अवतरित रूप है। यह मानवीय नारी के लिए पराशक्ति से भी अधिक महत्ता रखती हैं। सत्ता उस पराशक्ति की भले ही अनन्त हो, किन्तु महत्ता की दृष्टि में वह सीता के आदर्श चरित्र की समता नहीं कर सकती। यदि सीता का चरित्र

एक आर्य नारी का चरित्र न होकर आद्य शक्ति का चरित्र होता है तो वह हमारी दृष्टि में अपनी सारी गरिमा ही खो देता है। चराचर की अधीश्वरी यदि रावण के भय से भयभीत नहीं हुई, यदि उसके शौर्य तथा ऐश्वर्य के समक्ष स्वयं को समर्पित नहीं किया तो इसमें उसकी महत्ता ही क्या है? अतः मैं यह नहीं चाहता कि सीता और राम को मानवता से बिल्कुल परे प्रतिष्ठित कर उनकी महिमा को कम किया जाये।

महाकवि मानस में यत्र-तत्र राम के परत्व की ओर संकेत कर पाठकों को यह याद दिलाते रहते हैं कि राम-सीता प्राकृत मनुष्य नहीं हैं, केवल मनुष्य चरित्र कर रहे हैं। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उस समय जनमानस को एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता भी थी जो सबसे महान् होते हुए भी मानव जाति के अधिक निकट हो, उसका संरक्षक तथा मार्ग दर्शक हो, केवल आदर्श की शिक्षा देने वाला ही न हो अपितु उस आदर्श पथ पर चलने वालों के लिए सहारा भी दे सकता हो। इस प्रकार के उपास्य में ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व का समन्वय होना अनिवार्य था। मानव की इस माँग को पूर्ण करने में अवतारवाद के सिवा और कोई भी दार्शनिक दृष्टिकोण समर्थ नहीं हो सकता। तुलसी ने जनता के अन्तर्तम की इस माँग को अनुभव किया और उन्होंने अपने राम को जनमानस के सामने उपस्थित कर उस घोर संकट की वेला में ढांढस बँधाया।

यही कारण है कि अपने महाकाव्य में वे यत्र-तत्र पाठकों को मानव रूप में प्रकट ईश्वरत्व का स्मरण दिलाया करते हैं, किन्तु साथ-साथ यह भी कहते रहते हैं कि यह चरित्र ईश्वर का नहीं मानव का है-

**सोई सच्चिदानन्दघन कर नर चरित उदार।**

किन्तु अब युग बदल गया है। हमें पुनः आदिकवि की यथार्थवादी विचारधारा तथा दृष्टि अपनानी होगी और उसके साथ ही गोस्वामी जी की भावधारा का समन्वय कर श्रीसीता राम के चरित्र सरित की शीतल सुधामई पावनधारा में अवगाहन कर स्वयं को स्वच्छ, स्वस्थ तथा सबल बनाकर सर्वरूप में प्रकट सर्वेश की समर्चना में समर्पित करना होगा। यही वर्तमान की माँग है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि छाया सीता का ही हरण हुआ असली सीता तो -

**प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी।**

तो भी हमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे कि हम पूर्व में बता आए हैं कि

सीता का सर्वस्व तो राममय है, वह पलभर भी राम से भिन्न नहीं होती जैसे कि सूर्य से प्रभा तथा चन्द्र से चाँदनी। फिर दशकन्धर द्वारा अपहरण किया हुआ सीता का शरीर केवल छाया मात्र नहीं तो और क्या था? यहाँ पर मानवीय कमज़ोरियों से सीता को सर्वथा मुक्त रखने के लिए ही भक्ति भाव से प्रेरित होकर भक्ति कवियों ने माया वा छाया सीता के हरण की बात कही है। कनक मृग को देख सीता का विमुग्ध होना यह नारी के लिए स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण का परिचायक है। समर्थ स्वामी से उसे किसी भी हालत में लाने का निवेदन करना भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। जीते जी पकड़ में आ जाये तो पालना है, यदि जीवित न मिल सके तो मारकर इसका सुन्दर चर्म भी पास रखने योग्य है। सीता की इस छोटी सी अभिलाषा को भी भला सामर्थ्यवान प्रियतम पूर्ण न कर सकेंगे? तुरन्त धीरे से बाण उठाकर चल देते हैं, किन्तु राम असावधान नहीं हैं। अतः -

**प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई।।**
**सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी।।**

**(रा० ३/२७-८,९)**

राम मृग के पीछे चले जाते हैं। धीरे-२ विलम्ब होने लगता है, लौटने में अशुभ अमंगलसूचक लक्षणों से सीता का हृदय अधीर होता जा रहा है। सुना था कि-

**नर अहार रजनीचर चरहिं। कपट बेस बिधि कोटिन धरहिं।।**

**(रा० २/६३-१)**

प्रियतम के हित की चिन्ता, उनके अप्रिय की आशंका बढ़ने लगी। इतने में ही एक आवाज़ आई-हा लक्ष्मण ! सीता की अधीरता की सीमा न रही। अनिष्ट की आशंका ने हृदय को उद्वेलित कर दिया। लक्ष्मण से अधीर होकर कहने लगी-

**जाहु बेगि संकट अति भ्राता।**

**(रा० ३/२८-३)**

राम के पौरुष से लक्ष्मण भली-भांति परिचित हैं, निशाचरी गतिविधि भी उन्हें ज्ञात है। सीता को धैर्य बँधाते हुए बोले-माता! इतना अधीर न हो। राम को संकट में डालने वाली विश्व में कोई भी शक्ति नहीं है, किन्तु प्राणेश्वर की अनिष्ट आशंका से अधीर नारी के हृदय को बोध की मात्रा न्यून हो जाती है। इसी आकुलता के आवेश में अचल खड़े हुए लक्ष्मण को सीता ने अपने न कहने योग्य वचनों से बींधना शुरु कर दिया। यहाँ पर अति अधीर सीता ने लक्ष्मण को जो कुछ कहा उसके विषय में महाकवि ने केवल इतना ही लिखा है-

**मरम बचन जब सीता बोला।**

**(रा० ३/२८-५)**

ये मर्म बचन बड़े ही कटु थे। सीता ने स्वीकार किया है कि विपरीत विधाता ने ही मुझसे-

**लछिमन कहुँ कटु बचन कहावा।**

**(रा० ६/९९-८)**

असह्य कटु वचन को सुनकर लक्ष्मण वन देवों को साक्षी देते हुए वहाँ से उस दिशा में प्रस्थान करते हैं जिस ओर से आवाज़ आई थी। जाते समय उन्होंने एक रेखा भी कुटिया के चारों ओर खींच दी थी जिसमें बाहर से कोई व्यक्ति प्रवेश करे तो भस्म हो जाए, किन्तु विधाता की गति बड़ी बलवान है। यह सत्य है कि दुर्देव पर किसी का भी कोई बस नहीं चलता। हाँ ! मनुष्य यदि उन संकटों की अग्नि परीक्षा से धैर्ययुक्त पार हो जाये तो वह काल विजयी हो विश्व में अमर हो जाता है। सीता ऐसी देवी लक्ष्मण जैसे आज्ञाकारी, सेवा परायण, पवित्र मातृ भाव से प्रतिपल सेवा में संलग्न रहने वाले देवर के प्रति भी मर्माहत करने वाले कटु वाक्य कह सकती है यह केवल काल चक्र के सिवा और क्या कहा जाए? सीता को इसी कालचक्र से मुक्त करने के लिए भक्तों ने छाया वा माया सीता की कल्पना की है क्योंकि वास्तविक सीता इस प्रकार के वाक्य नहीं कह सकती। सारांश यह है कि अपने उच्च स्तर से जब व्यक्ति गिर जाता है तो वस्तुतः वह वही नहीं रह जाता। दिव्यता के दूर होते ही नारी माया के सिवा और क्या होगी? राम को मृग के लिए तथा लक्ष्मण को राम की रक्षा के लिए भेजकर प्रियतम के अनिष्ट की आशंका से अधीर उद्विग्न सीता आश्रम में अकेली रह जाती है। यहीं उसके प्राणेश की अगाध प्रेम सुधा से सिक्त तथा प्रिय देवर द्वारा प्रतिपल सेवित देव स्पर्धित सुखद वनवासी जीवन की इति हो जाती है और यहीं से उसके जीवन का करुण रस पूर्ण अध्याय आरम्भ हो जाता है जो अपनी दिव्यता की आभा से युगों से मानवता को आलोकित करता आ रहा है। दुर्देव का चक्र जब चलता है तो गलती में भी गलती होने लगती है। लक्ष्मण के चले जाने पर रावण यति के वेष में पर्ण कुटिया के सामने आता है। अतिथि सेवा हमारे धर्म का प्रमुख अंग है, माता-पिता गुरु के समान ही "अतिथि देवो भव" की हमें सीख मिलती है। एक आर्य नारी भला अतिथि की सेवा से विमुख कैसे हो सकती है! फिर ऐसे अवसर पर जब कहीं प्रिय के किसी प्रकार के अप्रिय की आशंका भी हो! यति के स्वागत के लिए

सीता पर्णकुटी से कुछ कंदमूल-फलादि लेकर बाहर आती है। सीता के अनिन्द्य सौन्दर्य को देख रावण उसकी प्रशंसा करने लगता है साथ में कुछ ऐसी बातें भी कहता है जो किसी अतिथि के मुख से अशोभनीय थी। सीता बड़ी गम्भीरता से कहती है-

**कह सीता सुनु जती गोसांई। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं।।**

(रा० ३/२८-१२)

कितनी सभ्य भाषा है! आप तो यति हैं, गोसांई हैं किन्तु आपने दुष्टों जैसी बातें कही हैं। अभिप्राय यह कि आप दुष्ट नहीं हैं। एक आर्य नारी अतिथि को दुष्ट कैसे कह सकती है? यह सदा की रीति है जहाँ, जिस समाज में, जिस वेष विशेष के प्रति आदर होता है उसका दुरुपयोग भी चतुर लोग किया ही करते हैं चाहे काशाय वस्त्र हो, चाहे वह तिलक चन्दन हो, चाहे वह खादी के वस्त्र तथा गांधी टोपी हो। इतना ही नहीं भारत जैसे देश में तो केवल वस्त्र ही नहीं बल्कि विविध प्रकार के और भी आदर और श्रद्धा के आधार रहे हैं, आज भी हैं, जिनका चतुर लोग लाभ उठाया करते हैं। क्षणिकवाद, नियतिवाद, कर्मवाद, ईश्वरवाद, ब्रह्मवाद, मायावाद आदि अतीत कालीन मान्यताएँ अथवा राष्ट्रवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि अद्यतन काल के पुरजोर नारे के लगाने वालों में बहुधा ऐसे ही लोगों की अधिकता होता है जो न तो इन वादों के अभिप्राय को ही जानते हैं और न ही इनमें उनकी आस्था ही होती है। जन-सामान्य की किसमें श्रद्धा है, कहाँ झुकाव है, बस यही ताकते रहते हैं, मौका मिलते ही स्वयं को उसमें परिणत कर उसका लाभ उठाते हैं। रावण के समक्ष जो समस्या थी. वह थी लक्ष्मण रेखा की, वह जानता था कि सीता किसी अन्य प्रकार से लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन नहीं कर सकती। वह आर्य नारी की धर्म निष्ठा से परिचित था इसलिए यति के वेष में कुटिया के सामने आकर खड़ा हो गया। यहाँ पर सनातन सत्य का उद्घाटन करते हुए महाकवि ने कहा है-

**जाकें डर सुरं असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं।।**
**सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं।।**
**इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा।।**

(रा० ३/२८-८,९,१०)

चाहे वह विश्व विजयी रावण ही क्यों न हो कुपंथ पर पाँव रखते ही उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। तेज, बल, बुद्धि कुछ भी नहीं रह जाती। सीता

यति का सत्कार करने के लिए बाहर आ चुकी थी। यति द्वारा राजनीति, भय, प्रीति की बात सुनकर वह स्तब्ध रह गई। उसने अपने ठगे जाने का अनुमान लगा लिया था इसलिए स्वयं को सम्भालते हुए ही उसके उत्तर में कहा था-

**बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं।**

**(रा० ३/२८-१२)**

रावण इस अवसर से चूकना नहीं चाहता था तुरन्त उसने अपना नाम सुनाते हुए स्वंय को प्रकट कर दिया। वह यति रूप में भी सीता का हरण कर सकता था, किन्तु उसे यह पसन्द नहीं था कि यति वर्ग के प्रति लोगों की अश्रद्धा हो वा व्यर्थ ही यति वर्ग निन्दा का भाजन बने। राजनीति की दृष्टि से अपना काम साधने के लिए ही केवल सीता को लक्ष्मण रेखा से बाहर निकालने के लिए उसने यति वेष बनाया था। सम्भव है यति गोसाँई आदि शब्दों को सुनकर उसने अपने को तिरस्कृत भी अनुभव किया हो-

**तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा।।**
**कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा।।**

**(रा० ३/२८-१३,१४)**

निर्जन कुटिया से बाहर खड़ी एक परम साध्वी सुकुमारी नारी भला दुर्दान्त रावण ऐसे अत्याचारी को सामने खड़ा देख भयभीत न हो, यह सम्भव कैसे! धैर्य की महत्ता भी तो ऐसे ही अवसरों पर प्रकट होती है। प्रगाढ़ धैर्य धारण कर सीता स्वयं को सम्भालती हुई बोली-अरे दुष्ट ! खड़ा रह, मेरे स्वामी आ रहे हैं। कितना आत्म विश्वास है इन शब्दों में। इतना ही नहीं-

**जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भएसि कालबस निसिचर नाहा।।**

**(रा० ३/२८-१५)**

राक्षसराज को सावधान करते हुए सीता कहती है जिस प्रकार सिंहवधु की क्षुद्र खरगोश कामना करता है, उसी प्रकार अरे राक्षसराज ! तू मेरी कामना करके काल के बस हुआ है। आर्य नारी के आत्मगौरव के समक्ष दशशीष क्या जगदीश को भी झुकना पड़ता है। रावण का हृदय भी झुक गया-

**मन महुँ चरन बंदि सुख माना।**

**(रा० ३/२८-१६)**

यह बात सत्य है कि कोई व्यक्ति ना तो पूर्ण रूप से पापात्मा ही होता है और न दिव्यात्मा ही। दैवी तथा पाश्विक वृत्तियाँ तो सभी में कुछ न कुछ अंशों में

रहती ही हैं। जहाँ पाश्विक वृत्तियों का प्रभुत्त्व होता है वहाँ दैवी वृत्तियाँ दबी होती हैं। जब कभी उनको सजातीय तत्त्वों का प्रकाश दीखता है तो चाहे क्षण मात्र के लिए क्यों न हो वे अपना प्रभाव प्रकट कर देती हैं। यह बात अलग है कि प्रचण्ड पशुता उन्हें पुनः अपने पाँव तले दबा दे। इसी सत्य का संकेत महाकवि ने इस अर्धाली में प्रकट किया है-.

**सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना।।**

**(रा० ३/२८-१६)**

किन्हीं प्राचीन प्रतियों में रिसाना की जगह लजाना भी पाठ मिलता है। मेरे गुरुदेव यहाँ पर लजाना पाठ ही समीचीन मानते हैं क्योंकि रिसाना एक मानसिक विकृति है जो तमोगुण का कार्य है और चरण वन्दना विशुद्ध सात्त्विक वृत्ति की क्रिया है। मन में चरण वन्दना रिसाना अवस्था में नहीं हो सकता। अतः वह सीता के प्रगाढ़ धैर्य, तेज तथा आत्म विश्वास के समक्ष लज्जित हो गया, बस उसके अन्तर में दबा हुआ देवत्व क्षण मात्र के लिए जाग गया। उसका हृदय नत हो गया और उसे इस सात्त्विकता से किंचित सुख भी मिला, किन्तु तुरन्त उसकी प्रचण्ड आसुरी वृत्ति उस सात्त्विकता को दबोचकर प्रबल हो गई। फिर-

**क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।**
**चला गगनपथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ।।**

**(रा० ३/२८)**

यहाँ पर दो अर्धालियों में महाकवि ने कितनी कुशलता से मानवीय वृत्तियों की तरफ संकेत किया है। रावण को आप प्रकृति अभिमानी मानते हैं, किन्तु सर्वव्यापी दिव्यता से वह भी अछूता नहीं है। हाँ, जिस प्रकार से गन्दले जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार दूषित चित्त में दिव्यता का प्रकाश प्रकट नहीं हो पाता, किन्तु उसकी असम्भावना नहीं है इसलिए रावण के द्वारा सीता के तेज के समक्ष लज्जित हो हृदय नत होने के रहस्य का उद्घाटन किया है क्योंकि यह रावण की आन्तरिक स्थिति का वर्णन है प्रत्यक्ष का नहीं।नारी गुणों में जितनी महान् है शरीर से उतनी सुकोमल तथा निर्बल इसीलिए उसका एक नाम अबला भी है। क्रूरता के सबल हाथों में आ जाने पर अबला केवल करुण-क्रन्दन के सिवा और कर ही क्या सकती है, विवश हो रावण के रथ में बैठी हुई सीता करुण स्वर में चीत्कार करने लगी-

**हा जग एक बीर रघुराया। केहिं अपराध बिसारेहु दाया।।**

**आरति हरन सरन सुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिननायक।।**
**हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा।।**
**बिबिध बिलाप करति बैदेही। भरि कृपा प्रभु दूरि सनेही।।**
**(रा० ३/२९-१,२,३,४)**

गोस्वामी जी की वह उक्ति बिल्कुल सत्य है-

**काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई।।**
**(रा० १/७-२)**

सीता के साथ भी यही हुआ। परम साध्वी सीता ने लक्ष्मण को कटु वाक्य कहे, इस विडम्बना में दैव के सिवा और किसे कारण कहा जाये? लक्ष्मण के प्रति व्यर्थ में रोष प्रकट करने का पश्चाताप सीता को अन्त तक बना रहा। वैदेही विलाप करती जा रही है, पुकार लगाए हुए कह रही है-

**बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा।।**
**(रा० ३/२९-५)**

मेरी यह विपत्ति प्रभु को कौन सुनाए? यज्ञ के हव्य को यह गधा खाना चाहता है। महाकवि के भाव जगत् में सीता हरण के इस दुःखद दृश्य को देखकर उनको अपने वर्तमान के मलेच्छों द्वारा किये जा रहे घोर अत्याचार की घटनाएं सामने साकार हो गईं। इस अवसर पर कवि ने अन्तर्तम की वेदना को व्यक्त करते हुए लिखा है-

**अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई।।**
**(रा० ३/२९-८)**

यह 'कपिला गाई' शब्द भारत के सम्पूर्ण सत्त्व का प्रतीक है। संस्कृति, सभ्यता, इज्ज़त, भूमि, सम्मान, सम्पत्ति, नारी तथा गौ इन सबकी परवशता तथा पीड़ित अवस्था का केवल-"जिमि मलेच्छ बस कपिला गाई" में ही अवबोधन हो जाता है। राक्षसराज रावण के पंजों में सीता उसी प्रकार से कराह रही है, जिस प्रकार मलेच्छों के द्वारा पीड़ित भारत भूमि वा भारतीय जनता। इस अर्धाली में एक आशा की किरण भी महाकवि ने जनता के लिए दिखाई है और वह यह कि सीता की तरह ही भारत भूमि का उद्धार करने के लिए रावण रूपी मलेच्छ वंश का उच्छेद प्रभु अवश्य ही करेंगे। गीद्धराज जटायु का प्रयत्न भी सीता को बचाने में सफल न हो सका, किन्तु कितने गौरव की बात है कि वह वनवासी जाति का वृद्ध पुरुष अपने जीते जी जानकी को जाने नहीं दिया। अपंग हो कर पृथ्वी पर लुंठित

हो जाने पर ही बिलखती हुई सीता को रावण ले जा सका। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि नारी की महत्ता कितनी रही है इस भारत की पवित्र भूमि पर। एक वनवासी जाति का वृद्ध पुरुष भी अपने प्राण की बलि देकर नारी की रक्षा करना अपना धर्म समझता था। जटायु को अपंग बनाकर रावण पुनः सीता को लेकर आकाश मार्ग से चल पड़ा।

**करति बिलाप जाति नभ सीता। व्याध बिबस जनु मृगी सभीता।।**

**(रा० ३/२९-२४)**

व्याधवश पड़ी सभीत मृगी के समान बिलखती हुई सीता विमान में नभ पथ से रावण के पंजे में पड़ी चली जा रही है, कितना मर्माहत दृश्य है वह! गीतावली रामायण में इस दुःखद घटना का और भी करुण चित्रण किया गया है-

**आरत बचन कहति बैदेही।**
**बिलपति भूरी बिसूरि 'दूरि गए मृग संग परम सनेही'।।**
**कहे कटु बचन, रेख नांघी मैं, तात छमा सो कीजै।**
**देखि बधिक-बस राजमरालिनी, लषण लाल ! छिनि लीजै।।**
**बनदेवनि सिय कहन कहति यों, छल करि नीच हरी हौं।**
**गोमर-कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यौं त्यौं पर-हाथ परी हौं।।**
**तुलसिदास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो।**
**'पुत्रि पुत्रि! जनि डरहि, न जैहै नीचु, मीचु हों आयो।।**

इस पद में भी सीता लक्ष्मण के प्रति किये हुए अपने अनुचित व्यवहार पर पश्चाताप कर रही है और रेखा लाँघने की गलती भी स्वीकार कर रही है, किन्तु दुर्दैव बड़ा ही दुरंत होता है-

**तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलई सहाइ।**

**(रा० १/१५९)**

**परीं बधिक बस मनहुँ मरालीं। काह कीन्ह करतार कुचालीं।।**

**(रा० २/२४६-५)**

तथा 'गोमर कर सुरधेनु ज्यों' की विवशता यहाँ भी व्यक्त की गई है। प्रियतम को संकेत के लिए गिरिशिखर पर बैठे वानर जाति के वीरों को देख सीता ने अपने कुछ वस्त्राभूषण गिरा दिये। रावण ने सीता को राजमहल में नहीं, अशोकवन में ले जाकर रखा। अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन द्वारा जब वह सीता को स्ववश करने में असफल रहा तो यत्नपूर्वक व्यवस्थित रूप से अशोक

वृक्ष के नीचे ले जाकर रख दिया।

**जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।**
**सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम।।**

**(रा० ३/२९-ख)**

वियोग से पूर्व की प्रियतम की अन्तिम छवि सीता के हृदय में बसी हुई है। किस प्रकार सीता के सरल वचन सुनकर विहँसते हुए प्रभु ने धीरे से धनुष बाण उठाया था, किस प्रकार नेह भरे नेत्रों से सीता की तरफ देखते हुए उनकी रक्षा में लक्ष्मण को सतर्क रहने को कहा था, किस प्रकार धनुष पर बाण चढ़ाकर कनक मृग के पीछे अरुणाभ चरणकमलों से दौड़ते हुए चले थे। उन्हीं मनोरम दृश्यों का चिन्तन तथा प्रियतम के नाम का स्मरण करती हुई सीता अशोक वृक्ष के नीचे बैठी है। कितनी विकट परिस्थिति है! रावण के लिंए यह कोई नई बात नहीं, वह तो अनेकों देव, गंधर्व, किन्नर, नाग कुमारियों का अपहरण करके बलात् ले आया है, कितनी युवती नारियों ने कुछ काल तक अपनी विवशता के आँसू बहाये हैं, स्वयं को सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये हैं किन्तु अन्ततोगत्वा भय तथा प्रलोभन से प्रेरित हो स्वयं को राक्षस के पर्यंक में समर्पित किया है। रावण समझता है कि उसी प्रकार से यह सीता भी विवशता के आँसू बहाकर एक न एक दिन स्वयं को समर्पित कर देगी किन्तु वस्तुतः उसे किसी आर्य नारी के गौरवपूर्ण जीवन को देखने का शायद यह पहला ही सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सीता की निर्भयता, सत्त्वनिष्ठा तथा स्वाभिमान का दर्शन हमें आगे सुन्दरकाण्ड में होता है।

महीनों बीत गये हैं प्रियतम से बिछुड़े किन्तु अब तक कोई समाचार नहीं। राक्षसेन्द्र रावण का देवदुर्लभ ऐश्वर्य तथा नरभक्षी राक्षसों का चहुँ ओर प्रचण्ड ताण्डव उसके प्रलोभन तथा भय के लिए सदैव सम्मुख है। एक नहीं अनेक बार विश्वविजेता दशग्रीव स्वयं उस देवी के चरणों में उपस्थित हो अपना सर्वस्व समर्पित कर दास बनने की अनुनय विनय कर चुका है, केवल एक बार प्रणयपूर्ण कृपा कटाक्ष से देखने की लालसा से किन्तु वह सदैव अपने प्रयत्न में असफल हो प्राण हरण की धमकी देते हुए पुनः कुछ काल की अवधि देकर निराश हो लौट जाता है। कहाँ वह प्रतिपल प्रियतम का साथ जिसके वियोग की तो कल्पना ही दूर रही-

**बचन वियोग न सकी संभारी।**

वियोग की चर्चा ही पीड़ा पहुँचाने वाली होती थी और कहाँ यह स्थिति?

आज महीनों बीत गये हैं इस अशोक वृक्ष की छाया में बैठे, पल कल्प के समान कट रहे हैं। फिर भी एक झीनी सी बहुरि मिलन की आशा प्राण रक्षा में कारण बनी है। रावण के पंजों में पड़ी सीता ने बन देवताओं से सन्देश दिया था, गीधराज जटायु ने भी समाचार दिया होगा, गिरिशिखर पर बैठे वानर वीरों ने भी वस्त्राभूषण के साथ समाचार बताया होगा। एक दिन ढूंढते हुए प्रियतम अवश्य आवेंगे, अवश्य लंकापति का विध्वंस करके मुझे इस बंदीखाने से मुक्त कर निज अंक से लगायेंगे, यही आशा, यही विश्वास सीता के श्वासों का रक्षक बना है। कभी यह भी सोचती है कि प्राण विसर्जन कर दूँ, किन्तु यह याद करके कि कहीं समुद्र पार कर प्रियतम यहाँ आएँ और रावण सहित राक्षसों का विनाश करने पर यदि जीवित नहीं पायेंगे तो उनकी क्या दशा होगी? सीता अपने बिना राम के तथा राम के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकती है। वह इस महासंताप को सहन करते हुए भी जीवित है तो केवल राम के लिए अपने लिए नहीं। सीता के दुःखद जीवन की दशा देखिये।

विभीषण द्वारा बताए हुए यत्न से हनुमान अशोकवाटिका में प्रवेश करते हैं और उसी वृक्ष के ऊपर जा बैठते हैं जिसके नीचे स्वयं को समेटे हुए सीता बैठी अपने प्राणेश का चिन्तन कर रही है। उस अनिन्द्य सौन्दर्य की मूर्ति सीता को हनुमान ने देखा और-

**देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा।।**
**कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी।।**

**(रा० ५/८-७,८)**

**निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।**
**परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।।**

**(रा० ५/८)**

लंका में सीता को खोजते हुए हनुमान ने रावण के अन्तःपुर में देवों, गन्धर्वों, यक्षों, नागों की कन्याओं को देखा था, जो रावण के ऐश्वर्य में स्वयं को निमग्न किये हुए देव-दुर्लभ विषयानन्द का उपभोग कर रही थीं। उस अन्तःपुर में कई अन्य देशों, जातियों की राजकुमारियों को भी उसी अवस्था में देखा था, किन्तु राम के बताये हुए लक्षणों से युक्त महामानवी सीता का कहीं भी दर्शन नहीं मिला। आदि कवि ने हनुमान द्वारा रावण के अन्तःपुर की रमणियों में सीता को ढूँढने का बहुत ही विशद रूप में वर्णन किया है। आदि कवि द्वारा कई सर्गों में वर्णित इस

प्रसंग का गोस्वामी जी ने केवल कुछ अर्धालियों में ही संकेत कर दिया-

**मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।**
**गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।**
**सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।।**

**(रा० ५/५-५ से ७)**

रावण की रमणियों में सीता को न पाकर बुद्धिमान हनुमान यह निश्चय करते हैं कि जनकराज की तनया तथा श्रीराम की भार्या सीता भला स्वयं को रावण के अधीन कैसे कर सकती है? वह रावण की आज्ञा में कैसे रह सकती है? भय और प्रलोभन द्वारा वही नारियाँ अपने सत्त्व को समर्पित कर देती हैं जो अनुत्तम संस्कारों में पली होती हैं, जिनको आत्मगौरव की अपेक्षा उपभोग ही अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है, किन्तु विदेह नन्दिनी सीता के विषय में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। जो अपने प्रियतम का अनुगमन करते हुए सहर्ष मिथिला तथा अयोध्या के राजप्रासाद को त्याग दिया था, जो प्रियतम के अनुगमन में पयादे ही प्रसन्नतापूर्वक कंटकाकीर्ण काननों में विचरण करती रही, भला वह राक्षसेन्द्र के वैभव पर स्वयं को समर्पित कैसे कर सकती है?

इन्हीं विचारों ने महाकावि को पुनः सीता को ढूँढने के लिए उत्साहित किया और अन्त में प्रमदा वन में अशोक वृक्ष के नीचे अपने झुण्ड से विलग हुई सभीत मृगी के समान बैठी हुई सीता को देखा। उपवास करने से शरीर क्षीण हो गया है, बिना सँवारे काले कुंचित केश एक वेणी लट के रूप में परिणत हो गये हैं। श्रीराम के गुण समूह का चिन्तन करते हुए वह देवी अपने अंग को समेटे हुए आँखें नीची कर अपने चरणों में लगा रखा है और मन को श्रीराम के चरण कमलों में लगाये दीनावस्था में बैठी है। लोकाभिराम विश्ववंद्य श्रीराम की प्राणवल्लभा सीता की इस दशा को देख महाबली हनुमान के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उसकी अमित व्यथा का वर्णन महाकवि ने अपनी गीतावली में इस प्रकार किया है-

**देखी जानकी जब जाइ।**
**परम धीर समीरसुतके प्रेम उन न समाइ।।**
**कृस सरीर सुभाय सोभित, लगी उड़ि उड़ि धूली।**
**मनहु मनसिज मोहनी-मनि गयो भोरे भूलि।।**
**रटति निसिबासर निरंतर राम राजिवनैन।**

जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बैन।।

(गीतावली ५/२)

सीता के शरीर पर अंगराग की जगह उड़-उड़कर लगी हुई धूल शोभा पा रही है। ऐसा लगता है कि कामदेव भूल से अपनी भुवनमोहिनी मणि को ही यहाँ पर भूल गया हो। कमल नयन श्रीराम के नाम का रटन करती हुई सीता विरहाग्नि से संतप्त हो रही है। उनके संतप्त उच्छवास से भयभीत होकर विरहणियों को पीड़ा पहुँचाने वाला त्रिविध समीर भी निकट नहीं जाता।

हनुमान स्वयं श्री राम से अपनी आँखों देखी हुई सीता की दीनावस्था का वर्णन करते हैं-

सुनहु राम विश्रामधाम हरि ! जनकसुता अति बिपति जैसे सहति।
हे सौमित्रि-बन्धु करुनानिधि ! मन महँ रटति, प्रगट नहिं कहति।।
निजपद-जलज बिलोकि सोकरत नयननि बारि रहत न एक छन।
मनहु नील नीरज ससि-संभव रबि-बियोग दोउ स्त्रवत सुधाकन।।
बहु राच्छसी सहित तरुके तर तुम्हरे बिरह निज जनम बिगोवति।
मनहु दुष्ट इन्द्रिय संकट मह बुद्धि बिबेक उदय मगु जोवति।।
सुनि कपि बचन बिचारि हृदय हरि अनपायनी सदा सो एक मन।
तुलसिदास दुख-सुखातीत हरि सोच करत मानहु प्राकृत जन।।

(गीतावली ५/१७)

चन्द्रवदनी सीता अपने नीरज नेत्रों से इस प्रकार अविरल अश्रु वर्षा करती रहती है जैसे मानों चन्द्रमा में से उत्पन्न हुए दो नील कमल सूर्य के वियोग में सुधाकण बरसा रहे हों। वह राक्षसियों के मध्य रहती हुई उनके त्रास से संत्रस्त हो श्रीराम के आगमन का इन्तज़ार करती हुई अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत कर रही है जैसे दुष्ट विषयरत इन्द्रियों के मध्य में व्याकुल बुद्धि-विवेक उदय का रास्ता देख रही हो। कितनी दयनीय अवस्था है सीता की इस समय, इससे अनुमान लगाया जा सकता है। सीता जिस वाटिका में है वह 'प्रमदा वन' कहा जाता है। रावण की विहार वाटिका है। विश्व का समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य वहाँ चारों तरफ बिखरा पड़ा है। देवराज इन्द्र के नन्दन वन को लज्जित करने वाला राक्षसेन्द्र रावण का प्रमदा वन है। यह वन रावण को कितना प्रिय है इसका अनुमान हम महाकवि की इन पंक्तियों से ही लगा सकते हैं-

बासव-बरुन-बिधि-बनतें सुहावनो दसाननको कानन बसंतको सिंगारु सो।

**समय पुराने पात परत, डरत बातु, पालत लालत रति-मारको बिहारु सो।।**
**देखें बर बापिका तड़ाग बाग को बनाउ, रागबस भी बिरागी पवनकुमारु सो।**
**सीय की दसा बिलोकि बिटप असोक तर,'तुलसीं' बिलोक्यो सो तिलोक सोक सारु सो।।**

**(गीतावली ५/१)**

यह दशानन का बाग बसन्त का श्रृंगार है। इसके पुराने पत्तों के गिरते भी वायु भयभीत हो जाता है। यह बिरागी पवन कुमार के मन में भी राग उत्पन्न करने वाला है, किन्तु इतना सुहावना तथा सुन्दर सुखद कानन भी सीता के सन्ताप को दूर करने में समर्थ नहीं है। सीता को लाकर रावण ने इसी विचार से यहाँ रखा था जिससे उसका मन विरहजन्य व्यथा को भूल कर यहाँ पर रम जाये और धीरे-धीरे वह राम को भूल कर राक्षसेन्द्र के ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री बन जाये इसीलिए वह जनक-नन्दिनी को उस बाग में लाकर बैठाया था जो-

**मेघनाद तें दुलारो, प्रान तें पिआरो बागु,**
**अति अनुराग जियँ जातुधान धीर कें।।**

**(कवितावली ५/२)**

इससे यह तथ्य सामने आता है कि बाह्य शीतल सुखद साधनों से मनुष्य के अन्तः का सन्ताप दूर नहीं हो सकता। यह बिल्कुल सत्य है कि-

**जे हित रहे करत तेइ पीरा।**

**(रा० ५/१५-४)**

प्रतिकूलता में बाह्य प्रिय पदार्थ व सुखद साधन सुख की जगह अधिक पीड़ा पहुँचाने वाले हुआ करते हैं। वाल्मीकि ने इस प्रमदा वन के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि हनुमान इस वन को देखकर यह निश्चय करते हैं कि यदि सीता लंका में जीवित है तो वह अवश्य ही इस वन में आती होंगी क्योंकि वनवास सीता को अधिक प्रिय है। उन्होंने मिथिला तथा अयोध्या के राज प्रासाद का त्याग कर वनवास को ही पसन्द किया था। दुरात्मा रावण की यह अशोक वाटिका बड़ी ही रमणीय है। चन्दन, चम्पा और मौलसिरी के वृक्ष इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इधर पक्षियों से सेवित कमल मण्डित सरोवर भी बड़ा ही सुन्दर है। राजरानी जानकी इसके तप पर निश्चय ही आती होंगी। रघुनाथ जी की प्रिया तथा राजमहिषी सती सीता वन में घूमने-फिरने में बहुत कुशल हैं, वे अवश्य ही इधर आयेंगी।

श्रीराम की चिन्ता में अत्यन्त क्षीण हुई मृगसवाक्षी सीता वन की

विशेषताओं के ज्ञान में निपुण हैं। आज यहाँ इस तालाब के निकट वन में अपने सन्ताप को कम करने की चिन्ता में अवश्य ही आयेंगी। वाम लोचना देवी सीता श्रीराम शोक में संतप्त वनवास में प्रेम करने वाली हैं; वह वन में विचरती हुई इधर अवश्य आयेंगी। राम की प्रियतमा जनक नन्दिनी सीता अपने वनवास काल में अवश्य ही वन में विचरण करने वाले जन्तुओं से प्रेम करती रही होंगी। अतः यहाँ उनको देखने की रुचि से अवश्य ही आएंगी। हनुमान का यह निश्चय है कि-

**यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।**
**आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलां नदीम्।।**

**(वा० रा० ५/१४-५१)**

यदि चन्द्रवदनी सीता देवी जीवित है तो वह इस शीतल जल वाली सरिता के तट पर अवश्य ही पदार्पण करेंगी। जिस वन की सुषमा से मुग्ध हो हनुमान यह कल्पना कर रहे थे कि यह वन सीता के सन्ताप को दूर करने में सहायक होगा, उसी कानन के एक कोने में बैठी हुई जनक-नन्दिनी प्रियतम के विषम वियोग-जन्य सन्ताप से झुलस रही है यह हनुमान स्वयं अपनी आँखों से देख रहे हैं। अब उन्हें ऐसा लग रहा है मानो यह बाग तीनों लोक के शोक का सार है। महाकवि के शब्दों में -

**सियकी दसा बिलोकि बिटप असोक तर,**
**'तुलसी' बिलोक्यो सो तिलोक-सोक-सारु सो।**

**(कवितावली ५/१)**

हनुमान का यह सोचना कि जनक नन्दिनी-

**वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा।**

**(वा ५/१४-४८)**

पहले वनवासी जीवों से निश्चय ही प्रेम करती रही होंगी, कोरी कल्पना ही नहीं है। प्रियतम के संग तो उन्होंने वनवासी मृगों, पक्षियों के साथ ही अपनी एक अलौकिक दुनिया बसाई थी। केवल चित्रकूट में ही नहीं पंचवटी में भी उनके द्वारा लालित-पालित अन्य जन्तु खग-मृग पर्णकुटी की शोभा बढ़ाते थे। सीता हरण के बाद की उसकी दशा का वर्णन गीतावली में महाकवि इस प्रकार कर रहे हैं-

**हेमको हरिन हनि फिरे रघुकुल-मनि,**
**लषन ललित कर लिये मृगछाल।**
**आश्रम आवत चले, सगुन न भए भले,**

फरके बाम बाहु, लोचन बिसाल।
सरित-जल मलिन, सरनि सूखे नलिन,
अलि न गुंजत, कल कूजैं न मराल।
कोलिनि-कोल-किरात जहाँ तहाँ बिलखात,
बन न बिलोकि जात खग-मृग-माल।।
तरु जे जानकी लाए, ज्याये हरि-करि-कपि,
हेरैं न हुँकरि, झरैं फल न रसाल।
जे सुक-सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले,
तेऊ न पढ़त, न पढ़ावै मुनिबाल।।

(गीतावली ३/९)

इन पंक्तियों से यह पता चलता है कि केवल मृग छोनों से ही सीता को प्यार नहीं था वह हरि, करि, कपि को भी पालती थी। शेर, हाथी तथा बन्दरों को भी उसी प्रकार का लाड़ करती थी तभी तो वे अब हुंकार कर नहीं निहारते हैं, किन्तु ये सब खग-मृग, परिजन तो तभी तक थे, जब तक प्राणनाथ प्रियतम का साथ था। उनके वियोग में तो यह रावण की अशोक वाटिका ही क्या सुर-पुर भी नरक समान है। यहाँ पर हम समझ सकते हैं कि गोस्वामी जी के मानस की आदर्श नारी कितनी महान् है तभी तो उसके लिए लिखते हैं-

लोकप होहि बिलोकत तोरे। तोहि सेवहि सब सिधि कर जोरे।।

(रा० २/१०३-६)

इसके पीछे एक ही कारण है। वह है पति के प्रति अगाध भक्ति, अनन्य निष्ठा। त्रिभुवन का सम्पूर्ण वैभव अपने राम की अनन्यता पर सहर्ष न्यौछावर करने को सतत तैयार है। देव स्पर्धी लंका के विलासी वातावरण में भी वह वियोगिनी एक-एक पल कल्प के समान व्यतीत कर रही है। उसका प्रत्येक श्वास राम में ही रमा हुआ है। वह राम रहित स्वयं के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकती। विरहनि सीता की दशा को देख पवनसुत परम दुःखी हो विचार करने लगे कि इस समय किस प्रकार उन्हें सान्त्वना दी जाये, किन्तु उसी समय राक्षसराज रावण अपनी सहस्र सुन्दरियों के साथ सज-धज कर वहाँ आ पहुँचता है। वह बड़े मधुर वचनों में विश्व विश्रुत पौरुष तथा उसके प्रयोग से प्राप्त हुए देव-दुर्लभ ऐश्वर्य का प्रलोभन दिखा कर जनक-नन्दिनी को समझाने लगा। रावण को आया हुआ जान कर सीता सभीत मराली की भाँति अपने अंगों को समेट कर वृक्ष की जड़ में

सहम कर बैठ गई। उसके दोनों कमल नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग रही थी। रावण द्वारा अप्रिय तथा कर्णकटु शब्दों को न चाहते हुए भी सुनने को विवश थी। असहाय अबला भला ऐसी अवस्था में अश्रु विमोचन के सिवा और कर ही क्या सकती है? नमित मुख भयभीत सीता को देख रावण कहने लगा-

**कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी।।**
**तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा।।**

**(रा० ५/९-४,५)**

'हे सुन्दर मुख वाली सयानी सीते ! यदि तुम एक बार मेरी ओर देख लो तो मैं तुम्हें मंदोदरी आदि सम्पूर्ण रानियों की स्वामिनी बना दूँगा।' कल्पना कीजिए ज़रा ! विश्वविजयी रावण केवल एक बार निहारने की प्रार्थना कर रहा है। वह इस एक बार के बिलोकने पर ही अपना सम्पूर्ण वैभव सीता के चरणों में समर्पित करने को तैयार है। इतना ही नहीं मंदोदरी आदि राजमहिषियों को उनकी अनुचरी बनाने के लिए भी कृत संकल्प है। आदि कवि ने रावण द्वारा दिखाए गए प्रलोभन की व्याख्या में पूरा एक सर्ग ही लिखा है। यहाँ पर गोस्वामी जी ने केवल एक चौपाई में ही उसका सार व्यक्त कर दिया। ऊपर की अर्धालियों में भी इसका संकेत किया है-

**तेहि अवसर रावनु तहँ आवा। संग नारि बहु किएँ बनावा।।**
**बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दान भय भेद देखावा।।**

**(रा० ५/९-२,३)**

पहले उसने साम और दाम की ही बातें की हैं, किन्तु इसका परिणाम उसके लिए प्रिय नहीं रहा। स्वयं में सिमटी हुई अश्रुपूरित नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुए सीता ने तिनके की ओट से परम स्नेही प्रभु को स्मरण करते हुए उत्तर में कहा-

**तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही।।**
**सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा।।**
**अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बानकी।।**
**सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही।।**

**(रा० ५/९-६ से ९)**

जिस रावण के कोप की कल्पना से ही भयभीत हो देवता लोग अपना निवास छोड़कर भाग जाते थे, लोकपालादि जिसकी आज्ञा के अनुवर्ती थे उस

रावण के प्रणय प्रस्ताव को ठुकरा कर उसे तिरस्कृत वचनों में उत्तर देने का साहस एक आर्य नारी ही कर सकती है। कितना महान् आत्मबल है, कितना धैर्य पूर्ण साहस है! हे दशमुख ! सुन, सूर्य की रश्मियों के प्रकाश में प्रफुल्लित होने वाली कमलनि क्या कभी जुगनू के चमक में विकसित हो सकती है? इसी प्रकार तू स्वयं को भी समझ ले। अरे खल ! क्या तुम्हें रघुबीर के वाणों की भी खबर नहीं है? अरे सठ! सूने आश्रम में मुझ अकेली अबला को देखकर हरण करके यहाँ ले आया। अधम, निलज्ज! तुम्हें अपने पौरुष पर लज्जा नहीं आती? कितना तीखा प्रहार है, कितनी कठोर फटकार है। स्वयं को खद्योत तथा राम को भानुवत् सुन खीझकर रावण ने अपनी तलवार निकाल ली और क्रोधावेश में कहने लगा-

**सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।।**
**नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन हानी।।**

**(रा० ५/१०-१,२)**

अभी तक किसी नारी में इतना साहस नहीं हुआ था कि राक्षसेन्द्र रावण को इस प्रकार कठोर तथा तीखे शब्दों से तिरस्कृत किया हो। शायद उसे यह शब्द किसी अबला के मुख से प्रथम बार ही सुनने को मिले होंगे। शीघ्र जीवन हानि की चिन्ता सीता को नहीं है। वह आत्मा की अमरता में आस्था रखती है अतः नाशवान् शरीर की रक्षा में अविनाशी आत्मा को पतित करना उसे इष्ट नहीं है। रावण की आवेशपूर्ण प्राण हरण की धमकी को सुनकर सीता ने कहा-

**स्यामसरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर।।**
**सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठअस प्रवान पन मोरा।।**
**चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं।।**
**सीतल निसित बहिसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा।।**

**(रा० ५/१०-३ से ६)**

'हे दशग्रीव! श्याम कमल की माला के समान सुन्दर तथा करि तुण्ड के समान सुपुष्ट एवं विशाल जो मेरे प्रभु श्रीराम की भुजा है या तो वह भुजा मेरे गले में पड़ेगी और या तेरी घोर तलवार। हे सठ सुन, मेरी यह निश्चित प्रतिज्ञा है। सीता की यह प्रतिज्ञा वज्र के समान दृढ़ है, मेरु के समान अचल है। दुनिया की कोई शक्ति सीता को इस प्रण से विचलित नहीं कर सकती। पीड़ा और व्यथा की उन्हें चिन्ता नहीं, प्राणों की परवाह नहीं फिर विचलित होने का अवकाश ही कहाँ है? उस चन्द्रहास नाम की तलवार से सीता कहती है, रघुनाथ जी के विरह से

उत्पन्न हुआ मेरा सन्ताप तू हर ले। नाम के समान ही तेरी धार शीतल तथा तीव्र होगी यह मेरे विरहानल-जन्य भारी दुःख को हर लेगी। सीता को भयभीत करने के लिए रावण पुनः अपनी नंगी तलवार को निकाल कर उनकी ओर लपका, किन्तु मंदोदरी ने बीच में आकर नीतिमय वचन कहते हुए उसे रोक लिया। अन्त में उसने निशाचरियों को आज्ञा दी कि तुम लोग सीता को इस प्रकार संत्रस्त करो जिससे वह मेरी बात मान जाए। फिर मास दिवस की अवधि देते हुए बोला, यदि एक मास के अन्दर मेरी आज्ञा मान कर मेरे प्रणय प्रस्ताव को नहीं स्वीकार किया तो मेरे रसोइये इसका माँस काट कर मेरे प्रातःकालीन नाश्ते में मुझे अर्पण कर देंगे। नर-भक्षी निशाचरों के लिए यह कोई जघन्य कार्य नहीं था। उनका तो कहना ही है-

**नर कपि भालु अहार हमारा।**

**(रा० ६/८-९)**

रावण तो लौट गया, किन्तु सीता के दुःख की कोई सीमा न रही। व्यथा की बात तो यह थी कि एक तो महीनों से प्रियतम का वियोग और उस पर भी निशाचर राज की शूल सम पीड़ा पहुँचाने वाली वाणी, आखिर यह सब कुछ कब तक सहा जाये? सीता उदास होकर मृत्यु को वरण करना ही श्रेयस्कर समझती है। इसके लिए वह त्रिजटा से सहायता करने की प्रार्थना करती है-

**सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी।।**

**(रा० ५/१२-४)**

'हे माता! इस विपत्ति में तू ही एक मेरी संगिनी है। मेरे लिए तू कोई उपाय कर दे, थोड़ी सी लकड़ी लाकर चिता बना दे, माता फिर उसमें अग्नि लगा दे। मैं अपने प्रियतम के प्रेम में इस प्राण को विसर्जन कर दुसह विरहाग्नि से मुक्त हो सकूँ, ऐसा उपाय कर दें'। कितना संताप है, कितनी व्यथा है? वही सीता जो आततायी रावण के लिए वज्रवत कठोर है, वही अपने प्रियतम के विरह में मोमवत् पिघलती जा रही है, कितना विचित्र व्यक्तित्व है? रात्रि में कहीं भी अग्नि नहीं मिलेगी, इतना कह कर त्रिजटा चली जाती है। जिस प्रकार औषध के न मिलने पर रोग, आहार के न मिलने पर भूख तथा जल के न मिलने पर तृषा का नाश नहीं हो जाता, उसी प्रकार अग्नि के न मिलने पर सीता की विरहाग्नि समाप्त न होकर प्रत्युत बढ़ती ही जा रही है। वह असहाय अबला आकाश की ओर देखती है। निशा सुन्दरी के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले असंख्य तारागण उसे अंगार के समान ही प्रतीत होते हैं। वह सोचती है देखो मेरा दुर्भाग्य कैसा है। गगन मण्डल में

दहकने वाले यह अंगारे तारे एक भी टूट कर पृथ्वी पर नहीं आ रहे। पावकमय चन्द्रमा भी इस समय अग्नि कणों को नहीं गिरा रहा मानों उसने भी मुझे हत-भाग्य समझ लिया है। उसकी दृष्टि अशोक वृक्ष के नये पल्लवित कोपलों की तरफ जाती है जो अरुण रंग के होने के कारण उस विरहणि के लिए अनलशिखावत् प्रतीत हो रहे हैं। वह विक्षिप्त की भाँति विटप अशोक से ही अग्निवत् नूतन किसलयों को गिरा देने की याचना करने लगती है। सीता की इस दशा को हनुमान वृक्ष पर बैठे देख रहे हैं। विचार कर रहे हैं कि यदि कुछ क्षण सीता को सान्त्वना या कोई सहारा नहीं मिला तो वह अपने प्राणों का विसर्जन कर देगी। ऐसा सोच कर बुद्धिमानों में अग्रगण्य हनुमान ने जिस समय सीता अशोक से अग्नि की याचना कर रही थी, उसी समय प्रभु श्री राम की दी हुई मुद्रिका भूमि पर गिरा दी। सीता को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उनकी प्रार्थना सुनी गई और अशोक ने उनके शोक हरने की इच्छा से अंगारा दे दिया है। हर्षित होकर सीता ने उस जाज्वल्यमान मुद्रिका को जब हाथों में उठा लिया तो देखकर चकित रह गई। मुद्रिका प्रियतम की है, यहाँ पर कैसे आ गई? अपने अजय पति के पराक्रम का बोध है, उसी के विश्वास पर तो अब तक जीवित है। यह निश्चय है कि पराक्रमी प्रभु अपनी क्रोधाग्नि में रावण के सहित सम्पूर्ण लंका को भस्म कर मेरा उद्धार अवश्य करेंगे-

**चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदयँ अकुलानी।।**
**जीति को सकइ अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई।।**

**(रा० ५/१३-२,३)**

बहुत दिनों बाद आज प्रियतम की कोई वस्तु मिली है। वह कितनी प्रसन्न हैं, यह कौन अनुमान लगा सकता है, विषाद है कि यह यहाँ आई कैसे? रघुराई अजय हैं उनको जीतकर यह मुद्रिका यहाँ कोई ला नहीं सकता। यद्यपि मायावी निशाचर प्रत्येक कला में निपुण हैं, किन्तु माया द्वारा इस मुद्रिका का निर्माण नहीं हो सकता। फिर यह यहाँ कैसे आ गई, यही आश्चर्य हो रहा है। भक्तमत के अनुसार भगवान् के साथ सम्बन्धित सभी पदार्थ दिव्य तथा चिन्मय होते हैं। माया द्वारा उन चिन्मय पदार्थों की रचना नहीं हो सकती। सीता की यह कल्पना-

**जीति को सकइ अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई।।**

**(रा० ५/१३-३)**

इसी दिव्यता का संकेत कर रही हैं। गीतावली में महाकवि ने इस विषय में एक और अद्भुत रहस्य का उद्घाटन किया है। महाकवि ने वहाँ पर मुद्रिका

और सीता का प्रश्नोत्तर वर्णन किया है। दिव्य मुद्रिका जड़ नहीं चिन्मय है। महाकवि केशवदास ने भी रामचन्द्रिका में इसी प्रकार का भाव व्यक्ति किया है। मुद्रिका को हाथ में लेकर सीता कहती है-

सुखदा सिखदा अर्थदा रसदा यश दातारि।
रामचन्द्र की मुद्रकें किधौं परम गुरु नारि।।
श्री पुर हौं वन में तजि तू मग करि अनीति।
रे मुदरी कहु तियनको को करि है परतीति।।

इस दोहे में बहुत बड़ी उद्‌भावना है। सीता कह रही है राम के साथ नारी जाति से सम्बन्धित श्री(वैभव), मैं तथा तू ये तीन ही थी। विपत्तिकाल में ही नारी की परीक्षा होती है। राम पर अचानक राज्य छोड़कर वनवास का जीवन अपनाने को पिता की आज्ञा से एक महान् विपत्ति आ पड़ी, उसमें श्री तो राम को छोड़ कर अवध में ही रह गई। मैं और तुम साथ थी दुर्भाग्य ने मुझे भी उनसे अलग कर दिया। नारी संज्ञक केवल तू रघुनाथ के साथ रही, किन्तु मार्ग में अनीति कर तुमने भी उनको छोड़ दिया। भला मुद्रिके ! बता तो अब दुनिया में नारी जाति पर कौन विश्वास करेगा? भावविह्वला सीता मुद्रिका को हाथ में ले कर पूछती है और मुद्रिका उनको श्रीराम का समाचार सुनाती है। इस प्रसंग को गोस्वामी जी के शब्दों में गीतावली में पढ़िये-

बोलि, बलि, मूँदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु।
अमिय-बचन सुनाइ मेटहि बिरह-ज्वाला-जालु।।
कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु।
रोष छमि सुधि करत कबहू ललित लछिमन लालु?।।
परसपर पति-देवरहि का होति चरचा चालु।
देवि ! कहु केहि हेत बोले बिपुल बानर-भालु।।
सीलनिधि समरथ सुसाहिब दीनबंधु दयालु।
दास तुलसी प्रभुहि काहु न कह्यो मेरो हालु।।

(गीतावली ५/३)

सीता इस समय प्रेमोन्माद में विह्वल हो रही है। मुद्रिका से बार-बार पूछ रही है, प्रियतम कौशलपाल कृपाल का सन्देश सुनाकर मेरी विरह ज्वाला को तू शान्त कर दे। सबसे अधिक व्यथा उसे इस बात की है कि-

कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु।

हृदय में वह घटना सदैव शूलवत् पीड़ा पहुँचाती है। लक्ष्मण हित की बात कह रहे थे, किन्तु उनका अपमान किया, कटु वचन कहे। क्या लक्ष्मण मेरे उस अपराध को क्षमा करके मेरी याद कभी करते हैं? सत्य है, भद्र व्यक्ति से एक बार दैवयोगवश भी यदि कभी चूक हो जाए तो वह उसके लिए सदैव पश्चाताप करता रहता है। सीता की भी यही स्थिति है। यह भी जानने की अभिलाषा है कि पति और देवर में परस्पर क्या बातें हुआ करती हैं, उन्होंने कपि और रीछों को किस लिए एकत्र किया है? सीता को अभी हनुमान नहीं मिले हैं फिर भी वह राम के निकट वानर, भालु समुदाय को देख रही हैं। इस विषय में जानने की जिज्ञासा भी है। यह सीता के आन्तरिक तादात्म्य की उच्चतम अवस्था है, इसे वर्तमान की टैली-पैथी जैसी अवस्था कहा जा सकता है। सीता को यह भी विश्वास है कि यदि करुणानिधान को मेरे यहाँ पर होने का समाचार मिलता तो इतना विलम्ब न करते। उनको आश्चर्य है कि क्या किसी ने मेरे यहाँ होने का समाचार नहीं सुनाया? सीता के इस प्रकार के वचन सुनकर मुद्रिका उनको प्रबोध करती हुई बोली। भक्तिभावना में वह मुद्रिका चिन्मय थी, किन्तु वर्तमान की वैज्ञानिक उन्नति को देख कर यह उद्‌भावना की जा सकती है कि यदि उस समय पुष्पक विमानादि की उपस्थिति सम्भव है, विद्युत दीपों का भी आदि कवि संकेत करते हैं तो सम्भव है वह मुद्रिका भी कोई यन्त्र विशेष से युक्त हो। मुद्रिका के विषय में आदि काव्य में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। यह भक्तिकाल की ही उद्‌भावना है जिसके पीछे उसकी दिव्यता की भावना ही कारण है। मुद्रिका का उत्तर है-

सदल सलषन हैं कुसल कृपालु कोसल राउ !
सील-सदन सनेह-सागर सहज सरल सुभाउ।।
नींद-भूख न देवरहि, परिहरेको पछिताउ।
धीरधुर रघुबीरको नहि सपनेहू चित चाउ।।
सोधु बिनु, अनुरोध रितुके, बोध बिहित उपाउ।
करत हैं सोइ समय साधन, फलति बनत बनाउ।।
पठए कपि दिसि दसहु, जे प्रभुकाज कुटिल न काउ।
बोलि लियो हनुमान करि सनमान, जानि समाउ।।
दई हौं संकेत कहि, कुसलात सियहि सुनाउ।
देखि दुर्ग, बिसेषि जानकि, जानि रिपु-गति आउ।।
कियो सीय-प्रबोध मुंदरी, दियो कपिहि लखाउ।

**पाइ अवसर, नाइ सिर तुलसीस-गुनगन गाउ।।**

**(गीतावली ५/४)**

लगभग सीता के सभी प्रश्नों का उत्तर उन्हें मुद्रिका से मिल जाता है। भाई तथा मित्रों के साथ राम कुशल हैं। सरलता, शीलता, सबलता तथा वह स्नेह की साकार मूर्ति हैं। लक्ष्मण को न रात में नींद है न भूख, उनको केवल एक ही चिन्ता है कि आपको छोड़कर क्यों चले गये? धीर धुरीन राम के चित्त में तो प्रसन्नता कभी देखी ही नहीं, आपके विरह में लीन रहते हैं। वर्षा ऋतु आ जाने से कोई उचित उपाय नहीं कर पाये। अब आपकी खोज में दसों दिशाओं में वानर वीरों को भेजा है, जो कभी प्रभु के कार्य में कुटिलता नहीं करते अर्थात् सभी आज्ञाकारी हैं। हनुमान को सुयोग्य जानकर आदर सहित बुलाकर मुझे चिह्न रूप में उनको दिया और शत्रु की गतिविधि, उसका बल तथा विशेष रूप से आपका कुशल समाचार लेकर लौटने का कहा। इस प्रकार सीता को प्रबोध कर मुद्रिका ने हनुमान के हाथ अपने वहाँ पहुँचने का समाचार दिया। अवसर पाकर हनुमान राम की महिमा का गान करने लगे। मानस में सीता की व्याकुलता का तो वर्णन है, किन्तु सीता की इस भाव समाधि में मुद्रिका से बात करने का वर्णन गोस्वामी जी ने नहीं किया है। मुद्रिका के साथ भाव विभोर हो वार्तालाप करते हुए सीता को देख परमधीर हनुमान बालकों के समान रो पड़े-

**सुवन समीरको धीरधुरीन, बीर बड़ोइ।**
**देखि गति सिय-मुद्रिकाकी बाल ज्यों दियो रोइ।।**

**(गीतावली ५/५)**

हनुमान के सामने विकट समस्या यह है कि सीता के साथ किस भाषा में बात की जाए। वानर वेष में देव भाषा संस्कृत में वार्तालाप प्रारम्भ करने से सम्भव है कि सीता के मन में आशंका उत्पन्न हो और वह भयभीत हो जाएँ। ऐसा करने पर सीता अवश्य ही वानररूपधारी रावण वा कोई राक्षस ही समझेगी। हनुमान सोचते हैं कि सीता से मानुषी भाषा में ही वार्तालाप करना उचित होगा-

**अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।**
**मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता।।**

**(वा०५/३०-१९)**

अवश्य ही मुझे सार्थक मानुषी भाषा में ही बात करनी चाहिए अन्यथा मैं साध्वी सीता को उचित सान्त्वना नहीं दे सकूँगा। अन्त में निश्चय कर हनुमान

मानवी भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा में ही सीता को श्रीरामचरित सुनाने लगे। वाल्मीकि के इस कथन से इस रहस्य का भी उद्घाटन होता है कि प्राचीनकाल में भी संस्कृत से इतर कोई मानुषी भाषा थी, जिसमें जनसामान्य बातचीत किया करते थे क्योंकि संस्कृतभाषी विद्वानों की संज्ञा देव थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही ज्ञात होता है। हनुमान जिस भाषा में सीता को राम गुणगान सुना रहे थे वह अवश्य ही अयोध्या के क्षेत्र में बोली जानी वाली भाषा रही होगी क्योंकि सीता के हृदय में विश्वास एवं आत्मीयता की जागृति के लिए ही मानुषी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं और सुदूर लंका में अपने क्षेत्र के भाषाभाषी को सुनकर आत्मीय भाव की जागृति तथा उसमें रुचि होना स्वाभाविक है-

सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना।।
रामचन्द्र गुन बरनैं लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा।।
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई। आदिहुँ तें सब कथा सुनाई।।
कही सो प्रगट होति किन भाई। श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई।।
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ।।

(रा० ५/१३-४ से ८)

मानुषी भाषा में बात करने वाला एक वानर है, यह विस्मय की बात है। प्रभु गुणगान सुन संतप्त हृदय को कुछ शीतलता मिल गई थी, किन्तु विस्मय ने पुनः हृदय को क्षुब्ध कर दिया। सम्मुख बद्धांजलि हनुमान खड़े हैं, विस्मयाकुल सीता को देखकर अपना परिचय देते हुए बोले-

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की।।
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी।।

(रा० ५/१३-९,१०)

माता जानकी करुणानिधान की सत्य शपथ करके कहता हूँ कि मैं श्रीराम का दूत हूँ, यह मुद्रिका मैं ही लाया हूँ। श्रीराम ने आपके लिए यह मुझे निशानी रूप में दी है। यह करुणानिधान प्रभु का सम्बोधन सीता के लिए एक मुख्य सहिदानी हो गया क्योंकि इस नाम का परिचय सर्वप्रथम सीता को भगवती पार्वती से मिला था-

करुनानिधान सुजान सीलु सनेह जानत रावरो।

(रा० १/२३६-१०)

तब से सीता अकसर राम को इसी नाम से बुलाया करती थी। सन्तों का मत है कि श्रीराम ने हनुमान को परिचय रूप में यह नाम भी बताया था इसलिए

हनुमान ने इस नाम की शपथ खाई। यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक नारी अपने प्रियतम को पुकारने के लिए किसी नाम विशेष का प्रयोग करती है। यदि उस नाम को कोई व्यक्ति लेता है तो उसका अभिप्राय होता है कि वह उसके प्रियतम का ही प्रिय पात्र है। हनुमान की शपथ विश्वासप्रद तो है, किन्तु आश्चर्य है कि नर और वानर की संगति कैसी? उसके उत्तर में हनुमान ने सारी घटना बता दी। नीति अनुसार संकट में पड़े हों तो विपरीत प्रकृति वाले व्यक्तियों में भी मित्रता हो जाती है, दूसरा शत्रु के मित्र का शत्रु अपना मित्र बन सकता है यह असम्भव नहीं। हनुमान के विश्वसनीय वचनों को सुनकर सीता ने समझ लिया कि यह मन, कर्म, वचन से कृपासिन्धु का दास है, फिर क्या था धैर्य का बाँध टूट गया। कई महीनों के बाद रावण के बन्दीगृह में प्रियतम का सन्देश लेकर उनका कोई प्रिय सामने बद्धमस्तकांजलि मुद्रा में खड़ा है। कितने हर्ष की बात है, इसका अनुभव तो केवल कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। सीता की दशा बड़ी विलक्षण है-

**हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी।।**
**बूड़त बिरह जलधि हनुमान । भयहु तात मो कहुँ जलजाना।।**
**अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी।।**

**(रा० ५/१४-१,२,३)**

सचमुच सीता की वही अवस्था है जैसे समुद्र की अगाध जलराशि में डूबते हुए अचानक ही जहाज मिल गया हो। राम विरह वारिधि में सीता डूबने ही वाली थी, इसमें संशय नहीं। हनुमान का आगमन उनकी रक्षा में जलपोतवत् ही सिद्ध हुआ। अब आत्मीयता से प्रियता में वृद्धि हुई और कुशल प्रश्न करने लगी। मैं बलिहारी जाऊँ, सुख भवन खरारी की अनुज सहित कुशलता बताओ-

**कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।।**
**सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक।।**
**कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता।।**
**बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी।।**

**(रा० ५/१४-४ से ७)**

इन थोड़े शब्दों में ही सीताजी ने सब कुछ कह दिया। कितनी व्यथा है-कोमलचित कृपाल रघुराई की निठुराई पर। सेवक को सुख देना जिनकी सहज वृत्ति है वह एक अनन्य सेविका की सुधि भी नहीं लिए, इससे अधिक व्यथा की बात क्या होगी? अभिलाषा केवल इतनी ही है जिसके लिए इस असह्य वेदना को

भी सहना पड़ रहा है, क्या कभी मेरे ये संतप्त नेत्र श्यामल सुन्दर मृदुगात देख कर शीतल होंगे? हे प्राणेश ! हे नाथ ! आपने मुझे बिल्कुल ही भुला दिया इतना कहते हुए नीरपूरित नेत्रों से सीता मौन हो भाव समाधि में खो गई। सीता को अत्यन्त व्याकुल अवस्था में देख हनुमान विनम्र भाव से कोमल वाणी में बोले-

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तब दुख दुखी सुकृपा निकेता।।
जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम कें दूना।।

(रा० ५/१४-९,१०)

कितना मर्मस्पर्शी उत्तर है। हे माता ! सुन्दर कृपा के धाम, प्रभु अनुज समेत सकुशल रहते हुए भी आपके दुःख से दुःखी हैं। इसका अनुमान आप इतने से ही लगा सकते हैं कि आपसे उनका प्रेम आप में दूना है। अतः दुःख भी स्वभावतः दूना होगा ही। प्रेम की माप तोल हनुमान ने कैसे कर ली, यह एक विचारणीय विषय है? विद्वानों ने इस शब्द पर कई प्रकार के अटकलें लगा सीता के प्रेम से राम के प्रेम को तत्त्वतः दूना सिद्ध करने की कोशिश की है, किन्तु प्रेम अव्यक्त तत्त्व है, उसकी माप-तोल नहीं हो सकती। यहाँ दूना शब्द मुहावरे में प्रयोग हुआ है। परम विरहाकुल सीता को समझाने के लिए कि श्रीराम प्रभु हैं -

कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः सः प्रभु।

अर्थात् अनहोनी को होनी और होनी को अनहोनी करने की सामर्थ्य जिसमें हो, उसे प्रभु कहते हैं। ऐसे प्रभु की अकुशलता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती-

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई।।

(रा० ३/२८-४)

किन्तु कृपानिकेत होने से आपके विरह दुःख से दुःखी हैं। सीता का यह कहना कि-

अहह नाथ हौं निपट बिसारी।

उनको परम विरहाकुल कर दिया। यहाँ सीताजी प्रेम विरह की दसवीं अवस्था को प्राप्त होने वाली हैं। विरही की दस दशाएं कही गई हैं-अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृत्यु। सीताजी की सात दशाओं का वर्णन किया गया है आठवीं अवस्था व्याधि है। व्याधि संताप को कहते हैं; यही संताप जड़ता का कारण बन जाता है। बाद में यदि वह स्थिर रह गया तो विरही की दसवीं दशा मृत्यु अनिवार्य है। हा नाथ ! आपने मुझे बिल्कुल

भुला दिया, यही संताप का कारण है। इसी से जड़ता की अवस्था आ गई-

**बचनु न आव नयन भरे बारी।**

**(रा० ५/१४-७)**

अब मरण की आशंका उपस्थित हो गई। ऐसी अवस्था में "बुद्धिमतां वरिष्ठं" हनुमान स्वयं परम विरहाकुल सीता को देखकर अधीर हो गए। सीता के संताप को दूर करने वाली परम कोमल वाणी में यह कहते हुए कि आप अधीर न हों माता! आपमें राम का प्रेम आपसे भी अधिक है, यह कह कर हनुमान ने सीता को सांत्वना दी है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि दोनों के प्रेम को तोलकर निर्णय दिया है। राम का सन्देश सुनने के लिए व्याकुल सीता को सम्बोधित करते हुए हनुमान कह रहे हैं-

**रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।**
**अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर।।**

**(रा० ५/१४)**

राम ने कहा था-

**बहु प्रकार सीतहिं समझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु।।**

**(रा० ४/२३-११)**

आगे की अर्धालियों में हनुमान ने राम के विरह का ही कथन किया है। श्रीराम के शब्दों में ही दुहरा रहे हैं-

**कहेउ राम बियोग तब सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता।।**
**नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू।।**
**कुबलय बिपिन कुंज बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।।**
**जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा।।**
**कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।।**
**तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।।**
**सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं।।**

**(रा० ५/१५- १ से ७)**

हनुमान ने पहले अपने मृदु वचनों से सीता को धीरज बँधाया फिर राम के विरह को उन्हीं के शब्दों में व्यक्त किया। एक नारी की अपेक्षा एक प्रतिष्ठित पुरुष की अपनी प्राणप्रिय प्रियतमा के वियोग की घड़ी अधिक पीड़ा प्रद होती है क्योंकि नारी अपनी विरह व्यथा को किसी नारी को सुना कर हृदय को हल्का कर

लेती है, उसे सजातीय सहानुभूति भी प्राप्त हो जाती है, किन्तु पुरुष के लिए यह सम्भव नहीं है। यही कारण है कि वह विरहजन्य संताप को अपने अन्दर ही अन्दर सहता रहता है, किन्तु बाहर प्रकट नहीं कर पाता बल्कि उल्टा उसे धैर्य का नाटक भी लोगों के समक्ष रचना पड़ता है। कितनी विकट स्थिति होती है उस प्रतिष्ठित विरही पुरुष की, ज़रा कल्पना कीजिए। अन्दर हाहाकार मचा रहता है, किन्तु बाहर वह परम प्रसन्नता का स्वांग करता है। अन्दर विरह की ज्वाला धधकती रहती है, किन्तु बाहर वह सौम्यता एवं शीतलता का प्रदर्शन करता है। उसे अपने संतप्त हृदय से निकले हुए गर्म आँसुओं को भी बाहर निकालने की सुविधा नहीं होती, उसे भी वह भीतर ही भीतर पी लेता है। ओह ! कितनी क्रूरता है इस जागतिक प्रतिष्ठा की निष्ठुर निर्ममता में। ऊपर की अर्धालियों में एक ऐसे ही प्रतिष्ठित विरही की दशा का वर्णन किया गया है जो अपनी विरहजन्य पीर को अन्दर ही अन्दर पीकर रह जाता है पर कहीं प्रकट नहीं कर पाता। इस दर्द के दुराव में उसे असह्य वेदना की अनुभूति होती है फिर भी आह तक नहीं कर पाता। कारण केवल जागतिक आदर्श के आवरण की सँभाल है। ऐसी दशा में प्रकृति के सारे वैभव विपरीत परिणाम प्रकट करने वाले हो जाते हैं। बसन्त ऋतु में पल्लवित होने वाले वृक्षों के नव किसलय कृसानुवत् प्रतीत होने लगते हैं, पूर्णिमा की चाँदनी रात कालरात्रिवत् हो जाती है और शीतल ज्योत्स्नायुक्त चन्द्रमा प्रचण्ड किरणों से युक्त ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान संतप्त करने वाला हो जाता है। इतना ही नहीं प्रफुल्लित कमल के वन हृदय को बेधने वाले भाले के वन के सदृश दीखते हैं। जीवन को सरस तथा हृदय को आह्लादित करने वाली वर्षा ऋतु की सुहावनी रिम-झिम की फुहार ऐसी लगने लगती है मानो तप्त तेल की वृष्टि हो रही है। शीतल-मन्द तथा सुमन सौरभ से युक्त सुगन्धित वायु ऐसी लगती है मानो विषधर की फुफकार हो। यह बात सत्य है कि कह देने से हृदय का उफान कुछ बाहर निकल जाता है और पीड़ा में कमी आ जाती है, किन्तु कहा किससे जाए? यह सौभाग्य तो नारी को सुगमता से सुलभ हो जाता है, पर पुरुष के लिए प्रायः असम्भव सा ही होता है क्योंकि नारी की अपेक्षा प्रकृति से पुरुष अनुदार तथा कठोर होता है। उसमें सजातीय के प्रति सहानुभूति भी कम होती है। यही कारण है कि नारी की अपेक्षा पुरुष का व्यक्तित्व अधिक उलझनपूर्ण, कसा हुआ होता है। वह सदैव अपने को सम्पृक्त व्यक्त करने की कोशिश भी इसलिए करता है कि कहीं उसकी ममता का मज़ाक न बना लिया जाये, किन्तु नारी अपनी इस हार्दिक

सम्पत्ति पर गर्व करती है और उसी को अपनी साधना की सिद्धि समझती है। राम का यह कथन कि-

**काहि कहौं यह जान न कोई।**

**(रा० ५/१५-५)**

पुरुष सजातीय के प्रति अनुदारता तथा हृदयहीनता का अवबोधक है। सीता ऐसा अनुभव नहीं कर सकती है क्योंकि उसको लंका ऐसी राक्षसी वृत्ति से पूर्ण नगरी में भी त्रिजटा जैसी नारी उसके दुःख में सहानुभूति प्रकट करने वाली मिल गई है-

**मातु बिपति संगिनि तैं मोरी।**

**(रा० ५/१२-१)**

वह सीता को आत्महत्या जैसे अनर्थक कार्य से विरत करती है और प्रियतम राम के प्रताप तथा पौरुष का वर्णन कर धैर्य बँधाती है, किन्तु राम ! राम को अपनी सम्पूर्ण असह्य विरह वेदना को पीना पड़ता है और कहीं गीध का संस्कार करना पड़ता है, कहीं शबरी को भक्ति की अनन्यता का उपदेश सुनाना पड़ता है तो कहीं नारद ऐसे विरही के प्रति व्यंग्य भाव रखने वाले के समक्ष परम प्रसन्नता का नाटक करना पड़ता है-

**बैठे परम प्रसन्न कृपाला।**

**(रा० ३/४१-४)**

किन्तु यह सब विरह की वेदना से दिल को बहलाने की बातें हैं। कितना भी दबाया जाए किन्तु हृदयगत भाव तो प्रकट हो ही जाता है। सुग्रीव ने लाकर वस्त्राभूषण दिया, यह कहते हुए कि एक दिन मैंने आकाश मार्ग से बिलखती हुई जा रही नारी की दयनीय दशा को देख राम-राम कहा तो उसने मेरी तरफ देखकर कुछ वस्त्राभूषण आदि गिरा दिए। वस्त्राभूषण देखते ही दबी हुई पीड़ा उबल पड़ी—

**पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।**

**(रा० ४/५-६)**

इतना ही नहीं राम अधीर होकर व्याकुल हो गए। राम की उस दशा का संकेत हमें सुग्रीव के इस कथन से मिलता है-

**कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा।।**
**सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई।।**

**(रा० ४/५-७,८)**

वर्षा ऋतु वर्णन के प्रारम्भ में ही-

**घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।।**

**(रा० ४/१४-१)**

कहकर राम अपने अन्तर् की पीड़ा को प्रकट करते हैं। वर्षाकाल बीत जाने पर भी सीता की खोज में कर्त्तव्यविमुख मित्र सुग्रीव की उसी बाण से वध करने की घोषणा करते हैं जिससे महाबलि बाली का वध किया था। सुबेलगिरि पर बैठे हुए चन्द्रमा को देखकर विरहवन्त नरनारी को संतप्त करने वाला बताते हुए अपने अन्तरभावों को प्रकट करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राम के अन्तर्निहित विरह पीर समय-समय पर उफन आती है, किन्तु किसी से खुलकर बताई नहीं जाती इसलिए कहते हैं-

**काहि कहौं यह जान न कोई।**

**(रा० ५/१५-५)**

आगे की दो अर्धालियों में प्रेमतत्त्व का सार व्यक्त कर दिया है-

**अरथु अमित अति आखर थोरे।**

**(रा० २/२९४-२)**

यह उक्ति यहाँ भी चरितार्थ हो रही है। इतने कम शब्दों में इतने गहन दर्शन को व्यक्त करना यह महाकवि की प्रखर प्रज्ञा का ही चमत्कार है। प्रेम की दार्शनिक दृष्टि से अब तक जितनी व्याख्या विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई है उन सबसे सूक्ष्म, स्पष्ट और सुन्दर व्याख्या इन दो अर्धालियों में गोस्वामी जी ने करके प्रेमतत्त्व की अनुभूति में उसके तह तक पहुँचने का परिचय दिया है। 'हे प्रिय! तुम्हारे और मेरे प्रेम के तत्त्व को केवल एक मेरा मन ही जानता है और वह मन सदा तुम्हारे पास रहता है, इतने में ही तुम प्रीति रस को जानलो। प्रेम का सार ही यह है कि प्रेमी का मन सदा प्रेमास्पद में लगा रहे और प्रेम तत्त्व को जानने वाला मन ही प्रेमास्पद में लग सकता है। प्रेमतत्त्व से अनभिज्ञ मन तो विभिन्न विषयों में ही भटका करता है। प्रेम के स्वरूप को प्रेमाचार्यों ने अनिर्वचनीय कहा है-

**अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं।**

वह किसी कारण से नहीं, कारण रहित हुआ करता है-

**गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानम्।**

यही कारण है कि प्रेमी अपने प्रेमास्पद के साथ अभिन्न हो जाता है। "तन्मया" वह सदैव प्रेमास्पदमय ही होता है। जब मन ही अपने पास नहीं रहता तो

स्मृति वा विस्मृति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है-"है नहीं जो पास निज के याद फिर आये कहाँ से।" सीता के विरह में राम की ऐसी दशा है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम के लिए द्वैत होना ज़रूरी है जिसे भोक्ता तथा भोग्य कहते हैं, किन्तु प्रेम सिद्धान्त की दुनिया ही न्यारी है। वहाँ भेद के लिए तनिक भी अवकाश नहीं होता। अभेद में भेद तथा भेद में अभेद यह अद्भुत गति प्रेम की हुआ करती है इसलिए प्रेम को परम तत्त्व माना जाता है और अनिर्वचनीय कहा जाता है। राम का सन्देश सीता सुन रही है साथ ही अपनी दशा का भी उन्हें भान हो रहा है। वाल्मीकि ने भी इस प्रकार की दशा का वर्णन किया है। हनुमान कहते हैं कि आपके वियोग में राम की ऐसी दशा हो गई है कि उनके शरीर पर मच्छर, पतंगे यहाँ तक कि सर्प भी घूमते रहते हैं किन्तु उनको उनका भान तक नहीं होता। रात में नींद भी नहीं आती ज़रा सी कहीं झपकी लग जाए तो भी वे "हा सीता" कहते हुए व्याकुल हो उठते हैं। प्रिय का वियोग इतना दुःखद होता है यह तो वियोगी ही जान सकता है। सचमुच जिसने कभी प्रेम किया ही नहीं वह प्रेमी की आहों को जाने ही क्या? भक्तिमति मीरा के शब्दों में-

**घायल की गति घायल जाने जो कोउ घायल होय।**

इस विरह सन्देश में राम ने शरीर, वचन और मन की स्थिति का वर्णन किया है। शरीर तप रहा है, वचन से बोला नहीं जाता, मन सदा तुम्हारे पास है। सीता को लगता था कि प्रभु ने उन्हें बिल्कुल ही विसार दिया है किन्तु प्रियतम की दशा तो उनसे भी दयनीय है। वे अपने दुःख को कह लेती हैं, रो लेती हैं, किन्तु राम के लिए तो यह भी सम्भव नहीं है-

**प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही।।**

**(रा० ५/१५-८)**

प्रियतम का सन्देश सुनकर सीता प्रेम में निमग्न हो गई, शरीर की भी सुधि न रही। हनुमान ने पुनः धैर्य बँधाकर प्रभु के पौरुष का वर्णन किया और बताया कि प्रभु के बाणरूपी सूर्य के समक्ष ये निशाचर अन्धकार के समान हैं अर्थात् जब तक राम बाणरूपी रवि उदय नहीं हुआ तभी तक इनका अस्तित्व है। सीता ने अपने आन्तरिक भय को व्यक्त करते हुए कहा-

**हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना। जातुधान अति भट बलवाना।।**

**(रा० ५/१६-६)**

**मोरें हृदय परम संदेहा।**

रावण को युद्ध में जीतना कोई खेल नहीं है। समस्या बड़ी विकट है। जातुधान महाबली हैं और संख्या में भी अगणित हैं। एक तो रावण की दी हुई अवधि एक मास है अकेले राम महीने भर में यह सारा काम कैसे कर लेंगे? सहायक यदि तुम्हारे समान ही अल्प बल वाले होंगे तो अवधि के भीतर मेरा उद्धार सम्भव नहीं। सीता को भयमुक्त करने के लिए हनुमान अपने विशाल रूप को प्रकट करते हैं।

वाल्मीकि ने इस अवसर पर सीता के व्यक्तित्व को निखारने वाले एक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रसंग का वर्णन किया है किन्तु तुलसीदास ने उसको यहाँ नहीं लिखा। सीता को दुःखित देखकर हनुमान कहते हैं कि देवी ! आप अभी मेरी पीठ पर बैठ जाओ मैं आपको लेकर अभी आज ही श्रीराम से मिला दूँ। मेरे में इतनी क्षमता है कि मैं आपको लेकर आराम से चला जाऊँगा, ये राक्षस हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेंगे। हनुमान के आग्रह को अस्वीकार करते हुए सीता ने कई बहाने लगाये यह कहते हुए कि कहीं राक्षस तुम्हारा पीछा किये, कहीं युद्धकाल में तुम मुझे सँभाल न सके, कहीं मैं समुद्र में भय से गिर गई आदि-आदि। अन्त में सीता कहती है कि हनुमान बात तो सत्य यह है कि मैंनें आज दिन तक स्वेच्छा से कभी दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं किया है। अपहरण करते हुए रावण ने मेरा स्पर्श अवश्य किया था, किन्तु वत्स! तुम सोचो कि मैं अबला उस समय असहाय थी, कर ही क्या सकती थी? हनुमान! मैं यह भी नहीं चाहती कि इस प्रकार हम चुपके से बिना रावण का विनाश किये यहाँ से चले जाएँ। मुझे अपने प्रियतम के पुरुषार्थ का बोध है, मैं चाहती हूँ कि राम यहाँ आएँ और इस दुष्ट रावण का वध कर स्वयं मुझे इस बन्दीखाने से मुक्त करें और उसी अवस्था में मैं यहाँ से जाना पसन्द करती हूँ। अपने कुल की मर्यादा के अनुसार यही उचित भी है। यहाँ सीता के शब्दों में कितना महान् गौरव है? राक्षसियों के मध्य में रहते हुए, शूलसम वाणी सुनते हुए, रावण के त्रास से संत्रस्त होते हुए भी सीता को चोरी से शत्रु को बिना उसकी दुष्टता का परिणाम दिखाए भाग जाना प्रिय नहीं है। उनकी अधीरता ऐसी नहीं है जो पलायन के लिए उनको विवश कर दे। अपहरणकर्त्ता को उसके कुकृत्य के बदले में उचित दण्ड दिये बिना लौट आना उनको प्रिय नहीं है और न तो इस विरह संताप से बचने के लिए वह अपने परपुरुष अस्पर्श के व्रत का त्याग करने को ही उद्यत है। कितना महान् धैर्य है, कितनी प्रबल निष्ठा है अपने गौरव की सुरक्षा के प्रति।

लंका दहन करने के पश्चात् हनुमान पुनः सीता जी के समक्ष उपस्थित होते हैं। राघव के लिए कोई सन्देश तथा चिह्न दिखाने के लिए माँगते हैं-

**मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा।।**

**(रा० ५/२७-१)**

सीताजी अपनी चूड़ामणि उतारकर दे देती हैं साथ में सन्देश कहती हैं-

**कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरनकामा।।**
**दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी।।**
**तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु।।**
**मास दिवस महुँ नाथु न आवा। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा।।**

**(रा० ५/२७-३ से ६)**

प्रभु तो सर्वविध पूर्ण काम हैं सम्भव है उनको किसी की आवश्यकता न हो, किन्तु दीनदयाल को अपने विरद की संभाल तो करनी ही चाहिए। शरणागत की रक्षा करनी प्रभु का विरद है। मुझ शरणागत की इस भारी विपत्ति को हरण करना प्रभु के विरद रक्षा का ही कार्य है। सक्रसुत की कथा के पीछे भी यही भाव है। जब देवराज इन्द्र के पुत्र को भी मेरा अपराध करने पर पूर्णतः क्षमा नहीं किया तो यहाँ अब राक्षस-राज स्वयं अनेकों प्रकार से मुझे पीड़ित कर रहा है, फिर भी इतना विलम्भ क्यों कर रहे हैं? सक्रसुत के लिए तिनके का प्रहार ही असह्य हो गया था तो इस राक्षस के लिए क्या प्रभु के बाणों का प्रहार सह्य होगा? उन अमोघ बाणों का उपयोग अब कब होगा? इससे भी असह्य दुःख क्या हो सकता है कि रघुवीर की भार्या राक्षस के बन्दीखाने में महीनों से तड़प रही है। मास दिवस में यदि स्वामी का आना न हुआ तो मुझे फिर जीवित नहीं पायेंगे। यह दृढ़ निश्चय है सीता का कि रावण की दी हुई अवधि के अन्तिम क्षण में स्वयं ही आत्महत्या करके शरीर विसर्ज कर देना है, किन्तु उस दुष्ट के हाथों नहीं मरना। महीनों की लम्बी अवधि जिसमें निमिष कल्प के समान व्यीतत हो रहा था, के पश्चात् राक्षस के बन्दीगृह में एक प्रियतम का कोई प्यारा मिला जिससे प्रियतम का सन्देश तथा उनकी आन्तरिक दशा का परिचय भी प्राप्त हुआ। अपनी बहुत सी अन्तर की पीड़ा को सुना देने से कुछ शान्ति तथा शीतलता भी मिली किन्तु थोड़ी ही देर में दुःखिया का अवलम्बन छूट जाने के लिए तैयार हो गया, कितनी असह्य पीड़ाप्रद है यह विदा होने की माँग। यह तो अनिवार्य है फिर भी चाह है कि कुछ क्षण ही और पास रह जाए। वह प्राण रक्षा का अवलम्बन जो विरह वारिधि में डूबने से बचा

लिया था-

कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना।।
तोहि देखि सीतलि भई छाती। पुनि मो कहुँ सोइ दिनु सो राती।।
(रा० ५/२७-७,८)

कितनी संकटपूर्ण घड़ी पुनः सामने आने वाली है। कितना भयानक वह दृश्य है जो हनुमान के जाते ही पुनः सीता के समक्ष उपस्थित होने वाला है, इतने पर भी उनके साहस को देखिये वे हनुमान के साथ जाने को तैयार नहीं। इतना महान् साहस आर्य नारी के सिवा और कौन कर सकता है? हनुमान की विदाई का दुःखद दृश्य गोस्वामी जी ने गीतावली में इस प्रकार वर्णन किया है-

कपिके चलत सियको मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो।।
कहन चह्यो सँदेस, नहिं कह्यो, पियके जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषमके पथिक ज्यों धरनि तरनि-तायो।।
मीचतें नीच लभी अमरता, छलको न बलको निरखि थल परुष प्रेम प्रायो।
कै प्रबोध मातु-प्रीतिसों असीस दीन्हीं ह्वैहै तिहारोई मन भायो।।
करुना-कोप-लाज-भय-भरो कियो गौन, मौन ही चरन कमल सीस नायो।
यह सनेह-सरबस समौ, तुलसी रसना रूखी, ताहीं ते परत गायो।।
(गीतावली ५/१५)

हनुमान के चलते ही सीता का हृदय भर आया। शरीर रोमांचित हो गया और नेत्र नीरपूरित हो गए। कुछ सन्देश कहना चाहते हुए भी प्रियतम की अवस्था को विचारकर नहीं कहा। अपनी दुःसह पीड़ा को अन्तर में ही छिपा लिया। सीता की वह दशा देखकर हनुमान व्याकुल हो गये, उसी प्रकार जैसे ग्रीष्म की धूप से जलती हुई धरती पर पाँव रखते हुए राही तिलमिला उठता है। उन्हें अपनी अमरता मृत्यु से भी बुरी लगी अभिप्राय यह कि इस दशा को देखकर जीवित रहना प्रिय नहीं लगा। वहाँ छल या बल किसी का भी अवसर न देखकर अपना प्रेम कठोर लगने लगा। तब मातृवत् वात्सल्य भाव से सीता ने उन्हें समझाकर आशीर्वाद दिया और कहा तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। फिर हनुमान ने सीता की दशा देखकर करुणा तथा रावण की क्रूरता पर कोप, अपने जाने की मजबूरी पर लज्जा तथा सीता के परम दुःख की आशंका से भयभीत होते हुए भी मौन हो सीता के चरणों में सिर झुकाकर प्रस्थान किया। महाकवि कह रहे हैं कि रूखी रसना ने ही उस समय की

करुण कथा का वर्णन किया है अन्यथा सरसता में कुछ कहने की शक्ति कहाँ होती है अर्थात् वह तो स्वयं ही उस करुण दृश्य में डूब जाती है।

इसी सन्दर्भ में हमें सीता के हृदय पक्ष का आगे एक बार पुनः दर्शन होता है जब हनुमान भगवान् राम के समक्ष उनका सन्देश सुनाते हैं। राम को भी सीता जीवित है यह समाचार सुनकर आश्चर्य हुआ। वह सीता जो कभी वचन वियोग को भी नहीं सह सकती थी अब इतनी लम्बी अवधि तक के वियोग को कैसे सह सकी? इसलिए हनुमान से यह जानने के लिए राम पूछते हैं-

**कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की।।**

**(रा० ५/३०-८)**

जानकी अपने प्राणों की किस प्रकार से रक्षा करती है? घोर निशाचरों के मध्य में रहते हुए प्रियतम वियोग की पीड़ा को सहना कोई सरल बात नहीं है। राम की इस उत्सुकता को देखकर हनुमान ने जिस दशा में सीता अपने प्राणों की रक्षा कर रही है वह बताया-

**नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**
**लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट।।**

**(रा० ५/३०)**

हे राघव ! प्राणों के निकलने के सारे रास्ते बन्द हैं। आपका नाम रातोंदिन पहरा देता है अर्थात् अहर्निश आपके नाम का स्मरण चलता रहता है। चित्त आपके स्वरूप चिन्तन में लगा रहता है, यह प्राणों के निकलने के सारे दरवाज़ों को बन्द कर रखा है। समाधि की अवस्था में प्राण उत्क्रमण के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं। वह मूर्धा में होते हुए चित्ताकाश में स्थित हो जाता है, उस अवस्था में समस्त प्राण शक्ति उदान वायु के रूप में ही शेष रह जाती है बाकी सारे शरीर का व्यापार शान्त हो जाता है इसलिए यहाँ पर ध्यान को कपाट कहा है। उनकें अपने नेत्र निज़ पद में ही लगे हैं मानों उस पर ताला लग गया हो। फिर प्राण किस रास्ते से जाएँ? इसी दृश्य में हनुमान ने सीता को देखा भी था-

**निज पद नयन दियँ मन राम पद कमल लीन।**

**(रा० ५/८)**

आगे सीता का सन्देश सुनाते हुए कहा-

**चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदयँ लाइ सोइ लीन्ही।।**

**(रा० ५/३१-१)**

चलते समय मुझे चूड़ामणि दी थी । इतना कहते हुए हनुमान ने प्रभु के करकमलों में उसे समर्पित कर दिया। रघुवीर ने उसे लेकर हृदय़ से लगा लिया-

**नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी।।**
**अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बंधु प्रनतारति हरना।।**
**मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहिं अपराध नाथ हौं त्यागी।।**
**अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।।**
**नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।।**

**(रा० ५/३१-२ से ६)**

यहाँ पर नाथ सम्बोधन बड़ा सार्थक है। अनाथ सी पड़ी हुई रात-दिन पीड़ा सह रही सीता का समाचार सुनाना है इसलिए अश्रुपूरित दोनों नेत्रों से जनकनन्दिनी ने आपको निवेदन करने के लिए कुछ वचन कहे हैं। भाई के सहित प्रभु की चरणवन्दना करना और शरणागत के दुःख दूर करने वाले दीनबन्धु प्रभु से निवेदन करना। मन, वचन, कर्म से प्रभु के चरणों में अनुराग करने वाली मुझ अबला को सर्वसमर्थ होते हुए नाथ ने अनाथ की तरह क्यों छोड़ रखा है, कितने दर्द भरे शब्द हैं ये? एक ऐसी नारी जो अपने प्रियतम के नेह को ही अपना सर्वस्व समझती हो, उसकी इस प्रकार से उपेक्षा करना उचित नहीं है, यही भाव है उपर्युक्त कथन में। यहाँ अनुज समेत प्रभु के चरण पकड़ने में अत्यन्त अधीरता का संकेत है अन्यथा लक्ष्मण छोटे हैं और छोटों के चरण नहीं पकड़ा जाता। अधीरता में ही ऐसी क्रिया होती है जैसे राम वनगमन के समय कौशल्या माता की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है-

**बहुबिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनी आपुहि जानी।।**

**(रा० २/५७-६)**

यहाँ पर एक दूसरा कारण भी है वह यह कि सीता के हृदय में इस बात का संताप है कि- "कहत हित अपमान मैं कियौ।" रावण के पंजे में पड़ जाने पर भी इस संताप को प्रकट करते हुए क्षमा प्रार्थना की थी-

**कहे कटु बचन, रेख नांघी मैं, तात छमासो कीजै।।**

**(गीतावली ५/७)**

मुद्रिका से भी यही पूछती रही-

**रोष छमि सुधि करत कबहू ललित लछिमन लालु।**

**(गीतावली ५/३)**

उस अपराध को स्मरण करके हीं "अनुज समेत गहेउ प्रभु चरना" कहा है। प्रभु की प्रतिज्ञा है-

**कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।।**

**(रा० ५/४४-१)**

गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में भी लिखा है-

**कैसेउ पांवर पातकी जिन्ह लइ नाम की ओट।**
**गांठी बांधी राम सो परिखेउ न फेरि खर खोट।।**

राम की शरणागत पालकता की महिमा आदि कवि ने भी गाई है। विभीषण शरणागति के समय पर राम की यह घोषणा है कि

**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।**

**(वा० ६/१८-३३)**

एक बार भी कोई शरण में आकर कह दे कि मैं आपका हूँ उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियों से अभय कर देता हूँ यह मेरा व्रत है। वह शरण में आने वाला कैसा भी क्यों न हों।

**कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी।।**
**तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए।।**

**(रा० २/२९९-२)**

सीता की व्यथा का यह एक मुख्य कारण है-"केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।" वह कौन सा ऐसा अपराध है जो क्षम्य नहीं है-

**अवगुन एकु मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।।**
**नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।।**

**(रा० ५/३१-५,६)**

मैं अपना एक ही अवगुण समझती हूँ, उसे स्वीकार करती हूँ कि प्रियतम में विलग होते समय ये पापी प्राण शरीर का त्याग क्यों नहीं कर गये? इस व्यथा को सीता ने बड़ी दर्द भरी वाणी में हनुमान से व्यक्त किया था। महाकवि ने गीतावली में इसका इस प्रकार वर्णन किया है-

**तात ! तोहूसों कहते होति हिये गलानि।**
**मन को प्रथम पन समुझि अछत तनु, लखि नइ गति भई मति मलानि।।**
**पियको बचन परिहर्यो जियके भरोसे, संग चली बन बड़ो लाभ जानि।।**

पीतम-बिरह तौ सनेह सरबसु, सुत ! औसरको चूकिबो सरस न हानि।।
आरज-सुबनके तो दया दुवनहुपर, मोहि सोच, मोतें सब बिधि नसानि।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबहीको, मेरे ही दिन सब बिसरी बानि।।
नेम तो पपीहा हीके,प्रेम प्यारो मीनहीके,तुलसी कही है नीके हृदय आनि।।
इतनी कही सो कही सीय, ज्योंहीं त्योंही रही, प्रीति परी सही, बिधिसों न बसानि।।

(गीतावली ५/७)

हे तात ! इस समय तुमसे बात करते समय भी हृदय में ग्लानि हो रही है। मेरे मन की जो पहली प्रतिज्ञा थी कि प्रियतम वियोग में मैं प्राणों को नहीं रखूँगी, उसको याद कर और विषम वियोग में भी शरीर है, इस नवीन गति को देखकर मेरी बुद्धि मलिन हो रही है। अभिप्राय यह कि मुझे प्रतीति नहीं थी कि मैं प्रियतम के बिना जीवित रह सकूँगी। इसी बल पर कहा था-

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।

(रा० २/६६)

किन्तु शरीर की उपस्थिति देख स्वयं पर से ही विश्वास उठने लगा है । अपने जिय पर विश्वास करके ही मैंने अयोध्या में अवधि तक रहने वाले पति की आज्ञा का उल्लंघन किया था और विशेष लाभ समझकर ही प्रियतम के साथ वन को चली आई थी। हे पुत्र ! प्रियतम का वियोग तो स्नेह का सर्वस्व है, किन्तु अवसर चूक जाने के समान कोई हानि नहीं है। अभिप्राय यह है कि वियोग होते ही प्राण त्याग देना चाहिए था, किन्तु वह अवसर चूक गया, स्नेह का सर्वस्व लुट गया। आर्य पुत्र राम की तो शत्रुओं पर भी दया है फिर मित्र वा भक्त की तो बात ही क्या? मुझे तो यह सोच खाए जा रहा है कि मुझसे सब प्रकार उल्टा ही हुआ है। प्रभु ने अपनी भलमंसाहत से ही सबकी भलाई की है, किन्तु न जाने मेरी ही बार उन्हें अपनी बान(स्वभाव) कैसे भूल गई अर्थात् मुझे उस विपत्ति से मुक्त करने की कृपा क्यों नहीं की? नियम तो पपीहा का तथा प्रेम प्यारे मीन का ही सत्य होता है। पपीहा स्वाति बूँद के सिवा अन्य जल नहीं पीता और मछली अपने प्रियतम नीर से विलग होते ही शरीर त्याग देती है, इस बात को विवेकी लोगों ने हृदय में विचार कर ही कहा है। इतना कहते ही सीता ज्यों की त्यों रह गई, उनकी प्रीति सही पड़ गई अर्थात् प्रियतम वियोग में व्याकुल हो बेहोश हो गई, किन्तु विधाता से कोई बस नहीं चलता। कहने का भाव यह है कि चाहते हुए भी प्राण पखेरू पिंजरे

से अलग नहीं हुए। गोस्वामी जी आगे लिखते हैं कि-

**सियको सनेह, रघुबरकी दसा सुमिरि पवनपूत देखि भयो प्रीति-लीन।**

**(गीतावली ५/८)**

सीता का स्नेह तथा राम की करुण दशा को स्मरण कर हनुमान दोनों के परस्पर प्रेम को अनुभव कर उसी में निमग्न हो गये। यही दशा हनुमान की आदि कवि ने भी वर्णन की है। हनुमान सीता की दशा देखकर सोच रहे हैं-

**अस्या देव्या मनस्तंस्मिस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।**
**तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति।।**
**दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः।**
**धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति।।**

**(वा०५/१५-५२,५३)**

इस देवी का मन श्रीराम में लगा है तथा राम का मन इनमें रत है इसीलिए यह तथा धर्मात्मा राम जीवित हैं, इनके मुहूर्त मात्र के जीवन में भी यही कारण है। हनुमान सोचते हैं ऐसी प्राण वल्लभा के बिछुड़ जाने पर भी प्रभु राम जो अपने शरीर को धारण करते हैं, शोक शिथिल नहीं हो जाते यह उन्होंने बड़ा दुष्कर कार्य किया है। गोस्वामी जी ने यहाँ पर-"सियको सनेह रघुबर की दसा सुमिर" से उसी भाव को प्रकट किया है। हनुमान के धैर्य बँधाने पर सीता ने अपने जीवित रहने का कारण बताया।

**बिरह अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछु सक।**
**अति बल जल बरषत दोउ लोचन, दिन अरु रैन रहत एकहि तक।।**
**सुदृढ़ ग्यान अवलम्बि, सुनहु सुत ! राखति प्रान बिचारि दहन मत।**
**सगुन रूप, लीला-बिलास-सुख सुमिरति करति रहति अन्तरगत।।**
**सुनु हनुमंत ! अनंत-बंधु करुनासुभाव सीतल कोमल अति।**
**तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय, बरु दुख सहौं, प्रगट कहि न सकति।।**

**(गीतावली ५/९)**

हनुमान! आज जो तुम मुझे राघव के वियोग में भी जीवित देख रहे हो इसमें इन आँखों का ही अपराध है अन्यथा अब तक विरहानल से संतप्त हुए मेरे श्वास समीर से ही यह शरीर भस्म हो गया होता, इसमें सन्देह नहीं था। मेरी ये दोनों आँखें रातदिन लगातार बड़े वेग से जल की वर्षा करती रहती हैं जिससे वह ज्वाला शान्त होती रहती है। शरीर जलने नहीं पाता अतः वह अभी तक बचा हुआ

है। यदि विपत्ति वा दुःख के समय अश्रु प्रवाह न होता रहे तो प्राणान्त होने में कोई सन्देह नहीं रहता। दुःखाग्नि प्रबल होने पर हृदय को ही दग्ध कर डालती है, किन्तु अश्रुपात से हृदय को शीतलत्व मिल जाता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सीता आगे कह रही है, हे पुत्र ! सुनो मैं तो सुदृढ़ ज्ञान का आश्रय लेकर ही प्राण बचाए हुए हूँ और इस शरीर को दग्ध होने नहीं देती। मन ही मन मैं प्रतिपल प्रभु के गुण समूह से युक्त सुन्दर स्वरूप तथा उनके द्वारा की गई विविध प्रकार के लीला-विलास सुख का चिन्तन करती रहती हूँ। हे हनुमान ! लक्ष्मण जी के बड़े भाई बड़े ही करुण स्वभाव वाले शान्त और अत्यन्त कोमल हैं। अतः यह समझकर कि इन बातों से उनको अत्यन्त दुःख होगा मैं यद्यपि कष्ट सह रही हूँ, किन्तु प्रकट में कुछ भी नहीं कह सकती। सीता अपने प्राणेश के हृदय सौकुमार्य को अच्छी प्रकार समझती है उनको कृपालु रघुराई की चित्त कोमलता का ज्ञान है। इसलिए इस समग्र असह्य वेदना को भी अन्दर ही अन्दर पी लेती है पर प्रकट नहीं करती, केवल इसलिए कि इसको सुनकर प्रियतम को और अधिक पीड़ा होगी। कितना उदार है यह नारी हृदय, क्या पुरुष कभी इसकी कल्पना कर सकता है? यह यथार्थ है कि नारी बहुत कुछ को अपने अन्दर ही सह लेती है किन्तु उफ़ तक नहीं करती। इसलिए तो वह केवल पति तथा पुत्र के हित में गरलपान करते हुए भी अपने स्नेह सुधा से अभिसिंचित करती रहती है, इसका अनुमान लगाना पुरुष की तर्कना शक्ति से परे है। उसकी प्रतिपल की यह आकांक्षा होती है कि अपने प्रियतम के सम्पूर्ण क्लेशों को मैं स्वयं ही पी जाऊँ, किन्तु उन्हें सदैव प्रमुदित देखूँ। यह सब कुछ करने के लिए वह सदैव तत्पर रहती है किसलिए? केवल प्रियतम की प्रसन्नता और उसकी सरस स्नेहमयी मधुर चितवन की लालसा से क्योंकि यही उसके जीवन का सर्वस्व होता है। इसी में वह स्वयं को कृतार्थ मानती है। सीताजी "पति देवता सुतीय मनि" है। उनको प्रियतम का रंचमात्र भी दुःखी होना सह्य नहीं इसीलिए वे अपनी व्यथा को राम तक पहुँचाने के लिए नहीं कहती हैं-"बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति" का यही आशय है। सीता ने ये बातें राम से बताने के लिए नहीं केवल अपने हृदय को हल्का करने के लिए ही हनुमान से कही थी, किन्तु राम की इस उत्सुकता पर कि जानकी किस प्रकार वहाँ अपने प्राणों की रक्षा करती है, हनुमान को सब कुछ स्पष्ट करना पड़ा। जानकी के जीवित रहने में नेत्रों की लालसा ही कारण है। सीताजी की उन्हीं बातों को हनुमान यहाँ पर दुहरा रहे हैं-



बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।

**नयन स्त्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी।।**

**(रा० ५/३१-७,८)**

यहाँ पर कवि की यह उद्‌भावना विशेष रूप से स्पष्ट हो गई है। विरहाग्नि में श्वासरूपी वायु का सहयोग पाकर यह तन रूप तूल तो क्षण मात्र में ही भस्म हो जाता, किन्तु स्वार्थी नयन हठात् जल वर्षा कर उसे बुझा दिया करते हैं इसीलिए शरीर जलने से बचा हुआ है। बरवे रामायण में भी गोस्वामी जी ने इसी प्रकार का भाव प्रकट किया है-

**बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाई। ए अखियाँ दोउ बैरनि देइँ बुझाइ।।**

नेत्र प्राण निकलने में हठात् बाधा उपस्थित करते रहते हैं। अश्रु वर्षा कर विरहाग्नि को शान्त कर देते हैं। यहाँ पर यह भी भाव हो सकता है कि नेत्र अश्रु वर्षा से तन तूल को गीला कर देते हैं जिससे वह जलने नहीं पाता। मनुष्य जीवन में ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के लिए देह और प्राण दोनों परम प्रिय होते हैं-

**देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।**

**(रा० १/२०८-४)**

**सबके देह परम प्रिय स्वामी।**

**(रा० ५/२२-४)**

प्रियतम के वियोग में इसका त्याग करना कठिन नहीं होता।

**बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।**

**(रा० १/१६)**

नेत्र बड़े लालची हैं दर्शन की लालसा से ये तन जलने नहीं देते, प्राण निकलने नहीं देते। यह कहते हुए हनुमान को सीता की दशा की स्मृति हो आई और कुछ अधिक न कह केवल इतना ही कह सके-

**सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला।।**

**(रा० ५/३१-८)**

हे दीनदयालु ! सीता की विशाल विपत्ति को न कहना ही अच्छा है। दीनदयाल की प्रियतमा इतनी विशाल विपत्ति भोग रही हो उसके विषय में कुछ न कहना ही भला है। इसका अन्यार्थ यह भी है कि सीता की विशाल विपत्ति को देखते हुए आपको दीनदयाल न कहना ही अच्छा है क्योंकि इस नाम की सार्थकता दिखाई नहीं देती। दीनदयाल के होते हुए भी एक मन, वचन, कर्म से अनुराग करने वाली असहाय अबला दीनता का जीवन बिताती हुई प्रतिपल तड़प रही हो, यह

कितने दुःख की बात है। विधाता की कैसी विडम्बना है-

**निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।**
**बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति।।**

(रा० ५/३१)

इस दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि परम धीर समीर सुत भी अधीर हो गये हैं जिसकी दशा का स्मरण करके फिर उसकी क्या स्थिति होगी, इसका कौन अनुमान लगा सकता है? तुलसी की आदर्श नारी इतने महान् संकट में भी अपनी धर्मनिष्ठा से विमुख नहीं होती। वह प्रतिपल रक्त के आँसुओं को बहाती हुई भी विश्व के समस्त वैभव को अपनी धर्मनिष्ठा पर तृणवत् समझती है। घोर अत्याचार को सहते हुए भी वह अधीर नहीं होती। प्रलोभन तथा भय के सम्पूर्ण कारण को वह अपने पग तले कुचलते हुए प्राणेश की प्रियता का पावन पुरी में प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नरत रहती है। वह त्रिलोकी के साम्राज्य को भी प्रियतम के प्रेम पर न्यौछावर कर देती है। महान् त्याग का उसे भान तक नहीं होता। हम मानस की सीता में इसी प्रकार की आदर्श आर्य नारी को मूर्तिमान पाते हैं।

वियोगिनी सीता का हमें एक बार पुनः दर्शन होता है। शत्रुपक्ष के कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि समस्त योद्धा धराशायी हो गए हैं केवल राक्षसेन्द्र रावण युद्ध क्षेत्र में खड़ा है। राम उसके मस्तक और भुजाओं को बार-बार काटते हैं, किन्तु फिर भी वह नहीं मरता क्योंकि उसके पुनः नये सिर, भुजाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सीता इस आश्चर्यमय समाचार को सुनकर व्यथित हो जाती है क्योंकि रावण के जीते जी उसको प्रियतम के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिल सकता। व्याकुल सीता को त्रिजटा धैर्य बँधाती है और समझाती है कि रावण की मृत्यु अब शीघ्र ही होने वाली है। यह तो उसके वरदान का परिणाम है जिसमें नये भुजाएँ और सिर उत्पन्न हो जाते हैं। रावण के न मरनें में सीता अपने दुर्भाग्य को ही कारण मानती है। वनगमन के बाद से तेरह वर्षों तक तो सब कुछ अनुकूल रहा। प्रिय के साथ रहकर अनुपम माधुर्य का आस्वादन किया, किन्तु दुर्दैव से वह आनन्द सह्य न हुआ। कनक के कपट मृग के माध्यम से उनके मन को मोहित कर दिया और विपत्ति के अथाह सागर में ढकेल दिया।

**मोर अभाग्य जिआवत ओही। जेहिं हौं हरि पद कमल बिछोही।।**
**जेहिं कृत कपट कनक मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा।।**
**जेहिं बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए।।**

**रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी।।**
**एसेहुँ दुख जो राख मम प्राना। सोइ बिधि ताहि जिआव न आना।।**

**(रा० ६/४९-६ से १०)**

सज्जनता तथा विचार शीलता का यह भी यह एक लक्षण है। अविवेकी व्यक्ति सदैव अपने दुःख का कारण किसी और को मानता है किन्तु विवेकशील व्यक्ति अपने पूर्व कृत कर्मों को ही उसमें हेतु समझता है। जिसे हम भाग्य कहते हैं वह अपने पूर्व कृत कर्मों के परिणाम का ही नाम है। आज का कर्म कल हमारे समक्ष भाग्य बनकर उपस्थित होता है-

**करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।।**

**(रा० २/२१९-४)**

उपासना तथा ज्ञान से कर्म शोधन किया जा सकता है। श्रुति का कथन है-

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिं दृष्टे परावरे।**

परम तत्त्व का साक्षात्कार होने पर कर्म क्षीण हो जाते हैं। गीता का यही कथन है-

**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।**

**(गीता ४/३७)**

ज्ञानाग्नि में कर्म उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला में सूखा ईंधन। फिर भी कर्म की प्रबलता को सर्वथा अस्वीकार करते नहीं बनता। बड़े-बड़े विवेकी पुरुषों को भी घोर विपत्ति में पड़ते हुए देखा जाता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि वे उससे अधीर व विचलित नहीं होते। दुःख-सुख, हानि-लाभ, विपत्ति-सम्पत्ति को वे देवाधीन स्वीकार कर धीरता के साथ उसका अतिक्रमण करने का प्रयत्न करते हैं। सीता धैर्यवान् नारी है, अपने दुःख में किसी अन्य को नहीं दैव अर्थात् प्रारब्ध को ही कारण मानती है-

**कहेहू तें कछु दुख घटि होई।**

**(रा० ५/१५-५)**

यह सुनिश्चित सिद्धान्त है विलाप में मानव यही करता है। कोई सुनने वाला हो वा न हो वह अपनी वेदना तथा उसके कारणों का कथन करता हुआ अश्रु विमोचन कर कुछ राहत का अनुभव करता है। आकुल अवस्था में सीता भी यही करती है-

**करति बिलाप मनहिं मन भारी। राम बिरहँ जानकी दुखारी।।**

**(रा० ६/१००-४)**

जिस प्रकार सुख के दिन सदा नहीं रहते उसी प्रकार दुःख के दिनों का भी अन्त निश्चित् है। गहराई से विचार किया जाए तो जीवन में कुछ अपवाद को छोड़कर सुख-दुःख का अनुपात प्रायः एकसा रहता है, किन्तु इसे निश्चित् सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। हाँ, शास्त्रीय कथन यह है कि गुण दोष की समान मात्रा होने पर ही मानव शरीर की उपलब्धि होती है। गुण सुख में तथा दोष दुःख में कारण होते हैं। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जीवन सम्पूर्णतः न तो दुःखमय ही है जैसा कि बौद्धमत का कथन है और न सर्वथा सुखमय ही जैसा कि आनन्दवादी कहते हैं। हाँ दिव्य जीवन अवश्य ही समग्रतः सुखमय होगा क्योंकि वहाँ दोष का सर्वथा अभाव होता है। वही दिव्य जीवन मानव का ध्येय है, प्राप्तव्य है, किन्तु उस दिव्यता तक पहुँचने के लिए इस दिव्यादिव्य युक्त मानव जीवन को ही साधन रूप में परिणत करना होगा। मानव जीवन में सदा शुभ का संग्रह तथा अशुभ का त्याग ही दिव्यता की साधना का सुन्दर क्रम है। इस संग्रह त्याग की साधना को सम्पन्न करने वाली बुद्धि का शुद्ध तथा सुस्थिर होना अति आवश्यक है। संसार के दुःखद साधनों के प्रलोभन से बुद्धि अशुद्ध हो जाती है तथा दुःख की आशंका से भयभीत होने पर अस्थिर। अशुद्ध और अस्थिर बुद्धि कभी भी दिव्यता की प्राप्ति नहीं करवा सकती। हमने सीता के समग्र जीवन को एक विहंगम दृष्टि से देखा है और यह अनुभव किया है कि वे सुखद पदार्थों के प्रलोभन से सर्वथा मुक्त रही हैं और महान् से महान् भयावह परिस्थिति भी उनकी बुद्धि को विचलित नहीं कर सकी है। अब वे समस्त कठिनाइयों को पार कर किनारे पर आ पहुँची हैं और दिव्यता के साम्राज्य की अधीश्वरी होने की अधिकारिणी हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं-

जब अति भयउ बिरह उर दाहूँ। फरकेउ बाम नयन अरुबाहू।।
सगुन बिचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा।।

(रा० ६/१००-५,६)

आगे अधिक इन्तज़ार नहीं करनी पड़ी। दूसरे ही दिन शत्रु विजय का शुभ संदेश लेकर उनके प्रिय पुत्र हनुमान का आगमन हो गया। सीता जी ने हनुमान को पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया है, अनेकों बार सुत कहकर सम्बोधन इसका प्रमाण है। सीता जी की गत रात्रि बड़ी मुश्किल से बीती है। रात चाँदनी थी इससे और भी दुःखदाई हो गई थी। विरही नर नारियों को दग्ध करने वाला मयंक सदा दुःख वृद्धि में ही कारण होता है। इसीलिए-

**निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती। जुग सम भई सिराति न राती।।**

**(रा० ६/१००-३)**

सीता रात्रि और चन्द्रमा दोनों को कोसती रही। यह विरह की आखिरी रात शैतान की आंत की भाँति बढ़ती हुई प्रतीत होती थी। विरह और प्रतीक्षा में ऐसा ही लगता है। बड़ी कठिनाई से रात्रि व्यतीत की। यह रात्रि सीता के दुर्दिन की आखिर रात्रि है। इस रात्रि के अन्त के साथ ही सीता के जीवन का करुण अध्याय भी समाप्त हो जाता है।

प्रातः होते ही राक्षसेन्द्र रावण श्रीराम के बाणों के आघात से संग्राम भूमि में सदा के लिए सो गया। जिसकी प्रतीक्षा में सीता के निमिष कल्प सम बीत रहे थे वह घड़ी भी आखिर आ ही गई। यह बात सच है कि मनुष्य यदि धैर्य युक्त हो जीवन संघर्ष में रत रहे तो एक दिन उसकी विजय अनिवार्य है। विजय समाचार सुनाने के लिए श्रीराम के आदेशानुसार हनुमान सीता के पास आते हैं। हनुमान को बड़े आदर के साथ सीता के समक्ष लाया गया है। अभी तक सीता को रावण की मृत्यु का समाचार नहीं मिला है। हनुमान ने मस्तक झुकाकर वैदेही को प्रणाम किया। जिस दशा में पहले देख गये थे उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। धूल से भरे अंग, प्रियतम विरहाग्नि में दग्ध हृदय, जिज्ञासा से युक्त लोचन, किन्तु इस बार हनुमान को सीता की इस दशा पर दुःख नहीं हुआ कारण कि अब दुर्दिन का अन्त हो चुका है। सीता अब बन्दीखाने में नहीं बल्कि अपने प्रियतम के विजित राज्य में है। अब एक असहाय अबला नहीं अधीश्वरी है। हनुमान को देखते ही सीता ने उत्सुकता से कुशल प्रश्न किया-

**कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुशल अनुज कपि सेन समेता।।**

**(रा० ६/१०७-६)**

हनुमान कुशल समाचार सुनाने आये हैं। बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया-

**सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीत्यो दससीसा।।**
**अबिचल राजु बिभीषन पायो। सुनि कपि बचन हरष उर छायो।।**

**(रा० ६/१०७-७)**

हे मात ! संग्राम में दसशीश को सदल विनाश कर कोशलधीश प्रभु सब प्रकार से कुशल हैं। अब आपकी जो चाह थी "राज बिभीषण कब पावेंगे" वह भी पूर्ण हो गई। राक्षसराज विभीषण को लंका का अविचल राज्य प्राप्त हो गया। पीयूषवत समाचार युगों की प्रतीक्षा के पश्चात् आज सीता के हृदय को हर्षित

किया है। वे बहुत देर तक हर्षानन्द में ही निमग्न रहीं। प्रसन्नता के अश्रुपूरित नेत्रों से पुलकित हो हनुमान से बोली-

**अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।**
**का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा।।**

**(रा० ६/१०७-९)**

वाल्मीकि के अनुसार विजय समाचार को सुन हर्षानन्द में निमग्न हुईं सीता कुछ क्षण तक मौन रही। उनकी इस मौन दशा को देख हनुमान को विवश हो इसका कारण पूछना पड़ा-"किं त्वं चिन्तयसे देवि किं च मां नाभि भाषसे।" सकृतज्ञता सीता मौन का कारण बताते हुए बोलीं। स्वामी के विजय समाचार को सुन प्रहर्षवसात् कंठावरुद्ध हो जाने से मैं कुछ बोल न सकी, किन्तु मैं इस समय क्या चिन्तन कर रही थी वह सुनो-

**नहि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवंगम।**
**आख्यानकस्य भवतो दातुं प्रत्यभिनन्दनम्।।**
**न हि पश्यामि तत् सौम्य पृथिव्यामपि वानर।**
**सदृशं यत्प्रियाख्याने तव दत्त्वा भवेत् सुखम्।।**

**(वा० रा० ६/११३-१८,१९)**

हे वानर वीर ! तुम्हारे द्वारा मिले इस आनन्ददाई समाचार के बदले में मैं तुम्हें कुछ देना चाहती हूँ, किन्तु बहुत चिन्तन करने पर भी ऐसी वस्तु दिखाई नहीं देती। हे सौम्य वानर वीर ! इस भूमण्डल पर कोई वस्तु दिखाई नहीं देती जो इस सम्वाद के अनुरूप हो और तुम्हें देकर मैं संतुष्ट हो सकूँ। किसी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो कुछ दिया जाता है वह अनित्य है, किन्तु नित्य जीवन की सुरक्षा में जो सहायक रहा हो उसके लिए अनित्य पदार्थ क्या महत्त्व रखते हैं? आगे सीता कहती है-

**हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च।**
**राज्यं वा त्रिषु लोकेषु एतन्नार्हति भाषितम्।।**

**(वा० ६/११३-२०)**

सोना-चाँदी नाना प्रकार के रत्न अथवा तीनों लोकों का राज्य भी इस प्रिय वचन की समता नहीं कर सकता। सीता के इन उद्‌गारों से हम उनकी प्रसन्नता का किंचित् अनुमान लगा सकते हैं। हनुमान का यह उत्तर-

**सुनु मातु मैं पायो अखिल जग राजु आजु न संसयं।**

रन जीति रिपुदल बंधु जुत पस्यामि राममनामयं।।

(रा० ६/१०७-११)

वाल्मीकि रामायण में भी इसी प्रकार का वर्णन है। हाँ, यहाँ पर एक भाव विशेष की अभिव्यक्ति होती है-'पस्यामि राममनामयं' शब्दों से। हनुमान को राम ने अनन्य भक्ति की दीक्षा दी है जिसमें यह चराचर विश्व ही उनके उपास्य का स्वरूप है-"म सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत।" हनुमान उपास्य के इस विराट् रूप में रावण को आमय अर्थात् रोग मानते थे किन्तु आज उस रोग का सही निदान हो जाने से उपास्य का स्वरूप अनामय हो गया है। इससे अधिक प्रसन्नता की बात भला उस अर्चक के लिए क्या हो सकती है जिसका विश्व रूप आराध्य निरामय हो गया हो। फिर भी सीता को सन्तोष नहीं हुआ। बिना कुछ दिए अपनी तपोपूत वाणी से आशीर्वाद की वृष्टि करती हुई बोली-

सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदयँ बसहुँ हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत।।

(रा० ६/१०७)

प्रकारान्तर से यही आशीर्वाद वाल्मीकि रामायण में भी वर्णित है। अब अधिक प्रतीक्षा के लिए अवकाश नहीं है। बन्धन निवृत्त होने पर भी प्रियतम के दर्शन की भूख को दबाये रखना सह्य नहीं। इसलिए कहती है-

अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखौं नयन स्याम मृदु गाता।।

(रा० ६/१०८-१)

हनुमान लौटकर सीता की कुशलता राम को सुनाते हैं। क्या सीता के संताप का सर्वरूप से अन्त हो चुका है? क्या वे दिव्यता की अधीश्वरी बनने की अधिकारिणी हो गई हैं? उत्तर में दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है-"हाँ" किन्तु इसका प्रमाण क्या है कि उनका अन्तर परम पुनीत है? यदि वे कनक वरण के सुन्दर मृग पर मोहित हो सकती हैं तो विश्व के वैभव का निधान यातुधान की राजधानी में लंका में वे सर्वथा निर्लोभ रह सकी हैं, क्या इसकी आशंका नहीं की जा सकती? आह! कितना निर्दयी समाज है यह, कितना क्रूर है यह मानव जो संतप्त हृदय को भी धधकती हुई ज्वाला में डालकर धैर्य की परीक्षा लेना चाहता है। सीता केवल शरीर से ही नहीं हृदय से भी अत्यन्त सुकुमारी है। वे कितनी मृदु हृदय हैं कि अपने प्रति घोर अत्याचार करने वालों के प्रति भी सदैव करुणा की ही वृष्टि करती हैं। सीता के उदार तथा कारुणिक हृदय का दर्शन हमें वाल्मीकि

रामायण में होता है। मैं समझता हूँ कि गोस्वामी जी ने सीता के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अंश को छोड़ दिया है जिसकी पूर्ति उनको जगदम्बा के पद पर प्रतिष्ठित करने से भी नहीं हो सकती। यह घटना उस समय की हैं जब हनुमान विजय सन्देश सुनाने गये थे। सीता को विविध प्रकार से ताड़ना देकर पीड़ा पहुँचाने वाली राक्षसियाँ उस समय भी उनके आसपास ही बैठी थीं। विजय समाचार सुनाकर आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात् हनुमान करबद्ध हो माता से प्रार्थना करते हुए बोले-

**इमास्तु खलु राक्षस्यो यदि त्वमनुमन्यसे।**
**हन्तुमिच्छामि ताः सर्वा याभिस्त्वं तर्जिता पुरा।।**

**(वा० ६/११३-३०)**

यदि आपकी अनुमति हो तो इन समस्त राक्षसियों को जो पहले आपको बहुत डराती धमकाती रही हैं, मार डालना चाहता हूँ-

**क्लिश्यन्तीं पतिदेवां त्वामशोकवनिकां गताम्।**
**घोररूपसमाचाराः क्रूराः क्रूरतरेक्षणाः।।**
**इह श्रुता मया देवि राक्षस्यो विकृताननाः।**
**असकृत्परुषैर्वाक्यैर्वदत्यो रावणाज्ञया।।**

**(वा० ६/११३-३१,३२)**

आप जैसी पतिव्रता देवी अशोक वाटिका में बैठी क्लेशित हो रही थी और ये भयंकर रूप एवं आचार से युक्त अत्यन्त क्रूर दृष्टि वाली विकराल मुखी क्रूर राक्षसियाँ आपको बारम्बार कठोर वचनों द्वारा डाँटती रहती थीं। रावण की आज्ञा से ये जैसी-जैसी बातें आपको सुनाती थी उन सबको मैंने यहाँ रहकर सुना है-

**विकृता विकृताकाराः क्रूराः क्रूरकचेक्षणाः।**
**इच्छामि विविधैर्घातैर्हन्तुमेताः सुदारुणाः।।**

**(वा० ६/११३-३३)**

ये सब की सब विकराल विकट आकार वाली क्रूर और अत्यन्त दारुण हैं। इनके नेत्रों तथा केशों से भी क्रूरता प्रकट हो रही है। तरह-तरह के आघातों द्वारा मैं इन सबका वध कर देना चाहता हूँ। हनुमान जब प्रथम सीता को ढूँढते हुए अशोक वाटिका में जाकर वृक्ष के ऊपर बैठ गये थे तो वहाँ से इन राक्षसियों के कुकृत्यों को देखा तथा इनके कटु वचनों को स्वयं ही सुना है। फिर जब रावण ने भी आज्ञा दे दी- "सीतहि बहुबिधि त्रासहु जाई" तो इन क्रूर कर्मा राक्षसियों को मानो

मनचाहा काम मिल गया हो-"सीतहि त्रास दिखावहिं धरहिं रूप बहु मंद।" उस समय हनुमान को यह दर्दनाक दृश्य देखना और सुनना पड़ा था, सामर्थ्य रहते हुए भी कुछ कर नहीं सके थे। गोस्वामी जी ने उनकी उस समय की मजबूरी को गीतावली में इस प्रकार व्यक्त किया है-

**बुद्धि बल, साहस-पराक्रम अछत राखे गोइ।**
**सकल साज-समाज साधक समउ, कहै सब कोइ।।**

**(गीतावली ५/५-३)**

राम को सीता का समाचार सुनाते समय भी हनुमान ने इन राक्षसियों के कुकृत्यों को दुष्ट इन्द्रियों की गतिविधि के समान बताया था-

**बहु राच्छसी सहित तरुके तर तुम्हरे बिरह निज जनम बिगोवति।**
**मनहु दुष्ट इन्द्रिय संकट महँ बुद्धि बिबेक उदय मगु जोवति।।**

**(गीतावली ५/१७-३)**

रावण ने भी विविध प्रकार के कटु वाक्यों से त्रासित किया था। उसको उसका परिणाम सपरिवार विनाश के रूप में मिल गया। इन राक्षसियों ने भी उसी प्रकार के क्रूर कृत्य किये हैं। हनुमान इन्हें भी उसका दण्ड विविध आघातों द्वारा प्राणान्त के रूप में ही देना चाहते हैं। उनका कहना है कि इन क्रूर कर्मा राक्षसियों को मैं मुक्कों, लातों, थप्पड़ों, पिंडलियों और घुटनों की मार से घायल करके इनके दाँत तोड़ दूँ, नाक कान काट लूँ, सिर के बाल नोच लूँ। इस तरह बहुविधि प्रहारों द्वारा इन सबको पीटकर क्रूर कर्मा राक्षसियों को अभी मौत के घाट उतार दूँ, किन्तु बिना माता की आज्ञा से यहाँ पर कुछ भी करना उचित नहीं है इसीलिए आज्ञा पाने के लिए निवेदन कर रहे हैं। यह नियम है कि-"शठे शाठ्यं समाचरेत" अर्थात् दुष्ट के प्रति उसी प्रकार का व्यवहार वर्तना चाहिए, कारण कि वह दूसरी भाषा समझता ही नहीं। वाल्मीकि रामायण में सीता ने स्वयं ही हनुमान से कहा कि जब तक राम अपने पुरुषार्थ से दुष्ट रावण का विनाश कर इस अपमान का बदला नहीं ले लेते तब तक मैं यहाँ से जाना नहीं चाहती। एक वीर बाला क्षत्राणी की यह प्रतिज्ञा सर्वथा उसके योग्य है। इन निशाचरियों की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। महर्षि आदिकवि माँ सीता की आन्तरिक मृदुता को व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

**इत्युक्ता सा हनुमता कृपणा दीनवत्सला।**
**हनूमन्तमुवाचेदं चिन्तयित्वा विमृश्य च।।**

**(वा०६/११३-३७,३८)**

हनुमान के ऐसा कहने पर करुणामयी दीनवत्सला सीता ने मन ही मन विचार करके उनसे कहा। सीता स्वभाव से ही करुणामयी है, दीन वत्सलता की तो वे साक्षात् मूर्ति ही हैं। क्षमा से आविर्भूत होने वाली वह मानवीय आकृति में साक्षात क्षमा ही हैं। उन राक्षसियों की तरफ देखकर उनका हृदय करुणा से भर आया क्योंकि इस समय वे सभी अनाथ और असहाय हो गई थीं। अनाथ को पीड़ित करना क्रूर कर्म है जो राक्षसी वृत्ति वालों के लिए ही प्रिय हो सकता है। दिव्यता की अधिष्ठात्री सीता के सुकोमल हृदय को यह सह्य कहाँ? वे तो उसकी कल्पना मात्र से ही वात्सल्य से भर गईं। महर्षि ने करुणा, दीनवत्सला कहकर उनकी आन्तरिक स्थिति का ही संकेत किया है। हनुमान को प्रबोधित करते हुए -

**राजसंश्रयवश्यानां कुर्वतीनां पराज्ञया।**
**विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम।।**

**(वा० ६/११३-३८,३९)**

हे कपि श्रेष्ठ ! ये बेचारी राजा के आश्रय में रहने वाली पराधीन थीं। दूसरों की आज्ञा से ही सब कुछ करती थीं। स्वामी की आज्ञा का पालन करने वाली इन दासियों पर भला कौन पाप करेगा? कितनी करुणा है सीता के अन्तर में? उन क्रूर कर्मा राक्षसियों को आप पूर्णतः निर्दोष बता रही हैं। विवेकशील व्यक्ति सदैव अपने दुःखों के कारण रूप में अपने ही अदृष्ट को अर्थात् पूर्वकृत कर्मफल को देखते हैं जबकि अविवेकी उसका कारण दूसरों पर थोपा करता है। सीता विवेकशील नारी हैं, जीवन गत दुःख-सुखात्मक हेतुओं से वे अभिज्ञ हैं। आततायी रावण द्वारा अपहरण तथा लंका की राक्षसियों द्वारा किये गये अत्याचार और तद्जन्य पीड़ा में वे अपने कर्म को ही कारण मानती हैं। अतः अदृष्ट योग वसात् बनी निमित्त रूपा राक्षसियों को वे सर्वथा क्षमा तथा दया का ही पात्र समझती हैं इसीलिए हनुमान से कहती हैं-

**भाग्यवैषम्यदोषेण पुरस्ताछुष्कृतेन च।**
**मयैतत् प्राप्यते सर्वे स्वकृतं ह्यपभुज्यते।।**

**(वा० ६/११३-३९,४०)**

भाग्य की विषमता तथा पूर्व के दुष्कृतों के परिणाम रूप में ही मुझे यह दुःख प्राप्त हुआ है क्योंकि सभी प्राणी अपने किए फल को ही भोगते हैं इसीलिए-

**मैवं वद महाबाहो दैवी ह्येषा परा गतिः।**

**(वा० ६/११३-४०)**

हे महाबाहो ! तुम्हें इनको मारने की बात नहीं कहनी चाहिए, मेरे लिए दैव का ही ऐसा विधान था। कितनी उदारता है सीता की यह! एक आर्य नारी के मुख से ही ऐसे शोभनीय वचन निकल सकते हैं। आगे कहती हैं-हनुमान ! अब तो वैसे भी ये सब दया की पात्र हैं क्योंकि अब ये हमारी शरण में हैं। इस पर सीता ने एक रीछ की कथा सुनाई जो एक व्याध को अपने निवास वाले वृक्ष की शरण लेने पर बाघ के कहने पर भी नीचे गिराने से इन्कार कर दिया था, यह कहते हुए कि यद्यपि यह व्याध है और सभी जंगली जानवरों का समान रूप से शत्रु है फिर भी इस समय हमारी शरण में है अतः इसकी रक्षा करना ही हमारा धर्म है। इस कथा के साथ ही सीता ने कहा-

न परः पापमादत्ते परेषां पाप कर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः।।
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।।
लोक हिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम्।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम्।।

(वा० ६/११३-४४,४६)

श्रेष्ठ पुरुष दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाले पापियों के पाप कर्म नहीं अपनाते। ऐसी स्थिति में अपने सदाचरण की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि सज्जन पुरुष अपने उत्तम चरित्र से ही विभूषित होते हैं। सदाचार ही सज्जन का भूषण है पापी हो वा पुण्यात्मा अथवा वे वध के योग्य अपराध करने वाले ही क्यों न हों! आर्य पुरुष को उन सब पर करुणा करनी चाहिए क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिससे कभी अपराध होता ही न हो। जो लोग सदा हिंसा में ही रत रहते हैं, सदा पाप का ही आचरण करते हैं उन क्रूर स्वभाव वाले पापियों का भी कभी अशोभन अर्थात् अमँगल नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त इन तीन श्लोकों में प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाली करुणामयी नारी के सुकोमल हृदय की अनुपम अभिव्यक्ति है। अपने प्रति क्रूर व्यवहार करने वालों के प्रति अमंगल की भावना होनी स्वाभाविक है किन्तु संतजन की महत्ता उसी में है कि ऐसे क्रूर कर्मा मनुष्यों के प्रति भी वे करुणा करें। भागवत् धर्म में यह विचारधारा बड़े ही सुन्दर और सात्त्विक रूप में विकसित हुई है कि भगवान् दुष्टों का वध कोप से नहीं करुणा से ही करते हैं। जिस प्रकार एक न्यायधीश किसी अपराधी को जब दण्ड देता है तो

उसमें उसके प्रति किसी प्रकार का कोप नहीं होता। न्याय को दृष्टि में रख कर ही वह ऐसा करता है उसके अमंगल की कामना से नहीं। इसी प्रकार भागवत् धर्म में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हुए भी दुष्टता के दमन द्वारा समाज को स्वस्थ तथा सुव्यवस्थित बनाये रखने की अनुपम विधि को खोज निकाला गया। रावण का विनाश उसके कर्मों के परिणाम से होना ही था। यह अमंगल की भावना से नहीं बल्कि उस क्रूरतामय जीवन क्रम को समाप्त करने के लिए मंगल कामना से ही राम द्वारा सम्पन्न किया गया। किन्तु राक्षसियाँ तो पराधीन हो स्वामी की आज्ञा पालन से ही दुष्टाचरण करती रही हैं अतः ये कोप नहीं दया की पात्र हैं। सीता के इस प्रकार करुणा पूरित वचनों को सुनकर हनुमान का हृदय गद्‌गद हो गया और बद्धांजलि नतमस्तक हो कहने लगी-"युक्ता रामस्य भवती धर्मपत्नी गुणान्विता।" देवी आप करुणानिधान श्रीराम की धर्मपत्नी हैं अतः आप का ऐसे सद्‌गुणों से सम्पन्न होना उचित ही है।

हनुमान द्वारा सीता का समाचार पाकर राम विभीषण को आदेश देते हैं कि सीता को स्नानादि कराकर वस्त्राभूषण से अलंकृत कर मेरे सामने ले आओ। सीता अपनी उसी दशा में राम के दर्शन करने को व्याकुल है, किन्तु पति आज्ञा पालनीय है। विभीषण के यह निवेदन करने पर स्वीकार कर लेती हैं। दिव्य अंगराग तथा वस्त्राभूषणों से विभूषित हो कनक पंकज कलिकावत् सुकोमलांगी सीता अमित उत्कण्ठा से उल्लसित हो प्राणेश के दर्शनार्थ प्रस्थान करती है। उन्हें क्या पता था कि अभी दुर्दैव ने एक बार पुनः उन पर घोरतम वज्राघात करने की ठान रखी है। कभी-कभी मनुष्य को अपनी आन्तरिक भावनाओं के बिल्कुल विपरीत व्यवहार करना पड़ता है और इस प्रकार के व्यवहार में लोक-चिन्ता ही कारण होती है। हम सीता विरह में राम की दयनीय दशा को कई बार उनके वियोगकाल में देखते हैं। राम का कथन है-

**एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं।।**

**(रा० ४/१८-२)**

लक्ष्मण से भी कहते हैं-

**कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई।।**

**(रा० ४/१८-३)**

वाह रे लोक चिन्ता ! तुम्हारी साधना बड़ी ही कठोर है। राम ऐसा अतिमानव ही हृदय पर वज्र रखकर तुम्हें साध सकता है दूसरे के वश की बात

नहीं है। आज अमित पुरुषार्थ के परिणाम से वह समय उपस्थित हुआ है जिसके लिए राम पल-पल कल्प के समान बिता रहे थे। जिस सीता के बिना सारा प्रकृत सौन्दर्य शूलवत् पीड़ा पहुँचाता था, जिसकी प्राप्ति के लिए असंख्य निशाचरों का वध किया, वारिधि को बाँधकर वाट बनाया आज वही सीता सामने आ रही है। विरही राम उसको अंक में ले हृदय हार बनाने के लिए उतावले नहीं बल्कि घोर चिन्ता में निमग्न हैं। मुख पर मृदुताजन्य प्रसन्नता नहीं कठोरता ने अपना आसन जमा रखा है। हृदय उल्लास से नहीं किसी कठोर निश्चय से उद्वेलित हो रहा है। कितनी दारुण दुःखमय दशा होगी उस समय राम के अन्तर की, क्या कोई कभी इसका अनुमान लगा सकता है? श्रीराम की मुख मुद्रा को देख सभी का हृदय आतंकित है, किसी में साहस नहीं कि कोई उनसे किसी विषय में कुछ पूछ सके। पाठक इस समय राम और सीता के अन्तरतम् की स्थिति का अनुमान लगायें।

सीता को अपने प्रियतम के चित्त की कोमलता का पता है, वे कारुणीक कभी अपराधी पर भी कोप नहीं करते-"कारन बिनु रघुनाथ कृपाला" के स्वभाव से सुपरिचित हैं। वियोग के जिन निमेषों को कल्प के समान व्यतीत करती हैं अब शायद वे और लम्बे लग रहे होंगे, हृदय अधीर हो रहा होगा, रघुवीर की मधुर छवि को निहारने के लिए। जिसके लिए वे अमित वेदना को सहती रही हैं, जिसके दर्शन की प्यास ही उनके प्राणों की रक्षिका थी उसको कुछ क्षणों में ही अब प्राप्त कर लेंगी। कल्पना करती हुई आ रही हैं प्रियतम का वह शरद चन्द्रवत् सुन्दर शीतल सुखद आनन देखने की, प्रभु की करुणापूर्ण मधुर कृपा कटाक्ष निहारने की, किन्तु उनकी सारी कल्पनायें, ऊँची उमंगें श्रीराम के समक्ष आते ही शिथिल हुई। सभी लोग यह समझते हैं कि सीता को देखते ही राम अधीर हो उठेंगे और हा प्रिये, हा प्राण वल्लभे, कहते हुए दौड़कर उनको हृदय से लगा लेंगे, अपने कमल नेत्रों से शीतलता प्रदान करेंगे। इसी प्रकार और भी ने जाने क्या-क्या कल्पनायें संजोई होंगी, किन्तु सीता के समक्ष आते ही राम के कठोर व्यवहार से वहाँ पर उपस्थित अगणित वानर वीरों तथा निशाचरों का हृदय शोक से संतप्त हो गया। सीता सुन्दर सिविका में सजाकर लाई जा रही थी, उनको देखने की उत्सुकता से चारों ओर से वानर तथा रीछ जाति के वीरों ने घेर लिया। विभीषण की आज्ञा से रक्षकों ने उनको दूर करने का प्रयत्न किया जिससे सभी को बड़ी असन्तुष्टि हुई। राम ने विभीषंण को आदेश दिया कि सीता को सिविका से नंहीं पैदल ही यहाँ लाया जाए-



**सीतहि सखा पयादें आनहु।**

जिससे ये समस्त वानर वीर उनको देख सकें-

**देखहुँ कपि जननी की नाईं।**

**(रा० ६/१०८-१२)**

राघव के आदेशानुसार सीता को सिविका से उतार लिया गया, वे पयादे ही प्रियतम के दर्शन उत्कंठा से लालायित प्यासी आखें लिये चल पड़ीं। कुछ पग आगे जाते ही अपने अभीष्ट को पाकर दृष्टि निर्निमेष हो टिक गई, शरीर पुलकित हो गया। उस सुन्दर मनोहर श्यामल गात को देखकर नेत्र अचंचल हो गये, किन्तु राम की निगाहें झुकी हुई थीं। उनके मुखाकृति से करुणा तथा स्नेह की जगह कठोरता टपक रही थी, क्षण मात्र में ही सीता का सारा उल्लास जाता रहा। करुणानिधान प्रियतम के इस विषादयुक्त मुखमण्डल को उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था, इसकी कभी उनके सुकोमल स्नेहासिक्त हृदय ने कल्पना भी नहीं की थी। प्रियतम को विषादयुक्त नमित मुख बैठे देख अज्ञात भय की आशंका से उनका हृदय काँप गया। सीता को सामने उपस्थित जान राम ने अपनी आँखें ऊपर उठाईं जिनसे कठोरता टपक रही थी, उपस्थित जन समुदाय राम की इस कठोर मुद्रा से आतंकित था। सीता के शोक का अभी अन्त नहीं हुआ इसकी सम्भावना सभी को व्यथित कर रही थी। वातावरण में चारों तरफ नीरवता छाई हुई थी। स्तब्धता को भंग करते हुए गम्भीर वाणी में राम सीता को सम्बोधित करते हुए बोले।

राम ने उस समय जो भी कुछ सीता के प्रति कहा उसको गोस्वामी जी दुर्वाद की संज्ञा देते हैं, किन्तु व्यक्त नहीं करते। हम देखते हैं कि गोस्वामी जी भक्त पहले हैं और कवि बाद में। जहाँ कहीं भी इस प्रकार अनुचित, अप्रिय तथा कठोर वचनों को व्यक्त करना होता है वहाँ पर उनका भक्त हृदय कवि की कर्त्तव्यनिष्ठा को कुंठित कर देता है। महाकवि केवल उसको संकेत मात्र करके आगे बढ़ जाते हैं। जो कुछ उनको अनुचित वा अप्रिय लगा है उसे अपने पाठकों तथा श्रोताओं को सुनाना पसन्द नहीं करते। मानस में ऐसे तीन स्थल आये हैं। लक्ष्मण का महाराज दशरथ के प्रति-'लषन कहे कछु बचन कठोरा' किन्तु क्या कहा यह नहीं बताते। सीता का लक्ष्मण के प्रति-'मरम बचन तब सीता बोला'-क्या बोला यह रहस्यमय ही रहा। यहाँ राम का सीता के प्रति-'कहेउ कछुक दुर्बाद'-क्या कहा यह नहीं लिखा गया। सचमुच राम का कथन दुर्वाद था। गोस्वामी जी राम के वचनों को दुर्वाद कहते हैं। इतने से ही अनुमान लगा लेना चाहिए कि वे कितने कठोर तथा अनुचित शब्द होंगे जिसको सुनत जातुधानी सब लागीं करै विषाद'-

जातुधानियों के हृदय को भी विक्षुब्ध करने वाले राम के उन शब्दों को सुनकर सीता पर क्या बीता होगी, यह अकल्पनीय है। चाहता तो मैं भी था कि उस दुर्वाद को न लिखूँ, किन्तु मैं जो कुछ लिख रहा हूँ उसका उद्देश्य मानस में नारी के आदर्श स्वरूप की अभिव्यक्ति है और मानस की प्रमुख नायिका देवी सीता के चरित्र-चित्रण के किसी महत्त्वपूर्ण अंश को ओझल रखना मुझे इष्ट नहीं है, इसलिए इस दुर्वाद को मैं आदि कवि के शब्दों में ही उद्धृत करता हूँ।

महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि आगे सीता थी और पीछे विभीषण। वे लज्जा से अपने अंगों में ही सिकुड़ी जा रही थी। इस तरह से वे अपने पतिदेव के सम्मुख उपस्थित हुई। सीताजी का मुख अत्यन्त सौम्य भाव से युक्त था। वे पति को ही परमेश्वर मानने वाली थी। उन्होंने बड़े विस्मय, हर्ष और स्नेह के साथ अपने स्वामी के सौम्य मुख का दर्शन किया। हर्ष और स्नेह तो स्वाभाविक ही था, किन्तु विस्मय राम के अस्वाभाविक व्यवहार को देखकर हुआ जिसकी वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी। राम इस समय स्नेहशून्य गम्भीर मुद्रा में बैठे थे। उदयकालीन पूर्ण चन्द्र को भी लज्जित करने वाले प्रियतम के सुन्दर मुखचन्द्र को, जिसके दर्शनों से वे बहुत दिनों से वंचित थी सीता ने जी भरकर निहारा और अपने मन की तपन दूर की। उस समय उनका मुख प्रसन्नता से खिल उठा और निर्मल चन्द्रमा के समान शोभा पाने लगा। मिथिलेश कुमारी को विनयपूर्वक अपने समीप खड़ी देख श्रीराम ने अपना अभिप्राय बताना प्रारम्भ किया।

भद्रे! समरांगण में शत्रु को पराजित करके मैंने तुम्हें उसके चंगुल से छुड़ा लिया। पुरुषार्थ के द्वारा जो कुछ किया जा सकता था वह सब मैंने किया। अब मेरे आमर्ष का अन्त हो गया। मुझ पर जो कलंक लगा था उसका मैंने मार्जन कर दिया। शत्रुजनित अपमान तथा शत्रु दोनों को एक साथ ही नष्ट कर डाला। आज सबने मेरा पराक्रम देख लिया। अब मेरा परिश्रम सफल हो गया और इस समय प्रतिज्ञा पूर्ण करके मैं उसके भार से मुक्त एवं स्वतन्त्र हो गया। जब तुम आश्रम में अकेली थी उस समय वह चंचल चित्त वाला राक्षस तुम्हें हर ले गया। यह दोष दैववश मेरे ऊपर प्राप्त हुआ था और मैंने मानव साध्य पुरुषार्थ के द्वारा मार्जन कर दिया। जो पुरुष प्राप्त हुए अपमान को अपने तेज से या बल से मार्जन नहीं कर देता उस मन्द बुद्धि मानव के महान् पुरुषार्थ से भी क्या लाभ? हनुमान ने जो समुद्र को लांघा और लंका का विध्वंस किया उनका वह प्रशंसनीय कर्म सफल हो गया। सुग्रीव तथा विभीषण का भी प्रयत्न सफल हो गया। इस तरह कहते हुए श्रीराम की

बातें सुनकर सीता के मृगी के समान विकसित नेत्रों में आँसू भर आए। वे अपने प्रियतम की हृदय वल्लभा थी। उनके प्राणवल्लभ उन्हें अपने समीप देख रहे थे, किन्तु लोकापवाद के भय से राजा राम का हृदय विदीर्ण हो रहा था। वे कुंचित केशों वाली, कमललोचना सुन्दरी सीता से वानर तथा राक्षसों से भरी सभा में पुनः इस प्रकार बोले "अपने तिरस्कार का बदला चुकाने के लिए मनुष्य का जो कर्त्तव्य है वह सब मैंने अपनी मान रक्षा की अभिलाषा से रावण वध करके पूर्ण कियां है। तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैंने जो युद्ध का परिश्रम किया है तथा इन मित्रों के पराक्रम से जो विजय पाई है, यह सब तुम्हें पाने के लिए नहीं किया गया। सदाचार की रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवाद का निवारण तथा अपने सुविख्यात वंश पर लगे हुए कलंक का परिमार्जन करने के लिए ही यह सब मैंने किया है। तुम्हारे चरित्र में संदेह का अवसर उपस्थित है फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो। जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती उसी प्रकार आज तुम मुझे अत्यन्त अप्रिय लग रही हो। अतः हे जनक पुत्री! तुम्हारी जहाँ भी इच्छा हो चली जाओ, मैं तुम्हें अपनी ओर से अनुमति देता हूँ। भद्रे! ये दसों दिशायें तुम्हारे लिए खुली हैं। अब मेरा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरे के घर में रही स्त्री को केवल सुहृदप्रिय होने के लोभ से मन से भी ग्रहण कर सकेगा? रावण तुम्हें अपनी गोद में उठा कर ले गया और तुम पर अपनी दूषित दृष्टि डाल चुका है, ऐसी दशा में अपने कुल को महान् बताता हुआ मैं फिर तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? अतः जिस उद्देश्य से मैंने तुम्हें जीता था वह सिद्ध हो गया। मेरे कुल के कलंक का मार्जन हो गया। अब मेरा तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का अपनत्व वा लगाव नहीं है अतः तुम जहाँ जाना चाहो जा सकती हो। भद्रे! मेरा यह निश्चित् विचार है इसके अनुसार ही मैंने तुम्हारे सामने ये बातें कही हैं, तुम चाहो तो भरत या लक्ष्मण के साथ सुखपूर्वक रहने का विचार कर सकती हो। सीता तुम्हारी इच्छा हो तो तुम शत्रुघ्न, वानरराज सुग्रीव अथवा राक्षसराज विभीषण में से जहाँ भी तुम्हें सुख मिले वहीं अपने मन को लगाओ। सीते ! तुम जैसी दिव्य रूप सौन्दर्य से सुशोभित मनोरम नारी को अपने घर में स्थित देख कर रावण चिरकाल तक तुम से दूर रहने का कष्ट नहीं सह सका होगा।"(वा०रा० ६/११५-२४) ये हैं वे दुर्वचन जो राम ने सीता के प्रति कहे थे।

इस प्रकार के न कहने योग्य वचन सीता जैसी देवी के प्रति राम ने क्यों

कहे? क्या सचमुच राम को सीता के प्रति सन्देह था? क्या उनका हृदय स्वीकार कर रहा था कि रावण सीता से चिरकाल तक दूर नहीं रह सका होगा वा सीता रावण द्वारा दूषित हो चुकी है? नहीं, बिल्कुल नहीं। तो फिर राम ने इस प्रकार के दुर्वाद क्यों कहे? इस विषय में आदि कवि ने राम की विवशता का कारण प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। जिस सीता के विरह में राम के लिए सारा विश्व संताप तथा पीड़ामय ही प्रतीत होता था, जिस सीता को जीवित पा जाने की लालसा में राम सब कुछ करने को उद्यत थे वही सीता आज उनके सामने खड़ी है। क्या राम हृदयहीन थे? नहीं, किन्तु जैसे पहले बताया गया है कभी-कभी सम्भावित व्यक्ति के लिए किसी कारण विशेष से अपनी समस्त आन्तरिक भावनाओं को कुचल देना होता है, कभी-कभी वह लोक चिंता में आत्मघात जैसी क्रियाओं को भी करने में प्रवृत्त हो जाता है। राम के इस अन्तर्द्वन्द्व के विषय में आदि कवि ने कहा है 'जनवादूभयाद राज्ञो हृदयं द्विधा।' लोकापवाद के भय से राजा का हृदय उस समय विदीर्ण हो रहा था। राम एक प्रियतम वा पति ही नहीं हैं वे लोक नायक हैं, राजा हैं। यहाँ पर आदि कवि ने लोकापवाद के भय से राम का हृदय विदीर्ण हो रहा था ऐसा नहीं लिखा। राज्ञो अर्थात् राजा शब्द का प्रयोग करके बताया कि लोकनायक का कर्त्तव्य कितना कठोर है। प्राचीन काल में राजा प्रजा के लिए केवल शासक नहीं होता था बल्कि आदर्श भी होता था। इसी आधार पर "यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति प्रचलित हुई है। सीता के प्रति कठोरता वा अनुदारता के इस व्यवहार का कारण केवल राम का राजत्व ही था। जो कुछ भी मन्द बुद्धि लोग सीता के प्रति कल्पना कर सकते थे उन सभी सन्देहों को लोक नायक राम ने स्वयं ही कह दिया। यह लोगों की ही कल्पना की अभिव्यक्ति मात्र है कि-

नहि त्वां रावणो दृष्टवा दिव्यरूपां मनोरमाम्।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम्।।

(वा० ६/११५-२४)

सीते! तुम्हारी जैसी मनोरमा दिव्यरूपा सुन्दरी को रावण जैसा विश्व विख्यात कामी पुरुष अपने घर में रहती हुई देख इतने महीनों तक स्वयं को कैसे रोक सका होगा? लोक मानस की शंकामय समस्त सम्भावनाओं को स्वयं राम ने ही प्रकट कर दिया। यहाँ पर यदि हम सीता की आन्तरिक तथा बाह्य स्थिति को देखते हैं तो गोस्वामी जी के शब्दों में ही बरबस कह देते हैं" जो कुछ भी राम ने कहा वह दुर्वाद मात्र है।" राम जैसे आर्य मानव के मुख चन्द्र से यह दुर्वाद रूप

अनल कण की वृष्टि अप्रिय ही नहीं बल्कि अनुचित भी है. किन्तु यदि हम राम के अन्तर में झाँक कर वहाँ के झंझावात को देखते हैं तो सीता से भी अधिक राम की दशा दयनीय दिखाई देती है। राम का सीता को यह कहना कि भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न अथवा सुग्रीव वा विभीषण किसी में भी मन को लगा कर उसके साथ तुम रह सकती हो, केवल उन्मादी हृदय प्रलाप के सिवा और क्या कहा जा सकता है? राम के इन भीषण कठोर शब्दों को उद्धृत न कर के गोस्वामी जी ने अच्छा ही किया है। कोई भी हृदयवान् व्यक्ति इस दुर्वाद को सुनकर राम का विवेकी तथा भला नहीं कह सकता किन्तु स्वभाव से राम कारुणीक, सुकोमल हैं। सीता उनकी प्राणेश्वरी है, हृदय वल्लभा है। स्वयं आदि कवि ने कई जगह इसका उल्लेख किया है। फिर इस प्रकार की कठोरता से प्रयोजन क्या है? प्रयोजन है विश्व के समक्ष सीता की महत्ता को प्रकट करना। सीता अपने तप और त्याग से, त्रिलोकी के वैभव के प्रलोभन तथा कराल काल के भी भय से मुक्त हो चुकी है। वह अपनी दिव्यता की साधना में उस शिखर पर स्थित हो चुकी है जो देवताओं के लिए भी स्पृहणीय है। वह इस समय दिव्यता को भी आलोकित करने की क्षमता रखती है। राम सब कुछ जानते हैं किन्तु मानवीय साधना की इस ऊँचाई को त्रिलोकी के समक्ष प्रकट रूप में प्रस्तुत कर उसे देव वन्दीय रूप में प्रतिष्ठित करने की क्रिया कैसे सम्पन्न की जाए यह एक दुरूह कार्य है। राम अपने कठोर संकल्प से इस कार्य की पूर्ति कर रहे हैं केवल अपने हृदय की साधना मात्र से। सीता अपनी साधना के परिणाम में दिव्यता की अधीश्वरी नहीं बन सकती राम इस यथार्थ को अच्छी प्रकार से जानते हैं। इसीलिए महर्षि ने लिखा है कि "पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम्" सीता राम की हृदय प्रिया है। उसको अपने समीप देख रहे हैं फिर भी हृदय से लगाने के लिए उतावले नहीं हैं। भावनाओं को कठोरता से कुचल कर ही राम सीता की इस दिव्यता से विश्व को आलोकित कर सकते हैं। यह मेरी अपनी ही कल्पना नहीं है, आदि कवि ने भी आगे इसी अभिप्राय को प्रकट किया है। राम ने स्वयं भी सीता से क्षमा प्रार्थना करते हुए यह बात कही है-

इमामपि विशालाक्षी रक्षितां स्वेन तेजसा।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः।।
प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम्।।

(वा० ६/११८-१६,१७)

अर्थात् मुझे यह भी विश्वास है कि जैसे महासागर अपनी सीमा तट की भूमि को नहीं लाँघ सकता उसी प्रकार रावण अपने ही तेज से सुरक्षित इन विशाल लोचना सीता पर अत्याचार नहीं कर सकता था। तथापि त्रिलोकी में सीता की दिव्यता को प्रकाशित कर लोगों में सत्याचरण के प्रति विश्वास दिलाने के लिए ही मैंने एक मात्र सत्य का आश्रय लेकर अग्नि में प्रवेश करती हुई विदेह नन्दिनी को नहीं रोका। शरीर की बात तो दूर रही-

न शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम्।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव।।

(वा० ६/११८-१८)

मिथिलेश कुमारी प्रज्जवलित अग्नि शिखा के समान दुर्धर्ष तथा दूसरे के लिए अलभ्य है। दुष्टात्मा रावण मन से भी इन पर अत्याचार करने में समर्थ नहीं हो सकता था। यह सती साध्वी रावण के अन्तःपुर में रह कर भी व्याकुलता वा घबराहट में नहीं पड़ सकती थीं क्योंकि "अन्यया ही मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा।" सीता उसी प्रकार से मेरे से अभिन्न है जैसे सूर्य से उसकी प्रभा। मिथिलेश कुमारी तीनों लोकों को पावन करने वाली परम पावन है। जैसे मनस्वी पुरुष अपनी कीर्ति का त्याग नहीं करता इसी प्रकार मैं इनका त्याग नहीं कर सकता। अन्त में राम कहते हैं-हे लोक पालको ! "अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम्।" (वा०यु०११६-२१) आप लोगों द्वारा मेरे हित के लिए कहें हुए वचन का मैं अवश्य ही पालन करूँगा। " ऐसा कहते हुए राम ने अपनी हृदय वल्लभा प्रियतमा को हृदय से लगा लिया और अकथनीय सुख का अनुभव किया।" राम के इन हार्दिक उद्‌गारों को सुनकर क्या हमारे हृदय से बरबस यह आवाज़ नहीं निकलती कि पूर्व में राम ने जो कुछ भी दुर्वाद कहे थे वह केवल मिथिलेश नन्दिनी की दिव्यता को लोकपालों द्वारा विश्व में प्रकाशित कराने के लिए ही कहे थे। वह राम के अन्तर की स्वीकृती नहीं केवल बाह्य नाटक मात्र था। राम सीता को जानते हैं, उन्हें यह भी पता है कि सीता के स्पर्श से अग्नि अपनी शिखा को भी पावन बनाने वाली है। यह सब होते हुए भी हम जब सीता की उस समय की स्थिति की कल्पना करते हैं जिस समय वे भयभीत मृगी की भाँति अपने अंगों में ही सिमटी जा रही थी और प्रियतम के कठोर वचन रूपी बाण उनके हृदय को विदीर्ण करते जा रहे थे। उस प्रकार के शब्द जिन्हें प्रियतम के द्वारा सुनने की कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी अवाक् हो सुनती रह गई, सीता की उस करुण दशा का वर्णन

करते हुए महर्षि कहते हैं-

ततः प्रियार्हश्रवणा तदप्रियं प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मानिनी।
मुमोच वाष्पं रुदती तदा भृशं गजेन्द्रहस्ताभिहतेव वल्लरी।।

(वा० ६/११५-२५)

जो सदा प्रिय वचन सुनने के ही योग्य थी वे मानिनी सीता चिरकाल के बाद मिले हुए प्रियतम के मुख से ऐसी कर्ण कटु, अप्रिय बात सुन कर उस समय हाथी की सूँड से आहत हुई, लता के समान काँपती हुई अश्रु विमोचन करने लगी। माननीय नारी का मान केवल प्रियतम के ही बल पर होता है। दुनिया में उसकी शान, मान, गौरव सब प्रियतम के कृपा कटाक्ष पर ही अवलम्बित होता है। नारी के लिए घोर नरक से भी यदि अधिक यातनाप्रद कोई बात है तो वह अपने प्रियतम का उस पर अविश्वास। वह अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी पति के विश्वास को प्राप्त करना श्रेष्ठ समझती है क्योंकि पति के अविश्वास की पात्र बन कर जीवित रहने की अपेक्षा वह मृत्यु को ही श्रेयस्कर समझ वरण कर लेती है, किन्तु इसका महत्त्व उस आर्य नारी की दृष्टि में ही है जिसके जीवन का व्रत है कि समर्पण एक बार, एक ही के प्रति होता है, जो जीवन को केवल वासनात्मक क्रीड़ा का क्षेत्र नहीं समझती, जिसको नारी के सत्त्व की महत्ता का बोध तथा उसके प्रति गौरव है। अन्यथा उस काल में भी सूपर्णखा जैसी अनार्य नारियाँ रहती ही थीं। राम के वचनों का प्रतिकार करते हुए सीता ने यही बात कही थी-

पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशङ्कसे।

(वा० ६/११६-७)

नीच श्रेणी की स्त्रियों का आचरण देखकर यदि आप समूची स्त्री जाति पर ही संदेह करते हैं तो यह उचित नहीं है। सत्यतः वे नीच श्रेणी की ही नारियाँ हैं जो स्वल्प लोभ में आकर अपने सत्त्व की हत्या कर देती हैं। गोस्वामी जी ने उसी श्रेणी की नारियों के लिए माया वा नटी शब्द का प्रयोग किया है और उन्हें-

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।

बताया है। सीता अनन्या हैं, वे साक्षात् भक्ति स्वरूपा हैं, राम ने स्वयं इनकी अनन्यता को हृदय से स्वीकार किया है, किन्तु कठोरता इस बात को प्रमाणित करने के लिए ही धारण की थी कि जिससे त्रिलोकी में सीता की कीर्ति का विस्तार हो। श्री राम की अन्तर दशा को अनुभव करते हुए ही गोस्वामी जी ने लिखा है-

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि करुणानिधि और दुर्वाद ये दोनों ही एक दूसरे के विरुद्ध भाव व्यक्त करते हैं, किन्तु गोस्वामी जी के शब्दों में-

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं।।

(रा० ७/७४-८)

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर।।
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।।

(रा० ७/७४-क, ख)

वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों महर्षियों को जो अन्य की अपेक्षा राम को अधिक निकट से जानते हैं, इस विषय में हम एकमत पाते हैं कि सीता के लिए जो कुछ कठोरता राम ने प्रकट की वह उनके अन्तर की अभिव्यक्ति नहीं थी, केवल लोकापवाद वा लौकिक कलंक से सीता को मुक्त करने के उद्देश्य से ही था। इसके साथ ही राम ने अपनी धीरता को भी विश्व के सम्मुख प्रकट किया है, उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट कहा है कि-

बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि।।

(वा० ६/११८-१४)

यदि मैं जनकनन्दिनी की पवित्रता को प्रमाणित किए बिना ही अपना लेता तो लोक यही कहते कि दशरथ पुत्र राम बड़ा ही मूर्ख और कामी था किन्तु इतनी कठोर परीक्षा राम ही दे सकते हैं। उनकी इस कठोर परीक्षा से क्रूर ह्रदया यातुधानियों का भी दिल दहल गया। सीता की तो दशा ही अकथनीय थी। विशेष रुचि रखने वाले पाठकों को महर्षि वाल्मीकि की अमर कृति ही पढ़नी चाहिए। उस दशा का पूर्ण वर्णन मेरे बस की बात नहीं है। मैं तुलसी के राम को ही पढ़ने, सुनने, समझने तथा उपासने का अभ्यस्त हूँ। मुझसे वाल्मीकि के राम कभी-कभी इतने दूर प्रतीत होते हैं कि उनके सम्बन्ध में कुछ भी कहते-सुनते नहीं बनता, किन्तु आश्चर्य मुझे स्वयं भी हो जाता है, जब मैं तुलसी की सीता से वाल्मीकि की सीता को अपने अधिक निकट अनुभव करता हूँ, शायद इसीलिए कि वे माया नहीं यथार्थ हैं। राम के दुर्वाद को सुनकर सीता ने जो कुछ कहा है वह नारी सत्त्व के

लिए संजीवनी है इसलिए उनके कुछ शब्दों को मैं यहाँ उद्धृत करना उपयोगी समझता हूँ। इतने बड़े जनसमुदाय में स्वामी के मुँह से अपने चरित्र के प्रति आशंका की बात जिस की पहले क़भी कल्पना भी न की थी कानों में पड़ते ही मिथिलेश कुमारी लज्जा से गढ़ सी गई। उन वाग्वाणों से आहत हो वे अपने ही अंगों में विलीन सी होने लगी। उनके नेत्रों से आँसुओं का अविरल प्रवाह चल रहा था। आँसुओं से भीगे हुए मुख को आँचल से पोंछती हुई कांपते हुए स्वर में धीरे-धीरे वे अपने पतिदेव से इस प्रकार बोली-

**किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।**
**रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव।।**

**(वा० ६/११६-५)**

वीर! आप ऐसी कठोर, अनुचित, कर्णकटु और रूखी बात मुझे क्यों सुना रहे हैं? जैसे कोई असभ्य पुरुष असभ्य स्त्री से न कहने योग्य बातें भी कह डालता है वैसे ही आप मुझ से कह रहे हैं। राम के कथन पर ध्यान दिया जाए तो बात कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है। सभ्य वा सांस्कृतिक व्यक्ति एक सांस्कृतिक नारी के लिए वे बातें नहीं कह सकता, किन्तु जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि राम ने लोकमत को प्रकट करते हुए ही वे बातें कही थीं और लोक में बहुतायत प्राकृत जनों की अर्थात् असांस्कृतिक लोगों की ही होती है। अपनी विवशता को व्यक्त करती हुई सीता कहती है-"प्रभो ! रावण के शरीर से जो मेरे शरीर का स्पर्श हो गया है, उसमें मेरी विवशता ही कारण है, मैंने स्वेच्छा से ऐसा नहीं किया था। इसमें मेरे दुर्भाग्य का ही दोष है। जो मेरे अधीन है, वह मेरा हृदय सदा आप में लगा रहता है, किन्तु मेरे अंग तो पराधीन थे। उनका यदि दूसरे से स्पर्श हो गया तो मैं विवश अबला क्या कर सकतीं थी? दूसरों को मान देने वाले प्रभो! हम दोनों का परस्पर आत्मानुरागं साथ-साथ ही बढ़ा है, हमं साथ-साथ रहे हैं। इतने पर भी यदि आपने मुझे अच्छी तरह नहीं समझा तो मैं सदा के लिए मारी गई।

"नृप श्रेष्ठ ! आपने ओछे मनुष्यों की भाँति रोष का ही अनुसरण करके मेरे शील स्वभाव की ओर ध्यान न देकर केवल निम्न कोटि की स्त्रियों के स्वभाव को ही सामने रखा है।" नारी अपनी महत्ता को सुरक्षित रखने में अपने कुल के गौरव को सदा ध्यान में रखती है। पथभ्रष्ट नारी कुल के लिए कलंक का टीका लगानी वाली होती है। जानकी के जीवन में दिव्यता की साधना में उनका कुलाभिमान एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। उन्होंने रावण को फटकारते

हुए अपने कुल के गौरव का स्मरण दिलाया था। वे नीच कुल की नीच संस्कारों में पली हुई निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ होती हैं जो भय तथा प्रलोभनवश पथभ्रष्ट हो जाती हैं। सीता ने कहा था-अरे नीच ! तुम्हें पता नहीं है-

कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया।

(वा० ५/२१-५)

मैं एक महान् कुल में उत्पन्न हुई हूँ और विवाह करके एक महान् कुल में आई हूँ।

मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः।
त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसापि कः।।

(वा०रा० ५/२२-१४)

उसी प्रकार मैं धर्मात्मा राम की धर्मपत्नी हूँ जिस प्रकार शची इन्द्र की। त्रिलोकी में तेरे सिवा मूढ़ बुद्धि कौन है जो मन से भी मुझे प्राप्त करने की इच्छा करे। कितना बड़ा स्वाभिमान है सीता के हृदय में अपने पितृ कुल तथा पतिकुल का। व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने के लिए, परिपुष्ट करने के लिए यह स्वाभिमान महारसायन का काम करता है। राम के समक्ष भी सीता अपने पवित्र कुल में उत्पन्न होने की बात कहती हुई अपनी दिव्यता का स्मरण दिलाती है-

अपदेशो मे जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात्।
मम् वृत्तं च वृत्तज्ञ बहु ते न पुरस्कृतम्।।

(वा०रा० ६/११६-१५)

सदाचार के मर्म को जाननेवाले देव ! जनक से नहीं वसुन्धरा से ही मेरी उत्पत्ति हुई है। (जनक द्वारा पालित होने से ही जानकी नाम पड़ा है।) मेरी इस दिव्यता को आपने अपने समक्ष नहीं रखा। अभिप्राय यह कि धरित्री के समान ही मुझ में धैर्य है, अपने मान के प्रति अचल निष्ठा है। वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों के अनुसार यह ज्ञात होता है कि सीता का विवाह बाल्यावस्था में ही हुआ था। यहाँ पर भी सीता उस बात का संकेत करती है।

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मंम् निपीडितः।
मम् भक्तिश्च शीलं च सर्व ते पृष्टतः कृतम्।।

(वा०रा० ६/११६-१६)

बाल्यावस्था में आपने मेरा पाणिग्रहण किया है इसकी ओर भी आपने ध्यान नहीं दिया। मेरे हृदय में जो आपके प्रति भक्ति है, मुझमें जो शील है वह सब

आपने पीछे ढकेल दिया। इतना कहते हुए सीता का गला भर आया। वे रोती और अश्रु विमोचन करती वा अपनी पवित्रता की शपथ खा कर भी लोक भ्रान्ति को दूर नहीं कर सकती थी वा यों कहिए कि सन्देह से परे नहीं हो सकती थी। उनको दिव्यता के उच्चतम सिंहासन पर आसीन होने के लिए जातवेदा को ही निसेनी बना कर चढ़ना पड़ा। वाल्मीकि के इतने विस्तृत विवेचन से बचते हुए गोस्वामी जी ने दो चपाइयों में ही सारा समेट दिया है। तुलसी की नारी इतनी कोमल है कि उससे किसी प्रकार पति का प्रतिकार नहीं किया जाता। वह धरित्री की पुत्री है, प्रकृति की साकार मूर्ति वह सर्वांशतः परार्थ है, स्वार्थ की उसमें गंध तक नहीं है। वह पुरुष की कठोरता को सहते हुए भी उसे सरसता प्रदान करती है। तुलसी की आदर्श नारी में माधुर्य की अपेक्षा वात्सल्य ही अधिक दीखता है। उसका मातृ हृदय सदैव करुणा से पूरित रहता है, उसे अपनी आस्था पर अविचल विश्वास है अतः प्रतिकार को वह कहीं भी स्थान नहीं देती। सीता तो साक्षात् क्षमा स्वरूपा है, वे राम के कठोर वचनों को भी शीश पर धारण कर लेती हैं-

प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता।।
लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम बेगी।।

सीता के समक्ष इसके सिवा और कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए लक्ष्मण द्वारा रची गई चिता की प्रचण्ड ज्वाला को सहर्ष आलिंगन किया। चिता प्रवेश से पूर्व जानकी ने सभी लोकपालों के समक्ष बद्धांजली प्रार्थना की। राम सिर झुकाये वहीं खड़े थे, उनकी परिक्रमा की और अग्नि के निकट जाकर करबद्ध हो कहा-

जों मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं।।
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखण्ड समाना।।

(रा० ६/१०९-७,८)

इसी प्रकार की प्रतिज्ञा पूर्ण प्रार्थना वाल्मीकि में भी की है-

कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः।।

(वा० ६/११६-२७)

यदि मैंने कर्म, मन, वाणी से कभी भी सम्पूर्ण धर्म के ज्ञाता राम का अतिक्रमण न किया हो तो अग्नि देव मेरी रक्षा करें। इसी प्रकार अन्य लोकपालों से भी प्रार्थना करती हुई-

एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम्।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना।।

(वा०रा० ६/११६-२९)

वैदेही ने अग्नि देवता की परिक्रमा की और निशंक चित्त से वह प्रज्जवलित अग्नि में प्रवेश कर गई-

श्रीखण्ड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली।।
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।।

(रा० ६/१०९ छन्द-१)

मैथिली की ही यह महत्ता है कि वे अपने आस्था युक्त तपोपूत जीवन की दिव्य ज्वाला के समक्ष इस प्राकृत अग्नि की ज्वाला को शीतल कर दिया और त्रिलोकी में मानवता को महिमा से मण्डित कर देवताओं के लिए भी वन्दनीय बना दिया। देवाधिदेव अग्निदेव ने स्वयं प्रकट हो उनका कर-कमल राघव के हाथ में समर्पित किया। महर्षि आदि कवि ने भी ऐसा ही लिखा है। गोस्वामी जी के शब्दों में-

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो।।
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली।।

(रा० ६/१०९-छन्द-२)

राम की प्रसन्नता की सीमा न रही। उनके कठोर साधन की सिद्धि साकार रूप में उनके वाम भाग में विराजित थी। अपने कहे हुए दुर्वचनों के लिए वे स्वयं में सीता के समक्ष लज्जित थे। यहाँ तक कि स्वर्गवासी महाराज दशरथ ने भी राम द्वारा कहे गये कटु वाक्यों के लिए सीता से क्षमा माँगी, किन्तु दिव्यता के उच्चतम शिखर पर आसीन सीता के हृदय में आमर्ष वा अहंकार दोनों के लिए स्थान नहीं था। वे अपनी इस महत्ता में भी अपनी साधना से अधिक प्रियतम की अनुकम्पां को ही प्रमुख मानती थी।

देव वन्दिता सीता पुष्पकारूढ़ हो राम के साथ अयोध्या के लिए प्रस्थान करती हैं। राम अपने अद्भुत पराक्रम के परिणाम में मारे हुए विशालकाय

विकराल राक्षसों के पड़े हुए रुंडमुण्डों को दिखा रहे हैं और बता रहे हैं कि-

**तव हेतोर्विशालाक्षि निहतो रावणो मया।**

**(वा० ६/१२३-५)**

हे विशालाक्षी ! इस दुर्धर्ष वीर रावण का तुम्हारे लिए ही मैंने वध किया है। यह राम के हृदय की बात है अब वे यह नहीं कहते कि मैं कुल का कलंक मिटाने के लिए वा अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए रावण का वध किया है।

आज अवधि का अन्तिम दिन है, अयोध्या पहुँचना अनिवार्य है ऐसी अवस्था में सीता गंगा जी के तट पर की हुई प्रार्थना को भूली नहीं है, अपनी मानी हुई मनौती को पूर्ण करने की स्मृति बनी है। न तो गुरुता का गर्व है और न दिव्यता का अहंकार। वे राम से प्रार्थना कर गंगा तट पर विमान को उतार लेती है और-

**तब सीता पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी।।**

**(रा० ६/१२१-८)**

महानता तो इसी में है कि शुभ से कभी भी तृप्ति न हो। माता गंगा से पुनः आशीर्वाद प्राप्त करती है-

**दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा।।**

**(रा० ६/१२१-९)**

सुरसरि से अभंग अहिवात कीं आशीश पाकर सीता अयोध्या आती है, सम्राट प्रियतम के साथ साम्राज्ञी पद पर आसीन होती है।

**राम वामदिसी सोभति रमा रूप गुन खानि।**
**देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि।।**

**(रा० ७/११-ख)**

सीता मानव तथा मानवता को ही नहीं देव एवं दिव्यता को आलोकित करती हुई उसके शिखर पर विराजित है किन्तु उसे इस गौरव का गर्व नहीं है। गौरव युक्त जीवन की गुरुता में विनम्रता विभूषण है। सीता अवध की साम्राज्ञी होने पर अहंता से अछूती ही रही। गोस्वामी जी के शब्दों में-

**पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता।।**
**जानति कृपा सिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई।।**
**जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा बिधि गुनी।।**

निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्रीसेवा बिधि जानइ।।
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।।
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता।।

(रा० ७/२४- ३ से ९)

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ।।

(रा० ७/२४)

महाकवि ने इन अर्द्धालियों में सीता का एक आदर्श गृहिणी के रूप में दर्शन कराया है। चक्रवर्ती राम राज्य की साम्राज्ञी के इस प्रकार के जीवनचर्या की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शोभा की खानि, सुशीलता तथा विनम्रता की मूर्ति सीता सदैव अपने पतिदेव के अनुकूल ही व्यवहार करती है। वह कृपासिंधु श्रीराम की प्रभुता को जानती है अर्थात् उसको यह ज्ञात है कि पत्नी का सम्पूर्ण वैभव, सम्मान, गौरव पति के ही नाते होता है अतः वह सदैव मनसा, वाचा, कर्मणा पति पद पंकज की सेवा में रत रहती है। सम्राट् के राजप्रासाद में दास-दासियों की क्या गणना, सभी सेवक-सेविकाएँ सब प्रकार से सेवा कार्यों में निपुण होने पर ही सम्राट के अन्तःपुर में आश्रय पाते हैं। सेवा कार्य दक्ष सेवकों के होते हुए भी सीता स्वयमेव अपने गृह की परिचर्या करती हैं और वह राज राजेश्वर राम की आज्ञा का अनुसरण करती हैं। जिस प्रकार से उनके कृपासिंधु प्रियतम सुख मानते हैं श्रीजी वही करती हैं क्योंकि उन्हें सेवा की विधि का बोध है। सेव्य की प्रसन्नता का साधन ही सेवा की सर्वोत्तम विधि है और "आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा", यह उस विधि का उत्तमतम स्वरूप है। अभिमान एवं घमण्ड का त्याग कर कौशल्यादि सभी सासुओं की सेवा करती है। देववन्दिता साम्राज्ञी होने पर भी मान और मद की गन्ध तक नहीं है। पातिव्रत्य की शक्ति, साम्राज्य की श्री तथा कुशलता निपुणतामय सुमति से सम्पन्न एवं ब्रह्मादि से अभिवन्दित जगत्गत प्राणियों के प्रति वात्सल्य रखने वाली जगदम्बा सीता सर्वगुणों की आश्रय एवं सर्वथा अनिन्दिता है। देवगण भी जिनकी कृपा कटाक्ष चाहते हैं परन्तु वे उनकी ओर निहारती तक नहीं, वे ही विदेह नन्दिनी अपनी महिमा का त्याग कर श्रीराम के पदारविंद में अनुरक्त रहती हैं।

यह मैं पहले भी कह आया हूँ कि प्रत्येक नारी अपने राम की सीता है

अर्थात् जो स्थान राम के साथ सीता का है वही स्थान अपने प्रियतम के साथ प्रत्येक नारी को प्राप्त होता है। यह बात अलग है कि वह सीता ऐसी आस्था से स्वयं को गौरवमण्डित कर पाती है या नहीं। इतिहास मानव को उन्नति की प्रेरणा देता है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतिहास के पठन-श्रवण की बड़ी महिमा रही है। राम भी सीता के साथ मुनि मण्डली में बैठकर पवित्र इतिहासों तथा विविध धर्मशास्त्रों का श्रवण करते रहे हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में -

**जहाँ बैठे मुनिगन सहित नित सिय रामु सुजान।**
**सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।।**

**(रा० २/२३७)**

इस प्रकार के कथा श्रवण में सीता की अधिक श्रद्धा थी इसलिए कथा स्थान की वेदिका तक को अपने करकमलों से वे साफ करती थी, सँवारती थी। मानस में उसका उल्लेख हैं-

**बट छाया वेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई।।**

**(रा० २/२३७-८)**

सत्य कथाओं तथा पुनीत इतिहासों के श्रवण का यह परिणाम रहा कि सीता ने अपने आदर्श रूप में सावित्री को स्वीकार कर उसकी अनुवर्तिनी होने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। वनवास के समय में उनके इस विषय में कहे हुए वचनों को आदि कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

**द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवंतमनुव्रताम्।**
**सावित्रीमिव मां विद्धि त्वात्मवशवर्तिनीम्।।**

**(वा० २/३०-६)**

हे राघव ! जिस प्रकार सावित्री द्युमत्सेन पुत्र वीरवर सत्यवान् की ही अनुगामिनी थी उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी आज्ञा के अधीन समझिए-

**न त्वहं मनसात्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ।**
**त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी।।**

**(वा० २/३०-७)**

हे राघव ! जिस प्रकार कोई कलंकिनी नारी अन्य पुरुष पर दृष्टि रखती है वैसी मैं नहीं हूँ। मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुष को मन से भी नहीं देख सकती। कितनी दृढ़ धारणा है, कितना अटल निश्चय है। यह प्रेरणा उन्हें अपने

पवित्र इतिहास से ही प्राप्त हुई है। लंका में राक्षसियों द्वारा विविध प्रकार के भय तथा प्रलोभन दिखाने पर उन्हें फटकारती हुई अपने गौरव मण्डित आर्य नारी परम्परा को अपना आदर्श बताती हुई उन्हीं के चरणचिन्हों की स्वयं को अनुवर्तिनी घोषित करती हैं। महर्षि की लेखनी में उन्हीं के शब्दों को पढ़िये। सीता स्वाभिमानयुक्त शब्दों में अपने निश्चय को घोषित करती हुई कहती हैं- अरे राक्षसियो ! तुम्हें ध्यान से मेरे वचनों को सुन लेना चाहिए -

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः।।

(वा० ५/२४-८)

एक मानव कन्या कभी भी किसी राक्षस की भार्या नहीं हो सकती। तुम सब लोग भले ही मुझे खा जाओ, किन्तु मैं तुम्हारी बात नहीं स्वीकार कर सकती। कितना स्वाभिमान है, कितना गौरव है सीता को अपने मानवी होने का। इस गौरव की निष्ठा ने ही उस महामानवी को देववन्दिता बना दिया। वे आगे कहती हैं-

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः।
तं नित्य नुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला।।
यथा शची महाभागा शक्रं समुपतिष्ठति।
अरुन्धती वसिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा।।
लोपामुद्रा यथागस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा।
सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा।।
सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा।
नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता।।
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता।

(वा० ५/२४-९-१२)

मेरे पति दीन हों अथवा राज्यहीन, वे ही मेरे स्वामी हैं, वे ही मेरे गुरु हैं। मैं सदा उन्हीं में अनुरक्त हूँ और रहूँगी। जैसे सुवर्चला सूर्य में अनुरक्त रहती है, जैसे महाभागा शची इन्द्र में प्रतिष्ठित होती है, जैसे देवी अरुन्धती वंशिष्ठ में, रोहिणी चन्द्रमा में, लोपामुद्रा अगस्त्य में, सुकन्या च्यवन में, सावित्री सत्यवान् में, श्रीमती कपिल में, दमयन्ती सौदास में, केशिनी सगर में तथा भीमकुमारी दमयन्ती अपने प्राणवल्लभ निषध नरेश नल में अनुराग रखती है, अनुवर्तन करती है, उसी प्रकार मैं भी अपने पतिदेव इक्ष्वाकुवंश शिरोमणि राम में अनुरक्त हूँ।

किसी विषय को बार-बार श्रवण करने से तदनुसार मनन-चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है, चिन्तन की परिपक्वता ही निदिध्यासन है जो चिन्तक को चिन्त्य से अभिन्न बना देता है इसीलिए प्रज्ञावान महर्षियों ने बार-बार पवित्र ऐतिहासिक कथाओं को तथा तत्त्वशास्त्रों के प्रवचन स्वाध्याय आदि में प्रमाद न करने का उपदेश किया है। उपर्युक्त सीता की उद्घोषणा से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उनको दिव्यता की उपासना का पथ कहाँ से और कैसे प्राप्त हुआ। आज सीता उन समस्त सती साध्वी देवियों में शिरोमणि के रूप में आराध्या बनी हुई है। अनुसूइया के वे वाक्य आज अक्षरशः सत्य हो रहे हैं-

**सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।**

**(रा० ३/५-ख)**

सीता की महत्ता उनके शील सदाचरण के साथ ही धैर्य, क्षमा, करुणा, दया, निरभिमानता, सौशील्य तथा प्राणिमात्र के प्रति वात्सल्य आदि उदात्त गुणों के कारण है, भय तथा प्रलोभन से मुक्त हो प्राणेश प्रियतम के प्रति अविचल आस्था एवं भक्ति से है। वे महादेवी अनुसूइया से कहती हैं-

**यद्यप्येष भवेद् भर्त्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः।**
**अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत्।।**

**(वा०२/११८-३)**

मेरे पतिदेव यदि अनार्य अर्थात् चरित्रहीन, अशिष्ट और जीविका के साधनों से रहित अर्थात् निर्धन होते तो भी मैं बिना किसी दुविधा के इनकी सेवा में रत रहती। कितनी उदात्त भावना है पति भक्ति की। आज की वे स्त्रियाँ सीता को अवश्य ही अर्धसभ्य, अशिक्षित, आर्थोडॉक्स तथा कम समझ वाली, पुराने विचारों की नारी मानती होंगी जिनके जीवन में सत्य निष्ठा, पतिपरायणता तथा भक्ति की जगह पर अर्थलोलुपता, विषयानुरक्ति तथा कृत्रिम साजसज्जा के आकर्षण ने अपना आधिपत्य ज़मा रखा है। जो तुच्छ पदपदार्थ के प्रलोभन के पीछे अपने सत्त्व की होली जलाकर वसन्तोत्सव मनाती हैं। ज्ञो विषय यज्ञ की पूर्णाहुति में अपनी निष्ठा का बलिदान कर स्वर्गीय सुख की कामना करती हैं, वे नारियाँ सीता की दिव्यता को नहीं समझ सकतीं। आज छोटे से अधिकारी की पत्नी बनते ही अपने कर्त्तव्य को तिलांजलि देने वाली नारियाँ सीता की उदारचर्या को कैसे महत्त्व दे सकती हैं, किन्तु भारतीय सनातन संस्कृति के संस्कारों में पली हुई करोड़ों आर्य देवियों के लिए आज भी सीता आदर्श बनी हुई है। आज भी भारत माँ की पवित्र गोद को

सुशोभित करने वाली आर्य बालाओं की जीवन कलिका को सीता की पावनता की अनुवर्तिनी भावना के दिव्य सौरभ से सुवासित देखा जा सकता है। नीतिशास्त्र का कथन है "सा भार्या या प्रजापती।" सन्तानवती स्त्री ही भार्या पद को सुशोभित करती है। सीता के सफल सार्थक तथा परिपूर्ण नारीत्व का अवबोधन कराते हुए कवि ने लिखा है-

दुइ सुत सुन्दर सीताँ जाए। लंव कुस बेद पुरानन्ह गाये।।

(रा० ७/२५-६)

देवी सीता ने लव-कुश नामक दो पुत्रों को जन्म दिया जिनकी कीर्ति वेद पुराण में वर्णित है। पुत्रवती होने पर सीता का पत्नित्व चूड़ान्त पर प्रतिष्ठित हो गया। वे समग्र रूप से नारीत्व को परिपूर्णता प्रदान कर नारी मात्र के लिए आदर्श आराध्या हो गई हैं।

नारी की पावनता भारतीय संस्कृति की धुरी है इसलिए हमारे सांस्कृतिक महाकाव्य के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि तथा महाकवि गोस्वामी तुलसीदास दोनों महर्षियों ने सीता के पावन चरित्र द्वारा आर्य देवियों के जीवन को आलोक प्रदान किया है। जिन महाभागाओं को इन महाकाव्यों को पढ़ने वा सुनने का सौभाग्य प्राप्त होगा वे अवश्यमेव सीता के पदचिन्हों का अनुसरण कर स्वयं को दिव्यता की देवी बनाते हुए इस सनातन संस्कृति को धरित्री पर गौरवान्वित करेंगी।

सीता के आदर्श जीवन से गोस्वामी जी ने एक आदर्श पुत्री, एक आदर्श भार्या, एक आदर्श कुलवधू, एक आदर्श माँ और प्रजा के लिए एक आदर्श साम्राज्ञी के चरित्र का चित्रण किया है। महाकवि ऐसी शीलगुण सम्पन्न, धैर्य, उदार चरित रूपा, करुणामयी नारी के निन्दक नहीं बल्कि प्रशंसक तथा पूजक हैं। यह बात सत्य है कि तुलसी की सीता सृष्टि पालक तथा संहार करने वाली ब्रह्म की शक्ति है, किन्तु इससे वे नारी की सीमा से परे नहीं हो जाती। गहराई से चिन्तन करने पर यह अनुभव होगा कि अंशतः यह सभी नारियों का स्वाभाविक धर्म है। सीता नारी तत्त्व की अधिष्ठात्री हैं, वह प्रकृति की प्रतिमूर्ति हैं। कभी-कभी पुरुष अपनी कठोरता से उसकी कोमलता को कुचलकर स्वयं में गर्वित होता है किन्तु यह क्रूरता उसकी क्षणिक होती है क्योंकि वह नारी की मृदुता, सरसता के आँचल में ही स्वयं को छुपाकर शान्ति तथा सुख की साँस ले पाता है। नारी पुरुष के लिए जननी प्रथम तथा रमणी बाद में होती है। प्रकृति के समान ही वह भी उसके लिए भोग तथा अपवर्ग की विधायिका है। उसके भोगप्रदा रूप को समझकर उसके

उपरत हो मोक्षदा रूप की उपासना करने की सीख देना ही पवित्र साहित्य का प्रयोजन है।

सीता के सर्वांगीण सुन्दर तथा पावन चरित्र को समग्र रूप से चारुता के साथ चित्रण करने में मानस महाकाव्य तथा उसके रचयिता का भी यही उद्देश्य है। महाकवि की आराध्य महाकाव्य की नायिका जगत्वन्दनीय भगवती सीता की अनुकम्पा से काव्य एवं उसके रचयिता को इस उद्देश्य की पूर्ति में शतशः सफलता प्राप्त हुई है और ये दोनों ही धन्य हो गये हैं।

# कौशल्या

मानस ही नहीं तुलसी की समस्त कृतियों के प्रतिपाद्य विषय भगवान् श्रीराम तथा उनके अनन्य अनुरागी सहचर हैं। मानस में तो ग्रन्थकार ने स्वयं इसका उद्घोष किया है -

**जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।।**

**(रा० ७/६१-६)**

मानस महाकाव्य के प्रमुख नायक श्रीराम हैं। राम की अभिन्ना प्राण वल्लभा सहधर्मिणी होने के कारण श्रीविदेह नन्दिनी इस महाकाव्य की मुख्य नायिका हैं। सांस्कृतिक महाकाव्य होने से मानस में सनातन संस्कृति की आदर्श आर्य देवी के रूप में गोस्वामी जी ने सीता के चरित्र का चित्रण किया है जिनका संक्षिप्त आलोचन पिछले पन्नों में किया गया है। यह सर्वमान्य सत्य है कि महाकवि का जो भी कुछ सैद्धान्तिक अभिप्राय कथनीय होता है उसको वह अपने महाकाव्य के प्रमुख पात्रों के वक्तृत्व एवं कर्तृत्व के द्वारा ही प्रकट करता है। इस नियम के अनुसार गोस्वामी जी को एक आदर्श ऩारी जीवन के प्रतिष्ठापन में जो कुछ भी भाव भूमिका स्थापित करनी थी वह सीता की विचारधारा, भावधारा तथा जीवनगत कर्मधारा के माध्यम से अभिव्यक्त कर दिया है किन्तु इसके अतिरिक्त आदर्श नारी के जीवन का प्रमुख अंश जो मातृत्व के रूप में हमारे समक्ष आता है उसका दिग्दर्शन सीता के चरित्र में पूर्णतः नहीं हो पाया है। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने दो अर्द्धालियाँ लिखी हैं-

**दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए।।**
**दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर।।**

**(रा० ७/२५-६,७)**

इस अर्द्धालियों में केवल सीता के स्त्रीत्व की पूर्णता का ही परिचय प्राप्त होता है, क्योंकि नीति शास्त्र का कथन है 'या प्रसूते सा भार्या ' (चा. सू. ३८८) सन्तान को जन्म देने वाली स्त्री ही भार्या कही जाती है। हमारी संस्कृति में विवाह

का प्रयोजन ही पुत्रलाभ के लिए बताया गया है 'पुत्रार्थाहि स्त्रियः' (चा. सू. ३९२) और नीतिशास्त्र में इसी को मनुष्य के लिए अतिलाभ कहा है 'अति लाभः पुत्र लाभः' (चा. सू. ३८४) सीता ने सुन्दर, सुशील, गुणवान पुत्रों से पुत्रवती होकर नारी के पूर्णत्व को साकार किया, किन्तु आदर्श आर्या मातृत्व के स्वरूप और कर्तव्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति इससे नहीं होती। इसके लिए महाकवि ने अपने विश्ववंद्य नायक की जननी देवी कौशल्या के उदार चरित्र को ही आदर्श मातृत्व के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रीराम ऐसे अतिमानव की माँ बनने का सौभाग्य जिस देवी को प्राप्त हुआ है उसका जीवन कितना विशुद्ध तथा महान् होगा यह जानने की उत्कंठा स्वाभाविक ही है। इस उत्कंठा की पूर्ति महाकवि ने आरम्भ से अन्त तक बड़ी सजगता से की है क्योंकि वे जानते हैं कि 'मुक्ता प्रसव की सम्बुक ताली' जैसे तलैया की घोंघी से मुक्ता का प्रसव नहीं हो सकता उसी प्रकार सामान्य नारी राम रत्न को भी उत्पन्न नहीं कर सकती। राम की माता होने का महान् गौरव प्राप्त करने के लिए कौशल्या के पूर्व जीवन की अमित साधना का, प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति का गोस्वामी जी ने राम जन्म की भूमिका में ही विस्तृत विवेचन किया है। मनु सतरूपा के जीवन चरित्र को पढ लेने पर पाठक के लिए दशरथ कौशल्या का सौभाग्य अस्वाभाविक नहीं लगता। राम के माता-पिता के रूप में वे पूर्व परिचित से प्रतीत होते हैं। महाकवि अपने प्रधान पात्रों के जीवन का ताना-बाना इस प्रकार तैयार करते हैं कि उसके द्वारा आवृत आत्मा की वह अति मानवीय क्रियायें तथा देवस्पर्धीय सौभाग्य भी सहज प्रतीत होने लगता है। माता कौशल्या के जीवन वृत्त को भी इसी भूमिका से प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम हमें उनका परिचय वन्दना प्रसंग में मिलता है। महाकवि उन्हें प्राची दिशा के रूप में वन्दन करते हैं क्योंकि उनके इस महाकाव्य के नायक रूपी चन्द्र का उदय यहीं से हुआ है। नायक की महत्ता तथा उसकी लोकप्रियता एवं लोक हितैषी कर्तृत्व का भी संक्षेप में इसी एक अर्द्धाली में परिचय प्राप्त हो जाता है -

**बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची।।**
**प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू।।**

**(रा० १/१६-४)**

इन दो अर्द्धालियों में जगत् वन्दनीयाँ राम माता का तो गौरव प्रकट होता ही है, साथ ही उसके द्वारा प्रकट चारु शिशु शशि की विश्व सुखदता तथा दुष्ट निकन्दनता रूपी जीवन वृत्त का सार भी पाठकों के मानस पटल पर अंकित हो

जाता है। इतने थोड़े शब्दों के सांगरूपक में महाकवि ने कितनी कुशलता से अपने विश्ववंद्य नायक का उत्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है। यह काव्य जगत् में अतुलनीय है। प्राची दिशा विश्ववंद्य है, चन्द्र के नाते ही नहीं सूर्योदय भी वहीं होता है। प्रत्येक आर्य नर-नारी अपने जीवन व्यापार को प्रारम्भ करने से पूर्व प्रातःकाल की पुनीत वेला में प्राची दिशा का वंदन करता है क्योंकि जीवन शक्ति का स्रोत सूर्य के उदय होने का सौभाग्य उसे ही प्राप्त है किन्तु महाकवि ने अपने नायक को सूर्य से नहीं पूर्ण चन्द्र से ही उपमित किया है। हाँ, उसके साथ चारुता और जोड़ दी है। शायद पूर्ण चन्द्र से ही उपमित करने में महाकवि अपने नायक की विश्वसुखदता में सन्त सन्ताप मोचनता तथा ख़ल कमल नाशकता को ही ध्यान में रखा होगा। खल को कमल कहना विपर्यय अलंकार है। यहाँ चन्द्र के योग से ही खल को कमल से उपमित किया है। श्रीमद्भागवत् में व्यासदेव ने भी कृष्णचन्द्र की उत्पत्ति देवकी रूपी प्राची दिशा से कही है।

**यथा देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासीद्यथा**
**प्राच्यां दिशीन्दुरिवपस्कलः।**

**(भा० १०/३-९)**

जिस प्रकार पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र प्रकट होता है उसी प्रकार देवरूपिणी देवकी की कोख से सर्वान्तर्यामी विष्णु प्रकट हुए। महाकवि ने भी उसी का अनुवर्तन किया है। प्राचीवत् माता कौशल्या ही सर्वप्रथम रामचन्द्र के शीतल सुखद आलोक से आलोकित हुई है अतः इस रूप में उनकी वन्दना सार्थक है। मानस में पुनः हमें कौशल्या का दर्शन दशरथ के सुखद जीवनवृत्त के साथ मिलता है-

**कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।**
**पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत।।**

**(रा० १/१८८)**

महाराज दशरथ की पट्ट महिषियों में कौशल्या का प्रमुख स्थान है इसलिए इस दोहे में उनके नाम के साथ ही अन्य महारानियों के ज़ीवन, स्वभाव तथा गुणों की ओर संकेत किया गया है। गोस्वामी जी नारी के लिए चार बातों को परमावश्यक मानते हैं-आचरण की पवित्रता, पति में निष्ठा तथा उसकी अनुकूलता, परमेश्वर में भक्ति और विनम्रता। महाराज दशरश की सभी महारानियों में कौशल्या के समान ही यह चारों विशेषतायें थीं। पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा प्रकट हुए अग्निदेव ने जो हव्य दिया था उसको वितरण करते समय भी सर्वप्रथम 'अर्ध भाग कौसल्यहि

दीन्हा।' बाकी आधे में आधा कैकेई को और फिर चौथाई अंश में दो भाग किया गया और उन भागों को-

**कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि।।**

हव्य का वितरण एक विशेष विधि से सम्पन्न हुआ और -

**एहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदयँ हरषित सुख भारी।।**

**(रा० १/१९०-६)**

इससे बढ़कर सुख की बात नारी के लिए क्या हो सकती है कि वह जिस नारीत्व की पूर्ण सफलता से वंचित थी अब उसका सौभाग्य प्राप्त हो गया था और साथ ही गुरुवर वशिष्ठ के कथनानुसार 'त्रिभुवन विदित भगत भय हारी' पुत्र रत्न उत्पन्न होना निश्चित ही है जिसकी कल्पना मात्र ही हृदय को आह्लाद से भर देती है। इस प्रकार आह्लाद से युक्त -

**मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानीं।।**

**(रा० १/१९०-७)**

आनन्द में गर्भ की अवधि भी बीत गई और वह शुभ घड़ी भी आ गई जिसमें-

**जोग लगन ग्रह वार तिथि सकल भए अनुकूल।**
**चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल।।**

**(रा० १/१९०)**

**नौमी तिथि मधु मास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।।**
**मध्यदिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा।।**

**(रा० १/१९१-१,२)**

विश्ववंद्य लोकनायक के आविर्भाव की घड़ी भी स्वभावतः परम पुनीत तथा मंगलमय होनी ही चाहिए। उस पुनीत वेला में कौशल्या रूपी प्राची के वह विश्व सुखद खल कमल तुसारु चारु ससि रूप शिशु का प्राकट्य हो गया। उसके दिव्यालोक से सर्वप्रथम माता के नेत्र चकोर तृप्त हुए और बाद में सम्पूर्ण अवध में आनन्द सिंधु उमड़ पड़ा। महाराज चक्रवर्ती के सुख की बात ही क्या कहनी पूरे अवध में-

**गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।**
**हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद।।**

**(रा० १/१९४)**

त्रिभुवन मोहन राम शिशु की आलौकिक छवि को देख कौशल्या के

तृषित नेत्र कभी तृप्त होते ही नहीं। माता कैकेई तथा सुमित्रा भी अनुपम बालकों की जननी होकर आनन्दमग्न हैं। क्या सुन्दर जोड़ी है? राम श्याम के साथ गौर वर्ण लक्ष्मण का शिशु काल से ही सहज प्रेम तथा उसी प्रकार श्याम रूप भरत के साथ सुन्दर स्वर्ण वर्ण शत्रुसूदन की सहज अनुरक्ति माताओं के आह्लाद को नित्य सहस्र गुणा करने लगी-

**बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी।।**
**भरंत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई।।**
**स्याम गौर सुन्दर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननीं तृन तोरी।।**
**(रा० १/१९८-३,४,५)**

पुत्र के शैशव का आनन्द तो जननी को ही प्राप्त होता है। उसकी छोटी से छोटी हरकतें माता के हृदय में एक नए रस का संचार करती रहती हैं। गोस्वामी जी ने राम की शिशु लीला का बड़ा ही सुन्दर चित्रण गीतावली में किया है। चारों शिशुओं के नामकरण, अन्नप्राशन आदि शुभ अवसरों पर केवल चक्रवर्ती सम्राट तथा उनकी सौभाग्य-शालिनी महारानियाँ ही नहीं बल्कि पुरजन, प्रजाजन भी उल्लास के साथ भाग लेकर अद्भुत शिशुओं के चन्द्रमुख को निहार कर निहाल होते हैं। राम होंगे ब्रह्म वा ब्रह्म के अवतार किन्तु जननी के लिए तो उसके कलेजे के टुकड़े, उसके वात्सल्य के श्रृंगार हैं। राम शिशु का ज़रा सा अनरसा होना माँ के हृदय को प्रकम्पित कर देता है। उसका हृदय भावी भय, आशंका तथा अमंगल की कल्पना से भयभीत हो उसके निवारणार्थ सब कुछ करने को उद्यत हो जाता है। उस समय हृदय पक्ष इतना प्रबल होता है कि बुद्धि बिचारी को अपना ऐसा मुँह लेकर शान्त रहना पड़ता है। जिसने जो कुछ कहा वह सब कुछ करने को मातृ हृदय तत्पर रहता है। वह अपने शिशु सुमन को पल मात्र के लिए भी कुम्लाया हुआ नहीं देख सकती। देखना तो दूर इसकी कल्पना भी उसके लिए असह्य वेदनाप्रद हो जाती है। देवी कौशल्या को तो राम शिशु की जननी होने का सौभाग्य मिला है। वैसे तो प्रत्येक शिशु माँ के लिए राम होता है और प्रत्येक माता पुत्र के लिए कौशल्या होती है। भारत की इस पुनीत भूमि की यह पवित्र भावना विश्व के मातृत्व के लिए आदर्श है। दृष्टि का शिकार सुकुमार शिशु बहुत जल्द हो जाता है। माता की हर क्षण यही कोशिश होती है कि उसका लाल उससे सर्वथा सुरक्षित रहे किन्तु फिर भी उससे बच पाना सर्वथा सम्भव नहीं होता। जब सामान्य शिशु के लिए कुदृष्टि से बचना कठिन होता है तो शोभाधाम राम के लिए तो कहना ही

क्या? गोस्वामी जी मातृ हृदय की आशंका, आकुलता, अधीरता आदि से अपने राम की जननी को भी मुक्त नहीं रख सकते कारण कि पूर्ण वात्सल्य के निखार के लिए यह एक परम आवश्यक अंग है। पाठक गीतावली के पद में जरा मातृ हृदय का दर्शन कर लें। माता आज बहुत चिन्तित है कारण कि उसका छगन मगन छौना राम आज प्रातः काल से ही अनरस हो गया है, अनमना हो गया है। महाकवि के ही शब्दों में देखें -

**आजु अनरसे हैं भोरके, पय पियत न नीके।**
**रहत न बैठे, ठाढ़े, पालने झुलावत हू, रोवत राम मेरो सो सोच सबहीके।**
**(गीतावली १/१२-१)**

भोर से ही अनमने राम दूध नहीं पी रहे हैं। खड़े, बैठे, गोद में लेकर खिलाने से वा पालना में डालकर झुलाने से भी उनका रोना चुप नहीं हो रहा है, सभी बहुत चिंतित हैं, इस आशंका से कि कहीं बच्चे को वह घातक रोग न लग जाए। शिशु के लिए एक पूतना की बीमारी होती है जिससे बच्चा रोता ही रहता है। वह बीमारी बड़ी घातक होती है। इसी से सभी चिन्तित हैं अत्यन्त प्रिय के प्रति अमंगल होना भी तो स्वभाविक है। अनिष्ट से शिशु को सुरक्षित रखने के लिए माँ ने क्या-क्या टोने-टोटके नहीं किए, किसकी अर्चना, वन्दना नहीं की, किन्तु कुछ भी तो काम नहीं आया, कोई भी तो सहायक नहीं बना। माँ कहती है-

**देव, पितर, ग्रह पूजिये तुला तौलिये घीके।**
**तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेहि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट तीके।।**
**(गीतावली १/१२-२)**

देवता, पितर, ग्रह सभी की अर्चना करती ही रहती है, घी का तुलादान भी किया है किन्तु फिर भी जब किसी दुष्ट स्त्री की दृष्टि लग जाती है, नज़र लग जाती है तो ऐसे ही मचल जाते हैं, रोना शुरू हो जाता है। ऐसे संकट के समय में रघुकुल के रक्षक कुलगुरु की ही शरण लेनी है, उनको ही बुलाया जाना चाहिए -

**बेगि बोलि कुलगुर, छुओ माथे हाथ अमीके।**

गुरुदेव का वरद्हस्त शिशु के शीश को स्पर्श कर ले बस सारी आधि-व्याधि स्वयं ही नष्ट हो जाए, विलम्ब भला किस बात का ?

**सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मन्त्र पढ़े, जो सुमिरत भय भीके।।**
**(गीतावली १/१२-३)**

ऋषि श्रेष्ठ वशिष्ठ सुनते ही तुरन्त राजमहल में पधारे और भय को भी

भय उत्पन्न करने वाले नरसिंह मन्त्र को पढ़ते हुए कुशा से झाड़ फूँक कर दी । बस इतनी सी तो बात थी -

**माथे हाथ ऋषि जब दियो राम किलकन लागे।**

गुरु हृदय भी अद्‌भुत शिशु के सौन्दर्य में अनुरक्त हो गया -

**लिये गोद, धाये गोदतें, मोद मुनि मन अनुरागे।**
**निरखि मातु हरषी हिये आली-ओट कहति मृदु बचन प्रेमके-से पागे।**

**(गीतावली १/१३-२)**

माता का हृदय कृत्-कृत्य हो गया। अपने प्राणधन को किलकारी मारते देखकर वह सखी की ओट में हो गुरुदेव की अनुकम्पा पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहती है-

**तुम्ह सुरतरु रघुबंस के, देत अभिमत माँगे।**
**मेरे बिसेषि गति रावरी, तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे।।**

**(गीतावली १/१३-३)**

आप ही अभिमत फल प्रदान करने वाले रघुवंशियों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं। मुझे तो विशेषतः आपका ही भरोसा है, जिनकी कृपा से सारे अमंगल दूर हो गए हैं। माँ की प्रसन्नता का पारावार नहीं वह गुरु की महिमा का गान अपनी सखी से कर रही हैं-

**अमिय-बिलोकनि करि कृपा मुनिबर जब जोए।**
**तबतें राम अरु भरत, लषन, रिपुदवन, सुमुख सखि, सकल सुवन सुख सोए।**

**(गीतावली १/१४-१)**

इससे लगता है कि एक राम नहीं चारों ललन किसी दुष्ट दृष्टि के छल में आ गये थे -

**सुमित्रा लाय हिये फनि मनि ज्यों गोए।**
**तुलसी नेवछावरि करति मातु अतिप्रेम-मगन-मन, सजल सुलोचन कोये।।**

**(गीतावली १/१४-२)**

जिस प्रकार सर्प अपनी मणि को छिपा लेता है उसी प्रकार माँ सुमित्रा ने बालकों को हृदय में समेट लिया है। माताएँ अत्यन्त प्रेम निमंग्न हो नेवछावरि कर रही हैं। कवि कह रहा है कि आनन्द से उनके नेत्रों के कोये सजल हो गए हैं, कितना उल्लास है माता को! महाकवि ने राम की शिशु लीला के आनन्द में महाराज दशरथ को विशेष रूप से भागीदार नहीं बनाया, यह स्वाभाविक भी है।

कौशल्या के भाग्य क़ी सराहना कौन कर सकता है? महाकवि का भक्त हृदय अनन्त ब्रह्माण्ड नायक ब्रह्म का ही कौशल्या की गोद में दर्शन कर रहा है-

**ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।**
**सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।।**

**(रा० १/१९८)**

माता इतनी आनन्द मग्न है कि दिन-रात के व्यतीत होने का भी बोध नहीं है। वह अपने लावन्य निधि लाड़ले लाल की बाल क्रीड़ा में ही खोई रहती है-

**प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।**
**सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान।।**

**(रा० १/२००)**

यह बात सत्य है कि बाल चरित के वर्णन में महाकवि सूर की अन्तर दृष्टि विश्वसाहित्य में बेमिसाल है किन्तु तुलसी गीतावली को पढ़ने पर एक बार हृदय बोल पड़ता है कि आखिर यहाँ भी क्या कमी है ? यह बात भी ध्यान रखने की है कि दोनों महाकवियों के नायकों की बाललीला का क्षेत्र बिल्कुल भिन्न था। तुलना करते समय शायद आलोचक यह भूल जाता है कि यदि राम के विषय में लिखने बैठते तो सूर शायद ही इससे उत्तम लिख पाते। एक ग्रामीण उन्मुक्त वातावरण में पलते हुए बालक की चपलता चंचलता एक राजकुमार में सम्भव कैसे हो सकती है जो सदैव वैभव के नीचे ही विहार करता हो, जो प्राकृत की बजाय कृत्रिम वातावरण चार दीवारी में ही रह रहा हो? फिर गोस्वामी जी ने नारी के सुकोमल मातृत्व को किस कुशलता के साथ चित्रित किया है पाठक बड़ी असानी से इसका अनुभव कर लेता है। राम भाइयों के साथ आंगन में क्रीड़ा करते हैं, माताएँ तृण तोड़ कर मंगल कामना करती हैं, आनन्दित होती हैं-

**भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा।।**
**कौसल्या जब बोलना जाई। ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।।**

**(रा० १/२०३-६,७)**

माता कौशल्या को इससे अधिक बाल लीला का आनन्द क्या हो सकता था साम्राज्ञी के रूप में। व्रतबंध के बाद गुरु गृह में विद्यार्थी बनकर चारों भाई चले जाते हैं बाद में आते ही विश्वामित्र के यज्ञ रक्षार्थ जाना पड़ता है। महाराज दशरथ यह कहते हैं कि-

**कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा।।**

किन्तु माता कौशल्या तथा सुमित्रा इस सम्बन्ध में बिलकुल मौन है। मुनि विश्वामित्र के साथ जाते समय माता को राम ने प्रणाम किया और दोनों भाई चल पड़े। माँ क्षात्र धर्म को जानती है, वह अपने दुधमुँहे बालक को महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ रक्षार्थ जाते जान कुछ कह न सकी किन्तु माँ की आन्तरिक सम्वेदना को धर्म की दृष्टि दबा भले सकती है, मिटा तो नहीं सकती! गीतावली में महाकवि माँ के हृदय की व्यथा को चित्रित करते हैं।आगे देखिए मां चिन्तारत हो कह रही है-

**मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे ?**
**भूख,पियास, सीत, श्रम, सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे।।**
**को भोर ही उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै ?**
**को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन-सुख लैहै ?**
**नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु-परिजन-महतारी।**
**ते पठए ऋषि साथ निसाचर मारन, मख रखवारी।।**
**सुन्दर सुठि सुकुमार सुकोमल काकपच्छ-धर दोऊ।**
**तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं विधि ह्वैहै दिन सोऊ।।**

**(गीतावली १/९९)**

राम लक्ष्मण का मख रक्षा के लिए जाना माँ के लिए चिन्ता का विषय होना स्वाभाविक बात है, बालकों की सम्भाल करने वाला भी तो कोई साथ नहीं, यही माँ को चिन्ता है। अभी तो उनकी ही सब रक्षा, सँभाल करते रहे हैं। पितु, परिजन, महतारी की सम्भाल और सुरक्षा में रहने वाले बालकों को यज्ञ रक्षा में भेज दिया गया कितने दुःख की बात है ? भला वे बालक निशाचरों का वध कैसे करेंगे? माँ अपने सुकोमल सुठिसुकुमार लाल को हृदय से लगा लेने की अभिलाषा कर रही है। उसके विचार में विश्वामित्र ने अवश्य कोई मोहनी डार दी थी जिससे कुलगुरु, सचिव तथा नायक भी इस विपरीत स्थिति को नहीं सुधार सके-

**ऋषि नृप-सीस ठगौरी-सी डारी।**
**कुलगुर, सचिव, निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी।।**
**सिरिस-सुमन-सुकुमार-कुंवर दोउ, सूर सरोष सुरारी।**
**पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी।।**
**अति सनेह-कातरि माता कहै, सुनि सखि! बचन दुखारी।।**
**बादि बीर-जननी-जीवन जग, छत्रि-जाति-गति भारी।।**
**जो कहिहै फिरे राम-लखन घर करि मुनिमख-रखवारी।**

सो तुलसी प्रिय मोहिं लागिहै ज्यौं सुभाय सुत चारी।।
(गीतावली १/१००)

माँ की चिन्ता का कारण स्वभाविक है। दोनों राजकुमार सिरस सुमन से भी सुकोमल हैं, किन्तु जिन असुरों से वे यज्ञ की रक्षा करने गए हैं वे महान्, विशालकाय, बलशाली तथा क्रूरकर्मा क्रोधी हैं। अभिप्राय यह कि उन सुकुमार कुमारों पर उनको दया भी न आएगी। राक्षसों के समक्ष सुकुमार किशोरों की कल्पना से ही मातृ-हृदय आतंकित हो आकुल हो जाता है कारण कि बालकों के पास तो क्रीड़ा के काम आने वाले ही धनुष हैं। जिनसे वे आखेट खेलते थे वे ही अस्त्र-शस्त्र हैं। वे विशाल बलशाली राक्षसों से समर करने में उपयोगी नहीं हो सकते। दूसरी व्यथा की बात यह है कि 'सिसुनके संग सुसेवक नाहीं ' अच्छे कुशल सेवक, सहायक, सम्भाल करने वाले भी साथ नहीं हैं जबकि मृगया करने में वे सदैव साथ रहते थे। यह सब कुछ सोच कर माता अत्यन्त स्नेह से अधीर हो उठती है और अपने क्षत्राणी होने को ही कोसने लगती है। सखी से कहती है-वीर की जननी का जीवन ही जगत् में व्यर्थ है। क्षत्रिय जाति की गति बड़ी विकट है कारण कि क्षत्राणियाँ धर्म तथा निर्बलों की रक्षा एवं दुष्टों का दमन करने के लिए ही पुत्र उत्पन्न करती हैं। वे पलंग पर रगड़ कर मरने के लिए नहीं समराँगन में दुष्ट-दानवों का दलन करने के लिए ही पुत्रवती होने पर गौरव प्राप्त करती हैं। किन्तु स्नेह से कातरि हुई माँ अपने वीर माता तथा क्षत्राणी होने को ही व्यर्थ बता रही है। महाकवि ने यहाँ पर मातृ हृदय की स्वभाविकता को कितनी सार्थकता के साथ व्यक्त किया है।

दुःख की बात यह है कि जब से मुनि के संग दोनों राजकुमार गए हैं तब से कोई कुशल-समाचार नहीं मिला है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है जिस दिन दोनों कुमार ऋषि के साथ चले थे उस दिन माताओं को व्याकुलता क्यों नहीं हुई वा उस समय की स्थिति का वर्णन करना ही कवि भूल गए हैं? उत्तर में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कवि उस स्थिति का वर्णन करना नहीं भूला, उसके पीछे एक रहस्य है। माता को अपने बालक के भविष्य को जानने की सहज उत्कण्ठा होती है। जन्म के पश्चात् ही वह उसके जीवन की पूरी जानकारी प्राप्त करने लिए आतुर रहती है चाहे वह चक्रवर्ती सम्राट् की पटमहिषी ही क्यों न हो। मातृ-हृदय तो वही होता है जो एक साधारण नारी में। महारानियों को भी अपने नव-निहालों के भविष्य के विषय में जानने की उत्कट अभिलाषा थी। एक दिन एक दासी ने

आकर महारानी कौशल्या को समाचार सुनाया-

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो।।
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मंन संकर नाम सुहायो।
सँग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो।।
पायँ पखारि, पूजि दियो आसन असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चारयो सुत माथे हाथ दिवायो।।
नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल-कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो।।
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय-स्वयंबर गायो।
राम,भरत, रिपुदवन, लखनको जय सुख सुजस सुनायो।।
तुलसिदास रनिवास रहसबस, भयो बको मन भायो।
सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो।।

(गीतावली १/१७)

ज्योतिषी की प्रमाणिकता की धूम सारे अवध नगर में मची हुई थी। शंकर नाम के वृद्ध ब्राह्मण के ज्योतिष ज्ञान के साथ ही सुदीर्घ-कालीन अनुभव पर भी लोगों का विश्वास होता था। माता कौशल्या भला इस सुनहरे अवसर को कैसे हाथ से निकलने दे सकती थी। दैवज्ञ राजमहल में बुला लिया गया, पाद-प्रक्षालन, पूजन आदि करके स्वागत किया गया। चारों शिशुओं को ज्योतिषी के चरणों में डालते हुए माता ने उनके सिर पर हाथ रखने की भी प्रार्थना की। कितना सहज सा चित्रण है यह मातृ स्वभाव का! महादेव ने बारी-बारी से चारों शिशुओं को गोद में उठाकर उनके नव जल -जात सदृश नन्हें-नन्हें हाथों को लेकर करतल को देखना प्रारम्भ किया । थोड़े काल के लिए ही सही इन अद्‌भुत शिशुओं को गोद में उठाने का सौभाग्य दैवज्ञ को भी प्राप्त हो गया, वह आनन्द से पुलकित हो उनकी नख-शिख-छवि को निहार कर निमग्न हो गया। आनन्द के अश्रुओं ने उस ज्योतिषी के नेत्रों को सजल बना दिया। ज्योतिषी ने भविष्य कथन प्रारम्भ किया। माताओं को सबसे बड़ी चाव की बात सन्तान के विवाह की ही होती है बाकी सन्तान के विद्वान्, बलवान्, कीर्तिवान् होने की कामना तो रहती ही है। दैवज्ञ शंकर ने बालकों के विवाह की व्यवस्था का काम कौशिक ऋषि के माध्यम से ही बताया तथा चारों बालकों के विजयी, सुखी तथा सुकीर्तिवान होने का वर्णन किया। माताएं आनन्द से

निमग्न हो गई, उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। सभी को शिशुओं का मन भाया भविष्य सुनने को मिला। दान मान से ज्योतिषी का भी सत्कार हुआ और उन्होंने अशीर्वाद की वृष्टि करते हुए सुप्रसन्न, सानन्द अपने सदन को प्रस्थान किया। ज्योतिषी की बातों को जननी का विश्वासी हृदय पूर्णरूप से सत्य समझता है इसलिए जब कौशिक मुनि का आगमन हुआ तो माँ भावी कार्य की सम्भावना से आनन्द मग्न हो गई। महाराज को तो पुत्रों को विदा करने में कुछ कठिनाई भी हुई किन्तु माताओं ने प्रसन्नता के साथ शुभाशीर्वाद दिया क्योंकि ज्योतिषी की कौशिक मिष स्वयंवर की बात अब सत्य होने वाली थी। महाकवि ने कितनी कुशलता से सम्पूर्ण कथा का निर्वाह किया है, यह अकथनीय है। माँ को यह पता नहीं था कि सीय स्वयंवर की घटना में विलम्ब हो सकता है। अधिक काल बीत जाने पर भी अब तक कोई समाचार नहीं मिला, इससे माँ का चिन्तित होना स्नाभाविक है-

**जबते लै मुनि संग सिधाए।**
**राम-लखनके समाचार, सखि ! तबतें कछुअ न पाए।।**
**बिनु पानही गमन, फल भोजन, भूमि सयन तरुछाहीं।**
**सर-सरिता जलपान, सिसुनके संग सुसेवक नाहीं।।**
**कौसिक परम कृपालु परमहित, समरथ, सुखद, सुचाली।**
**बालक सुठि सुकुमार सकोची, समुझि सोच मोहि आली।।**
**बचन सप्रेम सुमित्राके सुनि सब सनेह-बस रानी।**
**तुलसी आह भरत तेहि औसर कही सुमंगल बानी।।**

**(गीतावली १/१०१)**

राजकिशोर मुनिमखरक्षार्थ गए हैं किन्तु साथ में किसी भी प्रकार की राज्य की ओर से कोई व्यवस्था उनके लिए नहीं की गई है। कन्दमूल फल, भोजन, पयादे गमन तथा भूमिशयन, यह सब तो मुनि के आश्रम में स्वाभाविक हैं। पीने के लिए जल भी नदी वा तालाब का ही मिलता होगा। कोई सुयोग्य सम्भाल करने वाला सेवक साथ होता तो भी कुछ सन्तोष की बात होती। माता को विश्वास है कि विश्वामित्र कोई सामान्य ऋषि नहीं हैं। वे सर्वभाँति समर्थ एवं बालकों के परम हितैषी हैं। वे परम दयालु मुनि सिरिस सुमन सम सुकोमल शिशुओं को कभी दुःखी नहीं देंगे। माँ की ममता के सामने आज भी राजकुमार शिशुवत ही हैं। वह राम लक्ष्मण को शिशु समझती हैं। अपनी व्यथा का कारण माँ स्वयं बता रही है कि सामर्थ्यवान, परम दयालु, सदाचारी मुनि कौशिक के साथ रहने पर बालकों के

कष्ट की तो कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती थी, किन्तु अपने नौ निहालों के परम संकोची स्वभाव से वे परिचित हैं, यही चिन्ता का कारण बना हुआ है कि वे कष्ट सहते हुए भी कभी कुछ ऋषि से कह नहीं सकते। माता सुमित्रा इस प्रकार की आपस में चिन्तातुर हो चर्चा कर ही रही थी कि इतने में ही प्रसन्नवदन भरत ने माताओं के सम्मुख उपस्थित हो मंगल समाचार सुना दिया। कौशल्या भरत की प्रसन्न मुद्रा देख उन्हें हृदय से लगा कर पूछने लगी-

**खेम कुसल रघुबीर-लषनकी ललित पत्रिका ल्याए।**

**(गीतावली १/ १०२)**

बाद में सारी कथा कह सुनाई। माँ का संतप्त हृदय शीतल हो गया। गीतावली महाकवि की एक सुकोमल कृति है। उसमें जीवन के विषेश रूप से भावात्मक इतिवृत्तों का ही वर्णन किया है और इस प्रकार के वर्णन में गोस्वामी जी ने नारी पात्रों का चयन किया है। जिन लोगों को गोस्वामी जी की कृतियाँ में नारी-निन्दा वा उनकी अवहेलना, अवमानना की गन्ध आती है उन आलोचकों को महाकवि की इस कृति को पढ़ना चाहिए। मैं समझता हूँ कि केवल गीतावली ही नहीं कवि की महत्तम कृति मानस में भी मांगलिक-अमांगलिक अवसरों पर हृदय की कोमल भावनाओं को, हृदयगत उद्गारों को प्रकट करने के लिए महाकवि ने नारी वर्ग का चयन किया है। विश्वामित्र के साथ राजकुमारों के जाने की व्यथा महाराज को भी है। मानस में जनक दूत से यह बात सम्राट स्वयं कह रहे हैं -

**जा दिन तें मुनि गए लवाई। तब तें आजु साँचि सुधि पाई।।**

**(रा० १/२९१-७)**

किन्तु गीतावली में जो महारानियों के चिन्तित हृदय का चित्रण है वह स्वयं में अनुपम तथा मातृत्व का अवबोधक है। राम विवाह का शुभ समाचार महाराज दशरथ ने स्वयं ही गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया। गुरु वशिष्ट ने कहा, राजन्-

**जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं।।**<br>
**तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धरमशील पहिं जाहिं सुभाएँ।।**<br>
**तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी। तसि पुनीत कौसल्या देबी।।**<br>
**सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं।।**<br>
**तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें।।**

**(रा० १/२९४- १ से ६)**

गुरुदेव की बात बिल्कुल सत्य है राम जैसे पुत्र का माता-पिता होना कोई सामान्य सुकृत का परिणाम नहीं है। पति-पत्नी के धर्माचरण से श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति होती है। कौशल्या देवी की पुनीतता की समता भला किससे की जा सकती है? वे तो रघुपति शशि चारु को प्रकट करने वाली प्राची दिशावत् परम पुनीत हैं। माँ की अभिलाषा पुत्र के शिशुकाल से ही होती है कि मेरी सर्वगुण सम्पन्ना, सुशीला तथा सौन्दर्यमयी पुत्र वधू मेरे गृह को कब सुशोभित करेंगी। इस अभिलाषा को लेकर वह पुत्र के प्रतिपल की वृद्धि की कामना करती रहती है। गिन-गिनकर दिन निकालती है। पुत्रवधू की प्राप्ति माँ के लिए अवर्णनीय हर्ष की घड़ी होती है। फिर यदि कहीं "रूप रासी गुन कहि न सिराहीं" विदेहनन्दिनी सीता जैसी पुत्रवधू मिल जाए तो माँ की प्रसन्नता की सीमा कहाँ? कौशल्या का आनन्द अवर्णनीय है। एक राम ही नहीं 'भाइन्ह सहित बिंआहि घर आए रघुकुल चंदु।' माँ को तो सबसे बड़ा कौतुहल हो रहा है कि -

**मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी।।**
**घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु।**
**मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु।।**

**(रा० १/३५६-८)**

किन्तु सन्तोष केवल मुनि की महिमा को समझकर हो जाता है-

**मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी।।**

**(रा० १/३५७-१)**

जो कुछ भी दोनों भाइयों ने किया है यह मानव बालक के बूते की बात नहीं थी। जननी को यही विश्वास है कि -

**बिस्व बिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई।।**
**सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपाँ सुधारे।।**

**(रा० १/३५७-५,६)**

विश्वामित्र ऐसे परमर्षि की कृपा हो जाने से कुछ करना असम्भव नहीं है। तुम्हारे सारे अमानुषिक कार्य केवल कौशिक की कृपा से ही पूर्ण हुए हैं। महामुनि का कृपापात्र बनना भी तो कोई सामान्य बात नहीं। सुन्दर वधुओं को सुतन्ह समेत देखकर माताएँ आनन्द में निमग्न हैं। सुख की तुलना करते हुए महाकवि ने लिखा है-

**पावा परम तत्त्व जनु जोगीं। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।।**

जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।।
मूक बदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई।।
(रा० १/३५०-क ६ से ८)

एहि सुख ते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु।।
(रा० १/३५०)

योगी को परम तत्त्व की प्राप्ति उसके जीवन लक्ष्य की पूर्ति होती है इसी प्रकार सदैव रुग्ण रहने वाले को अमृत लाभ, जन्म से दरिद्री को पारसमणि, जन्मान्ध को नेत्र लाभ, मूक पर वागेश्वरी सरस्वती की कृपा और पराक्रमी शूर को संग्राम में विजय प्राप्त होना यह सब स्वयं में सुख की सीमा हैं किन्तु माताओं का आनन्द तो इन सब से भी सतकोटि गुणा अधिक है अतः उनके सुख की तुलना ही नहीं की जा सकती। माँ कहती है-

आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा।।
जे दिन गए तुम्हहि बिनु देखें। ते बिरंचि जनि पारहिं लेखें।।
(रा० १/३५७-७,८)

आज जगत् में नारी जीवन प्राप्त करना सफल हो गया। विश्व विजय, कीर्ति तथा सुन्दर कुलवधुओं के साथ चारों पुत्र सकुशल नेत्रों के सामने हैं अब इससे अधिक और मातृ जीवन की सार्थकता के लिए क्या चाहिए? माँ विधाता से प्रार्थना कर रही है कि जितने दिन पुत्रों के वियोग में बीते हैं, हे विधाता उनको जीवन अवधि में न गिने। केवल माताएँ ही नहीं समग्र अयोध्या ही नव-वधूटी के समान सजी हुई शोभा पा रही है। विशेषकर रात्रि में उसकी शोभा सहस्त्रगुणा अधिक हो जाती है -

पुरी बिराजति राजति रजनी। रानीं कहहिं बिलोकहु सजनी।।
(रा० १/३५८-३)

नगरी के सौन्दर्य को रानियाँ एक दूसरे को दिखाकर आनन्दित हो रही हैं। विश्व का सम्पूर्ण आनन्द अब अयोध्या में ही निवास करता है-

आए ब्याहि राम घर जब तें। बसइ अनंद अवध सब तब तें।।
(रा० १/३६१-५)

अवध के ऐश्वर्य की तो सीमा ही नहीं है विश्वविजेता राम की नगरी है। राम विवाह में केवल विश्वसुन्दरी सीता को ही नहीं प्राप्त किए हैं शंकर के धनुष

का खंडन कर उसके साथ विश्वविजयी होने का गौरव तथा सुकीर्त्ति का भी वरन किया है। वस्तुतः तो यह धनुष भंग श्रीराम बाहुबल की महिमा का उद्घाटक सिद्ध हुआ। विश्वविजयी रावण जिस धनुष को हिला तक नहीं सके उसको श्रीराम ने कौतुक में ही उठाकर जैसे 'जिमि गज पंकज नाल' को विखण्डित कर देता है उसी प्रकार से बिना प्रयास के ही खण्ड-खण्ड कर दिया, यह कोई सामान्य घटना नहीं। विश्वविजेता राजकुमार की राजधानी यदि मंगल मोद से युक्त है तो यह होनी ही चाहिए। महाकवि का कथन है जैसे वर्षा ऋतु में असंख्य नदियाँ जलराशि से युक्त हो उमड़ती हुई उदधि की ओर चल पड़ती हैं उसी प्रकार -

**भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषिंह सुख बारी।।**
**रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई।।**

**(रा० २/१-२,३)**

चौदह भुवनरूपी भारी भूधरों पर पुण्यरूपी मेघ सुखरूपी जल की वृष्टि करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि तथा सम्पत्तिरूपी सुहावनी नदियाँ उमड़-उमड़ कर अयोध्यारूपी समुद्र में आकर समा रही हैं। कितना आनन्द है, उत्साह है! ऐश्वर्य की असीमता का संकेत हुए कवि कहता है-

**कहि न जाइ कछु नगर बिभूती। जनु एतनिअ बिरंचि करतूती।।**

**(रा० २/१-५)**

मातृ-हृदय को इससे अधिक आनन्ददायी और क्या हो सकता है !

**मुदित मातु सब सखीं सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली।।**

**(रा० २/१-७)**

अब अवधवासियों की एक ही अभिलाषा शेष रह गई है कि अपने होते हुए ही महाराज श्री राघव को युवराज पद का भार सौंप दें -

**सबकें उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु।**
**आप अछत जुबराज पद रामहि देउ नरेसु।।**

**(रा० २/१)**

इन अभिलाषियों में सम्भव है माँ का हृदय भी सम्मिलित हो। प्रजाजन की अभिलाषा ने महाराज के हृदय को भी उत्साहित किया। गुरु चरणों में निवेदन करने पर उनकी भी सम्मति मिल गई। मन्त्रि-परिषद तो इसे चाहता ही था कि रांम के युवराज पद की तिथि निश्चित् हो। महलों में जिन सेवकों ने जाकर प्रथम समाचार सुनाया आनन्दित हो माताओं ने अमूल्य वस्त्राभूषणों से उनको तृप्त कर

दिया। राम माता कौशल्या के सुख की कल्पना ही कौन कर सकता है ? जिस राम के राज्याभिषेक रूपी स्वाति बूँद के लिए सारी प्रजा चातकवत् तृषित है उस राम की जननी की दशा का वर्णन कौन कर सकता है-

**आनँद मगन राम महतारी। दिए दान बहु बिप्र हँकारी।।**
**पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा।।**
**जेहि बिधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू।।**
**(रा० २/८-४ से ६)**

इससे अधिक माँ कर ही क्या सकती थी? देवी-देवताओं की अर्चना, भूदेवों को दान और इन समस्त पुण्य कार्यों के बदले में पुत्र के मंगल की कामना, साथ ही कुशल कार्य सम्पन्न हो जाने पर पुनः यज्ञ अर्चन आदि की मनौती। कितना उल्लसित होगा उस माता का हृदय जिसने चौथेपन में विश्वविजेता, जन-मन-रंजन लोकनायक पुत्र को प्राप्त किया है और अब वह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर आसीन होने वाला है। इस मंगल कार्य की पूर्ति में जितने पल शेष रह गये हैं, माता उन क्षणों को देव पितृ की वन्दना में ही व्यतीत कर रही है। रात्रि व्यतीत होते ही कल प्रातःकाल वह शुभ घड़ी आने वाली है जिसकी प्रतीक्षा केवल माँ ही नहीं सम्पूर्ण परिजन, प्रजाजन बड़ी आतुरता से कर रहे हैं। प्रतीक्षा की घड़ी बहुत लम्बी हो जाती है इसमें सन्देह नहीं किन्तु इस प्रकार के सुखद समय की प्रतीक्षा के क्षणों को लोग आमोद-प्रमोद में ही व्यतीत कर देते हैं इसलिए वह अखराउ नहीं होता। माता कौशल्या की सारी रात्रि तो देव-अर्चना में ही व्यतीत हो गई और वह प्रातःकाल भी आ गया जिसकी प्रतीक्षा थी। अल्पज्ञ मानव केवल अभिलाषा तथा उसकी पूर्ति की योजना बनाकर अपनी सीमित सामर्थ्य का उसकी पूर्ति के लिए प्रयोग के सिवाय और कर ही क्या सकता है? अपनी असमर्थता का अनुभव कर आस्थायुक्त हो वह अमित सामर्थ्य वाले देवी-देवताओं की अर्चना कर उनसे सहायता की भीख ही माँग सकता है। अज्ञात, अनन्त ईश्वर के प्रति अपने दीनतापूर्ण नेत्रों से निहारते हुए उसकी अहेतु की कृपा से स्वयं की अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रार्थना कर सकता है, किन्तु उसमें इतनी क्षमता कहाँ कि भविष्य को स्वाधीन कर उसके निर्माण की योजना को स्वेच्छानुसार पूर्ण कर ले इसीलिए तो कहा गया है 'दैवाधीनम् जगत सर्वम्' जगत् की सारी व्यवस्था ही देव के अधीन है। गोस्वामी जी के शब्दों में -

**राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।।**

प्रातः काल नित्यकर्म से निवृत हो माता प्रतीक्षा में है कि आज उसके लाड़ले लाल को चक्रवर्ती सम्राट का युवराज बनाया जाएगा। वह दान-मान से महिदेवों को तथा अर्चना-वन्दना करके देवों से आशीर्वाद बटोर रही है अपने प्राण प्यारे पुत्र की मंगल कामना के लिए। उसके महल की चहरदीवारी के बाहर क्या कुछ हो रहा है इसका उसे कुछ भी भान नहीं। सचिवसुत के साथ राम माता के महल में प्रवेश करते हैं। माँ पुत्र को देखकर निहाल हो जाती है, चरणवन्दना करते देख पुत्र को हृदय से लगा लेती है। विविध भाँति के वस्त्राभूषण न्यौछावर करके आशीष की कामना करती है। बार-बार पुत्र के प्रसन्न चन्द्र वदन को निहारकर विभोर हो जाती है। महाकवि के शब्दों में ही देखिए-

रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायउ माथा।।
दीन्ह असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे।।
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता।।
गोदि राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्त्रवत प्रेमरस पयद सुहाए।।

(रा० २/५२-१ से ४)

माता बार-बार पुत्र के चन्द्र मुख का चुम्बन करती है। प्रेमाश्रुओं से नयन पूरित हैं तथा शरीर पुलकित हो रहा है। गोद में बैठाकर पुनः हृदय से लगा लेती है, सुन्दर स्तनों से प्रेमरस प्रवाहित होने लगा है। इस समय माता के प्रेम और प्रमोद की सीमा नहीं है। ऐसा लग रहा है मानो जन्म दरिद्री को कुबेर का पद मिल गया हो-

प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई।।
सादर सुन्दर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी।।
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी।।
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई।।

(रा० २/५२-५ से ८)

सादर सुत के सुन्दर मुखार्विन्द को निहारती हुई माता मधुर शब्दों में बोली, हे वत्स ! माता बलिहारी जाती है- कहो-वह आनन्द मंगलकारी लगन कब है जो मेरे पुण्यशील एवं सुन्दर सुख की सीमा है और जन्म लेने के लाभ की पूर्णतम अवधि है। माता के जीवन को धन्य बनाने वाली वह राज्याभिषेक की शुभ घड़ी कब है यह जानने की उत्कट अभिलाषा से ही माँ पूछ रही है। उसे क्या पता था कि उसकी मनोरथ बेलि पर अचानक ही वज्रपात होने वाला है। इससे यह भी

ध्वनित हो रहा है कि राम के सुस्मित मुखारविन्द पर किंचित भी विषाद की रेखा नहीं है। तभी तो माता के उल्लास में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आई। उसके हृदय में अमंगल की आशंका की कल्पना तक भी नहीं है। चौथेपन में मिले हुए पुत्र के द्वारा भी माँ के उल्लसित जीवन को दुर्दैव से देखा न गया। विधाता की कितनी विचित्र गति है और मानव भाग्य की कितनी विचित्र बिडम्बना है। राम माँ के हृदय से लगे प्रसन्न तथा प्रशान्त मुद्रा में बैठे हैं शायद अन्तर में वह सोच रहे हैं कि यह अमृतमय वात्सल्य का सुशीतल आस्वादन अमितकाल के लिए छूट रहा है। माँ अपने अन्तर के उल्लास को प्रकट करती हुई कहती जा रही है -

**जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।**
**जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति।।**

**(रा० २/५२)**

अवधपुरवासियों की तो यही आन्तरिक अभिलाषा है कि 'आपु अछत जुबराज पद रामहिं देहि नरेसु।' माँ इस चाह से सुपरिचित है अतः कह रही है कि वह शुभ लग्न कब है जबकि तृषित नर-नारी संतृप्त होंगे। राज्याभिषेक की बात है, उसके विधि-विधान में समय भी बहुत लग सकता है यदि लाल कुछ आहार लिए बिना ही पिता के पास चला जाएगा तो फिर अधिक विलम्ब होने की भी सम्भावना है। प्रातः कलेऊ किए बिना पिता के पास माँ जाने नहीं देना चाहती है। पुत्र के वस्त्रादि से यह लग रहा है कि स्नानादि से पूर्व ही माँ की चरण वन्दना के लिए वह पलंग से उठते ही आ गया है अतः मधुर वचनों में कहती है-

**तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू।।**
**पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ।।**

**(रा० २/५३-१,२)**

पुत्र कितना भी महान् हो, विश्वविजयी वीर हो किन्तु माँ की दृष्टि में तो वह सदा सुकुमार बालक ही होता है। वह चाहती है कि अपने प्राणप्रियपुत्र को क्या खिला-पिला दे, वह कैसे सजा-वजा दे जिससे उसका दुलारा नैनतारा लाल सुपुष्ट तथा सौन्दर्य की सीमा छू लेवे। यहाँ पर महाकवि ने मातृ हृदय का कितना उत्कृष्ट चित्र खींचा है। पुत्र के प्रति ममतामयी माँ का हृदय सर्वथा छल रहित होता है वहाँ स्वार्थ की गन्ध नहीं होती इसीलिए तो कहा गया है-'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपिकुमाता न भवति' माता के आंचल की छाया का सुख त्रैलोकी में भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। भारतीय संस्कृति में माता को परमपूज्य तथा प्रथम देवत्व का स्थान प्राप्त

है। महात्मा मनु ने उसे पिता से भी दशगुणा अधिक गौरव प्रदान किया है। वही सन्तान की प्रथम गुरु है। आचार्य चाणक्य ने भी नीति सूत्र में लिखा है 'गुरुणां माता' मातृत्व का यह गुण तो पशु-पक्षी आदि योनियों में भी देखा जाता है। मानव के मातृत्व की भूमिका इससे बहुत भिन्न तथा ऊँची है। वह सन्तान का केवल पोषण करना ही नहीं जानती अपितु उसके परिपोषित जीवन के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी उसे सदैव सतर्क रहना होता है। तभी तो वह पुत्रवती होने का गौरव अनुभव कर पाती है।

राम का जन्म जगत् के मंगल के लिए हुआ है 'राम जन्म जग मंगल हेतु'। आप 'खल दल दलन देव हितकारी' हैं। इतना बड़ा भार जिसके कंधे पर हो उसे साम्राज्य के वैभव का आस्वादन करना अभीष्ट कैसे होगा? वनवास का समाचार सुनकर राम की प्रसन्नता में चौगुनी वृद्धि हुई है- 'मन प्रमन्न चित्त चौगुन चाऊ।' जिस प्रकार जंगल में उन्मुक्त विहार करने वाले गजराज को पकड़ कर उसके पाँवों में अलान (जंजीर) ड़ाला जाता हो किन्तु सौभाग्यवश कोई उसको मुक्त कर पुनः जंगल में जाने की सुविधा प्रदान करदे उस अवस्था में उस गज किशोर को जितनी प्रसन्नता होगी राम को भी वन जाने के समाचार से उतनी ही प्रसन्नता है क्योंकि वे राज्यपद को अलानवत बन्धन ही समझते हैं। राम जैसे धीरोदात्त नायक में परिजन-प्रजाजन का जब इतना अनुराग है तो उनकी जननी के अनुरागं को यदि हम ममत्व और मोह की सीमा को स्पर्श करते हुए पाते हैं तो इसमें आशचर्य की बात नहीं है। ममता मयी माँ का हृदय तो स्वभावतः पुत्र में अनुरक्त होता है फिर राम जैसे पुत्र के प्रति माँ की अनुरक्ति यदि आसक्ति में परिवर्तित हो जाए तो कोई असंभव सी बात नहीं कही जाएगी। माँ कह रही है तुम शीघ्र नहा लो और जो प्रिय हो कुछ मिष्ठान्न खालो। मेरे भैया ! तब तुम पिता के पास जाना। बहुत देर हो गई है माता बलिहारी जाती है। कितने ममत्वपूर्ण ये मधुर वचन हैं ! क्या यह वचन माँ के अतिरिक्त और कहीं से सुनने को मिल सकते हैं? सर्वथा असम्भव है। माता के प्रत्येक शब्द में उसका सरस हृदय जुड़ा हुआ होता है किन्तु कर्त्तव्य की राह बड़ी कठोर है। इस पर चलने वालों को भी उसी प्रकार कठोर होना पड़ता है। विश्व की सरसता की तो बात ही क्या माँ के आँचल की शीतल सुखद छाया को भी सहर्ष त्यागना पड़ जाता है। यह तो ध्रुव सत्य है कि बड़े कार्य के लिए बड़े बलिदान की अनिवार्यता होती है और उन बलिदानों में सर्वप्रथम शिकार होता है माता का ममत्व। मानव जाति के इतिहास को देखते हुए

हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि जहाँ पर मातृत्व को उच्चतम शिखर पर आसीन पाते हैं वहीं पर उसके ममत्व को निर्दयता के साथ कुचला जाता भी देखते हैं। सन्तान को श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचने के लिए कर्त्तव्यनिष्ठ होना परम आवश्यक होता है। कर्त्तव्य सदैव कठिन तथा दुर्गम होता है। माता अपनी सुकोमल भावनाओं से लालित लाल को उस दुर्गम राह पर जाने देने के लिए प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करती। ऐसी स्थिति में सन्तान को न चाहते हुए भी उस माँ की ममता की उपेक्षा करनी होती है और उसकी सुकोमल भावनाओं को निर्दयता से लाँघते हुए अपने लक्ष्य की दुर्गम दिशा में अग्रसर होना पड़ता है। मानवीय इतिहास में यह एक ऐसी विडम्बना है जिससे बचकर निकलना कभी सम्भव प्रतीत नहीं होता। राम के समक्ष भी वही स्थिति उपस्थित है-

**मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला।।**
**सुख मकरन्द भरे श्रियमूला। निरखि रामु मनु भवँरु न भूला।।**
**धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी।।**

**(रा० २/५३- ३ से ५)**

माता के अत्यन्त अनुकूल वचन सुने मानों वे स्नेह रूपी कल्पवृक्ष के फूल थे जिनमें सुख मकरन्द भरा हुआ था। वे वचन श्री के मूल थे, किन्तु उन सुख मकरन्द से परिपूर्ण माता के वचन सुमनों पर राम का मन-मधुप लुब्ध नहीं हुआ अर्थात् स्नेह तथा ममता से युक्त माँ के वचनों को सुनकर राम का मन अपने निश्चय से नहीं डिगा, वह उसमें भूला नहीं। क्यों नहीं भूला, इसका समाधान कवि स्वयं कर रहा है कि वे धर्मात्मा हैं, धर्म की सूक्ष्म तथा गहन गति को जानते हैं। माँ के हृदय से लगे हुए राम अत्यन्त कोमल वाणी में बोले। माँ की जिज्ञासा उस शुभ लग्न को जानने की थी 'कबहिं लगन मुद मंगलकारी '। राम कह रहे हैं कि वह मंगलकारी लग्न तो बीत चुका और मेरा राज्याभिषेक भी हो गया किन्तु अयोध्या का नहीं कानन का-

**पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।।**
**आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता।।**
**जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें।।**
**बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।**
**आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान।।**

**(रा० २/५३- ६ से ८)**

स्नेह का बलिदान करना ही होगा । वनगमन का समाचार माता की सुकोमल कल्पना रूप कल्पलता पर वज्र प्रहार के समान होगा इसलिए राम ने सुस्मित मुद्रा में कहा कि पिता ने मुझे कानन का राज्य दिया है जहाँ मेरा सर्वविध विशेष प्रयोजन सिद्ध होने वाला है। हे माता ! तू प्रसन्न मन से मुझे आज्ञा प्रदान कर जिससे कानन का राज्य भार मैं सानन्द सँभाल सकूं। मेरा मार्ग मंगलमय हो। स्नेह के बस होकर तुम्हें भूलकर भी भयभीत नहीं होना चाहिए। हे अम्ब! तुम्हारे अनुग्रह से मेरे लिए यह आनन्दप्रद होगा। चारदश वर्ष की अवधि कोई बहुत बड़ी नहीं है, कानन राज्य की व्यवस्था में पिता के वचन को प्रमाणित कर मैं पुनः लौट कर तुम्हारे श्री चरणों का दर्शन करूँगा। तुम मन को म्लान न कर अर्थात् दुःखी न हो। कितनी शालीनता है राम के कथन में। महाकवि ने द्वितीय सोपान के मंगला-चरण में ही अपने धीरोदात्त नायक की मनः स्थिति का परिचय दे दिया है। रघुकुल के आनन्द वर्द्धन श्रीराम के मुखार्विन्द की श्री राज्याभिषेक की बात सुनकर न तो प्रसन्नता प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलीनता ही। आगे भी कहा है 'बिस्मय हरष रहित रघुराऊ' किन्तु मातृ-हृदय के लिए तो यह सह्य नहीं है। राम इस बात को जानते हैं तभी तो बड़ी कोमलता के साथ अलंकारिक भाषा में अपने वनवास का समाचार सुनाकर माता से विदा माँग रहे हैं। ऐसे पुत्र को जन्म देने वाली जननी धन्य है। धैर्य तथा धर्माचरण की परीक्षा आपत्तिकाल में ही होती है। सुख सम्पत्ति के समय में तो सभी लोग धर्मात्मापने का नाटक खेल सकते हैं, किन्तु धर्म निष्ठा का पता तब लगता है जब विचलित न हो। सुखद काल में देवार्चन, दान-मान आदि धार्मिक कृत्य करना स्वाभाविक है। श्रद्धा-भक्ति की अपेक्षा इस प्रकार के कृत्यों से दम्भादि की वृद्धि में ही अधिक सहयोग मिलता है। धर्म की गहन गति का आभास तो मनुष्य को तब मिलता है जब उसको सकंटकाल में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय लेना होता है। धर्म की स्थिति देवार्चन की अपेक्षा कर्त्तव्य पालन में अधिक है क्योंकि धर्म के प्रयोजन रूप लोकमंगल की पूर्ति में वह विशेष सहायक होता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने राम को विग्रहवान् धर्म कहा है- 'रामोविग्रहवान् धर्मः' उस धर्म को साकार रूप में जन्म देने वाली जननी कौशल्या की धर्म साधना के विषय में क्या कहा जाए ? एक माँ के लिए इससे अधिक संकट की घड़ी क्या हो सकती है कि उसके लोकप्रिय पुत्र को राज्याभिषेक का साज सजाकर अकारण ही राज्य निष्कासन का आदेश दे दिया जाये। लोक विरोधी पुत्र की भी ममता माँ के हृदय को आबद्ध किए रखती है।

अपनी धर्म साधना का सार सर्वस्व माँ अपने अत्याचारी पुत्र की मंगल कामना के लिए अर्पण करने में ज़रा भी संकोच नहीं करती। मातृ- हृदय का यह प्रत्यक्ष उदाहरण हमें महाभारत में दुर्योधन की माता गांधारी के द्वारा देखने को मिलता है। फिर जहाँ लोकप्रिय धर्मविग्रह श्रीराम जैसे पुत्र की बात हो वहाँ माँ क्या कुछ नहीं कर सकती। किन्तु ऐसी स्थिति में लोकनायक की जननी होने के अनुपम गौरव को वह सुरक्षित रख पाएगी वा नहीं यह कहना कठिन है। महत्ता के शिखर सिंहासन पर आसीन होने के लिए धर्म की वेदी पर ममत्व का बलिदान करना यह प्रथम शर्त है। राम और उनकी जननी दोनों ही इस शर्त से अवगत हैं, किन्तु माँ का सुकोमल हृदय अचानक पड़े हुए इस वज्राघात से आहत हो गया। उसकी दशा का वर्णन महाकवि इस प्रकार करते हैं-

**बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके।।**
**सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परें पावस पानी।।**
**कहि न जाइ कछु हृदय विषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।।**
**नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहिं खाइ मीन जनु मापी।।**

**(रा० २/५४- १ से ४)**

रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम के विनम्र एवं मधुर वचन माता के हृदय को बाण के समान वेधित कर उसी में करकने लगे जैसे कोई तीखी चीज़ कहीं चुभकर उसी में रह जाने पर करकने लगती है। उस शीतल वाणी को सुनकर माता वैसे ही सहम कर सूख गई जैसे प्रथम वर्षा के जल से जवासा सूख जाता है। व्यथित हृदय की पीड़ा कही नहीं जाती मानों हरिणी ने सिंह की गर्जना सुनी हो। नेत्र सजल हो गए और शरीर थर- थर काँपने लगा मानो मांजा खाकर अर्थात् प्रथम वर्षा का फेन खाकर व्याकुल हो गई हो। वर्षा का जल सभी के लिए सुखद शीतल होता है क्योंकि ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करता है किन्तु जवासा उससे झुलस कर सूख जाता है। 'राम जन्म जग मंगल हेतू' ही हुआ है और उनका वनगमन उस लोक मंगल की योजना की प्रमुख भूमिका है किन्तु वह मातृ-हृदय को दग्ध करने वाला है। इस समाचार को सुनते ही वह जवासे के समान सहम कर सूख गई। जगत् की विचित्रता कितनी अगम्य है यहाँ एक का दुःख ही दूसरे के सुख में कारण बन जाता है। मातृ-हृदय का यहाँ पर इतना सजीव चित्रण हुआ है कि वह अपने में अनुपम है। नारी-हृदय के साथ कवि का कितना तादात्म्य है इससे यह समझा जा सकता है। मातृ-हृदय विदीर्ण हो चुका है उसकी कल्पना लता पर अचानक ही

वज्रपात करके छिन्नभिन्न कर दिया गया है; वह उद्विग्न सी हो गई है। आपत्ति में धैर्य ही तो जीवन का आधार है-

धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी।।
तात पितहि तुम्ह प्रानपिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे।।
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा।।
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयउ कृसानू।।
(रा० २/५४- ५ से ८)

माता को आश्चर्य यह है कि आखिर राम का अपराध क्या है जिसके बदले में पिता ने वनवास की आज्ञा दे दी। राम केवल प्रजा के ही नहीं पिता के भी प्राणाधार हैं, यह माँ अच्छी प्रकार से जानती है इसीलिए वह पूछ रही है। धर्म-धुरीन राम की जननी सर्वथा धैर्य खो दे, ऐसा सम्भव कैसे ? वह अपने आहत हृदय को सम्भाल कर धैर्य धारण करती है। वह यह भी देख रही है कि उसके सुकुमार कुमार के मुखमण्डल पर इस घटना का कोई प्रभाव नहीं है। उसकी मुखाम्बुज श्री उसी प्रकार अपनी छटा बिखेर रही है, इससे मातृ-हृदय को भी कुछ ढाढ़स मिला। इस कुचक्र के कारण को जानने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

प्राणाधार पुत्र के राज्याभिषेक की तैयारी करके पिता उसे अकारण ही वनवास की आज्ञा नहीं दे सकता इसके पीछे किसी विशेष व्यक्ति का हाथ होना अनिवार्य है। किन्तु राम का शत्रु तो कोई ऐसा है नहीं जिसके प्रति आशंका की जाये। माँ कारण जानना चाहती है कि सूर्यवंश को खाक में मिलाने के लिए अग्नि कौन बन गया? राम के लिए इसका विवरण सुनाना कठिन है, वे स्वयं किसी को अपराधी नहीं मानते। इसमें 'देवाधीनं जगत सर्वम्' पर उनका पूर्ण विश्वास है, व्यक्ति तो इस प्रकार की विशेष घटनाओं में केवल निमित्त मात्र बन जाता है। राम का संकेत पाकर मन्त्री पुत्र ने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी जिसको सुनकर माँ अवाक् सी रह गई। सामने एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। वह समझ गई कि उसकी सपत्नी ने राजा को विश्वास में लेकर उस पर यह आघात किया है। माँ को अब स्वयं की चिन्ता नहीं रही । वह राम में राजा के अमित स्नेह को समझती है अतः आशंका पति के जीवन के प्रति हो गई। उसकी आँखों के समक्ष भरत की भी मधुर मूर्ति घूम गई। वह धर्मात्मा महात्मा पुत्र भी व्यर्थ में ही स्वमाता के कुचक्र में मारा गया। प्रजा के अनन्य प्रेम को याद कर माँ का अन्तर कराह उठा, आह भरते हुए बोली-

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु।।
(रा० २/५५)

इस प्रचण्ड पीड़ा को ये सभी सह पाएँगे व नहीं, कौन कह सकता है। माँ के उस विशाल तथा सुदृढ़ हृदय का अनुमान करना सम्भव नहीं जो अभी मोम से भी सुकोमल था, जिससे अभी प्रेमरस की अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी वह इतना कठोर भी हो सकता है कि वज्र का प्रहार भी उसे किन्चित भी क्षत न कर सके, यह आश्चर्य की बात है। आखिर मातृ हृदय को इस कठोरतम प्रहार को सहन कर अडिग रहने की क्षमता कहाँ से प्राप्त हुई, किस शक्ति ने उसके अन्तर की सुरक्षा में वर्म का कार्य किया है। महाकवि का कथन है कि वह धर्म की शक्ति है। सचिव सुत से सारा प्रसंग सुनने के पश्चात् उसकी सजग प्रज्ञा ने स्वधर्म के निर्णय में पूर्णरूपेण परिस्थिति का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। एकाएक किसी भी प्रकार का निर्णय ले लेना ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं होता। जज़्वात में लिया हुआ निर्णय भविष्य में संतापकारी ही होता है।

सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।।
(रा० २/२३१-४)

वे लोग जो आवेश में आकर कोई निर्णय ले बैठते हैं और बाद में आजीवन उस पर पश्चाताप के ताप से झुलसते रहते हैं, वेद तथा बुधजन उनको समझदार नहीं कहते। लोकनायक राम की माता इस प्रकार का कोई निर्णय नहीं कर सकती। वह अपने अन्तः को विचार मथानी से मथकर स्वधर्म सार को प्रत्यक्ष करना चाहती है फिर कोई उत्तर राम को दे सकेगी। माँ के पावन हृदय में सपत्नी के प्रति किसी प्रकार के आमर्ष का आक्रोश नहीं है तभी तो वह विश्ववन्द्य नायक की जन्मदात्री होने के गौरव को सुरक्षित रख सकी। गोस्वामी जी का कवि हृदय यहाँ पर कितना सजग एवं संतुलित रहा है, यह प्रशंसनीय है। इसी सौपान के कथा प्रसंग में भरत ननिहाल से आने पर जब कैकेई द्वारा अवध की स्थिति का वर्णन कराते हैं तो उनका भावुक हृदय तिलमिला जाता है और वे उसे संतुलित नहीं रख पाते। भरत की सरलता तथा कैकेई की कुटिलता की कल्पना कर बरबस कैकेई के प्रति उनका हृदय कराह उठता है 'भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन।' इतना ही नहीं भरत के मुख से भी उसे कुछ जली-कटी सुनाने में वे संकोच नहीं करते, किन्तु यहाँ की स्थिति को महाकवि ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है।

यह भी कहा जा सकता है कि दोनों पात्रों की अवस्था भेद से भी शायद ऐसा किया गया होगा। माता कौशल्या की स्थिति भरत की स्थिति से सर्वथा भिन्न है। वहाँ राम वनवास के साथ महाराज का निधन हो चुका है, भरत सरल हृदय राम प्रेम पूरित अनन्य श्रीरामानुरागी बन्धु हैं, कैकेई उनकी जननी है, सारे उत्पात के मूल में प्रकारान्तर से भरत ही कारण बन गये हैं। स्वभाव से वह जो कुछ भी हुआ उनके बिल्कुल प्रतिकूल है। अकारण ही भरत को इस धवल रघुकुल की कीर्ति में कलंकित करने की कुचालि की गई है वह भी उनकी जन्मदात्री के द्वारा, ऐसी स्थिति में वे जो कुछ भी माँ को कटु वाक्य कहते हैं वे पाठक को अखरते से नहीं लगते। वहाँ पर महाकवि का कथन अवश्य खटकता है, किन्तु प्रसंग को देखते हुए करुणा पूरित कवि के हृदय से ऐसा प्रयोग अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। यहाँ राम की माता रघुकुल की साम्राज्ञी है। उसकी कुछ महानतम् मर्यादायें हैं वह स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम की जन्मदात्री है। ऐसी विकट स्थिति में उसका धैर्य एवं संतुलन खो बैठना उचित नहीं है। वह विवेकशील हैं, विधि प्रपंच की प्रवाहमान अनादि अचलता का उसे बोध है, वह ऐसी विपरीत दशा में धैर्य तथा धर्म को कैसे खो सकती है? स्थिति को समझकर माता गम्भीरता से विचार करती है क्या करना चाहिए ऐसी अवस्था में ? धर्म और स्नेह का संघर्ष है बात कोई छोटी सी नहीं है। अपने जीवनाधार प्राण से भी अधिक प्रिय आत्मज को दीर्घ काल के लिए अंगरक्षकों रहित एक निरालम्ब तपस्वी के वेश में अपने नेत्रों से ओझल होने की अनुमति दे देवे, व संपत्नी के इस कुचक्र को विफल बनाने के लिए वह भी अपने गौरवपूर्ण अधिकार का प्रयोग कर पुत्र को इस संकटाकीर्ण पथ पर पायदे चलने से रोक लेवे। कितनी करुण स्थिति है माँ की, कल्पना करते ही हृदय प्रकम्पित हो उठता है। धर्म और स्नेह दोनों में से कोई भी तो छोड़ा नहीं जा सकता-

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।।
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू।।
धरम सनेह उभयँ मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी।।
(रा० २/५५- १ से ३)

न रखते बनता है न जाने की अनुमति देते बनती है, दोनों ही क्रियाएँ हृदय को सन्ताप देने वाली हैं, पुत्र-वियोग तथा धर्म विमुखता दोनों ही सन्तापप्रद हैं। माता की मति दोनों के घेरे में पड़ गई, उसकी दशा साँप और छछुंदर जैसी हो गई। जैसे छछुंदर को साँप पकड़ लेता है तो खाये तो मर जाये और छोड़ दे तो

अंधा हो जाये, यही दशा इस समय माँ की मति की भी हो गई है। महाकवि ने यहाँ पर दो उपमायें बड़ी ही सुन्दर दी हैं। वे माता की चित्त-वृत्ति का सटीक अवबोध करा देती हैं। एक अर्द्धाली तो माँ के चिन्तन को व्यक्त करती है 'लिखत सुधाकर गा लिखी राहू' चंद्रमा का चित्र बनाते हुए राहू का बन गया। विधि की गति कितनी विपरीत है कुछ कहते नहीं बनता। दूसरी 'भई गति साँप छुछुंदरि केरी' में राम को रखना यह धर्म का त्याग सम्भावित के लिए मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है और पुत्र को वन भेजना यह नयन विहीन होने के समान है। माँ के इस अन्तर्द्वन्द्व को कवि स्वयं व्यक्त कर रहा है-

**राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू।।**
**कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी।।**
**बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी।।**
**सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी।।**
**(रा० २/५५- ४ से ७)**

शास्त्र का कथन है- 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यति' सन्तान के लिए पिता की अपेक्षा माता का गौरव दस गुणा अधिक है। नीतिशास्त्र का भी कथन है- 'गुरुणांमाता गरीयसी' पूज्यनीयों में माता ही सर्वश्रेष्ठ है। अतः माता यदि हठ करे तो पुत्र को पिता की आज्ञा के विपरीत आज्ञा देकर वनगमन से रोक सकती हैं।

माँ कौशल्या अपने इस अधिकार को समझती है, सोचती है कि मैं चाहूँ तो हठ करके पुत्र को रखलूँ किन्तु अधिकार सदा किसी कर्त्तव्य से जुड़ा हुआ होता है। जो व्यक्ति अधिकार को माँगता है किन्तु कर्त्तव्य से पलायन करना चाहता है वह कभी भी अधिकार का अधिकारी नहीं रह जाता। माँ की सजग प्रज्ञा अधिकार के साथ ही अपने कर्त्तव्य के प्रति भी उतनी ही सतर्क है इसलिए वह यह भी सोचती है कि पुत्र को रखने का अनुरोध जहाँ मातृत्व के अधिकार को प्रोत्साहित करता है वहीं पर वह पत्नी के कर्त्तव्य से पलायन ही नहीं वरन् उसके प्रति खुला विद्रोह भी होगा। परिणाम में बन्धु-विरोध तथा पारिवारिक कलह की भी आशंका है। यह सब कुछ देखते हुए भी प्राणप्रिय पुत्र को देश-निष्कासन की अनुमति भी आखिर कैसे दी जाये, उसका अपराध ही क्या है? यही कि वह कौशल्या का पुत्र है? अथवा मझली रानी से स्वीकृति लिये बगैर ही महाराज ने युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने का निर्णय कर लिया था ? किन्तु इसमें राम तो अपराधी नहीं किन

उन्हें यह देश निष्कासन का दण्ड क्यों दिया जाये ? माता ऐसें धर्म-संकट में पड़ गई है जहाँ से निकलना सामान्य बुद्धि के बूते की बात नहीं है, किन्तु वह साम्राज्ञी है रघुकुल की मर्यादा और राम की जननी है। पतित पावनी कीर्ति का प्रकाश करने वाले पुत्र को जन्म देने वाली माता का अपने कर्त्तव्य से विमुख होना सम्भव नहीं था। स्नेह को मात खाना पड़ा, धर्म के समक्ष वह पराजित हो गया। उसने स्वयं को समर्पित करते हुए धर्म का ही अवलम्बन ग्रहण करना श्रेष्ठ समझा। यह सत्य है कि स्नेह ही जीवन का सार-सर्वस्व है किन्तु उसके लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है। नारी के लिए स्नेह और नेह का सर्वोच्च आलम्बन पुत्र नहीं पति होता है। पति के अनुग्रह से ही वह पुत्रवती होने का सौभाग्य प्राप्त कर पाती है। यहाँ माता कौशल्या के समक्ष संकट का मूल कारण पतिव्रत धर्म तथा मातृत्व का ममत्व इन दोनों के बीच संघर्ष का था। अन्त में ममत्व पर पति निष्ठा ने विजय पा ली। उसके साथ ही सपत्नी का पुत्र भरत माँ के ममत्व का आलम्बन हो अन्तरपट पर सामने आ गया। माता को राम और भरत में कोई विभेद दिखाई नहीं दिया। सरस हृदया श्री राम माता ने महान् धैर्य धारण कर पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा-

**तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका।।**

**(रा० २/५५- ८)**

हे वत्स ! मैं बलहारी जाती हूँ तुमने बहुत ही अच्छा किया है जो पिता की आज्ञा से कानन जाने का निर्णय कर लिया है। संतान के लिए पिता की आज्ञा का पालन करना ही सभी धर्मों का शिरोमणि धर्म है, किन्तु मेरी व्यथा का कारण मेरा अपना दुःख नहीं तुम्हारे वियोग में भरत, भूपति एवं प्रजाजन को होने वाला प्रचण्ड क्लेश है इसलिए इतना मैं अवश्य कहूँगी-

**जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।।**

**जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।**

**(रा० २/५६-१,२)**

कितना विशाल हृदय है माँ का तभी तो वह निरन्जन को शिशु रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य समेट सकी है। जिस प्रकार से अपने लिए राम और भरत में भेद नहीं समझती उसी प्रकार से राम के लिए अपने और कैकेई में भी कोई अन्तर नहीं मानती है। इसीलिए कह रही है कि यदि केवल पिता की ही आज्ञा है तो माता की आज्ञा को श्रेष्ठ समझ तुम वन को मत जाओ, किन्तु यदि माता-पिता

दोनों की ही आज्ञा है तो कानन तुम्हारे लिए अवध से शतधा सुखद है। आदर्श आर्यजननी के जितने सुन्दर गौरव पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है इस प्रसंग में, वह हिन्दी ही नहीं मेरे विचार से विश्व के किसी भी वाङ्मय में दुर्लभ है। बहुत से आलोचकों को माँ की इस प्रकार उदारता कोरी आदर्श की कल्पना ही प्रतीत हुई है किन्तु ऐसे महानुभावों को धर्म की वेदी पर अनेकों वीर बालाओं के अपने सर्वस्व बलिदान की ऐतिहासिक घटनाओं का अवलोकन करना चाहिए। क्षुद्र दृष्टि के आलोचकों की बात मैं नहीं करता उनके लिए तो हमारे अतीत की सम्पूर्ण गौरवपूर्ण गाथाएँ इंद्रजाल की आश्चर्यमय घटनाओं के सिवाय और कुछ भी समझ मे नहीं आती, कारण कि ऐसे लोग पाश्चात्य विचारधारा के उपनेत्रों का आश्रय ले भारतीय सांस्कृतिक साहित्य का अवलोकन एवं तदनुसार ही मूल्यांकन करने की कुचेष्टा करते हैं। किन्तु जिन लोगों ने मुगलकालीन इतिहास में क्षत्राणियों की धर्म-निष्ठा, स्वाभिमान तथा बलिदान की घटनाएँ पढ़ी हैं उनके लिए मानस का आदर्श मातृत्व जो कौशल्या के रूप में चित्रित किया गया है वह कोरा काल्पनिक आदर्श ही नहीं इस भारत की पुनीत भूमि पर घटी हुई यथार्थ घटना ही लगेगी, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। अपनी सम्पूर्ण ममत्वजन्य आसक्ति को अन्तर में समेटती हुई माँ पुत्र के लिए मंगल कामना व्यक्त कर रही है-

**पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी।।**

**(रा० २/५६-३)**

वन देवता पिता तथा वन-देवियाँ माता की भाँति तुम्हारी सम्भाल करेंगी, वहाँ के पशु-पक्षी तुम्हारे चरणों की सेवा करेंगे। मंगल कामना के साथ ही मातृ-हृदय पुनः द्रवित हो उठता है और स्वयं को समझाते हुए शब्दों में माँ कुछ कहने लगती है-

**अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू।।**
**बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी।।**
**जौ सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू।।**
**पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के।।**
**ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ।।**
**यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।**
**मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।।**

**(रा० २/५६/४ से ६)**

माता की यह सारी बातें हारे हुए जुआरी के स्वयं को धैर्य बँधाने के प्रयत्न समान हैं। बात भीं यथार्थ है परिजन, माता-पिता सभी को प्राणवत् प्यारा पुत्र माँ के सामने खड़ा हो वनवास की आज्ञा माँग रहा है; माँ देखकर बैठी पश्चाताप कर रही है, अन्तर से पल भर का भी वियोग सह्य नहीं है किन्तु बाहर से कह रही है- 'पितु आयसु सब धर्मक टीका'। विधि की कैसी विडम्ना है यह ! तभी तो माँ कह रही है कि वन बड़भागी तथा अवध भाग्यहीन है इसलिए तुमने इसका त्याग कर दिया है। अपने को साथ लेने की बात करनी माँ केवल मौखिक प्रलाप मात्र समझती है, क्योंकि जिस धर्म-निष्ठा ने पुत्र को कठिन कानन में जाने की आज्ञा लेने को विवश किया है वह पति का परित्याग कर पुत्र के साथ जाने की आज्ञा कैसे दे सकती है इसलिए वह तो तुम्हारे हृदय में व्यर्थ की आशंका उत्पन्न करने वाली बात ही होगी। माँ के कथन से यहाँ एक परम्परा का संकेत मिलता है कि राजा लोग चौथे पन में राज्य को त्याग कर वनवासी जीवन व्यतीत करते थे। मानस में इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं जैसे स्वयंभू मनु तथा सत्यकेतु। किन्तु वाल्मीक ने राम के लिए कोई ऐसा संकेत नहीं किया है और मानस में भी नहीं मिलता कि अपने राज्यकाल के अन्त में उन्होंने ऐसा किया हो। शायद यह सभी के लिए अनिवार्य क्रम नहीं था; रुचि अनुसार कुछ नृपति ऐसा करते रहे होगें किन्तु 'अन्तहुं उचित नृपति बनबासु' से अभिप्राय प्रकट होता है कि राजा का ऐसा करना उचित माना जाता था। माँ के लिए व्यथाप्रद वनगमन नहीं है, वनवास है जो इस युवावस्था में साम्राज्य सुखोपभोग के बिल्कुल विपरीत दशा में रहने की प्रतिज्ञा के साथ है। आह भरे शब्दों में कहती हैं- यह सोचकर झूठ स्नेह बढ़ाकर मैं हठ नहीं करती, बेटा ! मैं बलिहारी जाती हूँ माता का नाता मानकर मेरी सुधि भूल न जाना। आशीर्वाद देते हुए कहती है-

**देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहुँ पलक नय न की नाईं।।**
**अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना।।**
**अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई।।**
**जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ।।**

**(रा० २/५७- १ से ४)**

हे इन्द्रियजित वत्स ! सब देव-पितर तुम्हारी उसी प्रकार रक्षा करेंगे जिस प्रकार पलकें नेत्र की करती हैं। 'गोसाईं' सम्बोधन यहाँ बहुत ही सार्थक है। माँ ने इस सम्बोधन में बहुत बड़ी सीख दे दी है। गोसाईं शब्द का अर्थ होता है इन्द्रियों

का स्वामी । माँ कहती है, "चौदह वर्ष की अवधि ही जल है और उसमें रहने वाले सभी प्रियजन मीन के समान हैं, यदि जल के शेष होते-होते तुम नहीं पहुँचोगे तो सभी प्राण त्याग देंगे। ऐसा विचार कर कोई ऐसा ही उपाय करो जिससे लौटकर पुनः सभी प्रियजनों से मिल सको। मैं बलैया लेऊँ भैया! तुम परिजन, प्रजाजन, परिवार तथा नगर को अनाथ करके सुख पूर्वक वन को जाओ। सभी का आज सुकृत समाप्त हो गया है कराल-काल हमारे विपरीत है।" इतना कहते हुए माँ पुत्र के चरणों में लिपटकर विलाप करने लगी। वह आज अपने को दुनिया की सबसे बड़ी हतभागिनी मान रही है। हृदय में भयंकर दुःसह संताप छा गया, उस समय की उसकी व्यथा-जन्य विलाप का वर्णन करने में कवि स्वयं को असमर्थ पाता है। आखिर में धैर्य का बाँध तोड़कर मातृहृदय फूट ही पड़ा। फिर भी धर्म से विचलित नहीं हुई, अपने भाग्य के सिवा किसी अन्य को नहीं कोसा। माँ की दशा दयनीय है, राम उसे उठाकर हृदय से चिपक गये, पुत्र के शीतल स्पर्श से हृदय को कुछ सांत्वना मिली। कोमल वचनों से माँ को धैर्य बँधाकर कानन गमन की आज्ञा प्राप्त कर ली। सीता का राम के साथ वनगमन माँ के लिए दुहरा दुःसह संताप का कारण बना, किन्तु उसे अब कुछ संतोष भी हुआ होगा क्योंकि विपत्ति में सुशीला, धर्मपरायण, निष्ठावान् नारी कितनी सहायक हो सकती है इसका माता को अनुभव है इसलिए उसने सीता को रोकने के लिए अधिक प्रयत्न नहीं किया बल्कि व्यथित हृदय से उसे नारी धर्म की विविध प्रकार से शिक्षा और आशीर्वाद देकर विदा कर दिया। धर्म की साधना कितनी कठोर हैं, धर्मनिष्ठ हृदय कितना सुदृढ़ होना चाहिए, धर्म पर ममत्व को किस प्रकार से बलिदान किया जाता है यह सब कुछ एक साथ ही हमें प्रत्यक्ष रूप से माता कौशल्या के जीवन में देखने को मिल जाता है।

राम के वन चले जाने के पश्चात् अयोध्या की स्थिति बड़ी भयानक हो गई। वहाँ की प्रजा राम को प्राणवत् प्यार करती थी। राम वनगमन सभी के लिए प्रचण्ड पीड़ा का कारण बन गया। वहाँ की तत्कालीन दशा का वर्णन महाकवि ने बड़ी ही मर्माहत भाषा में किया है-

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधिआरी।।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी।।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोबर देखि न जाहीं।।

(अ० २/८३- ५ से ८)

इन अर्द्धालियों से ज्ञात होता है कि राम अपनी प्रजा में कितने लोकप्रिय थे। महाराज दशरथ की स्थिति तो बड़ी ही नाजुक थी। थोड़ी सी उन्हें आशा बंधी थी कि शायद सुमन्त द्वारा निवेदन करने पर राम लौट आएँ व सीता को ही लौटा देवें, किन्तु वह भी विफल हो गई। शिथिल शरीर सम्राट को देवी कौशल्या के ही भवन में ले जाया गया था। पुत्र-वियोगिनी कौशल्या के हृदय में पति के प्रति अथवा सपत्नी के प्रति भी किसी प्रकार का आक्रोश नहीं। वह सम्राट की दयनीय दशा को देख अधिक चिन्तित है और सुकोमल शब्दों में उन्हें धैर्य धारण करने की सलाह देती है, प्रार्थना करती है। उदारहृदया राम माता पति की व्याकुल दशा को देख धीरज बँधाते हुए कहती है-

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू।।
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू।।
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहि त बूड़िहि सबु परिवारू।।
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी।।
प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि।।

(रा० २/१५४- ५ से ८)

राजा की दशा सोचनीय है, उनके प्राण पखेरू अब इस शरीर पिन्जरे से निकल भागना चाहते हैं। पति की अवस्था को देख देवी कौशल्या को अब ऐसा लग रहा है कि सूर्य कुल का सूरज अस्ताचल को जाने वाला है- 'रबिकुल रबि अंथयउ जिय जाना।' जिस पति के प्रति निष्ठा ने पुत्र स्नेह को पराजित कर उसे वन जाने की आज्ञा दिलायी उस निष्ठा का आधार वह जीवन सर्वस्व अन्तिम श्वास गिन रहा है। कितनी विकट परिस्थिति है उस देवी के समक्ष जिसका पुत्र तो नेत्रों से ओझल हुआ ही अब पति भी सर्वदा के लिए छोड़कर जाने की तैयारी में है। किन्तु वह राम की माता है इसलिए ऐसी भयानक स्थिति में भी धैर्य धारण करके शीतल वाणी में पति को सान्त्वना दे रही है-

उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी।।

(रा० २/१५४-४)

हे प्राणनाथ! आप मन में समझकर विचार कीजिए कि राम का वियोग अपार सागर के समान है और अयोध्या जहाज है जिसके आप ही एक मात्र कर्णधार हैं। सारे प्रिय जन, प्रजा जन इस जहाज के यात्री हैं जो चौदह वर्षों के राम

वियोग रूपी सागर से पार जाने वाले हैं। यदि आप धैर्य धारण करेंगे तभी यह पथिक समाज सकुशल पार उतर सकेगा अन्यथा सारा परिवार इस शोक सागर में ही डूब जायेगा। हे प्रियतम! यदि आप मेरी प्रार्थना को हृदय में स्थान देकर धैर्य धारण करेंगे तो राम, लक्ष्मण, सीता अवधि के अनन्तर पुनः आकर मिल सकेंगे। प्रियतमा कौशल्या के कोमल वचनों को सुनते हुए राजा ने एक बार आँख उघार उस देवी की ओर देखा। ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे कोई जल-विहीन तड़फते हुए मीन को ऊपर से शीतल जल सींच रहा है। नृपति के संताप का कारण है- अकारण प्राण प्यारे पुत्र को देश निष्कासन का दण्ड देना और उस संताप में तब और भी वृद्धि हो जाती है जब राजा राम के रूप, गुण एवं स्वभाव को स्मरण करते हैं-

**राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ।।**
**राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू।।**
**सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना।।**

**(रा० २/१४९-६ से ८)**

सामने कोमल वचनों से धैर्य बँधाते हुए उस पुत्र की सरल हृदय माता को देखते हैं, जिसके पुत्र को सपत्नी के कहने पर अकारण वनवास दिया है तो पीड़ा और भी बढ़ जाती है यह सत्य है कि विचारशील पुरुष विपत्ति के समय उसके कारण को समझने के लिए अपना आत्म निरीक्षण करते हैं किन्तु अविवेकी दूसरो को कोसता हुआ संतप्त होता रहता हैं। अकारण अपने मनोरथ पर परम प्रिय पत्नी द्वारा वज्राघात और उसके फलस्वरूप पुत्र वियोग की इस असह्य पीड़ा के कारण को समझने के लिए राजा ने एक-एक करके अपने अतीत के कृत्यों का आलोकन किया। उनको इसी प्रकार अंधे तपस्वी माता-पिता को पुत्र वियोग में तड़पकर प्राण देने वाली दुर्घटना अन्तः पटल पर प्रत्यक्ष हो आयी जिसमें अनजाने में महाराज स्वयं ही कारण बन गए थे। साथ ही उन अंधे तपस्वी माता-पिता के शाप का भी स्मरण आ गया। सम्राट का हृदय हाहाकार करते हुए गतिहीन हो गया। अतीत की उस घटना को देवी कौशल्या को सुनाते हुए एक आह भरी आर्तवेदना शब्दों में अस्पष्ट रूप से बाहर निकल आई-

**सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा।।**
**हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते।।**
**हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर।।**
**राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।**

**तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम।।**

**(रा० २/१५५-६ से ८)**

देवी कौशल्या की गोद में सिर रखकर राम वियोग की प्रचण्ड पीड़ा में महाराज दशरथ ने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। कितनी भयानक स्थिति है उस देवी के समक्ष जो पुत्र और पति दोनों से ही वंचित कर दी गयी है। विधि की कैसी विडम्बना है कि इतनी भयंकर स्थिति में भी वह जीवित है। सपत्नी पुत्र भरत के आने पर हम राम मातु की विशालता का पुनः दर्शन पाते हैं। जिस पुत्र के लिए कैकेई राम को वनवास देती है, प्रकारान्तर से जो सूर्यकुल के सूर्य के अस्त होने में कारण बना है, जिससे सारी आयोध्या भयानक काल रात्रि में पीड़ित हो रही है उस भरत को देखते ही माता कौशल्या का हृदय उमड़ पड़ता है। उसे ऐसा लगता है मानों उसका राम ही वन से लौट आया हो- 'अति हित मनहुँ राम फिरि आएँ'। पुत्र एवं पति के वियोग के संताप से संतप्त देवी कौशल्या की दशा का वर्णन करते हुए महाकवि लिख रहे हैं-

**मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार।**
**कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसार।।**

**(रा० २/१६३)**

शरीर पर मैले वस्त्र हैं, चेहरे का रंग बदला हुआ है, व्याकुलता एवं दुःख के भार से शरीर कृश हो गया है। ऐसी दिख रही है जैसे सोने की सुन्दर कल्पलता को वन में पाला मार गया हो। भरत को देखते ही उठकर हृदय से आलिंगन करने के लिए दौड़ पड़ी, किन्तु तुरन्त ही मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ी। निर्बलता ने उसे धराशायी कर दिया। माता की दशा देखते ही भरत का हृदय कराह उठा- वे शरीर की सुधि-बुधि खोकर माँ के चरणों में लुण्ठित हो गए। उनकी अन्तर्वेदना पिता के लिए विलाप करते हुए कुटिला कैकेई के प्रति धिक्कारने लगी। साथ वे स्वयं को ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल कारण समझकर अपने दुर्भाग्य को भी धिक्कारने लगे-

**कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा।।**
**कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही।।**
**को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति अति तोरि मातु जेहि लागी।।**
**पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू।।**
**धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी।।**

**(रा० २/१६४-४ से ८)**

भरत की अन्तर्दशा देख माँ अपनी व्यथा भूल गई आगे और भी अनिष्ट हो जाने की आशंका ने माता के हृदय को प्रकम्पित कर दिया। वह शीघ्र ही स्वयं को सम्भाल कर उठ बैठी और भरत को उठाकर हृदय से लगा लिया, नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। असह्य संवेदना में यदि अश्रु न निकलें तो हृदय दुःखाग्नि में झुलस जाता है जिससे मनुष्य जीवित नहीं रह पाता। भरत और माता कौशल्या दोनों की यही स्थिति हो रही थी, किन्तु माता ने धैर्य धारण कर स्वयं को सम्भाल लिया और भरत को हृदय से लगाकर उनके संताप को भी अपने शीतल वचनों से कम करने लगी-

**देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई।।**

**(रा० २/१६५-३)**

देवी कौशल्या के स्वभाव को देखकर उपस्थित जन समुदाय हृदय से धन्य-धन्य कहते हुए बोल उठा- राम की माता का स्वभाव ऐसा क्यों न हो ? विवेकशीला अम्बा काल, कर्म की अघटित गति को जानती है। भरत को गोदी में बिठा कर आँसू पोंछते हुए कोमल वाणी से कहने लगी-

**अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू।।**
**जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।।**

**(रा० २/१६५-५,६)**

विपत्ति में विषाद नहीं धैर्य का ही अवलम्बन लेना उचित होता है इसलिए माँ कह रही है, हे वत्स ! मैं बलिहारी जाऊँ तुम अब धैर्य धारण करो, कुसमय जानकर शोक को त्याग दो। अपने हृदय से हानि और ग्लानि को दूर करो, काल तथा कर्म की गति अमिट होती है अर्थात् इसका कोई निराकरण नहीं कर सकता, ऐसा जान धैर्य से काम लो-

**काहुहिं दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता।।**
**जौ एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा।।**

**(रा० २/१६५-७,८)**

हे प्यारे! किसी को दोष नहीं देना है, विधाता ही मुझ से सब प्रकार से विपरीत हो गया है जो इतने भयंकर दुःख में भी जीवित रखे हुए है। अभी और क्या उसकी रुचि में है इसे कौन जानता है? भरत को सान्त्वना देते हुए माता राम वनवास कथा व्यथा के साथ बताते हुए अन्त में कहने लगी-

**रामु लखनु सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए।।**

यहु सबु भा इन्ह आखिन्ह आगें। तउ न तजा तनु जीव अभागें।।
मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी।।
जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना।।

(रा० २/१६६-५ से ८)

वत्स ! यह सब कुछ इन आँखों के समक्ष ही हो गया किन्तु इतने पर भी यह अभागा जीव इस शरीर का त्याग नहीं कर सका। मुझे अपने वात्सल्य पर लज्जा भी नहीं आती कि राम जैसे पुत्र की मै महतारी हूँ। पुत्र-वियोग की अन्तर व्यथा को अनुभव करते हुए देवी कौशल्या को महाराजा दशरथ की गति पर संतोष है। प्रतिपल तड़प कर मरनान्त पीड़ा को सहन करने की अपेक्षा राम विरह में शरीर का त्याग कर देना माँ उत्तम समझती है किन्तु मृत्यु कोई अपने वश की बात तो नहीं है वह तो यथा समय ही आती है। माता के वचनों से भरत की व्याकुलता कुछ कम हुई, उन्होंने धैर्य धारण कर शास्त्र सम्मत वाणी में कुछ सान्त्वना की कथाएँ भी सुनाई और छल रहित हो सभी के समक्ष शपथ के साथ इस कुचक्र में माता के मत में अपनी सहमति न होने की सौगन्ध खाई। महाकवि की दृष्टि में दुनिया में जितने प्रकार के कुत्सित पापमय कर्म हो सकते हैं उन सब की एक लम्बी सूची व्यक्त की है और महात्मा भरत स्वयं को उन समस्त पापों के परिणाम के भागी बनने को तैयार बताते हैं यदि माँ के द्वारा किये गए अनर्थकारी कुकृत्य में उनकी सम्मति हो तो -

जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं।।
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता।।

(रा० २/१६७-७,८)

किन्तु माता कौशल्या के हृदय में तो पहले से ही इस प्रकार की कोई आशंका नहीं है। वे भरत के प्रति अपने निश्चय को व्यक्त करते हुए कहतीं हैं-

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे।।
बिधु बिष चवै स्त्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी।।
भएँ ग्यानु बरू मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।।
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्त्रवहि नयन जल छाए।।

(रा० २/१६९-१ से ३,५)

राम और भरत की अभिन्नता केवल माँ की वाणी तक ही सीमित नहीं है उसका प्रत्यक्ष रूप वहाँ उपस्थित जन समुदाय देख रहा है। चाहे चंद्रमा से अमृत

की जगह विष का श्राव होने लगे, हिम अग्नि की वर्षा करने लगे, जलचर चाहे जल से विरक्त हो जाये, तत्त्व बोध होने पर चाहे मोह का नाश न हो किन्तु तुम कभी राम के प्रतिकूल नहीं हो सकते, ऐसा कहते हुए माता ने भरत को हृदय से लगा लिया। वात्सल्य की प्रबलता से उसके स्तनों से दूध की धार बह चली और नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये, कितना पुनीत हृदय है ? देवी कौशल्या सचमुच राम की जननी होने के गौरव के ही योग्य है।

आर्यपुत्र की जननी का जीवन कितना महान् है। महाकवि ने राम माता के जिस स्वरूप को अपने इस महाकाव्य में उपस्थित किया है नारी की अनुपम महत्ता को इससे अधिक उत्तम रूप में आँकने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे लोग जो गोस्वामी जी को नारी-निन्दक के रूप में निन्दित बताने की कुचेष्टा करते हैं क्या इन प्रसंगों को पढ़ते ही नहीं या उनकी वृत्ति के विपरीत होने से यह सब समझ में नहीं आता। विश्व को सजग महिला वर्ग का गोस्वामी द्वारा उल्लिखित आकाश से भी व्यापक, मेरु से भी ऊँचा, प्रभा से भी प्रकाशमान, ज्योत्स्ना से भी शीतल, समुद्र से भी अगाध नारी के इस अनुपम स्वरूप पर गौरव होना चाहिए।

घोर संकट की स्थिति में भी जिसकी बुद्धि विवेकशीला तथा हृदय आस्थावान् बना रहता है वही धीर और धर्मात्मा है। देवी कौशल्या के जीवन में हमें इस वैशिष्ट्य का सर्वत्र दर्शन होता है। महाराज दशरथ की प्रेतक्रिया के पश्चात् गुरु वशिष्ट के आदेशानुसार महासभा की बैठक होती है जिसमें मंत्री-परीषद् तथा सभी वर्गों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। बैठक का विचारणीय विषय होता है भरत का सम्राट पद पर राज्याभिषेक। पिता की आज्ञानुसार राम वनगमन तथा भरत राज्याभिषेक निश्चित हुआ है। गुरु वशिष्ठ अब उसे क्रियान्वित करना चाहते हैं। इसमें अवध की प्रजा को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है सभी एक मत हो इसका समर्थन कर रहे हैं। इसमें आपत्ति केवल भरत को है, उनकी आन्तरिक अवस्था को देखते हुए गुरु वशिष्ठ तथा अन्य सभासदों को भी इस बात में संदेह है कि भरत राज्यपद स्वीकार कर लेंगे, किन्तु दूसरा विकल्प भी नहीं दिखाई देता। वेद तथा लोकमत का हवाला देते हुए और साथ ही अपनी स्वीकृति बताते हुए गुरुदेव ने भरत को राज्य स्वीकार करने की आज्ञा दी। महामंत्री सुमन्त का भी समर्थन मिला, इस समय भरत को मौन एवं उदासीन देखकर माता कौशल्या धैर्य धारण कर बड़ी दृढ़ता के साथ भरत को राज्य स्वीकार करने का आग्रह करती है-

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई।।
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ विषादु काल गति जानी।।
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलम्बा।।
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई।।
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू।।

(रा० २/१७६-१,२,४ से ६)

माता का निश्छल हृदय कितना पवित्र है, उसमें कहीं रंचक मात्र भी ईर्ष्या की गन्ध नहीं। राम वन को चले गए तो कोई बात नहीं, भरत तो सामने हैं। माँ की सरल वाणी भरत के हृदय को अधिक संतापप्रद लगी। कहाँ एक माता वह जो कौशल्या के पुत्र को केवल राज्याभिषेक से ही वंचित नहीं किया बल्कि चौदह वर्ष के लिए कानन के कठिन क्लेश सहन करने को भी बाध्य कर दिया और उसी राम की माता उसी सपत्नी पुत्र को राज्यपद स्वीकार करने का आग्रह कर रही है। भरत का हृदय हाहाकार कर उठा, वे व्याकुल हो अश्रु बहाने लगे। महाकवि उनकी दशा का वर्णन कर रहे हैं -

सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी।।
सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए।।

(रा० २/१७६-८, छन्द)

राज्य पद को अस्वीकार करते हुए भरत ने माँ के आग्रह को अपने प्रति अधिक प्रेम का परिणाम बताया, किन्तु धर्म-विरूद्ध होने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया यथा-

राम मातु सुठि सरलचित मो पर प्रेमु बिसेषि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि।।

(रा० २/१८१)

धर्म विरुद्ध राज्यपद को अस्वीकार करते हुए भरत की प्रखर प्रज्ञा ने एक उत्तम विकल्प ढूंढ़ निकाला 'बनहिं देव मुनि रामहि राजू' सभी प्रजाजन राम के पास बन जाने की तैयारी में लग गए जिस प्रकार विषधर के डंक से पीड़ित व्यक्ति को बीजमंत्र से कोई कुशल गरुणी सचेत कर देता है. उसी प्रकार भरत के विकल्प को सुनकर सभी प्रसन्न हो गए। माता कौशल्या ही नहीं अन्य महारानियों के साथ कैकेई ने भी राम को लौटा लाने की भावना से चित्रकूट के लिए प्रस्थान किया।

राम पयादे ही वन में विचरण करते हैं ऐसा सोचकर भरत भी भाई के साथ पयादे ही चलने लगे, उनको देख सारी प्रजा वाहनों से उतर गई। माता कौशल्या की सजग बुद्धि सदैव प्रजाहित चिन्तन में रत रहती है। प्रजा की इस पीड़ाजन्य अवस्था को माँ देख ना सकी। यह कठोर सत्य है कि उसका प्रिय पुत्र नंगे पाँव ही कंटकाकीर्ण कठोर कानन में जाने को बाध्य किया गया है, किन्तु इससे प्रजाजंन उस दुःसह पीड़ा के पात्र क्यों बने-

जाइ समीप राखि निज डोली। राम मातु मृदु बानी बोली।।
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी।।
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू।।

(रा० २/१८८-४ से ६)

माता की इस उपयोगी सीख को स्वीकार कर भरत रथ पर सवार हो जाते हैं और गंगा तट तक जहाँ तक श्री राम रथ से गए थे जाकर पुनः रथ का त्याग कर देते हैं।

चित्रकूट में होने वाली सभाओं में कौशल्या कोई भाग नहीं लेती और न तो राम से वापस लौटने की ही बात करती है। कुछ आलोचकों ने इससे यह सन्देह व्यक्त किया है कि शायद गोस्वामी जी नारी को राज्यकार्य में भाग लेने को उचित नहीं समझते। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की कल्पना ठीक नहीं है कारण कि अवध में भरत राज्याभिषेक के सम्बन्ध में होने वाली महासभा में हम माता कौशल्या को भाग लेते ही नहीं बल्कि ज़ोरदार शब्दों में युक्तियुक्त धर्म संगत वशिष्ठ के कथन का समर्थन करते हुए देखते हैं, किन्तु चित्रकूट की सभाओं में कौशल्या का मौन रहना सर्वथा उचित है। जिस धर्म की रक्षा के लिए माँ ने वन जाने को अनुमति प्रदान की थी, जिसके नाते प्राणधन्न प्रियतम पति का प्राणान्त हो चुका है, उसका उल्लंघन करने के लिए वह राम को कैसे कह सकती है? माँ का चित्रकूट तक आना राम के लिए नहीं भरत के लिए है। उसे राम की कोई चिन्ता नहीं। चित्रकूट में लक्ष्मण तथा सीता के सहित राम को प्रसन्न मुद्रा में देख उसे संतोष हुआ है। अन्तर से अब वह यही चाहती है कि राम चौदह वर्ष की अवधि तक कानन में ही निवास करें। चिन्ता उसे केवल भरत की है। उसे भय है राम विरह में कहीं भरत भी महाराज के पथ के पथिक न बन जायें। अपनी इस अन्तर्वेदना को वह जनक राजमहिषी सुनयना के समक्ष व्यक्त करते हुए कहती है-

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।

**गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु।।**

**(रा० २/२८२)**

कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि राज्य सभाओं में स्त्रियों के भाग लेने के हक में गोस्वामी जी नहीं थे, इसको वे मर्यादा के विरुद्ध समझते थे इसलिए चित्रकूट में अलग से महिला सभा की योजना की है जिसमें अवध तथा मिथिला की राजमहिषियों ने भाग लिया। इस प्रकार की कल्पना करने वाले विद्वानों की सूझ को धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता, किन्तु थोड़ी सी भी गम्भीरता से विचार करने पर ऐसे लोगों की सूझ में केवल अपनी कल्पना गोस्वामी जी के नाम पर मढ़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। चित्रकूट में महारानियों के मिलन प्रसंग को हम केवल औपचारिक ही कह सकते हैं। अवध में घटने वाली शोकप्रद घटनाओं से मिथिलेश परिवार में क्षोभ होना स्वाभाविक था। उसमें भी महाराज दशरथ की अचानक मृत्यु की घटना बहुत ही दुःखद थी और राम-वनवास ही इसका मूल कारण रहा। राम की जगह भरत को राज्य मिलने में शायद मिथिलेश को कोई अन्तर न पड़ता। भरत भी उनको उतने ही प्रिय थे जितने राम। दोनों ही मिथिलेश के जामाता थे, किन्तु यह सब घटना इस ढ़ंग से घटी कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। स्थिति बड़ी नाजुक थी क्योंकि भरत माता के मत से सहमत हो राज्य भार सम्भाल लेते तो शायद मिथिलेश को अप्रिय लगने पर भी मौन रहना ही उचित लगता, किन्तु जब भरत ने राज्यपद का त्याग कर राम को लौटा लेने को चित्रकूट को प्रस्थान किया तो महाराज जनक ने भी चित्रकूट आकर इस संकट़कालीन स्थिति के समाधान में सहयोगी होना उचित समझा! महाराज के साथ उनका रनिवास भी आया हुआ है। यह आवश्यक एवं उचित भी है कि जनक रनिवास अवध महिषी के पास महाराज दशरथ की मृत्यु का शोक प्रकट करे। इसी औचित्य को दृष्टि में रखकर इसकी योजना बनाई गई है। उस कथा प्रसंग के उपक्रम पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है-

**सावकास सुनि सब सिंय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू।।**
**कौसल्याँ सादर सनमानी। आसन दिए समय सम आनी।।**

**(रा० २/२८१-३,४)**

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई महिला सभा नहीं है केवल औपचारिक मिलन मात्र है। हा! यहाँ पर माता कौशल्या की महानता का जो हमें दर्शन मिलता है, एक शिष्ट तथा आस्तिक महिलाओं की गोष्ठी में जिस प्रकार के

वार्त्तालाप का यहाँ आयोजन हुआ है वह महाकवि के शिष्ट महिला समाज की अमित अनुभूति का परिवाचक है। आपत्ति में अफसोस प्रकट करने के लिए जाने वाला ही प्रथम कुछ कहता है अतः जनक राजमहिषी देवी सुनयना नीरवता को भंग कर अन्तर्वेदना प्रकट करते हुए कहती है-

**सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय फेनु फोर पबि टाँकी।।**

**सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।**

**जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।।**

**(रा० २/२८१-८)**

सीता की माता को अपनी सुकुमारी पुत्री को कानन के कठोर वातावरण में देख कितनी व्यथा हुई होगी यह अकल्पनीय है। सीता के विदाई के समय देवी सुनयना राम से कहती है-

**परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रान प्रिय सिय जानबी।**

**(रा० १/३३६-छन्द)**

वह प्राणप्रिय पुत्री आज तापसी के वेश में जंगल के दुःसह वातावरण में रह रही है इसे विपरीत विधि की कुटिलता के सिवाय और क्या कहा जाए। महाकवि ने यहाँ पर 'सीय मातु' शब्द का प्रयोग भाव विशेष की व्यंजना करने की दृष्टि से ही किया है। सीयमातु का कथन है कि विधाता की बुद्धि बड़ी टेढ़ी है, वह दूध के फेन को वज्र की छेनी से तोड़ता है। कितनी संवेदना है माता के अन्तर में? किन्तु विवश मानव विपरीत परिस्थितियों में विधाता को कोस कर स्वयं को ढाढस बंधाने के सिवाय और कर ही क्या सकता है। वे राम सीता 'तात वाउ जेहि लाग न काऊ जनको' कभी गर्म हवा तक नहीं लगी -

**पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिन राती।।**

**(रा० २/२०१-२)**

जैसे पलक नेत्र की तथा सर्प अपने मणि की सम्भाल करता है उसी तरह सारी माताएँ रात-दिन जिनकी सम्भाल करती रहती थी, आज बलकल धारण कर कन्द, मूल, फल, भोजन और कठोर भूमि पर कुशासन पर शयन कर रहे हैं, इसको दूध फेन को वज्र की टाँकी लगाकर कुटिल बुद्धि विधाता द्वारा तोड़ा जाना नहीं तो और क्या कहा जाए? यह सच है कि अच्छाई तो सुनने में ही आती है आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होती। समाज के परिवेश में बुराई को ढूँढ़ने की जरूरत नहीं, उसका तो प्रचण्ड ताण्डव बिना चाहे ही दृष्टि पथ में आता रहता है। सुधा को

केवल पौराणिक गाथाओं में सुना गया है, कभी किसी को उसका सेवन कर अमर जीवन प्राप्त किये नहीं देखा गया, किन्तु विषपान कर अनेकों अपना प्राणान्त करते देखे जाते हैं। यह रचयिता की कराल करतूत नहीं तो क्या है? कौवे, उल्लू, बकुले हर एक जगह देखे जा सकते हैं, किन्तु नीर-क्षीर विवरण का विवेक रखने वाला हंस तो केवल मानसरोवर में ही रहता है। देवी सुनयना के इस कथन में विवश मानव के व्यथित हृदय की भावाभिव्यक्ति बड़ी ही कुशलता से महाकवि ने की है। इन युक्तियों में जहाँ पर सारे अनर्थों को विधाता की कुटिल करतूत कह कर उसे कोसा गया है वहीं पर प्रकारान्तर से इन अनर्थों में कारण बनने वाली कैकेई पर भी आक्षेप किया गया है। कुछ विद्वानों ने इस अर्द्धाली की व्याख्या करते हुए इसे स्पष्ट किया है। अवध पात्र, दशरथ दूध, राम झाग और कैकेई के वरदान के वचन ही मानों वज्र के समान हैं। झाग तो फूँक मारने से ही फूट जाती है उसके लिए वज्र का प्रहार विधि का बांकपन है। कैकेई का राम में अत्यन्त अनुराग है। यह प्रेम सुधा सुनने में ही आई किन्तु प्रत्यक्ष तो विद्वेष रूपी विष ही दिखाई दिया। दुनिया में कुटिल, अज्ञानी, दम्भी लोगों की ही बहुतायत है, भरत के समान हंस तो कहीं कोई एक रविवंश तड़ाग में ही होता है। यह सुनकर देवी सुमित्रा शोक के साथ कहने लगी-

**सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा।।**
**जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी।।**

**(रा० २/२८२-२,३)**

बिधाता की गति बड़ी विपरीत एवं विचित्र है जो जगत् को रचता है, पालता है और पुनः नष्ट कर देता है। यह उसका कार्य-कलाप केवल बाल क्रीड़ा के समान है अतः उसकी मति भी बालकवत् है। सुमित्रा के शब्दों में भी प्रकारान्तर से सुनयना के मत का ही समर्थन होता है अन्तर इतना है कि इस विधाता को कुटिल बुद्धि न कह कर बालवत् भोली बुद्धि वाला क्रीड़ा प्रिय बताया गया है। शोक संतप्त व्यक्ति और क्या कहकर संतोष करे? ऐसी स्थिति में बुद्धि नहीं हृदय ही प्रधान होता है और वह व्याकुलता के नाते किसी ठोस सिद्धांत का विवेचन नहीं केवल सन्ताप से राहत पाने के लिए अपनीं दुर्दशा के कारण रूप किसी दूसरे को भागीदार बनाकर सन्ताप करता है। ऐसी दशा में विधाता, दैव, काल, कर्म आदि इस प्रकार के तत्त्व हैं जिनको भागीदार बनाने में किसी प्रकार की अपत्ति की सम्भावनां नहीं होती। ये सभी तत्त्व काल्पनिक हैं या यथार्थ इस पर विचार करने

की न तो आवश्यकता होती है और न अवकाश ही, क्योंकि शोक की अवस्था में बुद्धि सर्वथा निष्क्रिय होती है। विवेकशील व्यक्ति जीवन के कठोर सत्य को समझता है अतः वह उसकी अनिवार्यता को जानते हुए किसी पर दोषारोपण करना व्यर्थ मानता है। माता कौशल्या धैर्यवान्, विवेकशीला नारी है विपत्ति में भी उसकी प्रज्ञा सजग रहती है, उसमें हृदय और बुद्धि का अद्भुत सन्तुलन है, जीवन की यथार्थता को व्यक्त करती है-

**कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू।।**
**कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुख असुभ सकल फल दाता।।**
**ईस रजाइ सीस सबही कें। उतपति थिति लय बिषहु अमी कें।।**
**देबि मोह बस सोचिअ बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।।**

**(रा० २/२८२-३ से ६)**

इन अर्द्धालियों में पीड़ित हृदय का प्रलाप नहीं, आस्तिक की आस्था का विवेचन है। यह सजग बुद्धि का निर्णयात्मक सिद्धान्त है जो मनुष्य को जीवन के प्रति निश्चित दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करता है। मोहवश विधाता को कोसना व्यर्थ है। दुःख-सुख, हानि-लाभ यह सब कुछ कर्म के अधीन है। कर्म-सिद्धान्त अटल सत्य है ' अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' शुभ और अशुभ किये कर्मों को अवश्य ही भोगना होता है। तत्त्व बोध हो जाने पर भले ही 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं किन्तु सभी लोग तत्त्वज्ञ नहीं होते-

**कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।।**

**(रा० ७/५४-३)**

हज़ारों में कोई एक धर्मात्मा होता है, करोड़ों धर्मात्माओं में कोई सही रूप से विरक्त होता है और करोड़ों विरक्तों में किसी एक को सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे ज्ञानी के लिए ही कहा गया है- 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि।' उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। गीता का भी यही मत है-

**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।**

**(गीता ४/३७)**

किन्तु विधि प्रपंच में बहुतायत ज्ञानियों, तत्त्वज्ञों की नहीं है, यह तो अधिकांश प्रकृति प्रवाह में जीवनयापन करने वाले ही होते हैं। अतः कर्म चक्र में ही उनके जीवन का विधान होता है। शुभकर्मों के फल रूप में सुख तथा अशुभ

कर्मों के परिणाम में दुःख की प्राप्ति होती है। यह कर्म व्यवस्था जगत् के नियन्ता के दिव्यविधान का परिणाम है। यहाँ कोई किसी को दुःख-सुख देने में समर्थ नहीं, सभी प्राणी स्वकर्मानुसार ही दुःखी व सुखी होते हैं-

करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सबु कोई।।
(रा० २/७७-८)

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।
(रा० २/९७-५)

ये बातें केवल मन को ढाढस बँधाने के लिए ही नहीं हैं, हिन्दू जीवन के ये अटल सिद्धांत एवं अकाट्य सत्य हैं। माता का कहना है कि कर्म-व्यवस्था को अटल मानते हुए किसी को दोष देना उचित नहीं है विधाता का भी इसमें कोई दोष नहीं, वह भी इस में कोई फेरबदल नहीं कर सकता। वह सर्वज्ञ होने से कर्म की कठिन गति को जानता है और तदनुसार सुख-दुःख की व्यवस्था देता है। विधाता की स्थिति न्यायधीश के समान है, वह पुण्यात्मा के लिए धर्मराज तथा पापात्मा के लिए यमराज के रूप में दिखाई देता है। फलदाता विधाता जीव के कर्मानुसार ही व्यवस्था करता है। उसकी बुद्धि न तो कुटिल है और न भोरी ही। यह जगत एवं जीवन केवल क्रीड़ा मात्र ही नहीं हैं, प्रयोजन पूर्ण हैं। उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, विष तथा अमृत इन सभी के ऊपर ईश्वर की आज्ञा कार्य करती है अर्थात् इन सब के मूल में ईश्वरीय दिव्य विधान ही कारण है। हे देवी ! मोह के वशीभूत होकर ही जीव शोक करता है, अतः शोक करना व्यर्थ है। विधि प्रपंच यह प्रवाह रूप से अचल तथा अनादि है। इसका प्रारम्भ तथा अन्त नहीं है। यह है-

सूर्यचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत।
दिवञ्चपृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।।

विधाता ने जैसे पूर्व कल्प में अर्थात् सृष्टि-क्रम में सूर्य, चन्द्र हुए थे उसी प्रकार से इस कल्प में भी उत्पन्न किया । उसी प्रकार द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाशादि लोक में सभी को उत्पन्न कियां। वेद की यह घोषणा हिन्दू अपने प्रातः सायं की सन्ध्या में दुहराया करता है। इसी सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन यहाँ पर देवी कौशल्या कर रही है। जगत् सत्य है, अचल है प्रवाह रूप में। इसे मिथ्या भ्रम समझना स्वयं में ही एक बड़ा भारी भ्रम है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि ईश्वर को सृष्टि, पालन, प्रलय के व्यापार से विलग रखा गया है, केवल उसका विधान ही इन सारी क्रियाओं का नियमन करता है। इसे ही यहाँ पर 'ईस रजाई'

कहा गया है। देवी कौशल्या की दृष्टि यथार्थ है उनका कहना है-

**भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी।।**

**(रा० २/२८२-७)**

महाराज की मृत्यु और जीवन की बात को हृदय में स्मरण करके जो चिन्ता करनी है, हे सखी ! वह तो हम अपने हित की हानि के लिए ही करती हैं। आखिर हम मृत व्यक्ति के लिए क्यों चिन्ता करते हैं? क्या उसके हित के लिए? नहीं, बिल्कुल नहीं। वह तो केवल अपने हित को दृष्टि में रखकर व अपने स्नेही सम्बन्धी के हित को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। शरीर का त्याग करने वाली आत्मा का तो हित-अहित उसके अपने कर्मानुसार ही होना है। हाँ, यदि अन्य लोग भी उसकी हितेच्छा से कोई दान-पुण्यादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करते हैं तो वह भी उसके हित में सहायक होता है किन्तु रोने आदि से उसका कोई हित नहीं होता। यह तो उसके अभाव में अपने सधने वाले सुख में जो बाधा आती है उसी के लिए व्यक्ति दुःखी होता है, शोक करता है किन्तु कुछ ऐसी दुर्घटनाएँ हो जाती हैं जिनको देखकर मानव हृदय द्रवित होकर कराह उठता है चाहे उससे उसका कोई स्वार्थ या सम्बन्ध न हो तो भी ऐसा कभी-कभी हो जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सर्वांशतः मानव स्वार्थी ही नहीं होता, उसके पास प्राकृतिक विधान से करुणामय हृदय मिला हुआ है जो दुर्घटनाओं को देखकर द्रवित हुए बिना रह ही नहीं सकता। गहराई से देखने पर उस करुणा की अवस्था में भी स्वहित का ही प्रमुख स्थान होता है। यहाँ पर महाकवि ने 'हित' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ को दृष्टि में रखकर ही किया है। मनुष्य जब किसी अप्रिय व दुःखद घटना को देखता है तो उसका संवेदनशील हृदय व्यथित हो जाता है। अपने हृदय की वेदना को दूर करने के लिए ही तब वह कुछ करने को तत्पर होता है, सामर्थ्य होने पर उसके निवारण में प्रवृत्त होता है और असमर्थ होने पर पीड़ामुक्त होने के लिए विवशता पर हाथ मींजते हुए आँसू बहाता है। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं से उसको स्वयं में सन्तोष तथा शान्ति मिलती है, यही स्व का हित है। किन्तु यहाँ पर महाराज दशरथ के सम्बन्ध में शोक की बात है जिनकी उपस्थिति में प्रियजन, परिजन और प्रजाजन के सुख का सीधा सम्बन्ध था, उनकी मृत्यु स्वभावतः उनके लिए एक महान् दुःखद दुर्घटना है। माता कौशल्या का कथन है कि यह शोक तथा संताप महाराज के लिए नहीं अपने हित की चिन्ता से समुद्भूत हुआ है। उनके युक्ति-युक्त यथार्थवादी विचारों को सुनकर देवी सुमित्रा ने कहा-

सीय मातु कह सत्य सुबानी। सुकृती अवधि अवधपति रानी।।

(रा० २/२८२-८)

आप पुण्यात्माओं की सीमा महाराज अवधेश की रानी हैं, आपका कथन उत्तम और सत्य है अर्थात् ऐसा ही होना चाहिए। सत्यसंघ रघुकुल की महारानी का कथन सर्वथा प्रमाणिक एवं यथार्थ होना ही उचित है। देवी कौशल्या अपनी आन्तरिक व्यग्रता के कारण को स्पष्ट करती हुई कहने लगी कि मुझे राम, सीता, लक्ष्मण के वन-गमन व महाराज के स्वर्गवासी होने की चिन्ता नहीं- 'गहबरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोच' दुःख भरे हृदय से कहती है कि मुझे चिन्ता केवल भरत की है। कारण इसका राम के प्रति भरत का अगाध प्रेम है। जिस प्रकार दूध से जला व्यक्ति छाछ को भी फूँक-फूँककर पीता है उसी प्रकार राम के प्रेम में महाराज ने तड़फते हुए शरीर का त्याग कर दिया- 'तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम' यह सब कौशल्या के सामने ही हुआ है। राम के प्रति भरत का प्रेम उनसे कम नहीं है। माँ का हृदय अनिष्ट की आशंका से भयभीत हो जाता है। भरत की महिमा का गान करती हुई जनकराज महिषी से कहती है-

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी।।
राम सपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सति भाऊ।।
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे।।

(रा० २/२८३-१ से ४)

ईश्वरीय अनुकम्पां तथा आपके आशीर्वाद से पुत्र-पुत्रवधुएँ गंगाजल के समान परम पवित्र हैं। पवित्र परिवार ईश्वरीय प्रसाद से ही प्राप्त होता है। परिवार की पवित्रता का लक्षण है कि उसमें सभी अपने कर्त्तव्य की तरफ ही देखते हों। प्रायः होता यह है कि अधिकार अपना तथा कर्त्तव्य दूसरे का ही देखा जाता है। जहाँ जिस किसी परिवार व समाज में इस वृत्ति का विकास हुआ वहाँ विग्रह का जन्म होकर सम्पूर्ण सदस्यों को विनाश की दिशा में झोंक देता है क्योंकि यह कुमतिजन्य वृत्ति है, इसका परिणाम सदैव विपत्ति और विनाश ही होता है- 'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।' किन्तु जिस परिवार व समाज में अपने कर्त्तव्य तथा दूसरे के अधिकार की सुरक्षा की सद्भावना होती है वहाँ सदैव सुख- समृद्धि का ही साम्राज्य छाया रहता है क्योंकि यह सद्भावना सुमति का परिणाम होता है और- 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।' सुमति सम्पन्न परिवार ही पवित्र परिवार है। उसका

संक्षेप में यही स्वरूप है कि सभी सदस्य अपने कर्त्तव्य तथा दूसरों के अधिकार का ही चिंतन करते हैं। तदनुसार ही उनका जीवन-व्यापार चलता है। महाकवि ने राम परिवार को भारत के आदर्श आर्य-परिवार के रूप में ही प्रस्तुत किया है जिसमें सभी सदस्य पवित्र परिवार के आदर्श सूत्र के अनुसार ही आचरण करते हैं। दशरथ, राम, सीता, कौशल्या, सुमित्रा, भरत, लक्ष्मण, शत्रुसूदन आदि सभी सदस्य भूलकर भी कभी अपने अधिकार तथा दूसरे के कर्त्तव्य की ओर नहीं निहारते। माता कौशल्या का ही जीवन ले लीजिए। राम वन जाने की आज्ञा लेने आये हैं, माँ सोचती है कि मैं अपने अधिकार का प्रयोग करूँ तो पुत्र को रख लूँ किन्तु उसे अपने कर्त्तव्य तथा साथ ही कैकेई के अधिकार का ध्यान आता है और वह राम को कहती है कि यदि केवल पिता की ही आज्ञा हो तो माता को श्रेष्ठ समझकर वन में न जाओं, किन्तु यदि माता-पिता दोनों ने कहा है तो तुम सुख पूर्वक चले जाओ। माँ को अपने कर्त्तव्य तथा सपत्नी और पति के अधिकार की चिन्ता है। यही स्थिति हम सभी सदस्यों की देखते हैं इसलिए माँ कह रही है- मेरे पुत्र और पुत्रवधुएँ सभी गंगाजल के समान पवित्र और शीतल हैं। मैंने राम की शपथ कभी नहीं की है सो आज राम की शपथ करके सत्यभाव से कहती हूँ - शपथ करने की इसलिए आवश्यकता अनुभव हुई कि कहीं जो बात कही जा रही है उसे प्रशंसात्मक ही न समझ लिया जाये। बात इतनी महान् है कि सामान्य बुद्धि का व्यक्ति उस पर अविश्वास प्रकट करते हुए उसे केवल मात्र अर्थवाद व मिथ्या प्रशस्ति ही मान सकेगा। अतः राम शपथ उसकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए ही माँ ने की है। कहना यह है कि भरत के शील, गुण, नम्रता, बड़प्पन, भाईपन,भक्ति, भरोस और अच्छेपन का वर्णन करने में सरस्वती की बुद्धि भी हिचकती है। यह उसी प्रकार उसके लिए असम्भव है जैसे सीपी से सागर का उलीचा जाना।

यहाँ पर भरत में ऊपर बताई हुई आठ बातें आठ समुद्र के समान हैं। इनमें से एक-एक का वर्णन करना भी शारदा के बूते की बात नहीं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सीपी से एक समुद्र का भी कभी उलीचा जाना सम्भव नहीं है। भरत चरित्र के पूरे प्रसंग में इन तत्त्वों का महाकवि ने विस्तृत वर्णन किया है किन्तु वह तो स्वतन्त्र एक निबन्ध का विषय है। माता आगे कहती है-

जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा।।
कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समयँ सुभाएँ।।
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेहँ सयानप थोरा।।

सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी।।

(रा० २/२८३-५ से ८)

सखी ! मैं भरत को कुल का दीपक जानती हूँ और राजा ने भी मुझे बार-बार यही कहा था। कुल दीपक वही होता है जो उसको अन्धकार की स्थिति में प्रकाशित करे व जो कुल के गौरव के प्रकाश को विश्व में फैलावे। भरत के साथ ये दोनों ही भाव घटित होते हैं। उन्होंने परिवार को घोर अंधकारमय स्थिति में प्रकाश दिया और सूर्यकुल की कीर्ति चन्द्र को विश्व क्षितिज पर उदित मानव मात्र को शीतल आलोक प्रदान किया है यथा 'कीरति बिधु तुम कीन्हि अनूपा'। यह ध्रुव सत्य है कि सोना कसौटी पर कसे जाने पर तथा रत्न पारिखी के हाथ लगने पर ही पहचाना जाता है उसी प्रकार मनुष्य की परीक्षा भी समय पड़ने पर उसके स्वभाव को देखकर ही होती है। अनुकूलता में सभी महात्मा व धर्मात्मा होते हैं विपत्ति काल में भी यदि वह धर्मभाव स्थिर रहे तभी उसकी सही धर्मनिष्ठा व आत्मनिष्ठा कही जा सकती है। हित-अनहित, शत्रु तथा मित्र की पहचान भी विपत्ति काल में ही हुआ करती है। महाकवि काली दास ने भी यह कहा है -"विकार हेतौ सतिं विक्रियन्ते एषा न चेतांसि तेवधीरा।" विकार के कारणों के उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता वे ही धीर पुरुष होते हैं। महात्मा भरत पितृ-प्रदत्त राज्य को तिनके के समान त्याग अपने कर्त्तव्य में रत है। उनके पवित्र प्रेमयुक्त जीवन को त्रिलोकी धन्य-धन्य कह रही है। भरत की परीक्षा को अग्नि परीक्षा से कम नहीं कहा जा सकता, किन्तु इससे खरे सोने की भाँति उनकी जीवन आभा और भी कई गुणा अधिक रूप से विश्व में प्रकट हुई। महाकवि कहते हैं -

कनकहि बान चढइ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निभाहें।।

(रा० २/२०५-४१)

देवी कौशल्या कहती है कि आज मेरा ऐसा कहना भी अनुचित है क्योंकि शोक और स्नेह में सयानापन कम हो जाता है, यह बात बिल्कुल सत्य है। शोक और स्नेह ये दोनों ही हृदय की विशिष्ट अवस्थाएँ हैं जिसमें कि व्यक्ति विह्वल हो जाता है और हृदय की तीव्र गतिविधियों में बुद्धि शिथिल सी हो जाती है और उस समय केवल हृदय की अनुगामिनी के रूप में ही वह सक्रिय होती है इसलिए उसमें सयानापन अर्थात् विवेक कम होता है। अभिप्राय यह है कि मेरी बातों को शोक व स्नेहजन्य विह्वलता का ही परिणाम समझा जायेगा, अतः मेरा ऐसा कहना है कि भरत कंचनवत् खरे उतरे हैं इस काल की परीक्षा में, यह उनकी स्नेहवश की गई

बड़ाई ही समझी जाएगी। सुरसरी के समान कौशल्या की पावन वाणी सुनकर सभी रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो गईं-

कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि।।

(रा० २/२८३)

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई।।
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन। जो यह मत मानै महीप मन।।
तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी।।
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं।।

(रा० २/२८४- १ से ४)

माता अपनी आन्तरिक आशंका को प्रकट करते हुए महाराज मिथिलेश के समक्ष एक सुझाव रखने को कह रही है 'विदेह स्वयं विवेकनिधि हैं, उनकी वल्लभा को उपदेश देना दिन में दीपक दिखाने के सदृश्य ही कहा जाऐगा।' इसलिए महारानी कह रही है कि आपको उपदेश देने की सामर्थ्य किस में है? एक आवेदन अवश्य करना है कि आप अवसर पाने पर एकांत में महीपति से अपनी ओर से समझाकर अवश्य कहेंगी कि लक्ष्मण को घर रख लिया जाय और भरत राम के साथ वन को चले जाएँ। यदि यह राह राजा के मत में ठीक लगे तो भलीभाँति विचार कर ऐसा प्रयत्न करें क्योंकि मुझे भरत का अत्यन्त सोच है। भरत के हृदय में राम के प्रति गूढ़ स्नेह है अतः उसके घर रहने में मुझे भलाई नहीं दिखती। राम के प्रति प्रेम में ही महाराज का प्राणांत हो चुका है। प्रेमविरह की दस दशाओं में अन्तिम दशा मरण की है। माता ने भरत को नवम दशा मूर्च्छा की अवस्था तक में पहुँचते हुए देखा है और बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण कर उनको सम्भाला है। अब उसे यही चिन्ता है कि राम वियोग में कहीं वे दसवीं दशा को प्राप्त न हो जाएँ। राम का लौटना असम्भव है, माता के शब्दों से भी यह ध्वनित हो रहा है कि लौटना उसे भी अभीष्ट नहीं है। इसलिए वह सुझाव देती है कि भरत का राम के साथ जाना तथा लक्ष्मण का अवध रहना ही हितप्रद होगा-

लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइ मगन करुन रस सानी।।
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेहँ सिद्ध जोगी मुनि।।

(रा० २/२८४-५,६)


कौशल्या का स्वभाव देखकर उनकी सरल वाणी को सुनकर सभी

रानियाँ करुणा में निमग्न हो गईं। सिद्ध, योगी तथा मुनिगण स्नेह से शिथिल हो आकाश में धन्य-धन्य कहते हुए कौशल्या पर सुमन वृष्टि करने लगे।

यह सुमन वृष्टि की प्रक्रिया गोस्वामी जी को पौराणिक जगत से प्राप्त हुई है। जगह-जगह पर इसका प्रयोग देखकर कई आलोचक ऊबते हुए दिखाई देते हैं किन्तु गोस्वामी जी अपने महाकाव्य की भूमिका में ही 'नाना पुराण निगमागम' की सम्मति व्यक्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं, इस पर ध्यान देना चाहिए। काव्य की दृष्टि से उन अवसरों पर ही महाकवि सुमन वृष्टि का आयोजन करते हैं जहाँ पर उन्हें किसी विशेष स्थिति में अद्‌भुत रस की उद्‌भावना करनी होती है। राज महिषियों की इस गोष्ठी में कौशल्या के हृदय और बुद्धि संतुलित विचार या यो कहिए कि भाव मिश्रित विवेक की अभिव्यक्ति स्वयं में अद्‌भुत है अतः ऐसे अवसर पर सिद्ध, मुनि, योगी द्वारा धन्यवाद के साथ सुमन वृष्टि की योजना उचित ही है। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ पर प्रसून वृष्टि देवताओं से नहीं कराई गयी, सिंद्ध, योगी और मुनिगण ही इसमें भाग ले रहे हैं कारण कि भाव एवं विवेक के संतुलन की महिमा को वे ही लोग जानते हैं।

सारा रनिवास विथकित हो, निंस्तब्ध हो देखता ही रह गया। तब धैर्य धारण कर सुमित्रा ने कहा कि देवी अब दो घड़ी रात बीत चुकी है। इतना सुनते ही राम की माता सप्रेम उठ खड़ी हो गई। यह लोकमत की मान्यता है कि यदि अफसोस करने किसी के यहाँ जाया जाये तो आगन्तुकों से पहले घर वालों को उठना चाहिए इसीलिए गोस्वामी जी ने यहाँ इस प्रकार की योजना की है-

**सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्राँ कहेऊ।।**
**देबि दण्ड जुग जामिनि बीती। राम मातु सुनि उठी सप्रीती।।**
**बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेहँ सतिभाय।**
**हमरें तौ अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय।।**

**(रा० २/२८४-७,८)**

प्रेम और सद्‌भाव से कौशल्या कितनी विनम्रता प्रकट करती है। 'अब आप शीघ्र ही डेरे पर पधारियें' हमारे तो अब ईश्वर का ही भरोसा है अथवा मिथिलेश्वर ही सहायक हैं। कौशल्या की विनम्रता को देख जनकराज महिषी ने उनके पुनीत चरण पकड़ लिए-

**लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनक प्रिया गह पाय पुनीता।।**
**देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घरिनि राम महतारी।।**

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।।
सेवकु राउ करम मन बानी। सदा सहाय महेसु भवानी।।
रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै।।

(रा० २/२८५- १ से ५)

महिला गोष्ठी का यह शिष्ठ सम्वाद मानस में बेजोड़ है। इसकी योजना कर महाकवि ने एक ऐसे नारी-समाज का आदर्श व्यक्त किया है जिसकी उच्चता के समक्ष सिद्ध, योगियों, मुनियों को भी नत-मस्तक होना पड़ा है। केवल राम माता नहीं सीता माता का भी बौद्धिक वैभव तथा विनम्रता अतुलनीय है। 'प्रभु अपने नीचहु आदरहीं' के प्रमाण में अग्नि का धूम और पर्वत के तृण धारण की उपमा कितनी सटीक है। 'दीप सहाय कि दिनकर सो हैं' यह सुनयना का कथन विनम्रता की सीमा है। कौशल्या की इस विनम्रता को वह अवधेश की प्रियतमा तथा राम की महतारी के अनुकूल ही समझती है। विदेह तो मन, वचन, कर्म से सेवक हैं। सहायता तो जगत् मातपितु महेश्वर और भगवती ही सदैव करेंगे, यह कितनी प्रबल आस्था है। अन्त में एक गुप्त रहस्य का उद्घाटन करते हुए सुखद भविष्य की महत्ता को देवी सुनयना ने प्रकट किया जो कि उनको अपने गुरु याज्ञवल्क्य से ज्ञात हुआ था-

रामु जाइ बनु करि सुर काजू। अचल अवधपुर करहहिं राजू।।
अमर नाग नर राम बाहुबल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल।।
यह सब जागबलिक कहि राखा। देबि न होइ मुधा मुनि भाषा।।
अस कहि पग परि पेम अति सिय हित बिनय सुनाइ।
सिय समेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ।।

(रा० २/२८५- ६ से ८)

गुरु के वचनों पर प्रत्यक्षवत् विश्वास होना यह शास्त्र की आज्ञा है। अतः याज्ञवल्क्य की बात कभी व्यर्थ नहीं हो सकती। राम वन में सुरकाज करने आये हैं, वह कार्य है 'दुष्टता का दमन' उसे करके वे अवध में अविचल राज्य की स्थापना करेंगे। देवता, नाग एवं मनुष्य सभी अपने-अपने स्थान पर सुखपूर्वक निवास करेंगे, जिससे त्रिलोकि में आनन्द का वातावरण होगा, यही महामुनि का कथन है जो कभी मिथ्या नहीं हो सकता। ऐसा कहते हुए कौशल्या की चरण-वन्दना कर सीता को साथ ले जाने की आज्ञा माँगी और सुआयुस पाकर सीता के सहित सीता की माँ अपने स्थान पर लौट आईं दोनों परिवारों की

महिलाओं का शिष्टाचार नारी जाति के लिए अनुकरणीय है। इन महिलाओं के जीवन में प्रेम, बोध, आस्था, विश्वास, विनम्रता एवं सजगता का कितना उत्तम समन्वय है, यह मननीय है। अपनी इस अमरकृति में महाकवि ने इस प्रसंग की सर्जना में कितनी सूझबूझ से काम लिया है, वह पाठक तथा चिन्तक को विमुग्ध कर देती है। आदर्श तथा सुसांस्कृतिक आर्य परिवार की देवियों का कितने उज्ज्वल चरित्र का यहाँ चित्रण किया गया है, वह देखते ही बनता है। इस प्रकार के शिष्ट चरित्र से युगों तक नारी-समाज अपने जीवन-निर्माण में सद्प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा इस में संदेह नहीं। इसी प्रकार की देवियों को राम और सीता जैसी संतानों को जन्म देने का गौरव प्राप्त होता है। इस प्रसंग की योजना में महाकवि का यही अभिप्राय है। ऐसी देवियों के प्रति गोस्वामी जी नत्-मस्तक हो सदैव शत्-शत् प्रणाम समर्पित करते हैं।

आगे हम देखते हैं जैसे कि महारानी कौशल्या ने कहा था, देवी सुनयना ने अवसर पाकर मिथिलेश से कौशल्या की चिन्ता प्रकट की, किन्तु राजर्षि ने इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता बताते हुए कहा-राम और भरत के विषय में मेरा कुछ भी कहना सम्भव नहीं दिखाई देता कारण कि उन दोनों महात्माओं की 'प्रीति परतीति जाइ नहिं तरकी'। प्रेम और विश्वास मेरी बुद्धि के परे हैं। अन्तिम सभा में महात्मा भरत ने स्वयं को सेवक के रूप में श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दिया। सच्चे सेवक का धर्म है स्वामी की आज्ञा का पालन करना। सेवा धर्म के इस महान् स्वरूप को भरत भलि-भाँति जानते हैं। राम ने आदेश दिया 'सेवहु सवध अवंध भरि जाई' महान् उलझन क्षण मात्र में ही सुलझ गई। शिष्ट परिवार का ऐसी सम्वाद विश्व साहित्य में दुर्लभ है। माता कौशल्या की चिन्ता दूर हो गई, जैसे गई थी वैसे ही पुत्र वियोगिनी की दशा में ही अयोध्या लौट आई। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि भरत के अमंगल की आशंका अब नहीं रही। माता कौशल्या का नारी-धर्म मातृत्व पर हावी हो गया, विवेक का आश्रय लेकर माता ने विधि प्रपंच की अचलता को स्वीकार कर स्वयं को ढाँढस बँधाया, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि विवेक ने उनके हृदयगत वात्सल्य की हत्या कर दी। राम वियोगिनी कौशल्या की दयनीय दशा का वर्णन महाकवि ने अपनी गीतावली में किया है। पाठक को वहाँ ही पूर्ण रूप से उसका दर्शन करना चाहिए। पुत्र वियोगिनी माता की दशा का केवल दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए मैं यहाँ पर एक दो पद उद्धृत करूँगा।

राम रहित अयोध्या सारी श्रीविहीन हो गई है। राजमहल की दशा तो और भी शोचनीय है। पुत्र स्नेह विह्वला माता कौशल्या की दशा इतनी दयनीय है जिसका वर्णन करना सम्भव नहीं। जब वह अपने उस भवन में जाती है जहाँ पर राघव के बाल-काल की क्रीड़ा के धनुष बाण तथा कई अन्य प्रकार की वस्तुएँ पड़ी हुई हैं तो उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है, राम की स्मृति प्रबल हो जाती है। पुत्र वियोग की व्यथा से विदग्ध माँ व्याकुल हो उन वस्तुओं को उठाकर बिलखने लगती है। महाकवि लिख रहे हैं-

**जननी निरखति बार-धनुहियाँ।**
**बार बार उर-नैननि लावत प्रभुजूकी ललित पनहियाँ।।**
**कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सँवारे।**
**उठहु तात ! बलि मातु बदनपर, अनुज-सखा सब द्वारे।।**
**कबहुँ कहति यों, बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ, भैया।**
**बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावरि मैया।।**
**कबहुँ समुझि बन-गवन रामको रहि चकि चित्र लिखी-सी।**
**तुलसिदास वह समय कहेतें लागति प्रीति सिखी-सी।।**

**(गीतावली २/५२)**

अधीर हृदया माता श्री राघव के क्रीड़ा के धनुष वाण उठाकर निरखती है और उनकी सुन्दर छोटी-छोटी पनहियों को उठाकर हृदय और नेत्रों में लगाती है। कभी पहले की भाँति प्रातः काल शयनागार में जाकर प्रिय वचन कह कर जगाने लगती है, हे तात ! उठो, मुख चन्द्र पर माता बलिहारी जाती है। देखो ! सारे अनुज और सखागण द्वार पर खड़े हैं और कभी कहती है -भैय्या ! बहुत विलम्ब हो गया है, महाराज के पास जाओ और अपने बन्धुओं को बुलाकर जो रुचिकर हो सो भोजन करो, माता न्यौछावर जाती है। कभी राम का वनगमन स्मरण कर चकित हो चित्रलिखित सी रह जाती है अर्थात् स्तब्ध हो जाती है। तुलसीदास कहते हैं उस समय की दशा का वर्णन करने से तो प्रीतिं सीखी हुई सी अर्थात् अयथार्थ सी ज़ान पड़ती है क्योंकि माँ के वात्सल्य प्रेम की यथार्थ दशा तो अवर्णनीय है।

माँ की कितनी करुण दशा है जिस पुत्र को वह पल भर के लिए भी दूर करना नहीं चाहती थी वह चौदह वर्षों के लिए आँखों से ओझल कर दिया गया है और इतना ही नहीं दैव की क्रूरता तो देखिये उस कठोर कानन की विषम परिस्थिति में रहने को भी बाध्य किया गया है। वह राज्य प्रासाद जो सदैव मंगल

गान से गूँजता रहता था, चारों ओर चहल-पहल बनी रहती थी अब उसी को श्री विहीन देख माँ व्याकुल हो जाती है। महाकवि के शब्दों में -पुत्र वियोगिनी माता कौशल्या जब-जब राज भवन को सूना देखती है तब-तब व्याकुल हो जाती है। उसका दुःख दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। वह श्रीराम की मुनि मनहारी बाल क्रीड़ाओं को याद करती है और सुकुमार चरण कमलों को राज मन्दिर के आँगन में ही विचरने वाले समझ कर उसके हृदय में बड़ी पीड़ा होती है। वह मन ही मन कहती है -अरी मैय्या! अब प्रातः काल होते ही कलेऊ माँग कर, उसके मिलने पर विलम्ब होने पर कौन रूठकर भागेगा और श्यामकमल सदृश नेत्रों से जल बहते देखकर मैं किसे हृदय से लगाऊँगी? अब यदि मैं जीऊँगी तो रात-दिन दुःख सहना पड़ेगा और यदि मर गई तो हृदय में यह पश्चाताप रह जायेगा कि वन को जाते समय मैं नेत्र भर कर राम का मुख भी न देख सकी। यह दशा बड़ी ही दुसह्य है, बड़ी ही दारुण विरह है। माँ कहती है ऐसा कौन है जो अमित कृपा के बिना मेरे इस शोक जनित रोग को दूर कर सके। इस दारुण विरह वेदना का अन्त तो राम की सुन्दर श्याम छटा देखने पर ही हो सकेगा किन्तु शीघ्र तो इसकी आशा नहीं है। माँ सोचती है यहाँ से वनगमन के समय तो पतिधर्म के पालनार्थ राम के साथ नहीं जा सकी किन्तु अब तो महाराज भी नहीं रहे फिर चित्रकूट से ही क्यों लौट आई ? किन्तु अब क्या किया जा सकता है-

**हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।**
**लगी न संग चित्रकूटहुतें, ह्यौं कहा जात बह्यो।।**
**पति सुरपुर, सिय-राम-लषन बन, मुनिव्रत भरत गह्यो।**
**हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो।।**
**मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।**
**तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत, क्यों कछु परत कह्यो।।**

**(गीतावली २/८४)**

मेरे हाथ में तो हाथ मलना ही लगा है। भला, मेरे बिना यहाँ अयोध्या में क्या नष्ट हो रहा था जो मैं चित्रकूट से भी राम के साथ नहीं गई। पति स्वर्गवासी हो गये,राम-लक्ष्मण-सीता वन में जा बसे और भरत ने भी मुनि व्रत धारण कर लिया किन्तु मैं मशान की अग्नि के समान घर में ही रह गई। मैंने तो मानो मृत्यु रूप मृतक को ही जला डाला है अर्थात् अब मुझे मौत भी नहीं आ सकती। विधाता को मेरा ही हृदय कठोर बनाने के लिए कहीं वज्र मिल गया था। हाय! मैं

पुत्र को वन में पहुँचा कर लौट आई, ऐसी अवस्था में कुछ भी क्या कहा जा सकता है।

यथार्थतः स्थिति बड़ी भयानक है। पति का स्वर्गवास, राम-लक्ष्मण-सीता का वनवास, उस पर भी भरत का मुनिव्रत धारण, यह सब होने पर भी माँ को अपने जीवित रहने पर महान क्षोभ है। वह कहती है मैं मशान की अग्नि के समान निष्प्रयोजन ही यहाँ पर जल रही हूँ मानो मृत्यु रूप मृतक को ही जला डाला है अर्थात् मेरे लिए मृत्यु भी नहीं आती । कितनी व्यथा है माँ को ! कभी-कभी सोचने लगती है-

**कैकेयी करी धौं चतुराई कौन ?**
**राम-लखन-सिय बनहि पठाए पति पठए सुरभौन।।**
**कहा भलो धौं भयो भरतको, लगे तरुन-तन दौन।**
**पुरबासिन्हके नयन नीर बिनु कबहुँ तो देखति हौं न।**
**कौसल्या दिन राति बिसूरति, बैठि मनहिं मन मौन।**
**तुलसी उचित न होइ रोइबो, प्रान गए सँग जौ न।।**

**(गीतावली २/८३)**

कैकेई ने भला क्या चतुराई की? व्यर्थ ही राम-लक्ष्मण और सीता को वन में भेजा और पति को भी देव लोक पहुँचा दिया, इससे भरत का भी क्या लाभ हुआ? तरुणावस्था में ही इसके शरीर में दावाग्नि लग गई। इसके सिवा पुरवासियों के नेत्र भी मुझे कभी अश्रुहीन दिखाई नहीं देते। इस प्रकार पुत्रवियोगिनी माँ कौशल्या दिन-रात चुपचाप बैठी मन ही मन खिन्न होती रहती है और सोचती है कि यदि हमारे प्राण राम के साथ नहीं गये तो हमारे लिये रोना उचित नहीं है।

बात बिल्कुल ठीक है। आखिर कैकेई को इस करतूत से कलंक के सिवा और क्या हाथ लगा ? ऐसा ही हाल होता है उन लोगो का जो अहंता में आकर प्रियजनों गुरुजनों की सीख नहीं सुनते। आखिर नीच की संगति का परिणाम यही तो होना था। इस अनर्थकारी घटना के परिणाम में कैकेई ने ही कौन से सानन्द दिन व्यतीत किये। राजमहल ही नहीं सम्पूर्ण आयोध्या की ही स्थिति शोचनीय है। नर-नारियों की तो बात ही अलग है। पशु-पक्षी भी राम वियोग में व्याकुल हैं। राम के घोड़ों की दशा को देखकर तो माँ अत्यन्त व्याकुल हो जाती है और अधीर हो पुकारने लगती है-

**राघौ ! एक बार फिरि आवौ।**

ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहि सिधावौ।।
जे पय प्याइ, पोखी कर-पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाडिले ! ते अब निपट बिसारे।।
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिम-मारे।।
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मात-सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिनतें इन्हको बड़ो अँदेसो।।

(गीतावली २/८७)

हे राघव ! तुम एक बार तो अवश्य ही लौट आओ, अपने इन श्रेष्ठ घोड़ों को देखकर फिर वन में चले जाना। जिन्हें तुमने दूध पिलाकर अपने ही कर-कमलों से पुष्ट कर बारम्बार चुचकारा था। मेरे लाड़िले राम वे अब अत्यन्त भुला देने से कैसे जीवित रह सकेंगे ? तुम्हारे अत्यन्त प्रिय जानकर यद्यपि भरत इनकी सौ गुणी सम्भाल रखते हैं तो भी हिम के मारे हुए कमल के समान ये दिनोंदिन निर्बल होते जा रहे हैं। अरे पथिको सुनों! यदि तुम्हें वन में राम मिल जाएं तो तुम उन्हें माता का यहीं संदेश कहना कि मुझे सबसे बढ़कर इन घोड़ों की ही चिन्ता है।

इस प्रकार पुत्रवियोगिनी माता ने गिन-गिन कर चौदह वर्ष की सुदीर्घ अवधि के दिन काटे हैं। माँ की अन्तर पीड़ा की कवि कल्पना भी क्या कर सकता है। जैसे-जैसे अवधि के दिन निकट आते जा रहे हैं माँ की व्याकुलता आतुरता में परिवर्तित होती जा रही है। वह नित्य प्रति मन ही मन अपने लाडिले लाल को नयन भर निहार कर आलिंगन की कल्पना में ही निमग्न हो जाती है। वनवास की अवधि समाप्त होने वाली है। माँ की आन्तरिक अवस्था का दृश्य प्रस्तुत करते हुए महाकवि लिखते हैं-

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग ! फुरि बाता।।
दूध-भातकी दोनी दैहौं सौने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय-सहित बिलोकि नयन भरि राम-लखन उर लैहौं।।
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी।
गनक बोलाइ, पाँय परि पूछति प्रेम मगन मृदु बानी।।
तेहि अवसर कोउ भरत निकटतें समाचार लै आयो।

प्रभु-आगमन सुनत तुलसी मनो मीन मरत जल पायो।।

(गीतावली ६/१९)

माता बैठी-बैठी सगुन मना रही है, काक से सम्बोधित करते हुए कह रही है, अरे काक! सच्च-सच्च बता मेरे बाल कुशलपूर्वक कब मेरे घर आयेंगे? जिस समय मैं नेत्र भरकर सीता के सहित राम और लक्ष्मण को देखकर हृदय से लगाऊँगी, उस समय मैं तुझे दूध भात का दोना दूँगी और तेरी चोंच सोने से मढ़वा दूँगी। फिर वनवास की अवधि समीप ही जान माता अत्यन्त आतुर हो हृदय सो व्याकुल हो जाती है और किसी ज्योतिषी को बुलाकर उसके पैरों में पड़ प्रेम में निमग्न होकर मधुर वाणी में राम-लक्ष्मण-सीता के सकुशल लौटने का प्रश्न पूछती है। इसी समय भरत जी के पास से श्री राम के सकुशल लौट कर आने का समाचार लेकर कोई आ गया। तुलसीदास कहते है उसके मुख से प्रभु का सकुशल आगमन सुनते ही माँ का हृदय इस प्रकार से शान्त और शीतल हो गया जैसे मानो मरती हुई मीन को जल मिल गया हो।आकुलता में विवेक न्यून हो जाता है फिर जो भी कुछ हृदय को धीरज बाँधने में उपयोगी होता है, व्यक्ति उन सबका सहारा लेता है इसीलिए वह शगुन-अपशगुन का विचार करता है, देवज्ञों में विश्वास करता है और जो भी कुछ कोई बता देवे करने की तत्पर हो जाता है। माँ यही कुछ करने मे रत थी इतने में ही उसे शुभ समाचार सुनने को मिलता है। जिस प्रकार मृत शरीर में पुनः प्राण का संचार हो गया हो माँ उसी प्रकार सजीव हो गयी। उसके उस क्षण के आनन्द का अनुमान कौन लगा सकता है ? सूर्यकुल के सूर्य का प्रकाश पुनः अवध सरोवर में मुर्झाए हुए प्रियजन, प्रजाजन रूपी कमल कानन को प्रफुल्लित कर दिया। राम अपने सखाओं तथा सहायकों समेत पुष्पक विमान से नीचे उतरे और माँ को देखते ही उसके चरणों में लुंठित हो गए। माँ के आनन्द की सीमा न रही। उसकी स्थिति का वर्णन महाकवि ने इस प्रकार किया है-

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अन्त पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भईं।।
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे।।

(रा० ७/६ छन्द)

कौशल्यादि माताएं राम को देखते ही ऐसे दौड़ पड़ी जैसे नई व्याई हुई गऊ जो अपने शिशु बछड़े से बिलगता के साथ परवश हो बिछड़कर उसे घर में

छोड़कर जंगल में चरने के लिए ले जाई गई हो और सायंकाल के समय घर की तरफ रुख करते ही वह राँभती हुई दौड़ पड़ी हों। अत्यन्त प्रेम से राम ने सभी माताओं के हृदय लगते ही कोमल वाणी से उनका परितोष किया जिससे वे सभी वियोगजन्य ताप से मुक्त हो हर्ष और आनन्द का अनुभव करने लगी। यहाँ पर इस उपमा को देख कई आलोचक भ्रम में पड़ गये हैं। उनको इस बात में कहीं कोई तुक ही नहीं दिखाई देता कि राम वन से आए हैं, उपमा में गोस्वामी जी उनको घर पर बँधा बछड़ा बता रहे हैं और माताएँ राजमहल में हैं उनको वन में परवश चरने के लिए ले जाई जाने वाली गऊ बता रहे हैं जबकि बात बिल्कुल इससे उलटी है। महाकवि को काव्यकला से अनभिज्ञ करार देना का साहस तो ऐसे ही कोई बुद्धि का धनी करेगा, किन्तु तुक न बैठने पर संदेह की लकीर प्रायः लोग लगा ही दिया करते हैं। मेरे विचार से यदि गम्भीरता से मानस का आद्योपान्त अनुशीलन किया जाए तो इस प्रकार के भ्रम के लिए अवकाश मिल ही नहीं सकता। महाकवि ने वन-गमन के समय यह स्थापना की है कि-

**अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।।**

**(रा० २/७४-३)**

यह बात बिल्कुल ठीक है। विश्व के जिंस क्षेत्र में सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति होती है, वही दिन माना जाता है। यद्यपि सूर्य की उपस्थिति तो यथार्थ रूप में जहाँ है वहीं रहती है, उसमे कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार महाकवि का कथन है कि वैसे तो राम सर्वरूप हैं उनका निवास तो सर्वत्र समान है किन्तु जहाँ उनके महाविभूति सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह का प्रकाश है, वही अयोध्या है। विशेष रूप से यह भावना माताओं की ही रही है। उक्त अर्द्धाली सुमित्रा द्वारा कही गई है। माता कौशल्या का भी यही कथन है-

**बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी।।**

**(रा० २/५६-५)**

इसलिए राम रहित अयोध्या को कानन की उपमा दी है। इस बात को महाकवि ने वनवास के अवसर पर भी कहा है। अवध के लिए लिखते हैं-

**नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी।।**
**बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दसह दुसहँु दिसि दीन्ही।।**
**सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी।।**

**(रा० २/८४-२ से ४)**

इसका अनुभव तो सभी अवधवासी कर रहे हैं।

**सीता राम संग बन बासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू।।**

**(रा० २/२८०-३)**

सब की यही राय है कि-

**जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुवीर अवध नहिं काजू।।**

**(रा० २/८४-५)**

इन अर्द्धालियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम विहीन अयोध्या काननवत् हो गई थी और जहाँ पर राम थे वहीं 'तो कानन सत अवध समाना' और 'अवध सौध सत सरिस पहारु' बन गया था इसलिए यहाँ पर गोस्वामी जी ने राम को गृह पर तथा माताओं को वन में रहने की उपमा दी है। राम, सीता, लक्ष्मण को देख माँ आनन्द विभोर हो रहीं है। वही सुकोमल, सुकुमार, सुन्दर, शरीर, वही श्याम ताम रस लोचन, वही मुखचन्द्र की नयनानन्ददायिनी आभा। माता को एक अद्‌भुत बात सुनने को मिली वह यह कि उसका सुकोमल, सुकुमार राम लंकापति प्रचण्ड राक्षस रावण का ससैन्य संहार करके आ रहा है। माँ के आश्चर्य की सीमा नहीं है। गोस्वामी जी माँ के आन्तरिक कौतुहल को व्यक्त करते हुए कह रहे हैं-

**कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिन्धु रनधीरहि।।**
**हृदयँ बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा।।**
**अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे।।**

**(रा० ७/७-६ से ८)**

पुत्र कितना ही महान् क्यों न हो जाए माँ के लिए तो वह सदैव सुकुमार बालक ही रहता है। धन्य है जननी के उस वात्सल्य को जहाँ पर पुत्र के प्रौढ़, कठोर शरीर में भी सुकुमारता ही झलकती है। माँ के हृदय को यह विश्वास कैसे हो सकता है कि लंकापति का वध राम जैसा सुकुमार बालक कर सकता है। माँ के आश्चर्य को देखते हुए उसके निवारणार्थ राघव ने तुरन्त एक उपाय कर लिया-

**पुनि रघुपति सब सखा बुलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए।।**
**गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे।।**

**(रा० ७/८-५,६)**

फिर भी प्रभु राम ने अपने सखाओं का परिचय देते हुए गुरुदेव से कहा-

**ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे।।**



**(रा० ७/८-७)**

अब माँ को सत्य का पता लग गया, उसका संदेह बिल्कुल सत्य था। कहाँ अत्यन्त सुकुमार कुमार और कहाँ घोर निशाचर, सुभट, महान् विशालकाय। उनको जीतना कोई सरल काम नहीं किन्तु राम ने यह बता दिया कि इस आश्चर्यजनक कार्य के सम्पादन में गुरुदेव की कृपा सहायक रही है। माँ को विश्वास हो गया क्योंकि वह जानतीं हैं कि-

**जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं।।**

**(रा० २/३-५)**

माँ को स्वयं भी गुरुदेव की महिमा का बोध है। स्वयं कहतीं हैं-

**तुम सुरतरू रघुबंसके देत अभिमत माँगे।**

गुरुदेव की कृपा तथा मित्रों की सहायता से मेरे सुकुमार ने दुधर्ष राक्षसराज रावण का वध किया है, माँ यह समझ कर पुलकित हो उठी। वाह रे वात्सल्य ! कितना माधुर्य छिपा हुआ है, इस जननी के भावपूर्ण हृदय में।

**कौसल्या के चरनन्हिं पुनि तिन्ह नायउ माथ।**
**आसिष दीन्हें हरषि तुम्ह प्रिय मम जिमि रघुनाथ।।**

**(रा० ७/८ क)**

इन्हीं मित्रों की सहायता से राम विजयी हुए हैं, तो भला वे माता की दृष्टि में राम से कम प्यारे हो सकते है ? जिस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा अवधपुरवासी कर रहे थे, वह आ गई। गुरुवर वशिष्ठ ने ऋषिगण तथा मंत्रीगण से अनुमति ली। सभी ने उसका अनुमोदन कर दिया, फिर विलम्ब के लिए अवकाश कहाँ? वस्त्राभूषण से अलंकृत हो चारों भाई अपनी प्राण वल्लिभयों के साथ सुशोभित हैं। श्रीराम की शोभाश्री से सम्पन्न हो अवधपुरी जगमग कर रही थी। दिव्य सिंहासन पर ऋषिवर ने श्रीसीता सहित राम को विराजित कर राज्याभिषेक किया। आनन्द से उल्लसित हो अवध के नर-नारी नृत्य करने लगे। माँ का जीवन आज सफल हो गया, विश्व-विजय और वीर सम्राट पुत्र की माता होकर-

**राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।**
**देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि।।**

**(रा० ७/११ ख)**

**सुत बिलोकि हरषीं महतारी। बार बार आरती उतारी।।**

**(रा० ७/१२-६)**

धन्य है वह आर्य नारी जिसको राम की जननी होने का गौरव प्राप्त

हुआ। माता कौशल्या के पुनीत जीवन को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि ऐसी पवित्र नारी के वात्सल्य को प्राप्त करने की लालसा से ही वह परात्पर ब्रह्म राम रूप में प्रकट हुआ। ऐसी पवित्र हृदया धर्मपरायणा नारी ही राम जैसे पुत्र की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। मानस में माता कौशल्या के चरित्र के अनुशीलन से यही दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। महाकवि ने कौशल्या के चरित्र-चित्रण में इतनी कुशलता से काम लिया है कि राम माता के गौरव को वह पद-पद पर सम्भालती रही हैं। हृदय और बुद्धि का संतुलन माता के चरित्र में अनुपम है। आर्य नारी के पूर्ण आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करने मे महाकवि ने अद्‌भुत सफलता पाई है। अन्त में उन्हीं के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है -

**राम मातु अस काहे न होइ।**

# सुमित्रा

गोस्वामी जी ने अपनी राम-कथा पट के ताने-बाने में कुछ ऐसे आदर्श चरित्रों को भी बुना है जिनका संक्षिप्त स्वरूप सम्पूर्ण कथा पट के सौन्दर्य में वृद्धि के साथ ही अपने विशिष्ट महत्व को भी अभिव्यंजित कर रहा है। मानस के नारी पात्रों में यह स्तुत्य स्थान माता सुमित्रा के दिव्य जीवन चरित्र को प्राप्त हुआ है। सम्राट की राज्यमहिर्षियों में सुमित्रा सबसे छोटी है। क्रमानुसार उसके चरित्र पर बाद में ही विचार करना चाहिए था, किन्तु मँझली महारानी कैकेई का चरित्र कुछ ऐसे रूप में व्यक्त किया गया है कि उसका विवेचन अन्त में ही उचित समझता हूँ। राम की माता कौशल्या के जीवन क्रम के साथ ही मानस की महिला रत्नों में सुमित्रा की गरिमा को व्यक्त करना अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि देवी सुमित्रा महात्मा लक्ष्मण की जननी है। गोस्वामी जी के शब्दों में जिस प्रकार श्रीराम की निर्मल कीर्ति रूपी पताका विश्व के सर्वोच्च क्षितिज में लहराने का कार्य दण्ड रूप में लक्ष्मण का निर्मल यश साधन रहा है, उसी प्रकार हम कौशल्या के साथ ही देवी सुमित्रा की भी स्थिति देखते हैं। सुख तथा दुःख में हमें उनका दर्शन प्रायः कौशल्या के साथ ही होता है। यद्यपि वन्दना प्रसंग में कौशल्या की अलग वन्दना की गई है जबकि अन्य रानियों की सुकृति और सुमंगल की मूर्ति रूप में महाराज दशरथ के साथ की गई है-

**दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानीं।।**
**करउँ प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत सेवक जानी।।**

**(रा० १/१६-६,७)**

किन्तु मेरे विचार से इसका कारण यह है कि महारानी कौशल्या इस महाकाव्य के मुख्य नायक राम की जननी हैं और महाकवि ने "प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारु" से यही भाव स्पष्ट भी किया है; अन्यथा सभी महारानियों को वे सुकृति एवं सुमंगल की खानि मानते हैं। जिस प्रकार खान से रत्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार इन महारानियों से धर्म विग्रह सुन्दर मंगलमय पुत्र रत्न उत्पन्न हुए हैं।

जिनमें "लषन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार'' महात्मा लक्ष्मण एवं जिनके स्मरण मात्र से शत्रु नष्ट होते हैं, ऐसे शत्रुमर्दन शत्रुघ्न की जननी होने का सौभाग्य देवी सुमित्रा को प्राप्त हुआ है। मानस एक सांस्कृतिक महाकाव्य है। उसमें एक उत्तमतम पुरुष के चरित्र का सर्वांग चित्रण किया गया है। तुलसी की भावना में वह उत्तम पुरुष कोई दूसरा नहीं, स्वयं सर्वाधार पुरुषोत्तम ही हैं। वहीं नर-विग्रह धारण कर भक्त-हितार्थ तथा लोक-शिक्षार्थ विविध प्रकार का नर नाट्य कर रहा है। वह पुरुषोत्तम एक ऐसे धर्मात्मा आर्यवंश में प्रकट हुआ है जिसकी कीर्ति विश्व विश्रुत है, सर्व-वंदित है। उस कुल की अपनी कुछ मर्यादाएँ हैं और सभी सदस्य उन मर्यादाओं में रहकर ही अपना विशुद्ध आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। वेद प्रतिपादित सनातन धर्मानुसार वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक सीमा में जीवन प्रवाह के प्रवाहित होने की प्रक्रिया को ही मर्यादित जीवन की संज्ञा दी जाती है। मर्यादा का अर्थ होता है सीमा। इसी से मर्यादा शब्द बनता है। मर्यादित जीवन का अर्थ होता है सीमाबद्ध जीवन। यह सीमा जीवन सरिता को आनन्द सिन्धु तक पहुँचाने में कूल का कार्य करती है। यह हम सभी का जाना हुआ सत्य है कि किनारों के बीच से बहने वाले जल को ही सरिता व नदी की संज्ञा दी जाती है, फिर वही जल अपने कारण रूप समुद्र से मिलकर समुद्र होने का सौभाग्य प्राप्त करता है। यदि यह सीमाबद्ध नहीं तो बिखर कर दूषित हो जाएगा व सूख जाएगा। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी मर्यादा में रहकर सतत गतिशील होता है और विशुद्ध रूप में रहते हुए अपने लक्ष्य रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म सिन्धु से युक्त हो कृत-कृत्य हो जाता है।

वेद प्रतिपादित सनातन धर्म मर्यादा मार्ग का ही मानव के लिए विधान करता है। हर एक श्रेत्र की मर्यादा का स्वरूप भिन्न है। धर्मशास्त्रों में सभी की आन्तरिक अवस्था अनुसार ही जीवन की व्यवस्था की मर्यादा निश्चित् की गई है। रघुवंश की मर्यादा में परिवार के श्रेष्ठजन व गुरुजन के समक्ष छोटे सदस्यों को बड़ी विनम्रता के साथ ही रहना होता था। उसमें बिना पूछे व बिना आज्ञा लिए छोटे का बोलना तक अशिष्ट व्यवहार समझा जाता था। यह व्यवस्था केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं थी नारियाँ भी इसका पालन करती थीं। मुख्य बात मैं पहले भी बता आया हूँ कि जिस परिवार में प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्य तथा दूसरों के अधिकार को ध्यान में रखते हुए व्यवहार में प्रवृत्त होता है वहाँ कुमतिजन्य कलह का स्थान ही नहीं रहता। हमें पूरे महाकाव्य में यह सूत्र पात्रों के जीवन में चरितार्थ होता दिखाई देता है। देवी सुमित्रा सम्राट की छोटी महिषी हैं, इसीलिए सम्पूर्ण

उथल-पुथल में उनको हम प्रायः मौन ही देखते हैं। आनन्द तथा शोक के अवसरों पर हम प्रधान सम्राज्ञी के साथ उन्हें देखते हैं। कुछ अवसर इस प्रकार के अवश्य ही आ उपस्थित हुए हैं, जिनमें उनकी आन्तरिक दिव्यता का दर्शन हो जाता है। आनन्द की घड़ियों में सारा रनिवास साथ ही आनन्दित होता दिखाई देता है-

**मुदित असीस देहिं गुर नारीं। अति आनंद मगन महतारीं।।**

**(रा० १/२९५-४)**

और सभी रानियाँ विप्रों को बुलाकर उनका सम्मान करती हैं और दान देती हैं-

**मुनि प्रसादु कहि द्वार सिधाए। रान्हि तब महिदेव बुलाये।।**
**दिए दान आनन्द समेता। चले बिप्रबर आसिष देता।।**

**(रा० १/२९५-६,७)**

चारों पुत्रों को पुत्र-वधुओं सहित विवाह कर अवध आने पर भी-'मोद प्रमोद बिबस सब माता' और 'परिछनि साजु सजन सब लागी।' सब माताएँ साथ ही-

**कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिएँ मात।**
**चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात।।**

**(रा० १/३४६)**

**बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानन्द मगन महतारी।।**

**(रा० १/३४९-३)**

सभी माताएँ आनन्द मग्न हैं।"लोक रीति जननीं करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं" लोक रीति करके सभी माताएँ पुत्रों और पुत्र-वधुओं की मंगल कामना से-

**देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की।।**
**सबहि बंदि मागहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना।।**
**अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं।।**

**(रा० १/३५१-१,२,३)**

रूप, गुण, शील सम्पन्न वधुओं को गोद में लेकर सभी सासुएँ प्रमुदित हो शयन करती हैं-

**सुन्दर बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जन सिरमनि उर गोई।।**

**(रा० १/३५८-४)**

वधुओं के सहित पुत्रों को देखकर सभी माताएँ प्रमुदित रहती हैं-

**मुदित मातु सब सखीं सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली।।**

**(रा० २/१-७)**

यहाँ तक तो सभी माताएँ समान रूप से प्रत्येक आनन्द मंगल कार्य में भाग लेती रही हैं, किन्तु राम राज्याभिषेक के उत्सव पर हम कौशल्या के साथ ही माता सुमित्रा को मंगल चौक पूरते हुये देखते हैं-

**चौंके चारू सुमित्राँ पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी।।**

**(रा० २/८-३)**

उसके साथ ही "आनन्द मगन राम महतारी" का दर्शन होता है। देवी सुमित्रा की महत्ता का प्रकाश हमारे समक्ष उस समय आता है जब राम वन गमन के लिए तैयार हैं और लक्ष्मण जी साथ जाने के लिए प्रार्थना करते हैं। विविध भाँति समझाने पर भी जब लक्ष्मण राम से विलग रहने के लिए तैयार नहीं होते तो राम का आदेश होता है-

**मागहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई।।**

**(रा० २/७३-१)**

राम ने लक्ष्मण को माता से विदा लेने की आज्ञा दी। कुछ आलोचकों को यहाँ खटकता है कि लक्ष्मण को अपनी धर्म पत्नी से आज्ञा लेने को क्यों नहीं कहा? उनको यह ध्यान रखना चाहिए कि राम स्वयं भी पत्नी से विदा लेने नहीं आये थे। केवल पिता जी से इतना ही निवेदन किया था-

**बिदा मातु सन आवउँ मागी। चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी।।**

**(रा० २/४६-४)**

सीता को तो राजमहल के करुण कोलाहल से पता लगा कि "चलन चहत बन जीवन नाथू"। माता-पिता की आज्ञा पालन में पत्नी से सलाह व अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती-"मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ"। इतना ही नहीं-

**मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी।।**

**(रा० १/७७-३)**

**उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू।।**

**(रा० २/१७७-४)**

राम का तो यहाँ तक कथन है कि-

**गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें।।**

इस धर्म-सिद्धान्त के अनुयायियों को ऐसी स्थिति में पत्नी से आज्ञा व सलाह लेने का अवकाश ही कहाँ होता है। पत्नी के लिए ऐसी परिस्थिति आने पर इस धर्म मर्यादा का सुझाव है-

**एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा।।**

**(रा० २/६१-५)**

पति रुख लखि सास-ससुर की सेवा में ऐसे संकटमय काल को व्यतीत करना ही उचित है। यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि सीता राम के साथ वन को जा सकती है तो उर्मिला लक्ष्मण के साथ क्यों नहीं जा सकती? यदि लक्ष्मण राम की सेवा में जा रहे हैं तो उर्मिला सीता की सेवा के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर रही है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने का दुःसाहस कर लेते हैं कि महाकवि ने उर्मिला का ज़िक्र न करके उसके साथ अन्याय किया है, किन्तु शायद यह वे लोग भूल जाते है कि प्रस्तुत महाकाव्य रामचरित्र है न कि रामपरिवार चरित्र जिसमें परिवार के सभी सदस्यों के जीवन की झाँकी दिखाई जाये। हाँ, जो राम-चरित्र से सम्बन्धित प्रमुख पात्र रहे हैं उन सबके सम्बन्ध में जितना आवश्यक था महाकवि ने उतना संकेत कर दिया है और यह केवल गोस्वामी जी की ही बात नहीं आदिकवि से लेकर जितने भी प्रसिद्ध राम कथा के लेखक प्राचीन काल में हुए थे उन्होंने जिस प्रकार कथा का विवेचन किया था गोस्वामी जी ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। कुछ कथाओं का सृजन उन्होंने स्वयमेव किया है, किन्तु उसके पीछे उनकी समाज हित में कुछ विशेष बात कहने की भूमिका दिखाई देती है। रही उर्मिला की लक्ष्मण के साथ जाने की बात वह एक गम्भीर विषय है, जिसे रघुकुल की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए ही सोचना चाहिए। वनवास राम को मिला है लक्ष्मण को नहीं। लक्ष्मण ने स्वेच्छा से बड़े भाई जो कि स्वामी के समान हैं उनकी सेवा के लिए वन जाने का निश्चय किया है-

**जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिन कर कुल रीति सुहाई।।**

**(रा० २/१५-३)**

इस रीति का अनुकरण करते हुए लक्ष्मण का यह निर्णय है। जो स्वयं ही सेवक है वह अपनी सेवा में सेविका को कैसे साथ रख सकता है? रही सीता के साथ जाने की बात सो उनकी तो स्थिति दूसरी थी। पति को वनवास दिया गया, राज्य से वंचित करके। साथ ही चौदह वर्ष तक कठोर व्रत का भी विधान है। ऐसी दुःखद स्थिति में पत्नी का राज-प्रासाद में रहना सर्वथा अनुचित है क्योंकि वह पति

की सुख-दुःख दोनों की सह-भागिनी है। सीता पति की विपत्ति में अर्द्धांगिनी रूप में भागीदार बनने के लिए जा रही है, किन्तु लक्ष्मण पर इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं आई है वे तो स्वेच्छा से स्वामी की सेवा में स्वयं को समर्पित करते हैं। सीता स्वयं सेविका के रूप में पति का अनुगमन करती है, उनको अपनी सेवा के लिए किसी को साथ रखने की कल्पना ही व्यर्थ है। लक्ष्मण की भी यह स्थिति है। अतः इस प्रकार के अनावश्यक प्रश्न उठाकर महाकवि की आलोचना करनी विशेष बुद्धि की ही बात कही जा सकती है।

राघव की आज्ञानुसार विदा माँगने के लिए हर्षित हृदय माँ के पास आ गए। सभी माँ को अपना पुत्र प्राणवत प्यारा होता है। लक्ष्मण सुमित्रा को उतने ही प्रिय हैं जितने कौशल्या को राम। पुत्र को देखते ही माँ का हृदय खिल गया। पुत्र को चरण-वन्दना करते देख माता ने लाल की मुखाकृति की ओर देखा। मुखचन्द्र को मलिन देख माँ सशंकित हो उठी और उसका कारण पूछा। लक्ष्मण ने सारी कथा कह सुनाई। कठोर समाचार सुनकर माँ सहम गई, उसकी ऐसी स्थिति हो गई मानों अपने चारों ओर दावानल को देख उसमें घिरी हुई मृगी सभीत हो सहम गई हो। माँ की अन्तर व्यथा का कारण लक्ष्मण की समझ में नहीं आया-

**लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहिं सनेह बस करब अकाजू।।**
**मागत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं।।**

**(रा० २/७३-७,८)**

हैं तो लखन परन्तु लख नहीं सके। उनको यही आशंका हो गयी कि वह राम के संग वन जाने की आज्ञा देती है या नहीं। माता कहीं स्नेह के बस होकर बना-बनाया काम न बिगाड़ देवे, यही भय है इसलिए वे विदा माँगते समय भी सकुचाते हैं, किन्तु सुमित्रा की अन्तर पीड़ा का कारण पुत्र स्नेह नहीं है वहाँ तो-

**समुझि सुमित्राँ राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ।**
**नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ।।**

**(रा० २/७३)**

सुमित्रा ने राम और सीता के स्वरूप, शील एवं स्वभाव को समझकर तथा उनके प्रति महाराज के अक्षुण्ण स्नेह को देखते हुए सर धुनते हुए कहा, "पापिनी ने बुरी तरह घात लगाया।" इस दुर्घटना में उसका भी तो जीवन सर्वस्व लुट जाने की आशंका है, किन्तु वह जानती है, सत्य बड़ा कठोर है; व्यथित तथा अधीर होने मात्र से उसे अस्वीकारा नहीं जा सकता। अतः

धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी।।
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही।।
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँई दिवसु जहँ भानु प्रकासू।।
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं।।

(रा० २/७४-१ से ४)

धन्य है जननी की उदारता को जहाँ ममत्व का लेश भी नहीं है। कुसमय जान धैर्य धारण कर सहज-स्वभाविक हितचिंतिका माता कोमल वाणी में बोली। यहाँ पर "सहज सुहृद" शब्द बड़ा गम्भीर्यपूर्ण है। सुहृद का अर्थ होता है हितचिंतक किन्तु मोह के वशीभूत हो माता-पिता प्रायः संतान के हित का मार्ग नहीं बना पाते कारण कि कल्याण का पथ बड़ा ही दुर्गम होता है और संतान के प्रति ममत्व होने से बहुदा माता-पिता उसे दुर्गम पथ पर जाने की प्रेरणा नहीं दे पाते। बहुत कम ही ऐसे माँ-बाप होंगे जो पुत्र को कठोर कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर गौरवशाली जीवन जीने की सीख दे सकेंगे। गोस्वामी के शब्दों में-

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धरमु सिखावहिं।।

(रा० ७/९९-८)

मेरे विचार से नब्बे नहीं निन्यानवे प्रतिशत माता-पिता इसी प्रकार के ही होते हैं। प्रायः यह भी देखा जाता है कि अपने पूर्व प्राप्त संस्कारों से प्रेरित हो हितेक्षु साधकों को अपने माता-पिता के प्रबल मोह बंधन को निर्दयता के साथ तोड़कर ही आगे बढ़ना होता है। अभिभावक संतान को सुखी बनाने व रखने की कामना में विमोहवश उसके अमूल्य देव-दुर्लभ मानव-जीवन का समुचित उपयोग कर उसे हित सम्पादन में नहीं लगा पाते, किन्तु माता सुमित्रा मातृत्व के कर्त्तव्य से सुपरिचित है। वह अपने वात्सल्य के लिए सजग है इसलिए महाकवि ने उसे **'सहज सुहृद'** कहा है।

मृदुवाणी में माँ कहती है -हे प्यारे! तुम्हारी माता मैं नहीं हूँ वह विदेह नन्दिनी है। यदि राम ने माँ से विदा माँगने के लिए कहा तो तुम्हे सीता के चरणों में ही निवेदन करना चाहिए था, इसी प्रकार से तुम्हारे पिता महाराज दशरथ नहीं श्रीराम हैं। सुमित्रा ने सोचा कहीं पिता की आज्ञा पालन के भ्रम में पड़ लक्ष्मण इस सुनहरे अवसर से वंचित न हो जाये इसलिए सावधान करती है कि तुम्हारे सच्चे पिता राम है। जिस प्रकार सूर्य से ही दिन का अस्तित्व है ठीक उसी प्रकार श्रीराम से ही अयोध्या की महिमा है इसलिए जहाँ राम हैं वहीं अयोध्या है। यदि तुम्हारे

माता-पिता सीता राम वन को जा रहे हैं तो इस अयोध्या में रहने का तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। कितनी उत्तम धारणा है, कितना अद्‌भुत त्याग है माँ का। देवी सुमित्रा का मातृ हृदय कितना सजग है अपने कर्त्तव्य के प्रति। इस सत्य से वह सुपरिचित है कि माता संतान के जन्म में केवल निमित्त मात्र ही होती है, संतान के जीवन का कारण नहीं होती इसलिए वह इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहती है-

**गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं।।**
**रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के।।**
**पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नाते।।**
**अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू।।**

**(रा० २/७४-५ से ८)**

**भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाऊँ।**
**जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाऊँ।।**

**(रा० २/७४)**

सेवा धर्म बहुत कठिन है क्योंकि उसमें पाना नहीं खोना ही होता है। मानव बुद्धि स्वभावतः स्वार्थ प्रिय हुआ करती है किन्तु सेवा धर्म में स्वार्थ कलंक है। उत्सर्ग ही सेवक की निष्ठा का प्रमाण है। माता अपने प्रिय पुत्र को सेवा व्रत की दीक्षा दे रही है। गुरु, पिता, देवता और स्वामी इन सब की सेवा प्राण के समान करनी चाहिए। जिस प्रकार अपने प्राण की सुरक्षा एवं पूर्ति के लिए सर्वविधि प्रयत्न किये जाते हैं उसी प्रकार उनकी सेवा में भी पूर्णरूप अपनी सामर्थ्य का समर्पण करना चाहिए। राम तो प्राण से भी प्यारे हैं क्योंकि वे जीव के जीवन हैं अर्थात् जीवन का अस्तित्व ही उनसे है- "प्रान-प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।" इससे यह ज्ञात होता है कि सुमित्रा राम में ईश्वरत्व की भावना रखती है,तभी वह कहती है कि राम जीव के भी जीवन हैं तथा स्वार्थ रहित सभी के सखा हैं "सुहृदं सर्वभूतानां"। यह परमात्मा के लिए ही कहा गया है, अकारण वही जीव के हितैषी और सच्चे सखा हैं। पुत्र को उपदेश देते हुए माँ कहती है जगत् में जहाँ तक पूजनीय तथा परम प्रिय लोग हैं वे सभी राम के नाते से ही मानने योग्य हैं। यह बात जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि होने पर ही कोई माता अपने पुत्र को समझा सकती है। राम सभी की आत्मा है और दुनिया में जहाँ तक पूज्यता एवं प्रियता का सम्बन्ध है वह आत्मा के होने तक उसके नाते ही होता है अन्यथा महाकवि के शब्दों में-

**आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितु न कोइ।**
**तुलसी अम्बुज अंबु बिनु तरनि तासु रिपु होइ।।**

यह सभी जानते हैं कि सूर्य कमल को विकसित करता है, किन्तु तभी तक जब तक कि वह जल के साथ है, जल का साथ छूटते ही वही सूर्य जलज का शत्रु बन जाता है, वही उसको जलाकर खाक कर देता है। इसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध पूज्य तथा प्रियजन सभी इसके पोषक होते हैं, किन्तु जहाँ शरीर का आत्मा से वियोग हुआ वहीं वे ही प्रियजन इसको जलाकर खाक बना देते हैं। वह जगत की आत्मा ही राम हैं अतः विश्व के सभी नाते उनसे ही स्थित हैं ऐसा ही मानना चाहिए, माता सुमित्रा की यही शिक्षा है। गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में भी कहा है "जाते सब नाते फुरैं तासों न करि पहिचानि।" माँ कह रही है राम ही सभी सम्बन्धों के मूल हैं ऐसा हृदय से जान कर तुम उनके साथ वन जाओ और जगत् में जीवन का लाभ लो। स्वामी के प्रति जब तक एकान्तिक अनन्य भक्ति नहीं होगी तब तक सेवा धर्म का निर्वाह समुचित रूप से नहीं हो सकता। एकान्तिक भक्ति तभी होगी जब सर्वश्रेष्ठ रूप में वहीं स्वीकार किया जाए। इसी दृष्टि से उपनिषदों में "यथा देवो तथा गुरौ" जिस प्रकार परमेश्वर में भाव होता है उसी प्रकार गुरु में हो, ऐसी शिक्षा दी गई है। शिष्य के लिए गुरु में और पत्नी के लिए पति में जो ईश्वर की भावना का उपदेश है, उसका यही रहस्य है। उसी प्रकार सेवक के लिए स्वामी भी साक्षात् परमेश्वर है। जब इस प्रकार की मान्यता होगी तभी वह विकार मुक्त हो सेवा कर सकता है इसीलिए माता कह रही है कि "सब मानिअहिं राम के नाते" यह स्वीकारने की बात हैं, विश्वास का क्षेत्र है, यहाँ तर्क-वितर्क के लिए स्थान नहीं है। सचमुच वह माँ भी धन्य हो जाती है जिसका पुत्र अनन्यनिष्ठ हो राम के चरणों में अनुरक्त होता है। सुमित्रा पुत्र के इस भाव को देख स्वयं को कृतार्थ मान रही है। मैं बलिहारी जाऊँ मेरे लाल, मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्य के भाजन हुए हो जो तुम्हारे हृदय ने छल रहित हो राम के चरणों में स्थान प्राप्त किया है क्योंकि यथार्थ में-

**पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई।।**
**नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी।।**

**(रा० २/७५-१,२)**

सुमित्रा की दृष्टि में वह युवतीं पुत्रवती कही जा सकती है जिसका पुत्र श्रीराम का भक्त हो अन्यथा राम विमुखी पुत्र से अपना कल्याण समझने वाली माता

की तो सन्तान-जनन की क्रिया ही व्यर्थ हुई, इससे तो उसका बाँझ रहना ही भला था। कुछ आलोचक इन अर्द्धालियों पर नाक मुँह सिकोड़ते हुए कवि की कटु आलोचना करते हैं किन्तु मेरे विचार से यहाँ कोई ऐसी बात नहीं कही गई है जिससे कवि पर आक्षेप किया जाए। यह तो एक सामान्य नियम है कि जिस सिद्धान्त में जिसकी आस्था है उसकी दृष्टि में वही श्रेष्ठतम सत्य होता है। उसमें अनुराग रखने वाले को ही वह व्यक्ति समझदार व बुद्धिमान समझता है। उसके विपरीत विश्वास व आचरण वाला व्यक्ति व समाज उसकी दृष्टि में विगर्हित, बुद्धिहीन, अधम तथा निन्दनीय होता है। इस प्रकार की मान्यता से युक्त सैंकड़ों उदाहरण वैदिक साहित्य में ही मिल सकते हैं। रामायण, महाभारत, पुराणों में भी इनकी कमी नहीं है। वेदों में 'अयज्वान्' यज्ञ न करने वालों को निन्दनीय बताया है, अदानियों को तो नष्ट कर देने तक का आदेश दिया गया है-"अपघहनन्तो अरावण" जो दूसरों को बिना खिलाये ही स्वयं खाता है उसे अघ खाने वाला कहा गया है- "केवलाधो भवति केवलादी" यजुर्वेद में आत्मबोध से रहित को आत्म हत्यारा कहा गया है, और भी ऐसे बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने वेद में रत रहने वालों को बुद्धि भ्रष्ट बताया है, अवतार को मनुष्य मानने वालों को विमोहित मूढ़ कहा है, भौतिकवादियों को असुर कहा है और उनका अन्त नारकीय जीवन में बताया है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि एक गलत बात के समर्थन में अन्य अनेकों गलती करने वालों को प्रमाण रूप में उपस्थित करके उसका समर्थन करूँ। मुझे तो यह कहना है कि इन अर्द्धालियों में कोई नाक सिकोड़ने वाली बात नहीं है। प्रसंग की स्थिति पर विचार करने पर यह बात समझ में आ जाएगी। एक माता अपने प्राणप्रिय पुत्र को एक ऐसे कार्य में प्रेरित कर रही है जिसमें उत्सर्ग के सिवा और कुछ भी जीवन का प्रयोजन नहीं दिखता। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यदि उस कार्य में कोई जीवन का यथार्थ लाभ तथा उसकी सार्थकता की सिद्धि रूप में नहीं माना जाता तो उसके प्रति पूर्ण आस्था नहीं हो सकती। इसी भाव को सामने रख कर माँ पुत्र को उपदेश दे रही है कि मैंने भी तुम्हारे जैसे पुत्र को जन्म देकर सही में पुत्रवती होने का गौरव पा लिया है क्योंकि युवती केवल सन्तान उत्पन्न करने मात्र से मातृत्व के गौरव को प्राप्त नहीं हो जाती। मातृत्व तभी सार्थक होता है जबकि वह लोक हितकारी सन्तान को जन्म देती है अन्यथा वह माता पशुओं की तरह जनन-क्रिया-जन्य पीड़ा का ही भाजन होती है और उसे कोई लाभ नहीं होता इसीलिए यहाँ पर "वियानी" शब्द

का प्रयोग किया है जो प्रायः पशुओं के लिए प्रयुक्त होता है। राम विमुखी को महाकवि पशुतुल्य वा उससे भी अधम समझते हैं।

**अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना।।**

**(रा० ५/५०-१)**

इतना ही नहीं "ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूंछ बिषान।" यहाँ पर ज्ञानवंत का अभिप्राय वाक्य ज्ञान से है। विनय पत्रिका में कहा है-

**वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई।**
**निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह, तम निबृत्त नहिं होई।।**

**(वि० प० १२३/२)**

कवितावली में भी बताया गया है-

**तिन्ह ते खर, सूकर, स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।**
**तुलसी जेहि रामसों नेहु नहीं, सो सही पसु पूँछ, विषान न द्वै।।**

ऐसा कहा है। यह बात सदैव ध्यान रखनी चाहिए कि महाकवि की दृष्टि में राम परम सत्य तत्त्व है व यों भी कहा जा सकता है कि परम सत्य तत्त्व को ही राम नाम से उन्होंने अभिहित किया है इसलिए वैदिक साहित्य में यज्ञ रूप परमात्मा की उपासना न करने वाले को असुर कहा है जिसका अर्थ प्रकारान्तर से प्रकाश रहित पशु ही होता है। गीता में भी यही कहा गया है। इसी बात को गोस्वामी जी भी यहाँ पर कह रहे हैं। यह बात निन्दा की दृष्टि से नहीं बल्कि गहराई से विचार करने पर यथार्थ ही दिखाई देगी। जो धर्म तथा परम सत्य में आस्थावान् नहीं हैं वे पशुओं से भी बदतर तथा हिंसक जन्तुओं से भी अधिक समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। ऐसी सन्तानों को जन्म देने वाली जननी की जनन-क्रिया वृथा है, वह केवल पशु तुल्य है। यहाँ पर बात देवी सुमित्रा कह रही है यह भी ध्यान में रखना चाहिए और 'बियानी' शब्द उनके लिए है जो राम विमुखी पुत्र से ही अपना हित समझती है। यह बात उनके लिए नहीं है जो दुर्भाग्यवश दुष्ट सन्तान की जननी बन गई हैं किन्तु उनका हृदय उससे संतप्त है। यह बात इसलिए भी कही गई है कि माता के ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है कि वह लोक हितैषी सन्तान ही उत्पन्न करे। यदि वह सुशिक्षा से सजग हो तो इसमें उसे बहुत सीमा तक सफलता मिल सकती है, प्राचीन इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मौजूद हैं। गर्भावस्था में जीव का चित्त सजग रहता है, वह अधिकांश संस्कारों को माता के गर्भ में रहते हुए ही ग्रहण करता है। अतः समाज को गौरवमय बनाने के लिए नारी को

अपने खान-पान के साथ ही सम्पूर्ण क्रिया-क्लाप को बहुत ही सतर्कता के साथ करना चाहिए। उसके आचार, व्यवहार, विचार आदि का बहुत बड़ा संस्कार सन्तान पर पड़ता है। यह एक विचार करने की बात है कि एक अयोग्य व्यक्ति जब समान्यतः किसी एक सुन्दर यंत्र का भी निर्माण नहीं कर पाता तो मानव निर्माण कर्तृ नारी की अयोग्यता तथा असावधानी सुन्दर, सुयोग्य सन्तान का निर्माण कैसे कर सकती है? मानव नारी मानवता की जन्मदात्री है, यदि वह स्वयं सुसंस्कृत नहीं है तो जनन-क्रिया केवल पशुत्व की सहज प्रवृत्ति के सिवाय और क्या कहा जाये इसलिए संतो ने कहा है-

**जननी जनै तो भक्त जन या दाता या शूर।**
**नहीं तो जननी बाँझ रह वृथा गवावति नूर।।**

विश्वरूप में प्रकट परमात्मा की सेवा करने वाला ही भक्त कहा जाता है। मिली हुई योग्यता-सामर्थ्य का सर्वहित में समर्पण ही दान है। विवेक युक्त साधनों से दुष्टता को तथा शक्ति के द्वारा जीव द्रोही दुष्टों का दमन करना ही शूरता है। सही में सार्थक जीवन उसी जननी का है जो भक्त, दाता तथा शूर सन्तानों को जन्म देती है बाकी तो अपनी जवानी की शोभा को व्यर्थ में ही नष्ट करने का कार्य करती हैं। महाकवि ने नारी की विगर्हणा नहीं की है केवल उसके गुरुत्तर दायित्व की चेतावनी दी है। वह भी एक ऐसे अवसर पर ऐसी माता के द्वारा यह बात कही गई है जो सर्वथा उचित है। इस प्रसंग में भी ऊपर की अर्धालियों में राम के यथार्थ रूप का संकेत किया गया है। जिस राम से विमुख सन्तान की माता के लिए पशुता का संकेत है वे राम मनुष्य ही नहीं-

**रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के।।**

**(रा० २/७६१-६)**

यह उस राम का स्वरूप है। माँ आगे कहती है-

**तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं।।**
**सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू।।**
**रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहूँ इन्ह के बस होहू।।**
**सकल प्रकार विकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।।**

**(रा० २/७५-३ से ६)**

यहाँ माता ने सेवा धर्म की कितनी उत्तम शिक्षा दी है। सेवक का स्वामी की सेवा के अवसर को अपना सौभाग्य समझना चाहिए तभी वह पूर्ण आस्था एवं

अनुराग के साथ उसे कर सकेगा। माँ का कहना है कि केवल तुम्हारे सौभाग्य से ही राम वन को जा रहे हैं इसमें और कोई दूसरा कारण नहीं है। दूसरे कारण तो केवल दिखावा मात्र हैं। अभिप्राय यह है कि इसमें किसी को दोषी मानना भूल है। वनवास देने वाले तो तुम्हारे भाग्योदय में सहायक हुए हैं वे रोष नहीं कृतज्ञता के ही पात्र हैं। कितना उत्तम भाव है माता का, यह मननीय है। सम्पूर्ण पुण्यों का यही श्रेष्ठतम फल है कि श्रीराम सीता के चरण-कमलों में सहज स्नेह हो जाये। राम जगत् की आत्मा तथा सीता जगत् की जीवनी शक्ति है। वेद में जिसे पुरुष तथा प्रकृति के नाम से कहा गया है वे ही दोनों राम और सीता के रूप में प्रकट हुए हैं, यह महाकवि की मान्यता है इसलिए माँ कह रही है कि सम्पूर्ण पुण्यों का यही उत्तम फल है कि राम सीता के पाद-पदमों में सहज अनुराग हो। राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह, ये सभी सेवा कार्य में महान् बाधक तत्व हैं। सेवक को इनसे सदैव सावधान रहना चाहिए। स्वप्न में भी इनके वश होना हानिप्रद है इसलिए माँ इनसे सजग रहने का उपदेश दे रही है और साथ ही आज्ञा दे रही है कि सब प्रकार के विकारों का त्याग कर मन, कर्म, वचन से श्रीसीता राम की सेवा करना। विकारों की संख्या छः बतायी है- "षट् विकार जित अचल अकामा" उनमें कुछ विकार तो माता ने गिना दिये हैं, कुछ रह गये हैं उनका संकेत कर दिया है। वे विकार हैं- "काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर"। ऊपर की पंक्तियों में केवल लोभ रह गया है बाकी के सब शब्दान्तर से कहे जा चुके हैं। सेवा धर्म में लोभ महान् घातक तत्त्व है इसलिए इसको पूर्णतः त्याग करने की बात कही है। पूर्णतः कहने का अभिप्राय है केवल अर्थ का ही नहीं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तक का लोभ त्याग कर सेवा व्रत को पालन करना होता है "स्वारथ छल फल चारि विहाई" इन्हीं को यहाँ पर विकार कहा है। क्रिया के तीन आधार है- मन, वाणी और शरीर। इन तीनों से ही सेवा कार्य की सिद्धि हो, ऐसा माँ का निर्देश है। रही असुविधा की बात उसके लिए माँ कहती है वन में तुम्हारे लिए कोई असुविधा नहीं होगी कारण कि-

**तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू।।**
**जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू।।**

**(रा० २/७५-७,८)**

बालक को श्रेष्ठतम सुख का स्थान माता-पिता की गोद होती है।



**तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के।**

वत्स ! तुम्हारे माता-पिता सीता-राम तुम्हारे साथ हैं इसलिए वन में तुम्हें सब प्रकार का सुपासू है अर्थात् तुम्हारे लिए वन वन नहीं है वह अवध से भी आरामप्रद होगा क्योंकि माता-पिता के साथ ही बालक निःशोक तथा सुखी रहता है। जिस प्रकार से राम को वन में क्लेश न हो, हे वत्स ! वही तुम करना यही मेरा उपदेश है-

**उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।**
**पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं।।**
**तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।**
**रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित-नित नई।।**

**(रा० २/७५-छन्द)**

हे वत्स ! तुम वही करना जिससे तुम्हारे रहने से राम और सीता सुखी हों और माता-पिता, प्रिय परिवार और अयोध्या के सुख को भी भूल जाये। ऐसी सेवा करने की माँ आज्ञा दे रही है कि राम को दूसरे सेवकों तथा सुख के साधनों की सुरति ही न रहे। यहाँ पर गोस्वामी जी ने लक्ष्मण को अपना प्रभु कहा है क्योंकि ये भक्ति के आचार्य तथा भक्तों के लिए आदर्श हैं। माता ने शिक्षा देकर आदेश दिया और रघुवीर के परम पुनीत चरणाविंदों में नित्य नवीन अविरल अनुराग होने की शुभाशीष दी-

**मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदयँ।**
**बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भाग बस।।**

**(रा० २/७५)**

जिस प्रकार सौभाग्य से कोई मृग विषम फंदे को तोड़कर भाग गया हो इसी प्रकार माता से आज्ञा पा कर शंकित हृदय से लक्ष्मण माँ की चरण वन्दना कर चल दिये। शंकित होने का कारण यह है कि कोई नई बाधा न आ कर उपस्थित हो जाये। शायद यहाँ पर कवि का संकेत उनकी प्रिय वल्लभा उर्मिला की तरफ से आशंकित होने का है, किन्तु उनका मार्ग निरापद रहा। देवी उर्मिला ने प्राणेश की सेवा-धर्म की गरिमा को समझते हुए कोई विक्षेप नहीं किया। तभी तो गोस्वामी जी ने उनका परिचय "जानकी लघु भगिनी सकल सुन्दरि सिरोमनि जानि कै" कह कर दिया है।

मानस का यह प्रसंग महाकवि ने सार्थक मातृत्व के दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए ही सृजा है। पूर्ण प्रसंग का निरीक्षण करने पर यह तथ्य प्रकट हो

जाता है। माता सुमित्रा मानवीय सृष्टि में आदर्श मातृत्व की साकार मूर्ति है उनके दोनों ही पुत्र विश्ववंद्य गुणों से युक्त शूरवीर होते हुए भी विश्वरूप रघुवंशमणि की सेवा में पूर्ण समर्पित है। भरत की सेवा भी राम की ही सेवा का प्रमुख अंग है क्योंकि "मानत सुख सेवक सेवकाई।" वह माँ कितनी सौभाग्यशालिनी तथा पुनीत चरिता है जिसके दोनों ही लाल लोक सेवा में सर्वरूप से समर्पित हैं। इस प्रकार की मातृ शक्ति को महाकवि नतमस्तक हो कोटिशः नमस्कार समर्पित करते हैं।

देवी सुमित्रा का दर्शन हमे चित्रकूट की महिला गोष्ठी में भाग लेते हुए पुनः होता है। इससे पूर्व अलग से उनका कोई वर्णन नहीं मिलता। इस गोष्ठी में आपकी विचारधारा सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता को बाल क्रीड़ा के रूप में स्वीकार करते हुए दिखाई देती है। यह दृष्टि भक्ति सिद्धान्त की प्रतिपादक है। भक्त सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वर की क्रीड़ा ही समझता है। इसी बात को महाकवि तुलसी ने भी मानस में कहा है-

**जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनहारे।।**
**(रा० २/१२७-१)**

काकभुसुण्डी जी का भी यही मत है-

**नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत।।**
**(रा० ४/७-२४)**

भगवान् शिव भी यह कहते हैं-

**उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं।।**
**(रा० ४/११-७)**

यह सिद्धान्त केवल भावात्मक है व यथार्थ इसके विवेचन का यह उपपुक्त स्थान नहीं है। हाँ ! इतना ही कहा जा सकता है कि भक्त की ऐसी ही दृष्टि इस सृष्टि के प्रति होती है। महाकवि कवितावली के एक पद में सुमित्रा को माता कौशल्या को सेवा में उनकी सम्भाल करते हुए दिखाते हैं-

**सिथिल सनेहँ कहैं कौसिला सुमित्राजू सों,**
**मैं न लखी सौति, सखी ! भगिनी ज्यों सेई है।**
**कहै मोहि मैया, कहौं-मैं न मैया, भरत की,**
**बलैया लेहौं भैया, तेरी मैया कैकेई है।**
**तुलसी सरल भायँ रघुरायँ माय मानी,**
**काय-मन-बानीहूँ न जानी कै मतेई है।**

बाम बिधि मेरो सुखु सिरिस-सुमन-सम,
तोको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है।
(कवितावली २/३)

पुत्र-वियोगिनी माता कौशल्या सुमित्रा को सम्बोधित कर अपनी अन्तर्वेदना प्रकट कर रही है क्योंकि- **'कहेंउ ते कछु दुख घटि होई'** कहने से दुःख कुछ कम हो जाता है। हृदय का गुबार निकल जाने से कुछ राहत मिल जाती है। दुःख की बात तो यह है कि माता की तरफ से तो ऐसा व्यवहार नहीं हुआ था जिसमें राम और भरत में भेद समझा गया हो। राम भी मन, वचन, कर्म से कैकेई को ही अपनी सगी माँ समझते रहे, फिर यह अनर्थ क्यों हो गया ? कौशल्या कहती है कि वाम विधाता मेरे सिरस सुमन सदृश सुकुमार सुख को काटने के लिए छलरूपी छुरी को वज्र पर पैनी किया है अर्थात् जो छूने मात्र से ही मुरझाने वाला मेरा लाल है उसको वनवास दे दिया है। व्याकुल बड़ी बहन को समझाते हुए सुमित्रा जी कह रही हैं-

कीजै कहा, जीजी! जू सुमित्रा परि पायँ कहै,
तुलसी सहावै बिधि, सोई सहियतु है।।
रावरो सुभाउ राम-जन्म ही तें जानियत,
भरतकी मातु को कि ऐसो चहियतु है।।
जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माहँ,
राज-पूतु पाएहूँ न सुखु लहियतु है।।
देह सुधागेह, ताहि मृगहूँ मलीन कियो,
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।।
(कवितावली २/४)

यद्यपि पुत्रवियोग तो सुमित्रा को भी है किन्तु उसने अपने पुत्र को स्वेच्छा से सेवाव्रत का उपदेश देकर भेजा है इसलिए कौशल्या से उसकी स्थिति भिन्न है। सुमित्रा को, भरत की माता ने जो कुछ भी किया है, वह घोर दुःखप्रद लगा है किन्तु वह इसमें कर ही क्या सकती है? भाग्य की ही बात है, वह सोच रही है कि देखो कितनी विचित्रता है। दुनिया में कुछ लोग इसलिए दुःखी होते हैं कि उनको सुख के साधन ही उपलब्ध नहीं होते, किन्तु कैकेई तो राज परिवार में जन्मी थी, ब्याह कर भी राज परिवार में ही आई और सौभाग्य से राजपुत्र की माँ भी बन गई किन्तु विधि की विडम्बना देखो कि सब कुछ होते हुए भी न तो वह स्वयं ही सुख

भोग सकी और न परिवार को सुखी रहने दिया। जीजी को समझाते हुए देवी सुमित्रा विधि की विचित्र गति का एक उदाहरण दे रही है कि देखो चन्द्रमा का शरीर अमृत का आश्रय है, वह सुधाकर कहा जाता है, किन्तु दैवगति देखिए कि उसे मृग ने कलंकित कर दिया है, ऊपर से बाहू रहित राहु भी ग्रस लेता है। महान् लोगों को भी विधिवश कलंकित होकर अपयश रूपी राहु का ग्रास बनना पड़ता है। इसमें दैव योग के सिवा और क्या कहा जाए?

देवी सुमित्रा की गरिमा को उद्‌घाटित करने वाली एक और घटना का वर्णन महाकवि ने अपनी गीतावली में किया है। मैं समझता हूँ कि यदि उसको यहाँ उद्धृत न किया जाए तो उसके जीवन की झांकी अपूर्ण ही रह जाएगी। प्रसंग बड़ा ही करुण है, वीर माता के धर्म ओर समर्पण की परीक्षा की घड़ी है वह। लंका में घोर संग्राम हो रहा है, मेघनाथ इन्द्रजीत है, देवता लोग भी उसके पराक्रम के आगे नतमस्तक हैं। उस देव विजयी योधा से रणांगण में युद्ध करते समय उसकी वीर घातिनी साँगी से लक्ष्मण घायल हो मूर्छित हो गए हैं। उनकी प्राण रक्षा के लिए धौलगिरी हिमालय से संजीवनी मूरी लाने के लिए हनुमान प्रस्थान करते हैं। रात्रि भर का ही समय है, प्रातः होते यदि संजीवनी मूरी न मिली तो लक्ष्मण का प्राणान्त निश्चित् है। महावीर हनुमान औषधि को न पहचान पाने के कारण पर्वत खंड को ही उखाड़ कर आकाश मार्ग से जा रहे थे कि अयोध्या के ऊपर से होकर जाते समय भरत ने कोई उपद्रवी राक्षस की आशंका से उनको बिना फल का बाण मारकर गिरा दिया। हा-राम कहते हुए हनुमान धरती पर आ गिरे। राम शब्द सुनकर भरत दौड़कर उनके पास आ गए और उन्हें होश में ले आए। हनुमान ने सारा वृतान्त कह सुनाया। इस दुःखद समाचार को सुनते ही भरत व्याकुल हो गए, हनुमान को साथ ले माता कौशल्या के पास आए। अयोध्या में सर्वत्र शोक छा गया। स्थिति बड़ी विकट थी, इस समय क्या करना उचित है यह सभी विचार करने लगे। कौशल्या तथा भरत के शोक की सीमा नहीं रही । हनुमान से सन्देशा देते हुए माता कौशल्या ने राम को कहा-

**भेंट कहि कहिबो, कह्यो यों कठिन-मानस-माय।**
**'लाल' ! लोने लषन-सहित सुललित लागत नाँय।**

**(गीतावली ६/१४-४)**

"हनुमान ! राम से भेंट करके कहनां कि तुम्हारी कठोर हृदय माता ने कहा है कि तुम्हारा नाम लषन के साथ ही सुन्दर लगता है अकेले नहीं अर्थात्

तुम्हारे नाम की शोभा लषन के साथ ही है।" गोस्वामी जी माता सुमित्रा की उस समय की दशा का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

**सुनी रन घायल लषन परे हैं।**
**स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकरि लरे हैं।।**
**सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं।**
**छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं।।**
**कपिसो कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।**
**रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं।।**
**'तात! जाहु कपि सँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।**
**प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं।।**
**अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।**
**तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं।।**

**(गीतावली ६/१३)**

जिस पुत्र के नाते माता स्वयं में पुत्रवती होने का गौरव अनुभव करती रही है आज अचानक ही उसके रणभूमि में घायल और मूर्छित होने का समाचार मिला, अनुमान कीजिए उस माँ की अन्तर्दशा का। पर बात सत्य है कि क्षत्राणियाँ खाट पर पड़े-पड़े सड़कर मरने के लिए पुत्र को जन्म नहीं देती। धर्म रक्षार्थ रणांगण में शत्रु के साथ युद्ध करते हुए यदि शरीरान्त भी हो जाए तो भी वीर के लिए प्रसन्नता की ही बात होती है। गीतानाथ का कथन है-

**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।**

यही क्षत्रिय वीर के समक्ष प्रमुख आदर्श होता है। माता सुमित्रा इस क्षत्रिय जाति की महत्ता को तथा उसके कठोर कर्तव्य को समझती है, किन्तु फिर भी माँ का हृदय है। एकाएक इस अप्रिय समाचार को सुनते ही माँ का हृदय कांप गया, किन्तु पूर्ण समाचार पाने पर उसको थोड़ा धैर्य हुआ। युद्ध किसी सामान्य योद्धा से नहीं विश्व विजयी इन्द्रजीत के साथ हो रहा था जिसमें पुत्र ने ललकार कर लोहा लिया है। पुत्र की स्मृति से शोक होना स्वाभाविक था किन्तु यह सोच कर सन्तोष भी हुआ कि उसने श्री राम की भक्ति का वरण किया है और स्वामी के कार्य में ही स्वयं को समर्पित किया है। माँ का अंग क्षण में सूख जाता है और फिर दूसरे क्षण हरा हो जाता है अर्थात् जब पुत्र की स्थिति याद करती है तो शरीर सूख जाता है, किन्तु जब सोचती है कि राम के कार्य में पुत्र की यह दशा हुई है तो सन्तोष से

अंगों में हरियाली आ जाती है। माँ पुलकित हो जाती है, स्वभावतः अम्बा के नेत्रों में जल भर आया, वह हनुमान जी से कहने लगी- रघुनन्दन असमय में बंधु विहीन हो गए हैं किन्तु इसमें चिन्ता की बात नहीं, भाई की क्षति पूर्ति के लिए शत्रुघ्न तैयार हैं। इतना कहकर माता ने शत्रुघ्न से कहा- हे तात् ! तुम कपि के संग चले जाओ। आदेश सुनते ही शत्रुघ्न हाथ जोड़कर जाने के लिए खड़े हो गए। उनको इतनी प्रसन्नता हुई कि दैवयोगवश मानो उनके पूरे पासे पड़ गए हों। माता और छोटे भाई की दशा देख हनुमान तथा भरत भक्ति में निमग्न हो गए फिर माता सुमित्रा ने उनको समझाकर सचेत किया।

इस प्रसंग में हम देवी सुमित्रा के धैर्य, साहस तथा उत्सर्ग की पराकाष्ठा देखते हैं। एक पुत्र राम के काम और दूसरे को भी उसी के लिए समर्पित करने को तत्पर है। वह पुत्रों के जीवन की सार्थकता ही इसी में समझती है कि वे राम के काम आयें। वह पुत्रों को ऐश्वर्यवान् देखने की इच्छुक नहीं है, ममत्व तो मानों उसे छू तक नहीं गया है। वीर माता सुमित्रा जैसी देवियाँ ही लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न जैसे पुत्र को जन्म देती हैं जो अपने उज्ज्वल यश से मानव-मात्र को आलोक प्रदान कर विश्व हित में सर्वस्व का उत्सर्ग करने की प्रेरणा देती हैं। धन्य है ऐसी माता जो नारी जाति को गौरव की पराकाष्ठा तक पहुँचाती है।

अंत में हमें माता का दर्शन अपने श्रीरामचरणानुरागी पुत्र को भरि अंक भेंटते हुए होता है जब वह कृत कार्य होकर वनवास से लौटते है- "भेटउ तनय सुमित्राँ रामचरन रति जानि"। इसके सम्बन्ध में संत समाज की यह मान्यता है कि वन जाते समय माँ ने पुत्र को उपदेश देकर आशीर्वाद दिया किन्तु हृदय से नहीं लगाया। कारण कि उसने यह निश्चय प्रकट करते हुए कहा है-

**जाइ चरन गहि आयसु जाँची, जननि कहत बहुभाँति निहोरे।**
**सिय-रघुबर-सेवा सुचि ह्वैहो तौ जानिहौं, सही सुत मोरे।।**

**(गीतावली २/११-३)**

जब तुम सीता राम की सेवा से पवित्र होंगे, तब जानूंगी कि तुम हमारे सच्चे पुत्र हो। चौदह वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक लक्ष्मण ने माँ की आज्ञानुसार श्री राम की सेवा करके यह प्रमाणित कर दिया है कि वे माँ के सच्चे पुत्र हैं। अतः गोस्वामी जी ने यह संकेत करते हुए बताया कि राम चरण रति जान करके माता सुमित्रा ने अपने पुत्र का आलिंगन किया। कितना उच्चतम आदर्श है भक्ति का यहाँ पर, यह मननीय है।

संक्षेप में, किन्तु सुन्दरतम रूप में महाकवि ने अपनी अमरकृति में माता सुमित्रा के उज्ज्वल चरित्र को प्रस्तुत किया है। महाकाव्य के श्रेष्ठतम आदर्श पात्रों में वीर माता सुमित्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज भी आर्य देवियाँ उनके विशद जीवन से प्रेरित हो अपने पुत्रों को लोक सेवा तथा धर्म सेवा के लिए समर्पित करती हैं, किन्तु उनकी संख्या दिनों-दिन घटती जा रही है, यह खेद का विषय है। आर्य महिलाओं को अपने मातृत्व को सफल बनाने के लिए माता सुमित्रा के जीवन को सादर समझना चाहिए तथा उससे प्रेरणा लेनी चाहिए जिससे नारी के गुरुतर दायित्व को वहन करने की उनमें सामर्थ्य आ सके।

आदर्श सन्तान को जन्म देने के लिए पहले स्वयं को सजग करना होगा, मिथ्या धारणाओं से मुक्त हो जीवन के यथार्थ को समझना होगा, ममता रहित होकर लोक हितैषी वीर तथा सर्वस्व उत्सर्ग करने वाली श्रेष्ठ संतति के सृजन में स्वयं को उत्तम साधन रूप में उपस्थित करना होगा। महाकवि की यही अभिलाषा इस आदर्श मातृ चरित्र सृजन के पीछे प्रतीत होती है। वर्तमान के बनावटी वातावरण से विमोहित नारी समाज को उसके कर्त्तव्य के प्रति सजग करने के लिए यह अति आवश्यक है कि उसे युगधर्म द्रष्टा की नारी के श्रेष्ठ स्वरूप की परिकल्पना को समझाया जाए और तदनुसार उसके लिए सुशिक्षा की व्यवस्था भी की जाए जिससे कि वह सुसंस्कारों की अभिवृद्धि कर अपनी आने वाली सन्तति को सुसंस्कृत बना सके।

मानस में जहाँ पर देवी कौशल्या और सुमित्रा के चरित्र द्वारा नारी जाति के श्रेष्ठ स्वरूप को उपस्थित किया गया है वहीं पर एक ऐसे चरित्र का भी वर्णन किया है जो विशुद्ध होते हुए स्वयं को कुसंगति के प्रभाव से कलंकित कर लिया, वह चरित्र है देवी कैकेई का। आगे अब उसी को व्यक्त किया जाएगा।

# कैकेई

पूर्वापर विचार कर पाठक यह समझ सकेंगे कि कुसंग का कितना प्रवल कुप्रभाव होता है। कैकेई महाराज दशरथ की पटरानियों में उनकी अत्यन्त प्रिय वल्लभा थी। उसके सौन्दर्य ही नहीं शौर्य, साहस, सरलता युक्त सुकोमल स्वभाव से सम्राट् उस पर विमुग्ध थे। उसका अन्तर कितना विशुद्ध था इसका अनुमान हम उसके पुत्र महात्मा भरत के जीवन को देखकर लगा सकते हैं। महाकवि इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि-

**फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली।।**

**(रा० २/२६१-४)**

कोद्वों के पौधे में न तो कभी सुन्दर धान की बाल लग सकती है और न कभी घोंघी से मुक्त का प्रसव ही हो सकता है। जैसे ये दोनों बाते सत्य हैं उसी प्रकार से यह भी सत्य है, दुष्टात्मा कभी महात्मा का जनक नहीं हो सकता, कुमति कुटिला नारी किसी श्रेष्ठ सन्तान की माता नहीं हो सकती। मानस को देखने से यह ज्ञात होता है कि महाकवि की अभिलाषा का आदर्श मानव इस महाकाव्य में महात्मा भरत के रूप में ही हमारे समक्ष आता है। मानस के राम तो सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, उनका सारा कर्तृत्व नाटक मात्र है, क्रीड़ा मात्र है, वे जो कुछ भी करते हैं केवल भक्त हितार्थ। इसलिए कभी-कभी कुछ ऐसे कार्य भी कर देते हैं जो मानवीय दृष्टि से अननुकरणीय कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं, भगवान् की बराबरी भला इन्सान क्या करेगा -

**जौं अस हिंसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।**
**परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान।।**

**(रा० १/६९)**

यह गोस्वामी जी का कथन है, किन्तु भरत भगवान् नहीं भक्त हैं, परमात्मा नहीं महात्मा हैं, उनका चरित्र सर्वथा मनुष्य के लिए आदर्श है,

अनुकरणीय है। उनके विषय में महर्षि वशिष्ट का यह कथन महाकवि की अन्तर्चेतना की आवाज़ है-

**समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई।।**

**(रा० २/३२३-८)**

हे तात् भरत ! जो तुम विचार कर निश्चित् करोगे, कहोगे और व्यवहार में लाओगे वही जगत् में धर्म का सार होगा। महात्मा भरत के पुनीत चरित्र से परमात्मा राम भी विमुग्ध हो गए हैं। सारा जगत् राम का स्मरण करता है, किन्तु राम भरत का सुमरिन करते हैं-

**जगु जप रामु राम जप जेही।**

**(रा० २/२१८-८)**

**सुमिरत जिनहि रामु मन माहीं।**

**(रा० २/२१७-३)**

महाकवि भरत के परमपुनीत आचरण पर न्यौछावर हैं और उनका कथन है कि-

**भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ।**

**(रा० २/३०४-१)**

वेद के लिए भी भरत के स्वभाव को समझ पाना सुगम नहीं, दूसरे की तो सामर्थ्य ही क्या है-

**जानहिं रामु न सकहिं बखानी।**

**(रा० २/२८९-२)**

जब राम की यह स्थिति है तो कवि-कुल के लिए कुछ कहना सम्भव कैसे हो सकता है? विचारणीय विषय यह है कि जिस भरत की महिमा के सम्बन्ध में गोस्वामी जी के ये उद्‌गार हैं उस महिमावान् भरत को जन्म देने वाली जननी का जीवन कितना महान् होगा। यह तो हम सभी जानते हैं कि रत्न तो उत्तम पर्वतों की खान में ही उत्पन्न होते हैं, उसे बालू के टीबों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। भरत जैसे पुत्र रत्न को ज़न्म देने वाली जननी का हृदय कितना विशाल होना चाहिए इसका हम अनुमान लगा सकते हैं। किन्तु कैकेई का जीवन जिस रूप में राम कथा के साथ हमारे सामने आता है वह अवांछनीय है। यह कारण है कि मानस में जहाँ-तहाँ भरत और उनकी माँ के जीवन को देखते हुए जन-सामान्य का हृदय कह उठता है-

**कैकइ जननि जोगु सुत नाहीं।**

**(रा० २/२२३-४)**

आखिर माता और पुत्र के जीवन के संस्कार इतने विरुद्ध क्यों और कैसे हो गए ? यह एक विचारणीय विषय है। देवी कैकेई का परिचय महाकवि ने अपने महाकाव्य की भूमिका में ही एक क्रूर हृदया एवं कुत्सित मति नारी के रूप में कराया है। ऐसी कुमति जिसके कारण अवधपुरवासियों पर अचानक ही भयंकर विपत्ति आ पड़ती है और उनके हृदय का उल्लास कारुण्य में बदल जाता है। यथा-

**राम तिलक हित मंगल साजा। परब जोग जनु जुरे समाजा।।**
**काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी।।**

**(रा० १/४१-७)**

कैकेयी की कुमति ने किस अवसर पर अवधपुरवासियों को घोर विपत्ति में डाल दिया इसका भी यहाँ संकेत मिल जाता है। इस रूपक के माध्यम से राम कथा से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य घटनाओं को महाकवि ने इंगित किया है। निर्मल हृदयरूपी मानसरोवर से प्रवाहित होने वाली श्री राम सुयश रूपी अनुपम जल से पूरित कविता सरिता का वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा है कि रामराज तिलक के लिए जो मंगल साज सजाया गया है वही मानो पर्व के समय इस पुनीत सरिता में स्नान करने के लिए यात्रियों के समूह इकट्ठे हुए हैं। कैकेई की कुमति ही इस सरिता में काई है, जिसके फलस्वरूप भारी विपत्ति आ पड़ी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रामराज्याभिषेक के अवसर पर ही देवी कैकेयी की कुमति ने कुचाल करके अवधपुरवासियों पर घोर विपत्ति डाल दी। आगे के दोहे का अर्ध भाग यह बता रहा है कि-

**समन अमित उतपात सब भरतचरित जप जाग।**

**(रा० १/४१)**

भरत का पावन चरित उस विपत्ति-जन्य उत्पात को शमन करने के लिए जपयज्ञ के समान है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कैकेई के कुमति-जन्य पाप कृत्य का प्रायश्चित भरत जी करते हैं अतः इनका उससे अवश्य विशेष सम्बन्ध है। देवी कैकेई के लिए कुत्सित मति होने का कवि ने अनेकों स्थानों पर उल्लेख किया है क्योंकि कुमति का फल ही घोर विपत्ति होता है-

**जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।**

पति, पुत्र, परिवार तथा अवधपुरवासियों पर जो एकाएक घोर विपत्ति आ पड़ी है वह कैकेई की कुमति का ही परिणाम थी। कुमति का लक्षण बताते हुए गोस्वामी जी ने कहा है-

**तब उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता।।**

**(रा० ५/४०-७)**

अर्थात् कुमति आने पर मनुष्य मित्र को शत्रु तथा शत्रु को ही मित्र मान बैठता है, करणीय को अकरणीय तथा अकरणीय को ही करणीय समझ लेता है। गीता में भगवान् ने इसे तामसी बुद्धि कहा है-

**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।**

**(गीता १८/३२)**

हे पार्थ ! तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को ही धर्म मान लेती है और सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत स्वीकार करती है। इसी तमोमयी बुद्धि को कुमति कहा जाता है। हम आगे देखेंगे की देवी कैकेई की बुद्धि किस प्रकार तमसावृत हो गई थी। गोस्वामी जी ने कैकेई के चरित्र में ऐसी नारी का चित्रण किया है जो बहुसंख्यक महिला समाज की सहज वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। देवी कैकेई महाराज दशरथ की सर्वाधिक प्रिय पट्ट महिषी है। कथा प्रसंग में हमें उनका दर्शन पुत्रेष्टि यज्ञ समापन के समय अग्निदेव द्वारा दिये गये चरु-वितरण के समय होता है। अग्निदेव के आदेशानुसार ही चरु महाराज की तीनों पटरानियों में वितरित किया जाता है जिसमें चरु का आधा भाग महारानी कौशल्या को दिया जाता है, फिर बचे हुए आधे भाग के दो भाग होते हैं जिसमें एक भाग कैकेई को देते हैं, शेष चौथाई भाग में फिर दो भाग किये जाते हैं और उन दोनों भागों को एक-एक करके कौशल्या और कैकेई के हाथों पर रखकर इनकी अनुमति से वह दोनों सुमित्रा को दे दिये जाते हैं। हवि का वितरण इस ढ़ग से होता है कि उसमें कौशल्या की प्रधानता स्पष्ट दिखाई देती है, किन्तु इस क्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन होना शक्य नहीं था क्योंकि अग्निदेव की ऐसी ही आज्ञा थी। कैकेई के प्रति राजा का अधिक स्नेह होगा किन्तु बड़ी रानी होने से प्रधानता तो कौशल्या की ही सर्वत्र दिखाई देती है। अन्य रानियाँ उनके साथ ही सम्बन्धित होती हैं यथा-

**कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।**

**(रा० १/१८८)**

**तबहिं रायँ प्रिय नारि बोलाई। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं।।**

**(रा० १/१९०-१)**

इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में कौशल्या प्रथम स्थान में होती है। सम्भव है आदर्श की प्रतिष्ठा को ध्यान में ही रखकर महाकवि ने ऐसा किया है। किन्तु कई ऐसे स्पष्ट वाक्य मानस में ही उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि सम्राट पूर्णरूप से कैकेई के वश में थे। सौन्दर्य, नारी जीवन की श्रेष्ठतम निधि है और यदि उसके साथ सात्त्विक गुणों का सहयोग मिल जाये तो फिर कहना ही क्या। मानस में कैकेई के जीवन के मनन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह देवी केवल सौन्दर्य की साकार प्रतिमा ही नहीं थी बल्कि सरलता, उदारता, सहृदयता के साथ ही साहस एवं शौर्य गुणों से भी सम्पन्न थी जो कि एक क्षत्राणि के लिए परम आवश्यक है। उसके इन समस्त गुणों पर ही सम्राट विमुग्ध थे। सौभाग्यशालिनी कैकेई ने भरत जैसे पुत्र की माता होने का गौरव प्राप्त किया। पुत्र की बाल सुलभ क्रीड़ा तथा उनके किशोरावस्था में विवाह आदि मंगल कार्यो में सभी महारानियों के समान ही कैकेई ने भी अनुपम आनन्द की अनुभूति की। आनन्द मंगल के साथ ही आमोद-प्रमोद में जीवन का बहुत बड़ा भाग समाप्त हो गया। गोस्वामी जी के विचार से ऐसा ध्वनित होता है कि इस अवस्था में ही सम्राट को कई बार यह प्रेरेणा दी की राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करके अब उन्हे राज्य कार्य भार से उपरत हो जाना चाहिए। महाराज की भी यही अभिलाषा रही कि-

**मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू।।**

**(रा० २/४-३)**

सम्राट ने अपनी चाह गुरुदेव के समक्ष व्यक्त की तो महर्षि वशिष्ट ने बड़ी प्रसन्नता से अनुमति देते हुए कह दिया कि-

**बेगि बिलम्बु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।**
**सुदिन सुमंगल तबहिं जब रामु होंहि जुबराज।।**

**(रा० २/४)**

जन सभा एवं मन्त्री परिषद् के समक्ष जब यह प्रस्ताव आया तो सभी ने एक स्वर से इसका समर्थन ही नहीं किया बल्कि इसके लिए सम्राट की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की और कहा-

**जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा।।**

**(रा० २/५-६)**

फिर क्या था महाराज की कल्पना वेली को सुन्दर डाली का सहारा मिल गया और वह हरी-भरी होकर फैलने लगी। सारे अवध में क्षण मात्र में यह घोषणा हो गई कि दूसरे दिन ही राम को युवराज पद पर अभिषिक्त किया जाएगा। सभी प्रियजन, प्रजाजन को मानों अभिमत वरदान मिल गया हो। सभी घरों में मंगल साज सजाया जाने लगा। घर-घर में देवियाँ मंगल गान गाने लगीं। अयोध्या नगरी नयी दुल्हन के समान सजने लगी। उसके परम सौभाग्य का यह दिन था कि उसकी चिर अभिलाषा पूर्ण होगी, राम उसके अधिपति होंगे। राज महल में बधावा बज रहा है, रनिवास में इसका समाचार कौशल्यादि महारानियों को मिल गया, सभी प्रमुदित निर्विघ्न इस मंगल कार्य की पूर्ति के लिये देव, पितर,विप्र आदि की पूजा में रत हो गई। आश्चर्य तो इस बात का है कि सारी नगरी में यह बात फैल गयी। राज दरबार से यह घोषणा हो गई किन्तु महारानी कैकेई को इसकी कोई सूचना ही नहीं दी गई। यहाँ दो बातें ऐसी हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि इसके पीछे अवश्य ही कोई राज़ होगा। एक तो इतने महान् कार्य के अवसर पर भरत की अनुपस्थिति और दूसरा इसका तुरन्त महारानी कैकेई को समाचार न दिया जाना। यद्यपि अन्य रामायणों में इसका संकेत मिलता है कि महाराज इस बात के लिए वचन बद्ध थे कि कैकेई के पुत्र को ही सम्राट का उत्तराधिकारी बनाया जाएगा, किन्तु राम के रूप, गुण से राजा इतने प्रभावित थे कि वे उनको ही युवराज पद देना चाहते थे इसलिए यह सारा कार्यक्रम इस ढ़ंग से बनाया गया था कि जिससे भरत की अनुपस्थिति में यह काम सम्पन्न हो जाए और रानी को सम्मान से विमुग्ध कर उसे इसका स्मरण न होने दिया जाए कि उसके साथ इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा की गई है। किन्तु इस विषय में गोस्वामी जी के मत से किसी प्रकार की कोई चाल नहीं है। सत्य संध्य महाराज ने सत्य की रक्षा के लिए ही राम और उनके वियोग में अपने प्राण तक का त्याग कर दिया, उनको किसी वायदे से मुकरने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। महाराज ने शंकर की शाखी करके कहा है-

**मोरे भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी।।**

**(रा० २/३१-६)**

इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे भरत को युवराज पद देना चाहते थे। यदि प्रतिज्ञा किये होते तो अवश्य ही भरत को राज्य पद पर अभिषिक्त करते, किन्तु इस प्रकार की प्रतिज्ञा का न कैकेई ने ही कोई संकेत किया है और न महाराज ने ही। भरत की अनुपस्थिति में राम राज्याभिषेक यह एक चिन्तनीय विषय

है, किन्तु मानस के इस प्रसंग को देखते हुए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गुरुदेव द्वारा बताया गया मुहूर्त दूसरे दिन ही था और इतने शीघ्र भरत का ननिहाल से लौट आना सम्भव नहीं था।

महाराज की मृत्यु के बाद जब भरत जी को बुलाया गया था तो सप्ताह तक वे आ सके थे। इसके पीछे किसी प्रकार की चाल दिखाई नहीं देती। केवल भरत का दूर होना इसमे कारण था। इसमें यह भी कहा जा सकता है कि मुहूर्त दूसरा भी निकाला जा सकता था। यह बात सत्य है, किन्तु राज्याभिषेक का योग व मुहूर्त इतनी शीघ्र आने वाला न रहा होगा, दूसरा यह भी हो सकता है कि देवताओं तथा ऋषियों द्वारा बनाई गयी योजना, जिसमें राम को राज्यासीन होने से पूर्व वनवास तथा निशाचर नाश के कार्यक्रम में महर्षि वशिष्ट की भी सम्मति अवश्य रही होगी और यह कार्य भरत की अनुपस्थिति में ही सुविधा से हो सकता था इसलिए महर्षि ने दूसरे दिन का मुहूर्त बता दिया और तैयारी की आज्ञा भी दे दी, किन्तु महाराज इस विषय में बिल्कुल निर्दोष हैं, उन पर किसी प्रकार की चाल की आशंका करनी अनुचित है। रही महारानी कैकेई को तत्काल सूचना न मिलने की बात यह तो जिस प्रकार अन्य महारानियों को उनके सेवकों द्वारा यह समाचार मिला था, उसी प्रकार महारानी कैकेई की दासी मंथरा के द्वारा उनको भी समाचार पहुँचा और उसी दिन सायंकाल को राज्यसभा का विसर्जन होते ही सम्राट स्वयं अपनी प्राण वल्लभा को यह शुभ समाचार सुनाने के लिए सानन्द उपस्थित होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पीछे महाराज के हृदय में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं था। किन्तु महर्षि वाल्मीकि के अनुसार राम जन्म से पूर्व ही रावण वध तथा निशाचर नाश के लिए ही महर्षियों ने पुत्रेष्टि यज्ञ करने का परामर्श दिया और उसकी सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्न भी किया था। राम वनवास की घटना में गुरु वशिष्ट का सर्वथा मौन रहना यह प्रकट करता है कि इसके पीछे कोई रहस्य है। राम वनवास की सूचना महर्षि याज्ञवल्क्य ने देवी सुनयना को पहले ही दे दी थी। उन्होंने महारानी कौशल्या से यह चित्रकूट की गोष्ठी में बताया भी था -

**रामु जाइ बनु करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू।।**
**यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा।।**

**(रा० २/२८५-६,८)**

किन्तु महर्षि वशिष्ट ने इस रहस्य का उद्घाटन नहीं किया था और नीतिशास्त्र के अनुसार करना भी नहीं चाहिए था। चित्रकूट की प्रथम सभा में

वशिष्ट ने इतना अवश्य कहा था कि- **'राम जनम जग मंगल हेतु'** राज्य का सुख भोगने के लिए नहीं जगत् का मंगल करने के लिए ही राम का जन्म हुआ है। भरत को समझाते हुए भी यही बात कही थी कि जो कुछ भी हुआ है वह विशेष रूप में शोचनीय नहीं है और सलाह भी दी थी की-

**सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ।।**

**(रा० २/१७५-८)**

मंत्री तथा माता कौशल्या ने भी इस गुरु आज्ञा का समर्थन किया था। सारांश यह है कि राम वनवास की घटना कुछ इस प्रकार घटित होती है कि उसे होनहार की प्रबलता के सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए गुरु वशिष्ट का कथन है-

**सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।**
**हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ।।**

**(रा० २/१७१)**

**अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू।।**

**(रा० २/१७२-१)**

महात्मा भरत को समझाते हुए महर्षि भारद्वाज ने भी यही कहा था-

**सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अन्तहुँ पछितानी।।**

**(रा० २/२०७-६)**

राम वनवास तथा दशरथ मरन आदि की दुर्घटना में देवी कैकेई निमित्त अवश्य बंन गई, किन्तु योजनाबद्ध कार्यक्रम निर्धारित करने वाली शक्तियाँ उसके पीछे दूसरी ही थी। पूरे प्रसंग पर गहराई से विचार करने से यही तथ्य सामने आता है, किन्तु दैववाद, कर्मवाद, भाग्यवाद की बातें तो मनुष्य उसी समय स्वीकार करता है जिस समय कोई कार्य उसकी शक्ति से बाहर हो जाता है। अपनी सामर्थ्य का प्रयोग करने के पश्चात् भी जब कोई बात नहीं बनती तो ईश्वरीय इच्छा स्वीकार कर विवेकी लोग स्वयं को समझा लेते हैं। सरल शब्दों में यदि इस बात को कहा जाये तो यह स्वीकार करना होगा कि मानव की मजबूरी का दूसरा नाम दैव इच्छा है। सती प्रसंग में भी हम यही देखते हैं, भगवान् शंकर के विविध प्रकार से समझाने पर भी जब सती का भ्रम नहीं ज़ाता तो शिव यही सोचकर स्वयं को समझा लेते हैं-

**मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।।**

**हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदयँ बिचारत संभु सुजाना।।**

**(रा० १/५६-६)**

ये बातें तो उन लोगों की हैं जो सुजान हैं, जिनका चित्त विशुद्ध है, जो विकास की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, जिनको प्रत्येक घटना के कार्य कारण तत्त्वों का बोध है। किन्तु जो सामान्य स्तर के लोग हैं वे तो जो कुछ प्रत्यक्ष दिखता है उतना ही मानते हैं, उसके अनुसार ही पाप-पुण्य का दोषारोपण करते हैं। दर्शक को पर्दे के पीछे का पता नहीं होता वह तो अभिनेता को ही निन्दा और प्रशंसा का पुरस्कार देता है। मानस में हम देखते हैं माता कौशल्या, गुरु वशिष्ट, महर्षि भारद्वाज आदि ऐसे अनेकों विवेकशील लोग हैं जो कैकेई को इस कलंक से मुक्त बताने की कोशिश करते हैं। श्री राम तो सदैव माता कैकेई को निष्कलंक ही घोषित करते हैं। कैकेई को दोषी ठहराने के लिए कहते हैं-

**दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई।।**

**(रा० २/२६३-८)**

हम देखते हैं सभी सयाने और समझदार लोग कैकेई को निर्दोष बताने की घोषणा करते ही रहे किन्तु जनता की दृष्टि में वह कलंकिनी ही बनी रही। आज का पाठक भी प्रायः उसे इस कलंक से मुक्त मानने के लिए तैयार नहीं है। दूसरों की बात तो अलग रही, विवेकनिधि महात्मा भरत ने भी माता को इस अपराध से क्षमा नहीं किया। गोस्वामी जी ने लिखा है-

**कैकेयी जौलों जियति रही।**
**तौलौं बात मातुसों मुँह भरि भरत न भूलि कही।।**
**मानी राम अधिक जननीतें, जननिहु गँस न गही।**
**सीय-लषन रिपुदवन राम-रुख, लखि सबकी निबही।।**
**लोक बेद-मरजाद दोष-गुन-गति चित चख न चही।**
**तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम-सनेह सही।।**

**(गीतावली ७/३७)**

कैकेई जब तक जीवित रहीं तब तक भरत ने कभी मुँह भर बात माता से नहीं की। राम उसे अपनी माता से भी अधिक सम्मान देते रहे, माता कौशल्या ने भी उसके प्रति किसी प्रकार की गाठ व मन-मुटाव नहीं रखा। सीता, लक्ष्मण, शत्रुसूदन आदि ने भी राम के रुख को देखकर उसके साथ वैसा ही आदर का व्यवहार किया, किन्तु भरत ने तो श्री राम प्रेम को ही सुन और समझ कर उसकी

रक्षा की। उन्होंने लोक या वेद की मर्यादा व गुण-दोष की गति की ओर न तो कभी चित्त ही लगाया और न दृष्टिपात किया। भला उस माँ की आजीवन क्या गति रही होगी जो अपने विश्ववंद्य इकलौते पुत्र द्वारा सदा के लिए एक कलंकिनी के रूप में त्याग दी गयी हो। पाठक इस की कल्पना स्वयं ही कर सकते हैं।

इतिहास हमें कुछ सिखाता है। उसकी विविध घटनाएँ हमारे जीवन को सही दिशा अपनाने के लिए प्रकाश प्रदान करती हैं। इसी दृष्टि को सामने रखकर वैदिक ऋषियों ने विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के साथ ही मानव जाति के लिए अनेकों प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं को भी अपने अमर साहित्य में स्थान दिया है। अथर्ववेद का यह मंत्र बताता है कि विविध विद्याओं के साथ ही इतिहास-पुराण भी मानव के लिए मननीय है-**"इतिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"** (अथर्ववेद १५/६-११,१२)

उसके पीछे इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी ये सब चले। इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसियों का वह प्रिय धाम हो जाता है जो यह जानता है। इसी वेद में हमें यह भी पता लगता है कि इतिहास पुराणों की रचना की परम्परा हमारी बहुत प्राचीन है। जैसा कि आधुनिक विद्वानों ने यह माना है कि प्राचीन काल के भारतीय विद्वान इतिहास लिखना नहीं जानते थे। यह उनकी प्राचीन साहित्य से अनभिज्ञता के सिवाय और कुछ नहीं है। जो लोग यह मानते हैं कि पुराण साहित्य सर्वथा अर्वाचीन है, उनको भी अपने भ्रम निवारण के लिए अथर्ववेद के (११/४-३-४-२४) इस मंत्र को ध्यान से पढ़ना चाहिए-

**ऋचः सामानि च्छण्दांसि पुराणं यजुष सह।**
**उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वेदवि देवा दिविश्रिताः।।**

सात ऋचाएँ, साम, छन्द, यजु के साथ पुराण ये सब साहित्य उच्छिष्ट परमेश्वर से ही बने हैं। वैदिक साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें अनेकों प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का पता मिलता है। वैदिक ग्रंथों में इतिहास है ही नहीं यह मानना दुराग्रह के सिवा और कुछ नहीं है। हाँ यह बात अलग है कि उन घटनाओं को लेकर उसका आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ लगाया जा सकता है और वह ठीक भी है, क्योंकि मानव जीवन में घटने वाली घटनाएँ कोरे भौतिक जगत् का ही परिणाम नहीं होती। स्थूल जगत् में जो कुछ भी होता है वह सूक्ष्म जगत् की अभिव्यक्ति मात्र है जिसका बीज कारण जगत् में निहित होता है। यही कारण है कि

हमारे पूर्ण-प्रज्ञ ऋषियों ने आदि काल से ही जीवन के यथार्थ को समझने के लिए आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाने की सीख दी है। जीवन की समग्रता को केवल एक ही दृष्टिकोण को अपनाने से नहीं समझा जा सकता। एकांगी ज्ञान अधूरा होता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक साहित्य में जो युद्ध आदि की परिकल्पना है वह शून्य में आकाश कुसुमवत् नहीं कही जा सकती। भले ही उसका सम्बन्ध ऋषियों ने आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् से जोड़ दिया हो, किन्तु इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग यथार्थ की भूमिका पर से ही किये जाते हैं। जब हम किसी को यह बतलाना चाहते हैं कि आत्माराम ने ही विविध साधना रूपी वानरों की सेना को साथ लेकर मोह रूपी रावण का नाश किया और भक्ति व मुक्ति रूपी सीता को प्राप्त कर लिया तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस धरती पर कभी राम और रावण हुए ही नहीं। वैदिक विज्ञान की विशेषता यह है कि वह-**'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** के रहस्य का उद्‌घाटन करता है और यह बताता है कि स्थूल जगत् की घटनाओं को गहराई से चिन्तन के साथ देखने पर यह ज्ञात होगा कि इनकी जड़े सूक्ष्म जगत् में निहित हैं। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए यह बात कही गई है कि-**'इतिहास पुराणाभ्याँ वेदं समुप बृंह्यते'** इतिहासों और पुराणों के द्वारा वैदिक सिद्धान्त को प्रकाशित करना चाहिए। मैं इस विषय में यहाँ अधिक कुछ कहना प्रस्तुत विषय से असम्बन्धिंत होने से उचित नहीं समझता । इतनी बात तो इसलिए कह दी है जिससे पाठकगण यह समझ लें कि इतिहास का प्रयोजन केवल बीती हुई घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना मात्र नहीं है; उसका सही उपयोग है उन घटनाओं के परिणाम को ध्यान में रखते हुए उससे सही मार्ग की शिक्षा लेना।

रघुवंश की वधु, सत्यसंध सम्राट दशरथ की प्राण वल्लभा, महात्मा भरत की माता होते हुए भी देवी कैकेई आज दिन तक जनमानस की दृष्टि में आदर का पात्र नहीं बन सकी। समय के सभी सुजान लोग उसकी निर्दोषता को सिद्ध करते रहे, भगवान् श्रीराम ने उनको दोषी ठहराने वालों को जड़ मति तक कहा, किन्तु राम गाथा को लिखते समय न किसी कवि ने ही उसे स्वीकार किय और न ही पढ़ने वाली जनता ने। इससे हमें क्या उपदेश मिलता है? विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि यदि हम कुसंग में पड़कर स्वार्थ में अंधे हो जाते हैं, कुमति का सहारा लेकर किसी दूसरे को दुःखी करने के लिए कुटिल कार्य में प्रवृत्त होते हैं, अपने हित चिन्तक श्रेष्ठ जनों की शिक्षा की अभिमान व अज्ञानवश उपेक्षा करते

हैं, तो ईश्वर के यहाँ से भले निर्दोष मान लिए जाएँ पर दुनिया की दृष्टि में हम ऐसे कलंक के भाजन बनेंगे जो युगों तक भी दूर नहीं किया जा सकेगा। अतः हमारे लिए यह उचित है कि हम कुसंग से सदा बचते रहें। यह बात याद रखनी चाहिए कि **'सुमति कुमति सबके उर रहई'**। क्योंकि त्रिगुणात्मिका सृष्टि में हमारा चित्त भी उसी का एक अंश है। अब यह हमारे ऊपर ही निर्भर है कि हम किस गुण की स्वयं में वृद्धि करते हैं। जिस गुण की वृद्धि होगी हमारे चित्त की सारी गतिविधि भी उसी के अनुसार चलेगी और जिस प्रकार का हमारा खान-पान होगा, जिस प्रकार के लोगों में हम रहेंगे उसी प्रकार के हमारे में संस्कार पड़ेंगे, हमारे में उसी प्रकार के गुणों का विकास होगा। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि केवल सामान्य लोग ही नहीं कभी-कभी अपने को सुजान समझने वाले भी कुसंगति में पड़ कर दुर्वृत्तियों के शिकार हो जाते हैं। देवी कैकेई को हम ऐसी ही एक सयानी के रूप में पाते हैं जिस को मिथ्या समझदारी के अभिमान ने घोर विपत्ति के गढ़े मे धकेल दिया है। कुसंगति के प्रभाव में आने से पूर्व कैकेई एक उदार ह्रदया नारी के रूप में हमें दर्शन देती है। उसका राम में अगाध प्रेमं है, सीता को वह पुत्र वधू माण्डवी से भी अधिक प्यार करती हुई दिखाई देती है। उसका सरल ह्रदय उस समय राम के प्रेम में विह्वल हो जाता है, वह आनन्द में झूम उठती है, जिस समय मंथरा से उसे ज्ञात होता है कि कल प्रातः राम युवराज पद पर आसीन होंगे। रघुकुल के गौरव का तथा उसकी रीति-नीति का भी उसे पूर्ण भान है। उस प्रसंग को हम थोड़ा यहाँ पर पाठकों को यह बताने के लिए उद्धृत करते हैं कि चंद मिनटों में ही महारानी के मस्तिष्क में कितना महान् परिवर्तन आ जाता है। महाकवि ने मानस की राम कथा को भूलोक की अपेक्षा देवलोक से अधिक सम्बन्धित किया है। हम यत्र-तत्र देखते हैं कि विभिन्न अवसरों पर मानव समाज के समान ही देव समाज हर्षोल्लास तथा विषाद का भी अनुभव करता है। वह मंगल अवसरों पर पुष्प वृष्टि करता है, बधाई व दुन्दुभी बजाता है; जय-जयकार करता है, देव-वधूटियाँ नृत्य भी करती हैं और मंगल गीत भी गाती हैं। इसी प्रकार संकट काल में सभी दुःखी भी होते हैं और भयभीत भी। गोस्वामी जी की दृष्टि में देव समाज महा स्वार्थी है और दम्भी भी है-

**आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी।।**

**(रा० ६/११०-२)**

देवताओं की तो बात ही क्या है देवराज इंद्र को भी उन्होंने काक और

स्वान की श्रेणी में ला बिठाया है-

**काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।।**

**(रा० २/३०२-२)**

**सरिस स्वान मघवान जुबानू।**

**(रा० २/३०२-८)**

मेरे विचार से गोस्वामी जी ही ऐसी दृष्टि नहीं रखते व्याकरण शास्त्र के रचयिता महामुनि पाणिनी ने मधुवन को स्वान के साथ ही गिनाया है। मानस में तो उसी व्याकरण के सूत्र का ही हिन्दीकरण हुआ है। राम राज्य की तैयारी में देवता लोग दुःखी हैं कारण कि यदि राम राज्यासीन हो जाते हैं तो उनका उद्धार नहीं होगा। देवताओं की प्रार्थना पर ही देवी सरस्वती ने मंथरा को अपयश की पिटारी बनाकर उसकी मति को फेर दिया है। नगर के साज-बाज बधाव को देखते ही मंथरा उसका कारण पूछती है और राम तिलक का समाचार सुनकर उसका हृदय संतप्त हो जाता है। वह व्याकुल हृदय से देवी कैकेई के पास जाती है, उसकी उदासी और व्याकुलता को देखकर महारानी पूछती हैं कि तुम्हारे अनमनेपन का कारण क्या है? क्या लक्ष्मण ने कोई सीख तो नहीं दी? बार-बार पूछने पर भी वह नहीं बोलती है। उसकी स्थिति का महाकवि इस प्रकार वर्णन करते हैं-

**ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू।।**
**हँसि कह रानि गालु बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें।।**
**तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि।।**

**(रा० २/१३-६ से ८)**

एक बात यहाँ पर ध्यान में रखनी है कि नारी निन्दक होने का महाकवि पर जिन अर्द्धालियों को उद्धृत करके आरोप लगाया जाता है, उनमें से अधिकांश देवी कैकेई तथा उनकी दासी मंथरा से ही सम्बन्धित हैं। यहाँ पर भी **'नारी चरित करि ढारइ आँसू'** में भी कुछ लोगों को नारी निन्दा का दर्शन हो जाता है, किन्तु वह तो उन आलोचकों की पैनी बुद्धि का ही कमाल है। इस प्रकार की स्थिति में यदि कोई नारी लेखिका होती तो शायद यही उसकी कलम से भी लिखा जाता। हमारे अवध के ग्रामीण क्षेत्रों में यह मुहावरे के रूप में प्रयोग होता है और प्रायः स्त्रियाँ इस प्रकार की स्त्रियों के लिए ऐसा ही प्रयोग करती हैं। बार-बार पूछने पर जब कोई उत्तर नहीं मिला और मंथरा उलटी श्वास लेते आँसू ढरकाती रही तो किसी अनिष्ट विशेष की आशंका से रानी घबरा सी गई और बोली-

**सभय रानी कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।**
**लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु।।**
**(रा० २/१३)**

जो सबसे अधिक प्रिय होता है, उसके अनिष्ट की आशंका भी सबसे अधिक होती है। देवी कैकेई के प्रसंग में सर्वप्रथम राम की कुशलता जानने की ही आतुरता है, अपना पुत्र तो पति तथा लक्ष्मण के भी पश्चात् ध्यान में आया। इससे राम के प्रति उसके अगाध अनुराग का पता लगता है। इसी बात को वह आगे भी प्रकट करती है। रानी की घबराहट को देखते हुए मंथरा एक छोटा सा व्याख्यान दे देती है-

**कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई।।**
**रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जेहि जनेसु देइ जुबराजू।।**
**भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन।।**
**देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा।।**
**पुत्र बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें।।**
**नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई।।**
**(रा० २/१४-१ से ६)**

मंथरा का पार्ट वाकई में एक ऐसी कुशल कुटनी का पार्ट है जो किसी भी सुसभ्य परिवार को अपने माया जाल में फँसाकर विनाश के मुँह में पहुँचाने में सफल हो सकती है। रानी के प्रश्न में आतुरता और घबराहट को देखकर वह योजनाबद्ध वाणी में उत्तर देना प्रारम्भ करती है। मुझे कोई सीख क्यों देगा, मैं किसके बल पर बढ़-चढ़कर बोलूँगी। किसी आश्रित के अपने मालिक के समक्ष इस प्रकार के वाक्य उसके महत्त्व को चुनौती देने वाले होते हैं? स्वाभिमानी को अपने अस्तित्व की हीनता की गंध आने लगती है और वह अपने अहं को सम्भालने लगता है। मानसिक भूमिका में इस प्रक़ार की बातें विक्षोभ पैदा कर देती हैं। कैकेई जैसी सहज गर्विता, अधिकार प्रिय नारी के लिए तो इतनी चुनौती ही उसके अहं को उकसाने के लिए पर्याप्त है। रानी की नस को पहचानने वाली चेरी ने पहले उसके अहं पर ही प्रहार किया। कौन है मेरा, किस के बल पर मैं गाल करूँगी? इसके साथ ही आगे कहती है- राम को छोड़कर आज और किसका कुशल है, जिसको महाराजं युवराज पद दे रहे हैं? आज कौशल्या को विधाता अनुकूल है, उसका गर्व हृदय में नहीं समा रहा, तुम जाकर स्वयं सारी साज-सज्जा

क्यों नहीं देखती जिसको देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया है। पुत्र परदेश में है तुम्हे इसका कुछ भी सोच नहीं। जानती हो कि स्वामी हमारे वश में हैं तुम्हें तो पलँग पर पड़े नींद लेना ही प्रिय लगता है। राजा की कपट चातुरी को तो तुम देख नहीं पाती। अभी चेरी ने इतना ही कहा था, उसका व्याख्यान पूर्ण नहीं हो पाया था कि रानी उसके अभिप्राय को ताड़ गई-

**सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी।।**
**पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी।।**

**(रा० २/१४-७)**

**काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।**
**तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि।।**

**(रा० २/१४)**

गोस्वामी जी जब किसी के उत्कर्ष व अपकर्ष का वर्णन करना चाहते हैं तब उसके लिए उसी प्रकार के सम्बोधन का प्रयोग करते हैं। यहाँ पर हम देखते हैं कि राम राज्य के समाचार से विक्षुब्ध हुई मंथरा जब कैकेई के पास आती है तो वहाँ पर लिखते हैं-**'भरत मातु पहिं गइ बिलखानी'** और जब मंथरा परिवार में विग्रह करने की अपनी कुटिल वृत्ति का परिचय देती है और उसको रानी तुरन्त ताड़ जाती हैं तथा उसकी भर्त्सना करते हुए दुबारा कभी ऐसी जबान न निकलने को कहती है तब भी 'भरत मातु मुसुकानि' ऐसा कहा है, किन्तु आगे जब कैकेई कुमति की क्रूरता को स्वीकार कर उस पर विश्वास कर लेती है और उसकी सम्मति के अनुसार कुकृत्य में प्रवृत्त हो जाती है तो उसके लिए फिर कभी 'भरत मातु' का सम्बोधन नहीं करते। वहाँ पर या तो उसको नाम से सम्बोधित करते हैं या फिर कैकेई सुता कहकर। अभी कैकेई का हृदय स्वच्छ है, उसकी बुद्धि भी सतर्क है इसलिए मलिन मन से कहे हुए मंथरा के प्रिय वचनों को सुनकर भी रानी झुककर डाँटती हुई बोली- "बस चुप रह घर फोरी कहीं की जो फिर कभी ऐसा कहा तो तुम्हारी जीभ पकड़कर निकाल लूँगी।" वास्तव में तो मंथरा इसी प्रकार के व्यवहार की पात्र थी। नीतिशास्त्र के अनुसार भी नीच वृत्ति वालों को मुँह नहीं लगाना चाहिए क्योंकि उनके द्वारा कभी भी हित की बात नहीं सुनी जा सकती। भरत की माता अपनी दासी के स्वभाव से परिचित है कि वह बहुबाती है इसलिए पहले भी कहा था **'गालबड़ तोरे'** किन्तु इस प्रकार की घर फोड़ने वाली बात कभी नहीं की थी। आज पहली बार कैकेई को यह बात सुनने को मिली है। आगे के

प्रसंगों में हम देखते हैं कि कैकेई में राम और उनकी माता के प्रति किंचित मात्र भी कहीं ईर्ष्या व द्वेष दिखाई नहीं देता। रानी कहती है- काने, लँगड़े और कूबड़ों को स्वभावतः कुटिल और कुचालि करने वाला जानना चाहिए, उनमें भी स्त्री और खास कर दासी हो तो कहना ही क्या ? इतना कहकर भरत की माता मुस्करा दी। कैकेई की सरल हृदयता को हम यहाँ अच्छी प्रकार अनुभव कर सकते हैं। मन की मलीनता को जानकर चेरी की भर्त्सना की, उसे डाँट भी दिखाई, किन्तु उसकी रोनी सूरत पर पुनः उसका सरल हृदय द्रवित हो गया। हृदय से वह नाराज नहीं है यह प्रकट करने के लिए मुस्करा दी। बाद में प्यार भरे शब्दों में उसको सम्बोधित करते हुए बोली-

**प्रिय बादिनी सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहुँ तो पर कोपु न मोही।।**
**सुदिनु सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई।।**
**जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई।।**
**राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली।।**

**(रा० २/१५-१ से ४)**

यहाँ पर महारानी ने मंथरा को प्रिय वादिनी कहा है। वे प्रियवचन कौन से हैं जिनके कारण यह प्रिय वादिनी बनी। अगली अर्द्धाली में ही उसको स्पष्ट कर दिया है, वह राम राज्याभिषेक का शुभ समाचार। महारानी का कथन है कि- वही मेरे लिए सुन्दर मंगलमयी शुभ दिन होगा जिस दिन तुम्हारी यह बात सत्य होगी अर्थात् राम युवराज पद पर अभिषिक्त होंगे। देवी कैकेई के अन्तर में भरत राज्य की कल्पना भी नहीं है क्योंकि वह जिस महान् कुल की कुलवधू है उसकी गरिमा युक्त मर्यादा को जानती है। बड़ा भाई स्वामी हो और छोटे भाई उसकी सेवा में रहें अर्थात् बड़ा भाई सम्राट् बने और छोटे भाई उसके विकास और संरक्षण का कार्य करें, यह सूर्यवंश की प्रथा है। इस वंश में अधिकार के लिए संघर्ष नहीं होते अपितु कर्त्तव्य पालन की स्पर्धा होती है। यही तो परिवार व समाज के सौन्दर्य का मूलमंत्र है। सूर्यवंश की महान् मर्यादा को जानने वाली कैकेई भला भरत के युवराज पद की कल्पना ही कैसे कर सकती है? वह कहती है कि-'यह दिनकर कुल रीति सुहाई'। यहाँ 'सुहाई' शब्द यह बता रहा है कि इस प्रथा को वह अनुचित व गलत करार नहीं देती । प्रथा बड़ी सुन्दर है ऐसा ही मानती है। राम को युवराज पद पर देखने की उसकी तीव्र उत्कंठा है। राजा से भी इस विषय में वह कहा करती थी। उसकी प्रसन्नता की वृद्धि के लिए ही उसे इस समाचार को सुनाने के लिए राजा

स्वयं ही सानन्द उसके महल में पधारते हैं और कहते हैं-

भामिनी भयउ तोर मन भावा। घर-घर नगर अनंद बधावा।।
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू।।

राजा के वचन भी इस बात का समर्थन करते हैं कि राम राज्याभिषेक की लालसा कौशल्या की अपेक्षा कैकेई को अधिक थी। इस बात का हम गोस्वामी जी के इन शब्दों से भी अनुमान लगा सकते हैं कि कौशल्या को जब अभिषेक के सम्बन्ध में सूचना मिलती है तो वे समाचार सुनाने वालों को भूषण-बसन आदि देकर सम्मानित करती हैं-

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए।।
(रा० २/८-१)

किन्तु माता कैकेई मंथरा को कहती है कि यदि सचमुच कल ही श्रीराम को राजतिलक होने को है तो हे आली ! जो तुम्हे मानभावता हो वह मेरे से माँग ले, मैं तुम्हें वही दूँगी। इस समाचार की खुशी में माँ मनभाती वस्तु देने के लिए तैयार है जबकि कौशल्या ने ऐसा नहीं कहा है। राम के प्रति कैकेई के अत्यन्तानुराग की बात सभी पुरजन, प्रजानन जानते हैं। आगे गुरु नारियाँ उसे इसी अनुराग की स्मृति दिलाते हुए समझाती हैं-

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना।।
करहु राम पर सहज सनेहू। केहिं अपराध आज बनु देहू।।
(रा० २/४९-५,६)

देवी कैकेई राम के प्रति अपने अमित अनुराग का कारण भी बताती है-

कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी।।
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी।।
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू।।
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें।।
(रा० २/१५-५ से ८)

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ।।
(रा० २/१५)

महाराज दशरथ की तीन सौ साठ रानियाँ थीं, ऐसा सुना जाता है। गीतावली के एक पद में सात सौ रानियाँ होने का भी संकेत मिलता है-

**पालागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सुत-साता।**

चारों भाई विवाह करके जब घर लौटे तो माता प्रसन्नचित से आरती उतारती हैं और दुलहनों को अपने ही समान सात सौ सासुओं के भी पाँवों पड़ना सिखाती हैं। कुछ विद्वानों ने यहाँ पर पालागनि का अर्थ नाइन से लिया है और अर्थ किया है कि नाइनें नई दुल्हिनियों को सिखा रही हैं कि सात सौ सासुओं को एक समान ही समझना है। इस पद में सात सौ रानियों का स्पष्ट उल्लेख है। उनमें से तीन पटरानियाँ थी। पट्ट महिषी उसे कहते हैं जिसके पुत्र को राज्य पद का उत्तराधिकार दिया जा सकता हो। देवी कैकेई कहती है कि कौशल्या के समान ही राम अपनी सम्पूर्ण माताओं का आदर-सम्मान करते हैं, सभी माताएँ उन्हें कौशल्या के समान ही प्रिय हैं फिर भी मेरे पर अन्य माताओं, यहाँ तक कि कौशल्या से भी अधिक प्रेम करते हैं इसकी मैंने कई बार परीक्षा करके देखी है। यदि विधाता मुझे पुनः इस संसार में जन्म देवे तो मेरी आन्तरिक अभिलाषा है कि राम मेरे पुत्र और सीता पुत्रवधू हों। इतना ही नहीं राम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं भला तू बता कि उनके राज्याभिषेक से तुम्हें क्षोभ क्यों हो रहा है, तुम्हें भरत की सौगन्ध है। तुम कपट और छिपाव को छोड़कर मुझे सचसच बताओ इस हर्ष के समय में तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है ? महारानी कैकेई के ये वचन बिल्कुल सहज भाव से निकले हुए हैं इसमें हृदय की सरसता साफ़ झलक रही है। राम के प्रति प्राण से अधिक प्यार और कौशल्या के प्रति ईर्ष्या रहित सद्भाव इसमें स्पष्टतः दिखाई देता है, किन्तु वाह रे कुसंगति की महिमा, तुम्हारी महत्ता भी अगम है। जो प्राण से भी अधिक प्रिय राम को बताती है, जिसने इसकी अनेकों बार परीक्षा भी कर ली है, वही अपनी प्रेम परीक्षा पर भी विश्वास न करके एक नीच के मत में आकर उसी राम को चौदह वर्ष के लिए कठोर कानन के वास का बिना अपराध ही दण्ड दे देती है। इसीलिए महाकवि ने कहा है-

**बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता।।**

**(रा० ५/४६-७)**

दुष्ट मनुष्यों की संगति की अपेक्षा नरक का निवास ही भला है। अभिप्राय यह है कि कुसंगति नरक से भी अधिक यातनाप्रद होती है। इस स्थिति का दर्शन आगे चलकर हम देवी कैकेई के जीवन में भी करेंगे।

कुटिला दासी की छलना भरी वाणी कैकेई के मर्म को पहले ही छू लिया है इसीलिए वह राम के प्रति अपना विश्वास और प्रेम प्रकट करती हुई भी दासी के

क्षोभ के कारणों को जानने को व्यग्र है और उसको स्पष्ट करने के लिए भरत की सौगन्ध दिलाती है। उसको यह विश्वास है कि भरत की शपथ लेकर जो भी दासी कहेगी वह कपट रहित सत्य होगा। बस यही रानी का विश्वास है जो उसके लिए सारे अनर्थों का कारण बन गया। मंथरा कैकेई की बच्चेपन की मुँहलगी दासी है। वह उसके विवाह के साथ ही नैहर से आई है। इस दासी का कैकेई पुत्र भरत के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है। मंथरा का वह प्रथम वाक्य **'गालु करब कहि कर बलु पाई'** यह बहुत ही मर्मभेदी तथा अर्थपूर्ण था। इसी कारण कैकेई उसे भरत की शपथ दिला कर उसके क्षोभ का कारण जानना चाहती है। दासी बहुत ही कुशल कुट्टनी है, वह इतनीं सरलता से बात करने वाली नहीं। रानी की व्यग्रता को और भी अधिक बढ़ाना चाहती है। कारण कि अत्यन्त व्यग्र व्यक्ति अपना बौद्धिक सन्तुलन खो बैठता है। उस अवस्था में फिर जो भी कुछ उससे कहा जाये वह पत्थर की लकीर हो जाता है। व्यग्रता की वृद्धि के लिए वह पुनः अपनी दीनता तथा रानी के प्रति ममत्व एवं उसकी हित चिन्ता की भावना प्रकट करते हुए कहती है-

**एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी।।**
**फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा।।**
**कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई।।**
**हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिनु राती।।**

**(रा० २/१६-१ से ४)**

मंथरा के द्वारा गोस्वामी जी ने एक कुट्टनी नारी की कुटिलता को बड़ी ही कुशलता से व्यक्त किया है। अपने यहाँ पर जो शब्द चुनकर रखे हैं वे भी ठेठ और सटीक भाव व्यक्त करते हैं। मंथरा रानी की उत्सुकता बढ़ाने को इस प्रकार का शब्द जाल बुनती है, यह मननीय है। किसी को विश्वास में लेकर उसे अपने वाक्य जाल में फसाने के लिए इससे उत्तम कोई तरीका नहीं है कि पहले अपनी विवशता व्यक्त करते हुए स्वयं को या स्वयं के भाग्य को ही कोसा जाये बाद में अपनी निर्पेक्षता प्रकट करते हुए उसके हित साधन तथा अनिष्ट निवारण की सहज भावना प्रंकट की जाए, यहाँ पर इसी मनोवैज्ञानिक भूमिका पर दासी की बुद्धि कार्य कर रही है। वह कह रही है कि एक बार कहने से मेरी सारी आशाएँ पूर्ण हो गयी हैं और जिस जीभ से मैंने वह बात कही थी अब भी वही जीभ है। आपने कहा है कि वह जीभ दुबारा कुछ कहने को उठाई तो आप उसे कटवा लेंगी। फिर मैं कोई

दूसरी जीभ तो रखती नहीं कि दुबारा कुछ कह सकूँ । मेरा आभागा कपार फोरने ही योग्य है जो भली बात कहने पर भी आपको दुःख लगता है। जो लोग झूठ फुर बात बनाकर कहते हैं वे ही आपको प्रिय लगते है क्योंकि मैं ऐसा नहीं करती केवल आपके लिए हित की बात ही बोलती हूँ इसलिए कढ़वी लगती हूँ। हित बोलने वाला ही कटु लगता है यह अभिप्राय है। आगे से मैं भी ठाकुर सोहाती अर्थात् चापलुसी की बातें हाँ में हाँ मिलाने वाली करूँगी अन्यथा मौन रहा करूँगी।

**करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा।।**
**कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब की रानी।।**
**जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।।**
**ताते कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी।।**

**(रा० २/१६-५ से ८)**

अपनी परतन्त्रता की विवशता को व्यक्त करते हुए कहती है विधाता ने कुरूप बनाकर मुझे परबस कर दिया है, इसमें किसी का क्या दोष है ? जैसा बोया था वैसा ही काटने को मिला है। जो दिया जाता है वही मिलता है अर्थात् यह तो मेरा कर्म फल है जो मैं भोग रही हूँ। कुरूप न होती तो आजीवन गुलामी क्यों करती अर्थात् मैं भी अपना घर बसाती। यहाँ कोई भी राजा हो भला उसमें मुझे क्या हानि? मैं चेरी से क्या रानी होऊँगी ? यह अपनी निरपेक्षता बताकर अब रानी की हितचिन्ता की बात करती है। मेरा स्वभाव तो आग लगाने के योग्य है क्योंकि मुझ से तुम्हारा अहित नहीं देखा जा सकता। इसी से मैंने कुछ बात चलाई थी किन्तु देवी! यह हमारी बहुत बड़ी गलती है जो कि तुम्हारे हित की बात की है इसलिए इसे आप क्षमा करें। कितनी कमाल की कुशलता है। इन वाक्यों में महाकवि की प्रतिभा की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। ऐसा लगता है जैसे वह स्वयं ही बैठकर सब कुछ सुने हों। भाषा, शैली, शब्द कौशल, सभी स्वयं में अनूठे हैं। यहाँ पर यह अपत्ति भी उठाई जा सकती है कि एक दासी में इतनी वाक्पटुता और कुटिल नीतिज्ञता कैसे आ गयी ? अतः यह सब कुछ जिस पात्र के द्वारा कहलाया जा रहा है वह औचित्य की सीमा में नहीं है। इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने पूर्व में ही यह बात कह दी है कि मंथरा नहीं मंथरा को माध्यम बनाकर यह सब कुछ सरस्वती कह रही है। इस समय उसके ऊपर सरस्वती का प्रभाव है जो इतनी कुशलता से अपने कपट जाल में रानी को फँसाने का कार्य कर रही है। 'अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि' किन्तु वाल्मीकि की

मंथरा का भी यही कार्य है पर उसमें इस प्रकार की देव माया के प्रभाव की योजना नहीं है। इसको देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि वह सम्राट के अंतःपुर की दासी है अतः वह निरी अशिक्षिता व अबोध सेविका ही नहीं हो सकती। आचार्य चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में राजमहिषियों तथा राजपुरुषों की परीक्षा के लिए कई प्रकार की कुशल दासियों तथा कुट्टनियों की व्यवस्था का वर्णन किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे दासियाँ कितनी वाक्पटु तथा छल कपट की कला में प्रवीण होती होंगी। मंथरा को भी उसी श्रेणी की कपट प्रवीणा दासी के रूप में पाते हैं। गोस्वामी जी के समय में नारी शिक्षा का प्रायः अभाव सा हो गया था। उस समय में एक दासी में इतना वाक्चातुर्य व कपट कला प्रवीनता के कल्पना नहीं हो सकती थी इसलिए उनको सरस्वती के प्रभाव की योजना करनी पड़ी होगी। आदि कवि ने कुब्जा को 'वाक्य विशारदा' कहा है। महाकवि उसके वचनों को गूढ़ तथा कपट पूर्ण बताते हुए लिखते है-

**गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधर बुधि रानि।**
**सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि।।**

**(रा० २/१६)**

मंथरा के रहस्यमय तथा कपटपूर्ण वचनों को सुनकर आधार रहित अर्थात् अस्थिर बुद्धि वाली स्त्री देवमाया विमोहित रानी कैकेई ने उस बैरिन को अपनी हितचिंतिका जानकर विश्वास कर लिया। यहाँ पर रानी के मंथरा पर विश्वास करने के दो हेतु दिए गए हैं। एक बुद्धि की अस्थिरता और दूसरा देवमाया का प्रभाव। यह बात हम सभी जानते हैं कि जो कुछ मानवीय सामर्थ्य के परे है उसको देवमाया बताकर सन्तोष करने से उत्तम और मन को समझाने का कोई दूसरा तरीका नहीं है। अस्थिर बुद्धि वाली नारी कहने में नारी मात्र के लिए वह एक निर्णीत सत्य नहीं है।

मैं पहले सीता, कौशल्या आदि देवियाँ मे स्थिर मति तथा दृढ़ निश्चयात्मिका होने के कई उदाहरण देकर बता चुका हूँ। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से कैकेई को लक्ष्य करके कही गई हैं इसलिए **'तीय अधर बुधि रानि'** ऐसा लिखा है। उसके अस्थिर बुद्धि होने का भी प्रत्यक्ष उदाहरण यहीं पर मिल जाता है। अभी वह कह रही थी कि घरफोरी है तब उसी को सुहृद मान लेती है। राम के प्रेम की परीक्षा स्वयं कर चुकी है, किन्तु बुद्धि की अस्थिरता का ही यह परिणाम है कि वह स्वयं पर भी विश्वास नहीं कर सकी।

**सादर पुनि पुनि पूँछति ओही। सबरी गान मृगी जनु मोही।।**
**तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी। रहसि चेरि घात जनु फाबी।।**
**तुम्ह पूँछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेहु मोर घरफोरी नाउँ।।**
**सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली।।**

**(रा० २/१७-१ से ४)**

व्यग्रता इतनी बढ़ गई कि आदर सहित बार-बार उससे पूछने लगी मानो भिल्लनि का गान सुनकर मृगी मोहित हो गई हो। भिल्लनि ने जब मृग को फँन्दे में फँसाना होता है तो वह वीणा लेकर मधुर गान गाने लगती है। राग का प्रेमी मृग उससे मतवाला हो गति हीन हो जाता है, जिससे वह उसे अपने जाल में डाल देती है, वही दशा कैकेई की भी हो गई। जिस प्रकार का होनहार होता है वैसी ही मति होती है क्योंकि-**'तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलई सहाई'**। अन्यत्र भी कहा है-**'जैसी हो भवितब्यता तैसी उपजइ बुद्धि'** कैकेई की भी वैसी ही मति हो गई। दासी अपना दाँव लगा जान हर्षित हो गई। रानी की व्यग्रता को और अधिक बढ़ाकर स्वयं पर विश्वास दृढ़ करने के लिए वह कहने लगी तुम पूछतीं हो किन्तु मैं कहते हुए डरती हूँ, क्योंकि अब आपने मेरा नाम घर फोरी रख दिया है। इस प्रकार बातें बनाकर गढ़ छोलकर मठार के अवध को घोर अपत्ति में डालने वाली शनीचर की साढ़े साती के समान वह दासी बोली। शनि एक क्रूर ग्रह है उसका किसी राशि पर साढ़े सात वर्ष के लिए जब आना होता है तो उसे साढ़ेसाती कहते हैं। यह साढ़ेसाती जिसके ऊपर आती है उसको तहस-नहस कर देती है। महाकवि कह रहे हैं कि मंथरा मानो साढ़ेसाती ग्रह के समान है। उसके वचन का प्रभाव सम्पूर्ण अवध को उजाड़ देगा किन्तु जैसे ग्रह की शांति के लिए जप यज्ञादि उपाय करते हैं तो उसका प्रभाव कुछ कम हो जाता है। इसी प्रकार से

**समन अमित उतपात सब भरत चरित जप जाग।**

**(रा० १/४१)**

साढ़ेसाती जो शनि ग्रह की है वह स्वयं नहीं किसी के ऊपर आकर ही सारा अनर्थ कराती है उसी प्रकार यह साढ़ेसाती मंथरा कैकेई को माध्यम बना रही है।

**प्रिय सीय रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी।।**
**रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते।।**
**भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।।**

जरि तुम्हारि चह सबति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी।।

(रा० २/१७-५ से ८)

कहती है कि यह सत्य है कि सीता राम आपको बहुत प्रिय हैं और आप भी राम को बहुत प्रिय हो, किन्तु जब समय बदल जाता है तो अत्यन्त प्रिय जो होते हैं वही शत्रु बन जाते हैं, रक्षक ही सर्वनाश करने वाले हो जाते हैं। तुम जानती हो कि सूर्य कमल को प्रफुल्लित करता है, वह उसका पोषक है किन्तु जब तालाब का जल सूख जाता है तब वही सूर्य कमल कुल को अपनी तीव्र किरणों से जलाकर खाक कर देता है। समय बदलने पर हितैषी भी शत्रु हो जाते हैं, इसका कितना सटीक उदाहरण है यहाँ। कुबरी यह समझ गई है कि राम के विरुद्ध महारानी को भड़काना उतना सरल नहीं है क्योंकि वह कह रही है कि मैंने परीक्षा करके राम के प्रेम को देखा है इसलिए वह अपने कपट जाल के धागे को बदल देती है। राम आपको प्रिय हैं, आप राम को प्रिय हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है किन्तु बात राम की नहीं है यह सारी योजना तुम्हारी सौत की है, वही तुम्हारी जड़ उखाड़ कर फेंक देना चाहती है। यदि तुम कोई श्रेष्ठ उपाय करके बचाना चाहो तो बचा लो। किसी जड़ को बचाने के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाई जाती है। मंथरा का कथन है कि तुम भी अपनी जड़ को बचाने के लिए कोई मजबूत बाड़ खड़ी करके सुरक्षित कर दो। सौतियाँ डाह तो प्रसिद्ध है ही। इसी डाह को उभार कर उसके धागे से ही वह कपट जाल बुनकर रानी को उसमें सुगमता से ही फँसा लिया। महर्षि वाल्मीकि ने भी अपनी अमरकृति में यही कारण बताया है। महारानी कैकेई राम के दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए जब कहती हैं-

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम् शुश्रूषते बहु।।
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा।
मन्यते हि यथात्मानं यथा भ्रातृंस्तु राघवः।।

(वा०रा० २/८-१८,१९)

"मेरे लिए जैसे भरत मान्य है वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक राम हैं, क्योंकि वे कौशल्या से भी अधिक मेरी सेवा किया करते हैं। यदि राम को राज्य मिल रहा है तो उसे भरत को भी मिला हुआ समझ क्योंकि राम अपने भाईयों को अपनी आत्मा के समान ही समझते हैं।" मंथरा रानी का राम के प्रति यह भाव देखकर उसकी मंद बुद्धि चलाती है और बड़ी सवतिया डाह को अपने प्रबल

हथियार के रूप में प्रयोग करते हुए कहती है-

**दर्पान्निराकृता पूर्वंत्वया सौभाग्यवत्तया।**
**राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्।।**

तुमने पूर्व में घमण्ड में आकर जिसका अपमान किया है वह तुम्हारी सौत राम की माता अपने वैर का बदला क्यों नहीं लेगी ? रूपवती होने से तथा अन्य अनेक कलाओं में कुशल होने से महाराज का अत्याधिक प्रेम कैकेई में हो गया था। दैवासुर संग्राम में जब इन्द्र की सहायता में महाराज दशरथ गये थे और असुरराज सम्वर के साथ उनका युद्ध हो रहा था तो उस समय वीरबाला कैकेई उनके साथ थी और सारथी की मृत्यु हो जाने पर महारानी ने स्वयं एक कुशल सारथी का काम किया था और महाराज के प्राण की रक्षा की थी। ऐसी सुवीरा प्राणवल्लभा के प्रति राजा का अधिक स्नेह होना स्वाभाविक था। कैकेई के इस सौभाग्य पर सम्भव है कि सपत्नियों को ईर्ष्या हुई हो, किन्तु गोस्वामी जी की लेखनी से इस प्रकार के डाह का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता बल्कि इसके विपरीत हम देखते हैं कि महारानियों में आपस का प्यार सगी बहनों के समान था। कैकेई को समझाते हुए उसकी सहेलियाँ कह रही हैं-

**कबहुँ न कियहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सबु देसू।।**
**कौसल्याँ अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा।।**

**(रा० २/४९-७,८)**

अर्थात् तुमने कभी सौतियाँ डांह नहीं की, तुम्हारे आपस के प्रेम और विश्वास को सारा देश जानता है। अब कौशल्या ने तुम्हारा क्या अहित कर दिया है जो तुम उनके कारण सारे नगर पर बज्रपात कर रही हो। माता कौशल्या ने भी व्यथित हृदय से सुमित्रा से कहा था-

**मैं न लखी सौति, सखी ! भगिनी ज्यों सेइ है।**

हम आगे भी देखते हैं कि पुत्र को अकारण कठोर कानन वास का दण्ड मिलने पर भी देवी कौशल्या कभी कैकेई के प्रति घृणा व ईर्ष्या की भावना नहीं लाती, न इसमें उसे अपराधी ही समझती है, किन्तु कुमतिमयी नारियों की निम्न वृत्ति का जो सामान्य प्रचलित भाव था उसको कैकेई में उभार कर मंथरा अपने उद्देश्य में सफल हो गई। वह कहती है-

**तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।**
**मन मलीन मुह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ।।**

तुम्हें अपने सुहाग के बल पर कोई सोच नहीं क्योंकि तुम राजा को अपने अधीन जानती हो किन्तु यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है। राजा मुँह का मीठा तथा मन का अत्यन्त मलिन है और आप सीधे स्वभाव की हो इससे कपट चातुरी नहीं समझ पाती। यहाँ सौत को माध्यम बनाकर राजा के प्रति भी अविश्वास उत्पन्न करने की चाल चल रही है। कैकेई उसके वाग्जाल में विमोहित मृगी की भाँति फँसती जा रही है। उसकी बुद्धि हत्प्रभ हो चुकी है। अब वह अपने प्रभाव में रानी को देख इस डाह भाव को ओर भी पुष्ट करती है-

**चतुर गंभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी।।**
**पठए भरतु भूप ननिअउरें। राम मातु मत जानब राउरें।।**
**सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें। गरबित भरत मातु बल पी कें।।**
**सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई।।**
**राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी।।**
**रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई।।**
**(रा० २/१८-१ से ६)**

रामराज्याभिषेक की पूरी तैयारी में कौशल्या के प्रपंच को ही कारण बता रही है जब कि राम माता को इसकी कोई जानकारी भी नहीं है। इस प्रसंग में पाठकों को समझना चाहिए कि किसी परिवार व संगठन को तहस-नहस करने के लिए कुत्सित बुद्धि के कुटिल लोग किस प्रकार से ज़रा सा झूठ का सहारा लेकर अपनी कपट वाणी से उसे सत्यवत् बना कर दूसरे के गले उतार देते हैं और किस प्रकार कपट जाल में फँस कर व्यक्ति अपना व अपने परिवार व संगठन का विनाश करने पर तुल जाता है। मंथरा कह रही है कि राम की माता बड़ी गम्भीर है, उसने मौका पाकर अपनी बात बना ली। राजा ने जो भरत को ननिहाल में भेजा है उसको भी तुम राम माता की सम्मत्ति से ही समझो, क्योंकि वह सोचती है कि भरत की अनुपस्थिति में स्वभावतः राजा का प्रेम राम पर केन्द्रित हो जाएगा और उस अवस्था में वह अपना काम साध लेगी। वाल्मीकि रामायण में भी मंथरा यही कहती है कि निकट रहने वालों पर स्वाभाविक प्रेम हो जाता है, यह बात पशु पक्षियों में ही नहीं लता-वृक्षों में भी देखी ज़ाती है। निकट रहने के कारण कनक लता भी कीकर के वृक्ष से लिपट जाती है यह तो प्रायः देखा ही जाता है और दूर रहने वालों के प्रति प्रेम बन्धन धीरे-धीरे शिथिल होने लगता है, यह भी अनुभूत बात है। कुबड़ी का कहना है कि भरत को इसी दृष्टि से राम माता ने ननिहाल

भिजवा दिया है। कितना युक्तियुक्त असत्य को सजाकर सत्य बनाया गया है। कारण भी वह मर्म स्पर्शी शब्दों में बता रही है कि कौशल्या समझती है कि सारी सौतें तो मेरी सेवा करती हैं किन्तु भरत की माता सदैव गर्वीली बनी रहती है इसलिए हे माता ! तुम कौशल्या को बहुत खटकती रहती हो। राजा को तुम्हारे पर अत्यन्त प्रेम है और सौत के स्वभावानुसार यह उससे देखा नहीं जाता। मौका पा कर उसने प्रपंच रच कर राजा को अपने वश में कर लिया और राम के तिलक की तिथि निश्चित करा ली। यद्यपि दासी की ऊपर कही हुई बातें सफेद झूठ के सिवा और कुछ नहीं हैं। इसमें रंच मात्र भी सत्य की गंध नहीं किन्तु इतने तर्क के साथ पेश की गई हैं कि कैकेई को सब यथार्थ ही लग रहा है। दूसरे के बहकावे में आकर व्यक्ति किस प्रकार गढ्डे में गिरता है, यही देखना है। रानी को अपनी बातों से प्रभावित जान अब एक ऐसी बात कहने जा रही है जिसकी रानी कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी-

**यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका।।**
**आगिलि बात समुझि डरु मोही। देउ दैउ फिर सो फलु ओही।।**

**(रा० २/१८-७,८)**

कुल की मर्यादानुसार राम का ही तिलक होना चाहिए लोगों को यह सुन्दर लगता है और मुझे तो यह बहुत ही अच्छा लगता है, किन्तु जो इसके आगे होने वाली बात है उसको समझकर मेरा हृदय कांप जाता है, विधाता वह परिणाम जो यह करना चाहती है उसे ही देवे।

यहाँ पर रानी की मान्यता पर अपनी सम्मति व्यक्त करती है और बताती है कि राम का राज्याभिषेक मुझे तो सबसे अधिक अच्छा लग रहा है परन्तु उसके बाद जो योजना है वह सोचकर मैं व्याकुल हूँ। वह आगे होने वाली बात क्या है? उसको एकाएक कहने से सम्भव है रानी को विश्वास न हो इसलिए पहले उसकी अधिक उत्सुकता उत्पन्न करना चाहती है। रानी पूर्ण व्यग्र हो जाएगी उस से तब कहना है। उसको कहने से पूर्व उसके लिए भूमिका भी तैयार करनी होगी क्योंकि जो वह कहना चाहती है वह जचने वाली बात नहीं है। उसके हाथ में एक मुख्य नाड़ी आ गई है और उसको दबाकर कैकेई को पूर्णतया अपने वश में करने का प्रयत्न कर रही है। जिस रग को वह दबाकर कौशल्या के प्रति द्वेष जागृत करना चाहती है वह है सौतिया डाह। वह यह महारानी के दिमाग में बैठा देना चाहती है कि राम की नहीं यह कौशल्या की सारी योजना है क्योंकि वह तुम्हारी सौत होने से

तुम्हारा अभ्युदय नहीं देख सकती-

**रचि पचि कोटिक कुटिल पन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।**
**कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु।।**

**(रा० २/१८)**

एक नहीं वह अनेकों प्रकार की कपट पूर्ण बातें करके रानी को उलटा सीधा पढ़ाने लगी और सैंकड़ों सौतों की कथा कह सुनाई जिससे कौशल्या के प्रति विरोध की भावना बढ़ जाए। यह कथाएँ उसने नानी की कहानी के समान ही गढ़कर सुना दीं। कितनी वाक्पटु है, कुटिलता के कार्य में कितनी वह दक्ष है, यह ध्यान देने की बात है। कुटिल लोग ऐसे ही वाक्य कुशल होते हैं जिसके बल से बड़े-बड़े सुदृढ़ संगठन को भी मिट्टी में मिला देते हैं। अगली बात का जो संकेत किया है उसको इतनी सरलता से बताने वाली नहीं है। रानी की व्यग्रता अब और अधिक बढ़ गई । वह पूर्ण रूप से कुबरी के वाक्-जाल में फँस चुकी है। महाकवि लिख रहे हैं-

**भावी बस प्रतीति उर आई। पूँछ रानि निज सपथ देवाई।।**
**का पूँछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना।।**
**भयउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम पाई सुधि मोहि सन आजू।।**
**खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें। सत्य कहें नहिं दोषु हमारे।।**
**जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई।।**

**(रा० २/१९-१ से ५)**

यह बात मैं कई बार कह चुका हूँ कि जब व्यक्ति किसी जाल में फँसकर विमोहवश विनाश के पथ पर चल पड़ता है तो इसे होनहार के सिवा और कहा ही क्या जाये। कवि का कहना है कि भावी अर्थात् होनहार के बस होकर महारानी ने विश्वास कर लिया और व्यग्र हो उस कारण को जानने के लिए अपनी शपथ दिलाकर बार-बार पूँछने लगी। राम तिलक के पीछे कौशल्या की क्या योजना हो सकती है? इस अनिश्चित आशंका से रानी आतुर हो गई है किन्तु वह कुटिला कुबड़ी सरलता से कह देने वाली नहीं। एक झूठ का पुलिंदा उसने और खोल दिया। अरे- तुम क्या बार-बार पूछती हो, अब भी असलियत को नहीं समझ सकी। पशु भी अपना हित-अहित पहचान लेता है। अभिप्राय यह है कि तुम पशु से भी गई बीती हो। इतना कहने के बाद वह बताती है कि आज पन्द्रह दिन से राज्याभिषेक की सारी तैयारी हो रही है और तुम आज मेरे द्वारा इसका समाचार पा

रही हो। इससे और आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ? यह याद रखना चाहिए कि यहाँ मंथरा सारी बातें मिथ्या ही कह रही है, किन्तु रानी बुद्धिहीन हो चुकी है इसलिए वह इसकी यथार्थता को समझने में असमर्थ है। दासी कहती है कि मैं आपके प्रभुत्व में ही खाती-पहनती हूँ इसलिए यह सत्य बात कहने में कोई दोष नहीं है। हाँ, यदि मैं कोई बात बनाकर कहूँगी तो इसका दण्ड विधाता मुझे अवश्य देगा। अपनी बात की सफाई में यह सौगन्ध खा लेना ही पर्याप्त हो गया। रानी अब कभी कल्पना भी नहीं कर सकती कि वह बनाकर कुछ मिथ्या भी कह सकती है। अपने प्रति रानी को पूर्ण विश्वस्त जान अब आगे की योजना का रहस्य बता रही है-

**रामहिं तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपत्ति बीजु बिधि बयऊ।।**
**रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी।।**
**जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौं घर रहहु न आन उपाई।।**

**(रा० २/१९-६ से ८)**

**कद्रूं बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।**
**भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब।।**

**(रा० २/१९)**

क्या बचकानी बातें हैं यह, कोई सामान्य बुद्धि वाली व्यक्ति भी ऐसी बातों को सुनकर इनके कारणों को समझने की कोशिश करेगा, किन्तु कैकेई पूर्णरूप से अपनी समझ को दासी के अधीन कर चुकी है अतः वह किंचित भी इन बातों पर विचार करने की स्थिति में नहीं है। दासी का कहना है कि यदि कल राम का तिलक हो गया तो समझो कि विधाता ने तुम्हारे लिए विपत्ति का बीज बो दिया है। मैं यह बात लकीर खींचकर प्रतिज्ञा पूर्वक कहती हूँ। भामिनी, जिस प्रकार दूध से माखी निकाल कर फेंक दी जाती है वही गति तुम्हारी भी होगी। पुत्र के साथ यदि तुम सेवकाई करोगी तो यहाँ रह पाओगी अन्यथा कोई दूसरा उपाय नहीं है। जिस प्रकार से कद्रू ने विनता को दुःख दिया था उसी प्रकार से तुम्हे भी कौशल्या देगी। योजना यह है कि राम राज्य के बाद भरत को बंदीखाने में डाल दिया जायेगा और लक्ष्मण राम के सहायक बना दिए जाएँगे। कुटिला की इस प्रकार की मिथ्यावाणी को सुनकर उचित था कि कैकेई इसकी यथार्थता को जानने का उपाय करती। वह राजा व अन्य किसी से भी इसकी सत्यता को समझने की कोशिश कर सकती थी। यह बात बिल्कुल सत्य है कि- **'बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराएँ'** किन्तु यह सब कुछ तो

तब हो सकता था जबकि वह स्वबस होती। सीमा से अधिक नीच वृत्ति वाले व्यक्ति पर विश्वास करने का यह कुपरिणाम होता है-

**कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।।**
**तन पसेंउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी।।**
**कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसी रानी।।**
**फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली।।**
**(रा० २/२०-१ से ४)**

मंथरा की कटु वाणी सुनकर कैकेई नन्दिनी भयभीत होकर सूख गई, कुछ बोल नहीं सकती, शरीर से पसीना छूटने लगा और वह कदली की भाँति काँपने लगी। मंथरा, रानी की गति देख घबरा सी गई, उसने दाँतो तले जीभ दबा ली। कपट भरी कई कहानियाँ सुनाकर रानी को सान्त्वना देने लगी और धैर्य धारण के लिए समझाने लगी। देवी कैकेई का भाग्य पलट चुका था अतः उसे उस दासी की कुचालि प्यारी लगने लगी और कपटी बगुली को हंसिनी मान कर सराहने लगी। यही कुमति का लक्षण हैं-'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता'। बुद्धि वैचित्य का ही यह परिणाम है कि रानी कहती है-

**सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहनि आँखि नित फरकइ मोरी।।**
**दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने।।**
**काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ।।**
**(रा० २/२०-५ से ७)**

**अपनें चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।**
**केहि अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसह दुखु दीन्ह।।**
**(रा० २/२०)**

रानी को कुछ दिनों से अपशगुन हो रहे हैं, उनके द्वारा भविष्य की विपत्ति की सूचना मिल रही है, ऐसी स्थिति में उसे ओर सतर्क होने की आवश्यकता है क्योंकि किसी भी प्रकार की विपत्ति में कुमति ही कारण बनती है **'जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना'** किन्तु वह सतर्क न होकर और भी अन्ध विश्वास में पड़ गई। इसमें कोई संदेह नहीं की देवी कैकेई सरल हृदया थी, यह उनके व्यवहार से ही स्पष्ट हो रहा है, किन्तु सरलता जब अज्ञानता की समर्थक हो जाए तो वह गुण न होकर महान् दोष बन जाती है और उस व्यक्ति के पतन में कारण हो जाती है। हम इस पूरे प्रसंग में यही देख रहे हैं कि किस प्रकार एक खासा अच्छा भला व्यक्ति

कुटिल व्यक्तियों के कपट जाल में पड़ कर अपना तथा अपने समाज का सर्वनाश करने पर तुल जाता है। व्यक्ति के जीवन में कुछ कमज़ोर स्थान होते हैं, कुटिल लोग उसी को पकड़कर उसे स्वेच्छा अनुसार नचाते हैं। महारानी कैकेई का सपत्नी के प्रति द्वेष भड़का कर उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना दिया गया। वह सोचने लगी कि मैं अपने चलते कभी भी किसी का अहित नहीं किया फिर विधाता ने किस कर्म के परिणाम में मुझे यह असह्य दुःख दिया है। उसे उचित था कि वह उस समय कौशल्या से ही पूछ लेती की बहन आपकी इस प्रकार की योजना में हमारी क्या गलती है ? राम को भी बुलाकर पूछ सकती थी। अवध कोई सामंत की जागीर तो नहीं थी कि किसी के भी साथ कोई अन्याय कर देता। वहाँ पर राजा को भी यह अधिकार नहीं था कि राजपुरोहित तथा पंच जनों की राय के बिना स्वतंत्र राज्य से कोई सम्बन्धित कार्य कर ले। इतनी वहाँ पर अंधेर गर्दी नहीं थी कि राज पाते ही कौशल्या के कहने मात्र से भरत को बन्दी खाने में डाल दिया जाता। दासी की बात पर विवेक रहित विश्वास करके रानी को बिलखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, किन्तु जब बुद्धि ही विपरीत दिशा में हो गई हो तो यह सब बातें सोचने की नहीं रह जाती। उस दशा में मनुष्य हताश हो वही कुछ सोचता है जो महारानी कैकेंई सोच रही है-

**नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई।।**
**अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही।।**
**दीन बचन कह बहुबिधि रानी। सुनि कुबरीं तिय माया ठानी।।**
**अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुखु सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना।।**

**(रा० २/२१-१ से ४)**

विषाद में भी कुछ बातें सिद्धान्त की निकल ही आती हैं। रानी सौत की सेवकाई करने की अपेक्षा नैहर में रहकर जीवन बिता देना श्रेष्ठ समझती है। विधाता जिसे शत्रु के अधीन रखकर जिलाता है उसके लिए तो जीने की अपेक्षा मृत्यु ही उत्तम है। बात यह सर्वथा सत्य है चाहे कैकेई के विषय में यह उसकी मिथ्या धारणा ही कही जा सकती है। जिसको वह अपना शत्रु समझती है वह उसका सुहृद है, किन्तु यह बात मननीय है कि पराधीन जीवन बिताने के बजाय मर जाना ही उचित है। रानी दीन हो गई है, वह विविध प्रकार की कल्पनाओं में पड़ कर दीनता की बातें करने लगी है। विधि की विडम्बना देखिए महाराज उसे अपनी प्राणेश्वरी समझते हैं। राम अपनी माता से भी अधिक आदर करते हैं, कौशल्या का

स्नेह भी अपनी छोटी बहन के समान है। वह अवध की साम्राज्ञी मिथ्या भ्रमजाल में पड़ कर दीन-हीन हो एक चेरी के सामने बिलख रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि दुनिया कि दृष्टि में हम क्या हैं, इसकी कोई महत्ता नहीं है, अपने विषय में हम स्वयं को जो कुछ भी स्वीकार कर लेते हैं वही हमारा अस्तित्व हो जाता है और तदनुसार ही हमारी कल्पनाएँ होने लगती हैं, जिसके परिणाम में हम हर्ष व संताप का अनुभव करते हैं। बाहर की दुनिया नहीं, हमारे अन्दर की दुनिया ही हमारे दुःख-सुख में कारण होती है। रानी के दीनता पूर्ण बचनों को सुनकर कुबड़ी ने अपनी माया फैलाने प्रारम्भ की।

'तियमाय' शब्द यहाँ पर बिल्कुल ही उपयुक्त है। इसमें देवियों को सम्भवतः अपनी निन्दा की बू मिले, किन्तु यथार्थ है। कई देवियां भी इस तियमाया को ईमानदारी से स्वीकार लेंगी, इसमें संदेह नहीं। मैंने इस शब्द का प्रयोग करते हुए कई देवियों को भी सुना है। त्रियाचरित्र तो बहुत प्रचलित शब्द है, मायावी स्त्रियों में यह विशेष रूप से देखा जा सकता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि पुरुषों में यह माया होती ही नहीं। प्रधान पुरुष परमात्मा स्वयं ही मायावी कहा जाता है **'अतिबिचित्र रघुपति कै माया'**। वेद में भी परमात्मा को मायावी कहा गया है **'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपइयते'** (ऋक्) किन्तु माया में भी भिन्नता है, सभी की माया एक सी नहीं। माया शब्द,का अर्थ सामान्यतः कौशल होता है। शक्ति के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। प्रसंगानुसार इस शब्द के और भी कई अर्थ हो सकते हैं। यहाँ पर तियमाया का अभिप्राय त्रियाचरित्र है जिसमें यथार्थ कम तथा कपट पूर्ण छलना ही प्रधान होती है, आगे मंथरा के शब्दों में यह स्पष्ट हो जाएगा। रानी, तुम मन में ग्लानि मानकर ऐसा क्यों कह रही हो, तुम्हारा सुख सुहाग दिन-दिन दूना होगा। **'ऊना'** शब्द मानस में और भी कई जगह आया है इसका अर्थ न्यूनता व ग्लानि से है। रानी को धैर्य बँधाते हुए आगे कह रही है-

**जेहिं राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यहु फलु परिपाका।।**
**जब ते कुमति सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि।।**
**पूँछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची।।**
**भामिनी करहु त कहौं उपाऊ। है तुम्हारी सेवा बस राऊ।।**

**(रा० २/२१-५ से ८)**

जिसने तुम्हारा अहित चाहा है परिणाम में उसी को इसका फल मिलेगा। हे स्वामिनी ! मैंने जब से यह कुमति सुना है तब से न तो दिन में भूख लगती है न

रात में नींद ही आती है। ज्योतिषियों से मैंने इस विषय में पूछा है और उन्होंने रेखा खींचकर अर्थात् निश्चित रूप से यह बताया है कि भरत अवश्य राजा होंगे, यह सत्य बात है। अब भरत को राज पद कैसे मिलेगा, इसकी चिन्ता करने की बात नहीं। हे रानी! यदि तुम कर सको, तो मैं इसका उचित उपाय बता सकती हूँ, क्योंकि राजा तुम्हारी सेवा से तुम्हारे वश में हैं। अतः उपाय करने पर कार्य सिद्ध हो सकता है, इसमें संदेह नहीं। मंथरा के वचनों में तियमाया का नमूना आसानी से ही देखा जा सकता है। मिथ्या भाषण इस माया का प्रधान रूप है। आज ही उसको पता लगा है कि राम को राज तिलक हो रहा है किन्तु वह कह रही है कि जब से यह समाचार सुना है तब से उसकी भूख और नींद दोनों ही हराम हो गयें हैं, मैंने ज्योतिषियों से भी पूछ लिया है, ये सारी बातें तियमाया के ही नमूने हैं। अब आगे जिस बात पर कैकेई को राजी करना चाहती है वह बात कोई सामान्य नहीं है इसलिए पहले ही कह रही है कि यदि तुम करो, तब मैं कहूँ। ठीक उपाय करने में कार्य सिद्धि में संदेह नहीं होता। कैकेई इस समय उसके चंग पर चढ़ी हुई है इसलिए कह रही है-

**परउँ कूप तुअ बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।**
**कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि।।**

**(रा० २/२१)**

यह बात सत्य है कि जो होने वाली बात होती है, वचन भी उसी प्रकार के निकलने लगते हैं इसीलिए कहा जाता है कि अशुभ भाषण नहीं करना चाहिए किन्तु विपरीत बुद्धि होने पर मनुष्य विवश हो जाता है और उससे अशुभ ही निकलता है। यहाँ पर कैकेई की प्रतीज्ञा पूर्ण बातों पर विचार कीजिए। जो कुछ भी कह रही है, वही होना है। मैं तेरे कहने से कूएँ में गिर सकती हूँ, पुत्र और पति का त्याग भी कर सकती हूँ। तुम मेरे विशाल दुःख को देखकर उसको दूर करने की युक्ति बता रही हो; तो भला मैं अपने हित के लिए उसे क्यो न करूँगी? ये हैं कैकेई के वचन जिनको हम देखते हैं कि भविष्य में बिल्कुल सत्य हुए हैं। उसने स्वयं को विपत्ति के कूएँ में गिरा लिया और पति तथा आजीवन पुत्र सुख से भी वंचित रही क्योंकि अनेकों हितेषियों की बातें नहीं मानी, केवल दासी के विश्वास में आकर अपने हठ पर ही अड़ी रही। गोस्वामी जी कहते हैं-

**कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छरी उर पाहन टेई।।**

**लखइ न रानि निकट दुखु कैसें। चरइ हरित तिन बलि पसु जैसें।।**

सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देखि मनहुँ मधु माहुर घोरी।।
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं।।

(रा० २/२२-१ से ४)

कुबड़ी ने कैकेई को कबुली कर लिया अर्थात् उससे कबुलवा लिया, वचन ले लिया। कुबली का अर्थ मानी हुई भी होता है। देहातों में अपनी कामना की पूर्ति के लिए लोग देवि-देवताओं के लिए पशु बलि देने की मानता मानते हैं। उस बलि पशु को भी कबूली हुई कहते हैं। दासी ने कैकेई को बलि पशु बना लिया और उसके वध के लिए उसने अपनी कपट रूपी छुरी को हृदय रूपी वाहन पर टेया अर्थात् तीखी किया। रानी अपने निकट भविष्य में आने वाले दुःख को न देख, उस दासी की बातों में आ गई है। जैसे बलि दिया जाने वाला पशु हरी-हरी घास खाने में रत रहता है और निकट ही आने वाली मृत्यु को नहीं देख पाता ठीक वही गति कैकेई की है। वह मंथरा द्वारा डाले गये पुत्र राज्य के प्रलोभन रूपी हरे-हरे चारे की कल्पना में ही रत है। रानी की स्थिति का महाकवि ने बलि पशु से तुलना की है। यहाँ सचमुच बुद्धि वैचित्य ने पशुता को भी मात् कर दिया है। मंथरा की बातें सुनने में बड़ी कोमल हैं परन्तु परिणाम में बड़ी कठोर। मानो वह मधु में मिलाकर ज़हर पिला रही है। चेरी कहने लगी, हे स्वामिनी ! आपने बहुत दिन पूर्व मेरे से एक घटना की कथा सुनाई थी, शायद वह आपको याद है या नहीं। उस कथा में आपने राजा से दो वरदान पाने की भी बात कही थी, सो-

दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती।।
सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू।।
भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहिं बचन न टरई।।
होइ अकाजु आजु निसि बीतें। बचन मोर प्रिय मानेहु जी तें।।

(रा० २/२२-५ से ८)

जो तुम्हारे दो वरदान धरोहर के रूप में राजा के पास पड़े हैं उनको माँग कर अपनी छाती ठण्डी कर लो। एक में पुत्र को राज तथा दूसरे में राम वनवास माँग कर सौत का सारा आनन्द ले लो। राजा जब राम की शपथ करके माँगने के लिए कहें तभी माँगना, जिससे वह मुकर न सके। आज की रात यदि बीत गई तो सारा काम बिगड़ जायेगा। अतः मेरी बात को प्राण से भी प्रिय समझना अर्थात् प्राण की बाजी लगाकर भी मेरी बातों के अनुसार काम करना; तभी सफलता मिलेगी। यह है कुबरी की सीख। वह इस बात में कितनी सतर्क है, जानती है कि

राजा इस बात को टाल भी सकते हैं किन्तु यदि वे राम शपथ कर लेंगे तो मुकर नहीं सकते इसलिए रानी को इस बात के लिए सजग कर रही है। गोस्वामी जी ने इसीलिए आगे कहा है- **'कोटि कुटिल मनि गुरु पढ़ाई'** कैकेई को सिखाने वाली कोई समान्य नारी नहीं वह करोड़ो कुटिलों की शिरोमणि धोखेबाज है, हिन्दी में बड़े उकार के साथ जो गुरू शब्द है उसका अर्थ धोखेबाज भी होता है। अन्त में-

**बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपगृहँ जाहु।**
**काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु।।**

**(रा० २/२२)**

कवि का हृदय यहाँ प्रधान हो गया है, वह कुटिला दासी को अधिक बर्दाश्त नहीं कर सका और उसके पर पीड़ा जन्य कृत्यों को देखते हुए उसे पापिनी कह कर सम्बोधित किया। कवि की दृष्टि में- **'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई'** दूसरों को पीड़ित करने के समान और कोई अधमता नहीं है, यही महान् पाप कर्म है- **'पापाय परपीडनम्'** उसी पाप कर्म में रानी को प्रवृत्त कर सम्पूर्ण प्रजाजन को पीड़ित करना चाहती है इसलिए कवि ने पापिनि कहा है। आदि कवि ने भी उसे पाप दर्शिनी कहा है- **'एवं मुक्ता सा देव्या मंथरा पापदर्शिनी'** पापिनी मंथरा ने बड़ा कुघात लगा कर कहा कि अपनी अभीष्ट की पूर्ति के लिए तुम्हे कोप भवन में जाना चाहिए और सब काम बड़ी सावधानी से सम्भालना है, एकाएक राजा का विश्वास नहीं कर लेना। इतनी सतर्कता की सीख इसलिए दे रही है कि रानी सरल हृदया है, कहीं राजा के प्रेम में आकर अपने निश्चय से हट न जाये। दासी का दाव लग चुका था, रानी उसके सामने समर्पित हो चुकी थी, इसलिए उसकी शिक्षा के विपरीत करने व सोचने तक की कल्पना भी नहीं हो सकती। रानी स्वयं को दासी की बड़ी कृतज्ञा मान रही है-

**कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार-बार बड़ि बुद्धि बखानी।।**
**तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा।।**
**जौं बिधि पुरब मनोरथु काली। करौं तोहि चख पूतरि आली।।**
**बहुबिधि चेरिहि आदर देई। कोपभवन गवनी कैकेई।।**

**(रा० २/२३-१ से ४)**

विपरीत बुद्धि होने पर शत्रु ही मित्र लगने लगते हैं। कुबरी को रानी ने प्राणवत् प्रिय समझकर बार-बार उसकी बुद्धि की प्रशंसा की और कहने लगी-संसार में मेरा कोई भी तुम्हारे समान हितैषी नहीं है। तू मुझ बही जाती को

सहारा हो गई है अर्थात् यदि तुम मुझे इस प्रकार का उपाय न बताती तो मैं इस शोक सागर में बह जाती व सौत की इस कपट धारा में बह जाती। यदि विधाता ने कल मेरा मनोरथ पूर्ण किया तो हे सखी! मैं तुम्हें आँख की पुतली बना लूँगी। बहुत प्रकार से चेरी को आदर देते हुए कैकेई कूप भवन में चल पड़ी।

वाल्मीकि रामायण में भी रानी को कुब्जा की सूझ पर बहुत आश्चर्य हुआ है और रानी ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आदि कवि लिखते हैं- रानी यद्यपि समझदार थीं किन्तु दासी की बातों में ऐसे आ गई जैसे कोई अबोध बालिका हो। वह मंथरा के बुद्धि चातुर्य पर विमुग्ध हो गई और कहने लगी-

प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि।।
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये।।
त्वमेव तु मयार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी।।

(वा०रा० २/९-३८,३९)

हित की बात बताने में कुशल कुब्जे ! तू एक श्रेष्ठ नारी है, मैं तेरी बुद्धि की अवज्ञा नहीं करूँगी। बुद्धि के द्वारा किसी कार्य को साधने में, उसके निश्चय करने में तू पृथ्वी पर की सभी कुब्जाओं में श्रेष्ठ है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सावधानी के साथ मेरा कार्य साधने में लगी रहती है। रानी उसकी प्रशंसा करते हुए कहती है-

नाहं समवबध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम्।

(वा०रा० २/९-४०)

'कुब्जे ! यदि तूं न होती तो राजा की जो षड्यन्त्र रचना थी, वह कदापि मेरी समझ में न आती'। उसकी योग्यता और सूझ-बूझ पर तो महारानी इतनी मुग्ध हो गई है कि कहती है-

आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्त्रमसुराधिपे।
हृदये ते निवाष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्त्रशः।।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणामिवायतम्।
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।।

(वा०रा० २/९-४५ से ४७)

'असुर राज शम्बर को जिन हज़ारों मायाओं का ज्ञान है वे सारी की सारी तेरे हृदय में स्थित हैं, इनके अतिरिक्त और भी तू सहस्त्रों मायाएँ जानती है। तेरा यह जो बड़ा सा कूबड़ है वह सब मायाओं का समुदाय ही है जो रथ के नकुए के

समान बड़ा है। इसी में तेरी सब प्रकार की मति, राजनीति तथा विविध प्रकार की माया निवास करती हैं। इसी प्रकार और भी विविध भाँति से चेरी की महिमा का गान करती हुई, कैकेई कोप भवन में प्रवेश करती है। आदि कवि ने भी मंथरा को इस अवसर पर पापिनी कहकर सम्बोधित किया है-

**विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम्।**
**तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविध्देव किंनरी।।**

पापिनी कुब्जा ने जब देवी कैकेई को बहुत सी उलटी बातें समझा दी तब वह विषाक्त बाण से बिद्ध हुई किन्नरों के समान धरती पर लोटने लगी। कोपभवन में रानी का प्रवेश अवधपुरवासियों के लिए घोर विपत्ति का कारण बन गया। महाकवि यहाँ पर एक साँगरूपक के द्वारा इसको व्यक्त कर रहे हैं-

**बिपति बीजु बरषा रितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकेई केरी।।**
**पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा।।**

**(रा० २/२३-५,६)**

विपत्ति बीज है, दासी वर्षा ऋतु है, कैकेई की बुद्धि भूमि हो गई और कपट रूपी जल पाकर उसमें अंकुर फूट निकला। दोनों वरदान उस अंकुर के दो पत्ते हैं और परिणाम में दुःख ही इसका फल होगा। बीज प्राकृत होता है, उसका कोई निर्माता नहीं है इसी प्रकार विपत्ति के तथा सम्पत्ति के बीज भी प्राकृत हैं। अच्छे-बुरे बीज वर्षा पाकर ही अंकुरित होते हैं क्योंकि जल ही जीवन के प्रारम्भ में हेतु बनता है चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो। विपत्ति रूपी बीज को कैकेई की कुमति रूपी भूमि मिल गई। जिस प्रकार का बीज हो उसके अनुकूल भूमि और खाद मिलने पर ही वह पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है। विपत्ति रूपी बीज सुमति की भूमि में अंकुरित ही नहीं हो सकता, उसके लिए तो कुमति की ही भूमि चाहिए। भूमि और बीज का संयोग होने पर भी उसको अंकुरित करने के लिए पानी का होना अति आवश्यक है। यहाँ दासी मंथरा की कपट रूपी बातें जल वृष्टि के समान हैं। वर्षा ऋतु में ही वृष्टि होती है, उसी प्रकार दासी ने ही कपट पूर्ण वचन रूपी जल से विपत्ति बीज को कैकेई की कुमति रूपी भूमि में सींचा जिससे वह अंकुरित हुआ। दोनों वरदान उसी बीज के अंकुरित होने पर दो पत्ते निकले। यह बीज वृक्ष बनकर परिणाम में घोर दुःख रूपी फल देगा।

यहाँ पर हमने बड़ी सतर्कता से मंथरा और कैकेई के सम्पूर्ण सम्वाद को देखा है और उसका आलोकन भी किया है। सरल कुलीन देवियाँ नीच की संगति

पाकर किस प्रकार अपना विनाश कर लेती हैं, इसको महाकवि ने बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया है और आगे इस बात को स्पष्ट भी कर दिया है-

**को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई।।**

**(रा० २/२४-८)**

गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में सूसंगति की बड़ी महिमा गाई है। उन का कहना है-

**हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू।।**

**(रा० १/७-८)**

यह बात ऐसी नहीं है कि जो केवल विशेषज्ञ लोग ही जानते हों, सभी लोगों को इसका बोध है कि सतसंगति से लाभ तथा कुसंगति से हानि होती है क्योंकि व्यक्ति के जीवन में ज्ञान व अज्ञान का विकास संगति के ऊपर ही अवलम्बित है। चित्त में तो प्राकृतिक नियमानुसार तीनों गुण रहते हैं वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति का प्रथम परिणाम है। आगे जिस प्रकार का संग मिलता है, उसी के अनुसार चित्तगत गुण का विकास होने लगता है क्योंकि हम देखते हैं कि संग का असर हमारे केवल व्यवहार में ही नहीं पड़ता हमारा खान-पान, हमारी सम्पूर्ण जीवन चर्या, हमारा आचार-विचार सब कुछ उसके अनुसार ही बन जाता है। समाज में ऐसे हज़ारों उदाहरण हैं जिसमें हम देखते हैं कि अच्छे सभ्य परिवार के बच्चे कुसंगति में पड़कर बुरी आदतों के शिकार हो जाते हैं। ऐसे लोगों को भी मैंने यू० के० में देखा हैं जो भारत में रहते हुए प्याज़ तक नहीं छूते थे वहाँ जाकर कुसंगति में पड़कर गो-माँस तक खाने लगे। इसी प्रकार से ऐसे भी अनेकों उदाहरण हैं जो बताते हैं कि बुरे से बुरा व्यक्ति भी सत्संगति को पाकर बदल जाता है। हम इसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि गो-माँस भक्षी अमेरिकन तथा इंग्लिश लोग हज़ारों की संख्या में परम वैष्णव धर्म में दीक्षित हो अब प्याज़ तक नहीं छूते। यह बात याद रखनी चाहिए कि मानव मननशील, बुद्धिमान प्राणी है, वह अपने सारे जीवन को पूर्णतया परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखता है। हमारे समक्ष ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। यदि कुसंग से सज्जन खल बन जाता है तो सुसंग से खल भी सज्जन बन सकता है। गोस्वामी जी ने इस विषय में कई स्थानों पर मानस में निराशावाद का आश्रय लिया है और कहा है-

**बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।।**

**(रा० १/५-२)**

आगे रावण के सम्बन्ध में भी कहा है-

**मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सिव।**

किन्तु मनुष्य मनुष्य है, वह हिंसक पशु वा पक्षी नहीं इसलिए सत्संग की महिमा में उन्होने लिखा है-

**मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला।।**

**(रा० १/३-१)**

अभिप्राय यह है कि उपदेश मात्र से किसी खल का जीवन नहीं सुधरता किन्तु प्रभु कृपा से यदि सत्संगति की सरिता मिल जाए और उसमें वह अवगाहन कर ले, तो उसके जीवन परिवर्तन में सन्देह नहीं है। जीवन में सद्गुणों का संग्रह सत्संगति से और दुर्गुणों का विकास कुसंगति से ही होता है। सद्गुण मनुष्य को ऊँचा उठाता है और दुर्गुण पतन के गर्त में ढकेल देता है। ज्ञान-अज्ञान के विकास में कारण भी यही है। गोस्वामी जी ने इसके लिए एक बड़ी सुन्दर उपमा दी है-

**कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।**
**बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।।**

**(रा० ४/१५ ख)**

वर्षाकाल में कभी बादलों के घटाटोप आकाश को आच्छादित कर लेने पर दिन में भी अन्धेरा हो जाता है फिर वायु के वेग से जब बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तो सूर्य निकल आता है, प्रकाश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कुसंगति से चित्ताकाश तमोगुण से आच्छादित हो जाता है और उससे अज्ञान रूप अन्धेरा हो जाता है किन्तु सत्संग से तमोगुण का नाश होता है और पुनः ज्ञानोदय हो चित्ताकाश को प्रकाशित कर देता है।

सत्संग और कुसंग की यहाँ पर इतनी महिमा बताने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पाठक इस सम्बन्ध में स्वयं को सजग कर लें। यहाँ पर हमारे सामने देवी कैकेई का उदाहरण है। कुसंगति के कुप्रभाव में पड़कर उसने अपने सर्वस्व का नाश किस प्रकार से कर लिया, यह हम सरलता से समझ सकते हैं। यहाँ पर हम यह भी देखते है कि एक बार जब व्यक्ति कुसंगति का शिकार हो जाता है तब उसको सम्भालना बड़ा कठिन होता है। इस कुसंगति से उत्पन्न हुई कुमति ने कैकेई में कितनी क्रूरता ला दी है, यह देखने की बात है। वह रानी जिसको राजा प्राणवत् प्यार करते थे, जो राजा की प्राण रक्षा के लिए युद्ध क्षेत्र में भी उनके साथ होती थी, वही कुमति के क्रूर प्रभाव में आ जाने पर उस प्राणपति

को जल रहित मीन के समान तड़प कर मरती हुई देखती रही किन्तु ज़रा सी भी दया नहीं आई । उसने अपने क्रूर कृत्यों से नारी की पुनीतता को कलंकित कर दिया। आगे के सम्पूर्ण प्रसंग में सम्राट की सरलता, अनुराग तथा निष्कपटता और कैकेई की कुटिलता, क्रूरता एवं कठोरता दोनों ही अपनी सीमा पर पहुँचे हुए दिखते हैं।

गुरु वशिष्ट की अनुमति तथा सचिव समाज की सहमति से अवध में श्रीरामराज्याभिषेक की तैयारी प्रारम्भ हो गई। नगर तथा राज्य भर के चारों तरफ हर्षोल्लास में परिजन-प्रजाजन आनन्दित हैं। उनकी आन्तरिक अभिलाषा अब पूर्ण हो रही है। इस कल्पना में सभी फूले नहीं समा रहे हैं किन्तु होनहार क्या है, इसका किसी को भी बोध नहीं है। मंथरा की कुचाल से महारानी कैकेई अवधपुर वासियों के मधुमय जीवन को नष्ट करने की योजना में तत्पर है। इस कुत्सित चाल का कहीं किसी को भी कुछ पता नहीं है। गोस्वामी जी लिखते हैं-

**राउर नगर कोलाहलु होई। यह कुचालि कछु जान न कोई।।**

**(रा० २/२३-८)**

नगर-निवासी आनन्द में चहल-पहल में निमग्न हैं। कैकेई द्वारा कुचक्र चलाए जाने की तैयारी तो अन्तः पुर में हो रही है, भला उसकी जानकारी नगर निवासियों को कैसे हो सकती थी। सम्राट श्रीराम को प्रातः काल युवराज पद पर अभिषिक्त होने की सूचना के साथ संयम की सीख देने के लिए गुरुदेव निवेदन करते हैं और स्वयं आनन्द मग्न हो महारानी कैकेई को यह शुभ समाचार सुनाने के लिए उसके भवन में पधारते हैं। महाकवि लिखते हैं-

**साँझ समय सानन्द नृपु गयउ कैकई गेहँ।**
**गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ।।**

**(रा० २/२४)**

सायंकाल के समय सानन्द महाराज कैकेई के भवन में पधारे ऐसा लग रहा है मानों स्नेह स्वयं साकार होकर निष्ठुरता के निकट पदार्पण किया हो। भवन अव्यवस्थित है। उदासी और शून्यता देख महाराज ने दासियों से पूछा। "महारानी कोप भवन में है" समाचार पाते ही महाराज सहम गए। अन्तर अनिष्ठ की आशंका से भयभीत हो गया। पाँव आगे नहीं पड़ रहे। महारानी के प्रति सम्राट की कितनी अनुरक्ति है इसका अनुमान हम महाकवि की इन अर्धालियों से लगा सकते हैं-



**सुरपति बसइ बाहँबल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।।**

**सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई।।**
**(रा० २/२५-२,३)**

जिसके बाहु बल से देव राज इन्द्र निश्चिन्त हो अपनी दिव्य नगरी अमरावती में निवास करते हैं। भूमण्डल के समस्त भूपगण जिसकी अभिरुचि के प्रतीक्षा करते हैं वह महाराज दशरथ स्त्री के कोप का समाचार सुनकर सूख गए। काम के प्रताप की महत्ता को देखिये ! देवासुर संग्राम में महाराज दशरथ ने देवराज इन्द्र की सहायता की थी, तभी इन्द्र अपने सिंघासन को सुरक्षित रख सके थे। उसी घटना का यहाँ संकेत है। महाराज दशरथ आर्यवर्त के चक्रवती सम्राट हैं। उस समय भारत का दक्षिणा पथ बहुत अंशों में रावण के अधीन था। रावण के भाई खरदूषण त्रिशिरा चौदह हज़ार के सेना के साथ पंचवटी में रह रहे थे किन्तु उत्तरी भारत स्वतंत्र था। अवधेश सम्राट थे। उनके अधीन अनेकों करदाता राजा थे जो उनके इशारे की प्रतिक्षा किया करते थे, वे चक्रवर्ती सम्राट कैकेई को कूप भवन में सुनकर सूख गए। भय से उनके पाँव आगे नहीं बढ़ रहे हैं। कवि कहता है कि यह काम के प्रताप की महत्ता है-

**सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।**
**(रा० २/२५-४)**

जो त्रिशूल, वज्र तथा तलवार के प्रहार को सहने वाले हैं, वे भी काम के वाण से मारे गये। काम का वाण बड़े-बड़े धीर को भी अधीर बना देता है। महाराज दशरथ धीर धुरीण हैं किन्तु कामिनी के कोप की बात सुनते ही अधीर हो भयभीत हो गए ।

पुरुष सामाजिक वातावरण में सदैव कसा हुआ रहता है, यह कसन और भी गाढ़ी हो जाती है यदि वह कोई उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो तो क्योंकि उस अवस्था में उसका जीवन सर्वथा कृत्रिम तथा आवरण युक्त हो जाता है। उसमें स्वाभाविक कुछ भी नहीं रह जाता। विविध प्रकार की मान्यताएँ उसे कृत्रिम व्यवहार करने के लिए तथा तदानुसार कृत्रिम जीवन जीने के लिए विवश कर देती हैं। अस्वाभाविक जीवन में तनाव की स्थिति स्वाभाविक बन जाती है। पुरुष के लिए ग्रह और ग्रहणी ये दोनों ही ऐसे स्थान हैं जहाँ जाकर जीवन को कृत्रिमता तथा आवरण से मुक्त हो, तनाव एवं तद्‌जन्य कुण्ठा से रहित होकर शांति और सुख की श्वास लेता है। सौभाग्य से पुरुष को यदि सुन्दर, स्वच्छ, सुखद ग्रह तथा शील सौन्दर्य शोभा सम्पन्ना, स्नेहसिक्ता, सुमधुरभाषिणी भार्या प्राप्त हो जाए तो वह

अपनी सरस चितवन से ही समस्त संताप को हर लेती है और शीतलता प्रदान कर उसकी सारी थकान दूर कर देती है। यही कारण है कि पुरुष अपने दिन भर के कृत्रिम जीवन से मुक्त होते ही गृह और गृहणी की शीतल छाया में जाकर विश्राम पाने के लिए आतुर हो जाता है। सामाजिक वातावरण की कसन से थके हुए पुरुष का गृह में प्रवेश करते ही यदि गृहणी मधुर मुस्कान विखेरती हुई सुमधुर शब्दों के साथ स्वागत करते हुए सामने न आये तो पुरुष के आह्लाद की सम्पूर्ण आशा ही समाप्त हो जाती है। स्त्री पुरुष की पोषिका है। यदि वह अपने सरस स्नेह द्वारा उसका पोषण नहीं करती तो वह वारिविहीन वृक्ष की भाँति सूख जाता है। जिस सरसता के आस्वादन की लालसा लिये उमंग में उत्कण्ठित हो पुरुष नारी के निकट जाता है वहाँ यदि उसे उसकी आकांक्षा की विपरीत नारी के कोपाग्नि का भाजन बनने की सम्भावना उपस्थित हो जाये तो उस समय उसकी क्या दशा होगी? मनुष्य पहले मनुष्य है, उसकी आकांक्षाएँ समान हैं चाहे वह सम्राट हो या सामान्य श्रमिक। जिस सरस स्नेह की आकांक्षा को लिए हुए आह्लादित हो महाराज दशरथ अपनी प्राण वल्लभा के पास जा रहे थे, उसके कोप भवन में होने का समाचार सुनते ही वह आकांक्षा आह्लाद सभी कुछ समाप्त हो गया। कैकेई का कोप भवन में प्रवेश किसी सामान्य विषय को लेकर नहीं हो सकता। यह नाराज़गी नारी सुलभ स्वाभाविक नाराज़गी नहीं है। अनिष्ट की आशंका से महाराज भयभीत हो गए-

**सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ। देखिं दसा दुख दारुन भयऊ।।**
**भूमि सयन पटु मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना।।**

**(रा० २/२५-५)**

राजा भयभीत से हो अपनी प्राण प्रिया रानी के पास गए। उसकी दयनीय दशा को देख अत्यन्त दुःख हुआ। कैकेई भूमि पर पड़ी है। शरीर पर पुराने मोटे वस्त्र पहन रखे हैं और अनेकों प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये हैं। जिस प्राण वल्लभा को वे सदैव सुप्रसन्न सुस्मित देखने की लालसा से सब कुछ करने के लिए तत्पर रहते हैं वही आज इस दयनीय दशा में पृथ्वी पर पड़ी है। देखते ही महाराज का हृदय काँप गया। उस समय की दशा देखते हुए ऐसा लग रहा था कि मानो उसके सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया हो। महाकवि लिखते हैं-

**कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अनअहिवातु सूच जनु भाबी।।**

**(रा० २/२५-७)**

उस कुमति को यह कुवेषता ऐसी फब रही है, मानो भवितव्यता उसे

विधवा होने की सूचना दे रही हो। जीवन में विपत्ति कुमति का ही परिणाम है। चाहे वह राजा हो व रंक, दैवी विधान सर्वत्र सभी के लिए समान रूप से ही कार्य करता है। कुसंग से कुमति और कुमति से विनाश यह एक निश्चित क्रम है। कैकेई में यह कुमति कुसंग से ही जागृत हुई है और उसकी गतिविधि से भविष्य में घटित होने वाला परिणाम भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। यह सब कुछ देखकर महाराज का अन्तर काँप उठा और वे उसके कारण को जानने के लिए आतुर हो गए-

**जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।।**

**(रा० २/२५-८)**

राजा के प्रश्न भरे सम्बोधन में ही उनका छल रहित प्यार टपक रहा है। वे रानी को कितना प्यार करते हैं इसका आभास उनके शब्दों से ही मिल जाता है। आगे का सम्पूर्ण प्रसंग बड़ा ही दर्दनाक है। गोस्वामी जी की वह उक्ति अक्षरशः साकार हो जाती है जिसमें कहा है-

**गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ।**

**(रा० २/२४)**

महाराज के रूप में सचमुच मूर्ति मंत स्नेह ही वहाँ खड़ा दिख रहा है। कोमल वाणी में वे पूछते हैं हे प्राण वल्लभे !

**केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।**
**मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई।।**

**(रा० २/२५-छन्द)**

हे प्रिये ! तुम किस लिए रूठी हो ऐसा कहते हुए महाराज स्नेहसिक्त कर-कमलों से उसका स्पर्श करते हैं किन्तु कैकेई उनके हाथों को झटकते हुए उनकी ओर इस तरह से निहारती है मानों क्रुद्ध सर्पिणी क्रूर दृष्टि से देख रही हो। यहाँ पर साँगरूपक के माध्यम से रानी की मनः स्थिति का वर्णन कर रहे हैं यथा-

**दोउ बासना रसना दसन वर मरम ठाहरु देखई।**
**तुलसी नृपति भवतब्यता बस काम कौतुक लेखई।।**

**(रा० २/२५-छन्द)**

क्रूद्ध सर्पिणी जब किसी को डसने के लिए तत्पर होती है तो उस समय उसकी लपलपाती हुई दो जिह्वाएँ और अन्तर में छिपे हुए दो दाँत ही मुख्य साधन होते हैं। यहाँ कवि कह रहा है कि कैकेई क्रोधित हुई नागिनी की भाँति महाराज की तरफ देख रही है। उसके अन्तर में भरत राज्य तथा राम वनवास के वरदान की

जो दोनों वासनाएँ हैं वे ही मानों उस नागिनी की दो जिह्वाएँ है और वे दोनों वरदान मानों दोनों विष भरे दाँत हैं। वह महाराज को इस प्रकार से निहार रही है मानों उन्हें डसने के लिए मर्म स्थान देख रही हो। किन्तु कैकेई की क्रूरता पूर्ण कुमति जन्य इस कृत्य को भवितव्यता-वश महाराज काम की क्रीड़ा ही समझ रहे हैं। सम्राट के मन में कैकेई को इस आवस्था में देखने की कभी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। वे तो उस स्नेह सौन्दर्य की मूर्ति को सदैव प्रसन्नवदना प्रेम पूरित नेत्रों से सुकोमल मधुर शब्दों में अपना स्वागत करते हुए ही पाते थे। प्रिया के उन हाव-भाव पूर्ण क्रियाकलापों का स्मरण कर और वर्तमान की दयनीय दशा को देख उनका हृदय व्यथित हो उठा-

**बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।**<br>**कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर।।**

**(रा० २/२५)**

महाराज बारम्बार पूछ रहे है हे सुमुखि सुलोचने! हे कोकिल भाषिणी! गज गामिनि! मुझे अपने इस कोप का कारण तो सुना। यह सत्य है कि मनुष्य जिन गुणों से रसानुभूति करता है प्रतिकूलता में उन्हीं का स्मरण कर अत्याधिक दुःखी भी होता है। कैकेई के जिन गुणों पर महाराज विमोहित हैं उन्हीं को दुहराते हुए उसे सम्बोधित कर रहे हैं और उन गुणों को आज उसमें न पाकर क्षुब्ध हो गये हैं।आगे की अर्धाली में उनके क्षोभ तथा विमोहजन्य आसक्ति का स्पष्ट दर्शन होता है-

**अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।।**<br>**कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू।।**<br>**सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी।।**<br>**जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरु।।**

**(रा० २/२६-१ से ४)**

हे प्रिये! किसने तेरा अनिष्ट किया है, किसके दो सिर हैं ? यमराज किसे लेना चाहता है? कहो किस रंक को राजा बना दूँ? कहो किस राजा को देश से निकाल दूँ? तुम्हारा शत्रु यदि कोई देवता हो तो भी मैं उसका वध कर सकता हूँ, बेचारे कीटवत् सामान्य नर-नारी की तो बात ही क्या है? हे सुन्दरी! तुम तो मेरे स्वाभाव को जानती हो, मेरा मन चकोर सदैव तुम्हारे चन्द्रानन को निहारने में ही अनुरक्त रहता है।



होनहार बड़ी प्रबल है, अपने न चाहते हुए भी वह हो जाता है। जो होना

होता है उसी प्रकार की बुद्धि भी हो जाती है, वाणी से भी उसी प्रकार के शब्द निकलने लगते हैं। ऊपर की अर्धाली में महाराज जो भी कुछ कह रहे हैं, भविष्य में लगभग वही कुछ होने वाला है। रंक को राजा तो नहीं बना सके किन्तु राजा को वनवास हो ही गया। मुकुट धारी महाराज ही दो सिर वाले हैं। वे ही देव राज के सखा तथा देवस्पर्धीय भी हैं। भविष्य में वे ही मृत्यु के शिकार बनते हैं। कभी अनजाने में भी निकले हुए शब्द किस प्रकार भविष्य में छिपे हुए रहस्य के अवबोधक बन जाते हैं, यह यहाँ द्रष्टव्य है। अपनी प्राणवल्लभा की दयनीय दशा को देख महाराज का अन्तर विक्षुब्ध हो गया है। ऐसी स्थिति में बुद्धि थकित हो विवेकशून्य हो जाती है। इस समय राजा की भी यही दशा है। अपनी अन्तर्स्थिति को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

**प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें।।**
**जौं कछु कहौं कपटु करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही।।**

**(रा० २/२६-५,६)**

हे प्रिये ! मेरे प्रियजन,प्रजाजन, पुत्र, सम्पत्ति तथा मेरे प्राण भी सभी तुम्हारे ही आधीन हैं। यदि मैं तुमसे कुछ कपट करके कहता होऊँ तो हे भामिनी ! मुझे सौ बार राम की शपथ है। तुम बिहँस कर अपनी मनभावती बातें माँग लो और अपने मनोहर अंगों पर आभूषण सजा लो। हे प्रिये ! तुम समय असमय को देखकर शीघ्र इस कुवेश का त्याग कर लो। श्रीराम की शपथ को सुनकर मन में विचार कर मंद बुद्धि कैकेई हँसती हुई उठकर अपने अंगों पर आभूषण सजाने लगी। ऐसा लग रहा है जैसे किरातिनी मृग को देख फँदा सजा रही हो। रानी को हँसती हुई देख महाराज को संतोष हुआ। वे समझ रहे थे कि रानी का रूठना केवल नाटक मात्र था, उसे सुहृद जान प्रेम में पुलकित हो पुनः मधुर वाणी से कहने लगे-

**भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनन्द बधावा।।**
**रामहिं देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू।।**

**(रा० २/२७-२,३)**

कैकेई विशेष कर महाराज से राम को युवराज पद प्रदान करने को कहा करती थी इसीलिए महाराज राज कार्य से निवृत्त होते ही यह शुभ समाचार सुनाने के लिए स्वयमेव महारानी के महल में आये थे-



**भामिनि भयउ तोर मन भावा।**

महाराज के ये शब्द उनके इसी अभिप्राय को व्यक्त कर रहे हैं। हे भामिनि! अब तो तुम्हारा मन भाया कार्य हो गया है। नगर में आज घर-घर आनन्द की बधाई बज रही है। कल प्रातः काल तुम्हारे प्राणाधिक्य प्रिय राम को युवराज पद पर अभिषिक्त किया जा रहा है। हे सुलोचने ! अब तो तुम प्रसन्न हो मंगल के साज सजाओ। राम राज्य की बात सुनते ही उसका हृदय सहम गया। किन्तु प्रकट में वह विहँसने लगी। महाकवि उसकी आन्तरिक दशा का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

**दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू।।**
**ऐसिउ पीर बिहसि तेहिं गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई।।**

**(रा० २/२७-४,५)**

राजा की बात सुनते ही उसका कठोर हृदय फटने लगा। ऐसा जान पड़ा मानों पका हुआ बालतोड़ फोड़ा छू गया हो। ऐसी भारी पीड़ा को भी उसने बिहँसकर ऐसे छुपा लिया जैसे चोर स्त्री प्रकट न रोकर अपने दुःख को अन्दर ही छुपा लेती है। यहाँ "पाक बरतोरू" और "चोर नारि" की ये दोनों ही उपमायें बड़ी ठेठ और सटीक हैं। नरनाह नीति निपुण हैं इसमें संदेह नहीं किन्तु नारी चरित्र अथाह सागर के समान है। यहाँ पर महाकवि ने अन्दर और बाहर के विभिन्न व्यवहार को ही "त्रिया चरित्र" की संज्ञा दी है और बताया है कि-

**लखहिं न भूप कपट चतुराई। कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई।।**

**(रा० २/२७-६)**

राजा उसकी कपट चातुरी को नहीं लख पा रहे हैं क्योंकि वह करोड़ो कुटिलों की शिरोमणि धोखेबाज मंथरा की पढ़ाई हुई है। महाराज को अपनी प्राण प्रिया से कभी प्राणों पर आघात होने की सम्भावना नहीं थी। आशंका के अभाव में हृदय स्वाभाविक सरलता से छल रहित व्यवहार करता है। उसमें कुटिलता के लिए किंचित भी स्थान नहीं होता। यही कारण है कि महाराज रानी के कपट पूर्ण मुस्कान युक्त हाव-भाव को नित्य की भाँति काम क्रीड़ा कौतुक ही समझ रहे हैं।

**कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहसी नयन मुहु मोरी।।**

**(रा० २/२७-८)**

**मागु मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।**
**देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु।।**

**(रा० २/२७)**

फिर वह कपट युक्त प्रेम प्रदर्शित करते हुए नेत्र और मुख मोड़ कर हँसती हुई बोली; हे प्रियतम! आप माँग-माँग तो कहा करते हैं पर देते लेते कभी कुछ नहीं। आपने बहुत पहले देवासुर संग्राम के समय मुझे दो वरदान देने को कहा था किन्तु अब तो उनके मिलने में भी संदेह है। यह बात कैकेई ने इस नाटकीय ढ़ंग से नेत्र और मुख घुमाते हुई कही कि राजा उस पर विमुग्ध हो गये। हँसते हुए बोले अब मैं तुम्हारा मर्म जान गया, तुम्हें रूठना परम प्रिय है। नारी का एक नाम मानिनी भी है। वह प्रियतम से प्रमोद में रस वृद्धि हेतु मानकर बैठ जाती है। प्रेम पिपासु प्रियतम रस की लालसा से आतुर हो मानिनी के मान को दूर करने के लिए विविध भाँति के अनुनय विनय से मनाने का प्रयत्न करता है। रूप गर्विला नारी द्वारा काम क्रीड़ा की वृद्धि के लिए ऐसा कौतुक हुआ ही करता है। कैकेई के इस प्रकार के क्रियाक्लाप से राजा परिचित हैं इसीलिए कह रहे हैं कि तुम्हारे मर्म को मैं समझ गया, रूठना तुम्हें परम प्रिय है। वरदान की थाती तुम्हारी मेरे पास है; न तो तुमने उसे कभी माँगा और न मुझे उसकी स्मृति रही। इसमें मेरा भूलने वाला स्वभाव ही कारण है। मिथ्या मुझे दोष न दो चाहे तुम दो के बदले चार वर माँग लो। अब तक के वातावरण में हासविलास का नाटक हो रहा था किन्तु अब बात गम्भीर हो गई । महाराज के दिये हुए वरदान में कैकेई द्वारा किया गया संदेह उनको अप्रिय लगा इसलिए बड़ी गम्भीरता के साथ उन्होंने कहा-

**रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई।।**
**नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।**
**सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। वेद पुरान बिदित मनु गाए।।**
**तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवध रघुराई।।**
**(रा० २/२८-४ से ७)**

इसे होनहार ही कहा जा सकता है अन्यथा महाराज को ऐसीं स्थिति में इतनी गम्भीर प्रतिज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनका यह कथन है कि रघुकुल की यह रीति सदैव से चली आ रही है कि 'प्राण भले चले जायें परन्तु बचन नहीं जाता', नीति शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। स्त्री पुरुष के प्रणय-प्रलाप की सीमा बहुत छोटी होती है। उसमें इस प्रकार की प्रतिज्ञा के लिए स्थान नहीं जिसका सम्बन्ध सीधे समाज व राष्ट्र से हो इसीलिए नीतिशास्त्र में राजा को नारी के साथ मिथ्या भाषण की छूट दी गयीं है और कहा गया है-

**विश्वासनैव कर्त्तव्यं स्त्रीषु राज कुलेषु च।**

किन्तु भवितव्यता प्रबल है। नीति निपुण सम्राट भी नीति के विपरीत विश्वास कर स्वयं ही विपत्ति के गर्त में गिर रहे हैं। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि असत्य की बराबरी में पापों का समूह भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार करोड़ों घुघुचियाँ मिलकर भी पर्वत की बराबरी नहीं कर सकती ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण पाप मिलकर भी असत्य की बराबरी नहीं कर सकते। सत्य ही सम्पूर्ण सुकृतों की जड़ है, सत्य से ही धर्म का आविर्भाव होता है, यह वेद पुराण प्रसिद्ध तथ्य है और मनु ने भी यही कहा है किन्तु सत्य और असत्य का निर्णय जिस प्रज्ञा से हो सकता है नारी के व्यामोह में विमुग्ध हो राजा उसे खो चुके हैं। अतः ऐसी स्थिति में स्तेय की दुहाई देकर किया गया कार्य धर्म वा शास्त्र सम्मत है, यह कहना उचित नहीं है। महाराज अब श्रीराम की शपथ लिए हैं, उसकी भी याद दिलाते हैं 'श्री रघुनाथ पुण्य और प्रेम की सीमा हैं' अभिप्राय यह है कि उसकी शपथ लेकर जो कुछ कहा गया है उसे अवश्य पूर्ण किया जायेगा। महाराज से इस प्रकार की प्रतिज्ञा पक्की कराके फिर वह कुमति हँसकर बोली। महाकवि उसके कुविचारयुक्त वचन को दुष्ट पक्षी की कुलही खोसना कहते हैं।

**बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली।।**

**(रा० २/२८-८)**

**भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।**
**भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु।।**

**(रा० २/२८)**

राजा का मनोरथ मानो सुन्दर वन है और उसमें सुख सुन्दर पक्षियों का समुदाय है। उनको नष्ट करने के लिए भिल्लिनि कैकेई मानो अपना वचन रूपी भयंकर बाज छोड़ना चाहती है। चहचहाते हुए पक्षियों के झुण्ड का शिकार करने के लिए किरातिनियाँ अपने पालतू बाज का प्रयोग करती हैं। पहले वे बाज पक्षी को वस्त्र के आवरण में छुपाये रखती हैं। टोपी की भाँति कपड़े का सिला हुआ आवरण होता है जिसे कुलही कहा जाता है। कुलही के अन्दर छिपे हुए बाज को पक्षी नहीं देख पाते। भिल्लिनी जब वन में पक्षियों को विहार में निमग्न देखती है तो वह धीरे से बाज की कुलही को हटा लेती है और वह अचानक झपटकर किलोल करते हुए पक्षी समूह को नष्ट कर देती है। महाकवि यहाँ पर कैकेई को भिल्लिनी, उसके कुविचार को दुष्ट पक्षी बाज, उसके वचन को कुलही का हटाया जाना, महाराज के मनोरथ को सुन्दर वन और उनके सुख समूह को पक्षियों का

समूह बताया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे कैकेई जो कुछ कहने जा रही है वह महाराज के सुख समूह को नष्ट करने वाला है किन्तु वह अभी भी उससे बेखबर हैं। राजा की सरलता तथा कैकेई की कुटिलता ये दोनों ही अपनी सीमा को छुये हुए से यहाँ दिखाई देते हैं। जिस प्रकार कैकेई ने सरल हृदय पति के प्रेम और विश्वास की हत्या की, उसे देखकर कठोरता भी काँप जाती है। मानवीय इतिहास में वह अपने समान आप है। यह पत्नीत्व पर ऐसा कलंक है कि जिससे कलंक भी कलंकित हो गया है। स्नेह की साकार मूर्ति सुकोमल हृदय नारी प्राणप्रिय पति के लिए इतनी क्रूर भी हो सकती है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजा को प्रतिज्ञा में आबद्ध कर हँसती हुई अपनी माँग को व्यक्त करते हुए कहती है-

**सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका।।**
**मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।।**

**(रा० २/२९-१,२)**

हे प्राण प्यारे ! सुनिये ! मेरे हृदय को भाने वाला एक वर तो यह दीजिए कि मेरे पुत्र भरत को राजतिलक हो और दूसरा वर मैं करबद्ध हो माँगती हूँ। हे नाथ ! वह भी मेरी मनोकामना पूर्ण कीजिए। पहले वर में पुत्र के लिए राज्य पद की माँग है, प्रत्येक माँ अपने पुत्र को उच्चतम आसन पर देखना चाहती है इसलिए इस माँग को अनुचित नहीं कहा जा सकता। दूसरे वर में वह जो कुछ माँगना चाहती है वह अनुचित ही नहीं सर्वविध अनर्थकारी भी है इसलिए करबद्ध हो विशेष प्रार्थना के साथ कहती है-

**तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी।।**

तपस्वियों के वेष में विशेष उदासी रूप में चौदह वर्षों तक राम वन में निवास करें। 'बिसेषि उदासी' का अभिप्राय है प्रियजन, प्रजाजन से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रखते हुए राम का वन में निवास हो। कैकेई की कोमल वाणी में कठोरतम क्रूरतापूर्ण वरदान की माँग सुनते ही राजा शोक से इस प्रकार व्याकुल हो गये जैसे चकवा पक्षी को चन्द्रमा की किरणें छू गई हों। उनकी दशा का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं-

**गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा।।**
**बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।।**
**माथें हाथ मूदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।।**

मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला।।

(रा० २/२९-५ से ८)

कैकेई के वचन सुनते ही राजा सहम गये, उनसे कुछ कहते नहीं बन रहा। ऐसा लग रहा है मानो बाज वन में बटेर पर झपट पड़ा हो। राजा का रंग बिल्कुल उड़ गया मानो ताड़ वृक्ष पर बिजली गिरकर झुलस दिया हो। माथे पर हाथ रख, आँखे बन्द करके वह इस प्रकार चिन्ता में पड़ गये मानो सोच स्वयं साकार होकर सोच कर रहा हो। वे मन ही मन सोचते हैं मेरा मनोरथ रूप कल्प वृक्ष पुष्पित हो चुका था किन्तु उसमें फल आने से पूर्व ही कैकेई ने हथिनी के समान उसे जड़ समेत उखाड़कर नष्ट कर डाला। कितनी व्यथा, कितना सन्ताप है महाराज के अन्तरतम में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। परिणाम की भयंकरता सोचकर उनका हृदय हाहाकार कर उठा और वह कराहते हुए मन ही मन बुदबुदाने लगे-

अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपत्ति कै नेईं।।

(रा० २/२९-९)

कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास।।

(रा० २/२९)

कैकेई ने अवध को उजाड़ दिया, उसने विपत्ति की अचल नींव दे दी। किस अवसर पर क्या हो गया, नारी के विश्वास से वह ऐसे नष्ट किये गये जैसे योग सिद्धि के फल प्राप्त होते समय यती को अविद्या नष्ट कर देती है। राम विहीन अवध की कल्पना भी महाराज नहीं कर सकते। अयोध्या राम के वन गमन से उजाड़ हो जाएगी, यह वह अच्छी तरह जानते हैं। प्रियजन, परिजन और प्रजाजन सभी राम विरह-जन्य विपत्ति में डूब जाएंगे। कैंकेई ने विपत्ति की दृढ़ नींव दे दी है। राम शपथ के साथ की हुई प्रतिज्ञा अटल है। अमित काल तक कठोर साधना कर योगी जब जड़-चेतन ग्रंथी भेदन रूप सिद्धि को प्राप्त करने लगता है तो उस समय विषय बयारी को प्रेरित कर अविद्या उसके विज्ञान दीप को बुझाकर उसे नष्ट कर देती है। महाराज सोचते हैं उसी प्रकार कैकेई के माया जाल में फँसकर उनका भी सर्वनाश हो गया है। दशा बड़ी दयनीय है-

एहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माखा।।

(रा० २/३०-१)

इस प्रकार मन ही मन झाँख रहे हैं, पश्चाताप कर रहे हैं। उनको इस प्रकार शोक मग्न बुरी दशा में देख दुर्बुद्धि कैकेई मन ही मन बुरी तरह क्रुद्ध हुई और कठोर वाणी से कहने लगी-

**भरतु कि राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही।।**
**जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारें। काहे न बोलहु बचनु सँभारे।।**
**देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं।।**
**(रा० २/३०-२ से ४)**

क्या भरत आपके पुत्र नहीं हैं या आप मुझे मूल्य देकर खरीद कर ले आए हैं? अभिप्राय यह है कि मैं भी पट्ट्ट महिषी हूँ। मेरा पुत्र भी युवराज होने का अधिकार रखता है। यदि मेरे वरदान के वचन आपको वाण से लगे हैं तो आप सोच समझकर बात क्यों नहीं बोलते? उत्तर दीजिए? या तो हाँ कीजिए या नहीं कर दीजिए। तुम रघुकुल में सत्य प्रतिज्ञ हो, अपनी प्रतिज्ञा को सँभालिए। सारे अनर्थ की जड़ तो यही है कि राजा ने बिना सोचे समझे वर देने की प्रतिज्ञा कर ली है, वह भी राम शपथ के साथ। कैकेई समझती है कि राजा अब राम शपथ को कभी मिथ्या नहीं होने देगें। वह क्रूरता पूर्ण कठोर शब्दों में महाराजा के अन्तर को कुरेद रही है जिससे उनका हृदय विदीर्ण होता जा रहा है-

**देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू।।**
**सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि मागि चबेना।।**
**सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा।।**
**अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई।।**
**(रा० २/३०-५ से ९)**

आपने ही वर देने की घोषणा की थी, अब भले ही न दीजिए। सत्य को त्याग कर जगत में अपकीर्ति लीजिए। सत्य की सराहना करके वर देने को कहा था तो क्या सोचते थे कि यह चबेना ही माँग लेगी ? महाराज शिवि, दधीचि और बलि ने जो कुछ वचन कहे थे, शरीर और सम्पत्ति को त्याग करके भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी, क्या वे रघुवंशी नहीं थे? आप तो सत्य व्रतधारी रघुवंशी हैं। सामने बैठी हुई कैकेई अत्यन्त कटु शब्दों से राजा को पीड़ित कर रही है। ऐसे लग रहा है जैसे वह जले पर नमक छिड़क रही है। धर्मभीरु राजा इस समय धर्म उपदेश सुनने की स्थिति में नहीं है। जो कुछ भी वह अपनी बात को पुष्ट करने के लिए कह रही है उसको वह पहले से ही जानते हैं। विश्वासघात से बड़ा और कोई

अघ नहीं है और वह भी निश्चल सरल हृदय पति के साथ। ऐसे जघन्य कृत्य करने वाली नारी यदि उसी पति के समक्ष धर्म उपदेश देती हो तो उसे कितनी पीड़ा हो रही होगी इसकी कल्पना भी हृदय को दहला देती है।

**धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे रायँ।**
**सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठायँ।।**

**(रा० २/३०)**

ऐसी स्थिति में सामान्य व्यक्ति के लिए तो सँभलना ही कठिन होता है। धर्म की धुरि सत्य है, सत्य को धारण करने वाले महाराज़ दशरथ धैर्य धारण कर नेत्र खोले और सर पर हाथ मारते हुए लम्बी श्वास़ लेकर कहा 'इसने मुझे कुठौर से मारा है।' कितनी पीड़ाप्रद अवस्था है महाराज की! अन्तर में हाहाकार और बाहर क्रोध की साकार प्रतिमा कैकेई। न तो आँख बन्द करके चैन है और न खोलने पर ही। बड़ी ही भयावह स्थिति है-

**आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी।।**
**मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरीं सान बनाई।।**
**लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा।।**

**(रा० २/३१-१ से ३)**

नेत्र खोलते ही अत्यन्त क्रोध से जलती हुई कैकेई सामने दिखाई दी। वह ऐसी लग रही थी मांनो क्रोधरूपी नंगी तलवार सामने खड़ी हो। कुबुद्धि उस तलवार की मूठ है और निष्ठुरता उसकी धार है जो कि कुबरी रूपी सान पर धर कर तीखी की हुई है। राजा ने देखा कि यह बड़ी ही भयानक और कठोर है, क्या सत्य ही मेरा ज़ीवन लेना चाहती है? उनका साहस नहीं पड़ रहा था कैकेई की तरफ देखने का। उसके इस भयानक रूप की वे कभी भी कल्पना नहीं किये होगें। किन्तु विवश होकर अपने अन्तर की व्यथा प्रकट करते हुए बोले-

**बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती।।**
**प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती।।**

**(रा० २/३१-४,५)**

कैक़ेई के वचन वज्र से छत-विछत हुए राजा पहली बार उससे कुछ कहने का साहस कर रहे हैं। कवि कह रहा है कि वह अपनी छाती को कठिन तथा जिगर को मजबूत करके बहुत ही नम्रता के साथ उसे प्रिय लगले वाले वचन बोले। हे प्रिय! हे भीरु! विश्वास और प्रेम को नष्ट करके तुम ऐसे बुरे वचन क्यो

कह रही हो? कितनी दीनता है राजा के विनम्र वचनों में ! पत्नी के प्रति अखण्ड प्रेम तथा अटूट विश्वास ही पति के गृहस्थ जीवन का आधार होता है और इन दोनों के अभाव में उसका सब कुछ छिन्न-भिन्न हो जाता है। कैकेई ने राजा के प्रेम और विश्वास दोनों की ही हत्या कर दी है। महाराज इसका कारण जानना चाहते हैं, विनम्रता से पूछते हैं प्रिये! प्रेम और विश्वास की हत्या कर तुम ऐसी कठोर बातें क्यों कह रही हो? बात भरत के राज्यभिषेक की नहीं है भरत और राम दोनों ही मेरे नेत्र हैं यह मैं भगवान् शंकर की साक्षी देकर कह रहा हूँ। राजा भाँप गये हैं कि यह सारा अनर्थ कौशल्या के प्रति ईर्ष्या का ही परिणाम हो सकता है इसलिए वह कहते हैं-

**राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ।।**
**मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें।।**

**(रा० २/३२-१,२)**

मैं सौ बार राम की शपथ करके सत्य भाव से कहता हूँ कि राम की माता ने मुझे कुछ नहीं कहा। मैंने यह सब कुछ बिना तुमसे पूछे किया है इसलिए मेरा मनोरथ खाली पड़ गया। राजा बड़ी विनम्रता से कह रहे हैं कि अब तुम क्रोध का त्याग कर मंगल साज सजो, कुछ दिन बीतने पर भरत युवराज पद पर आसीन होंगे। किन्तु एक ही बात मुझे पीड़ा प्रद लग रही है जो कि तुमने दूसरा वरदान असमजंस पूर्ण माँग लिया है। भरत को राज देने में न तो सम्राट को ही कोई आपत्ति है न अन्य लोगों को ही। इस सम्बन्ध में आगे भी सभी प्रबुद्ध लोग यह कहकर कैकेई को समझाते हैं, व्यथा की बात है केवल राम के वनवास की। सम्राट कहते हैं-

**अजहूँ हृदय जरत तेहिं आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।।**
**कहु तजि रोषु राम अपराधू। सब कोउ कहइ रामु सुठि साधू।।**

**(रा० २/३२-५,६)**

अब ही कल्पना करके उसकी आँच से हृदय जल रहा है। यह तुमने हँसी में व गुस्से में या सचमुच ही कहा है? क्रोध का त्याग करके तुम राम का अपराध तो मुझे बताओ। प्रियजन, प्रजाजन सभी कहते हैं कि राम अत्यन्त साधु स्वभाव के हैं-

**तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू।।**
**जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला।।**



**(रा० २/३२-७,८)**

महाराज कहते हैं कि तुम भी सदैव राम की प्रशंसा किया करती थी। आज तुम्हारी बात सुनकर मुझे संदेह हो रहा है, भला जिसका स्वभाव शत्रु के भी अनुकूल है वह माता के प्रतिकूल व्यवहार कैसे कर सकता है? कैकेई ने मंथरा से भी कहा था कि यदि विधाता कृपा करके मुझे पुनः मानव शरीर दें तो मैं उससे यही माँगूगी कि-

**जौ विधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू।।**

**(रा० २/१५-७)**

राम की साधुता की ख्याति सर्वत्र फैली हुई है। राम अपने शत्रु का भी अहित नहीं चाहते और शत्रु पक्ष के लोग भी राम की प्रशंसा किया करते हैं- **'बैरिउ राम बड़ाई करहीं'** फिर भी श्रीराम माता के प्रतिकूल कभी आचरण करेंगे इसकी तो सम्भावना ही नहीं हो सकती। महाराज कहते हैं कि यदि राम ने तुम्हारे प्रतिकूल कोई आचरण किया हो तो मुझे बाताओ आखिर उसका अपराध क्या है?

**प्रिया हास रिस परिहरहि मागु बिचारी बिबेकु।**
**जेहिं देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु।।**

**(रा० २/३२)**

हे प्रिये ! हँसी और क्रोध को त्याग कर विवेक द्वारा उचित-अनुचित विचार कर वर माँगो जिससे मैं नेत्र भर भरत का राज्यांभिषेक देख सकूँ। राजा को मालूम है कि कैकेई ने जो कुछ माँगा है वह विवेकसम्मत नहीं है इसलिए उनका कहना है कि विवेक से दूसरे वरदान की जगह कोई अन्य वर माँग लो जिससे मैं भरत राज्याभिषेक देख सकूँ। राम वनवास होने पर यह सम्भव नहीं हो सकेगा। इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

**जिऐ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना।।**
**कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं।।**

**(रा० २/३३-१, २)**

मीन का जीवन जल है चाहे जल के बिना मछली जीवित रह जाये, मणि की हरण हो जाने पर सर्प भी तड़प कर जान दे देता है, भले ही सर्प भी मणि के अभाव में दीन दुःखी होकर जीता रहे किन्तु मैं तुमसे स्वभावतः छल रहित मन से सत्य कहता हूँ कि राम के बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता।

**समुझि देखु जियँ प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना।।**

**(रा० २/३३-३)**

हे प्रवीण प्रिये! तुम हृदय में विचार कर देखो मेरा जीवन ही राम दर्शन के आधीन है। राजा दीन होकर अपने प्राणों की भीख माँग रहे हैं, किन्तु उनकी दीनता, विनम्रता का उस कुटिल हृदया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा। महाकवि लिखते हैं-

**सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई।।**

**(रा० २/३३-४)**

राजा के कोमल वचन सुनकर वह दुर्बुद्धि अत्यन्त जल रही है ऐसा लग रहा है मानो अग्नि में घी की आहूति पड़ रही हो। राजा की प्रार्थना के बदले में वह जो कुछ भी कहती हैं वह एक आर्य कुल की कुल वधु के लिए सर्वथा अशोभनीय है। सुना जाता है कि कैकेई को महाराज ने दो वरदान अपने प्राण रक्षा के बदले में दिये थे। दैवासुर संग्राम में कैकेई राजा के साथ थी। एक बार सारथी के घायल होने पर उसने कुशलता से रथ का संचालन कर महाराज की रक्षा की थी और दूसरी बार युद्ध में रथ के चक्के को सँभालकर। इन दोनों अवसरों पर महाराज ने वरदान माँगने को कहा किन्तु वह फिर कभी लेने की बात कहकर उसे धरोहर रूप में रख छोड़ा था। विधि की विडम्बना देखिए ! जिन प्राणों की रक्षा करके कैकेई ने वरदान प्राप्त किये थे उन दोनों का प्रयोग उसने उन्हीं प्राणों के हरण में किया, यह कितने आश्चर्य की बात है। आगे के प्रसंग को पढ़ते हुए कैकेई की कुटिलता तथा कठोरता को देख हृदय कराह उठता है। राजा की सरलता, विनम्रता तथा दीनता आदि एक छोर पर है और कैकेई की क्रूरता, कठोरता, निर्दयता, दूसरी छोर पर। महाकवि ने लिखा है-

**भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई।।**

**(रा० २/३७-४)**

राजा ने उसके ऊपर पद प्रहार नहीं किया बल्कि उसके चरणों को पकड़ कर अपने प्राणों की भीख माँगते रहे फिर भी वह तनिक भी टस से मस नहीं हुई। कुल मान्य सयानी स्त्रियाँ उसे समझाती हैं, परिणाम की भयंकरता भी बताती हैं, किन्तु उसके हलक के नीचे उनकी सीख नही उतरती, उनको इस प्रकार देखती है-

**मृगन्हि चितव जनु बाघिनि भूखी।**

जैसे भूखी बाघिनी मृग समूह को देख रही हो। इस प्रसंग में गोस्वामी जी ने उसको साँपिनी, कुठारी, पाप पहाड़ से प्रगट हुई सरिता, भिल्लिनी, नग्नतलवार, बाघिनी और कठोरपन आदि की उपमा दी है और बार-बार यह भी बताते जा रहे

हैं कि- **'कुटिल प्रबोधि कूबरी'** का ही यह परिणाम है। पति का मृत शरीर घर में पड़ा हो और पत्नी आनन्द मंगल मानती हो यह कितनी भयानक वृत्ति है। कल्पना करके ही हृदय काँप जाता है। आज भी इस प्रकार की कुटिलता की शिकार हुई देवियों की कमी नहीं है। ज़रा से स्वार्थ के पीछे पतियों को जहर तक देकर मृत्युमुख में ढ़केल देने वाली स्त्रियों की कहानियाँ सुनने को मिलती ही रहती हैं। पुरुष भी इसमें पीछे नहीं हैं, किन्तु यहाँ विचार करने की बात तो उन सम्भ्रान्त परिवार की देवियों से है जिनसे इतिहास बनता है।

जनसामान्य का जीवन न तो जनता के लिए आदर्श होता है न कोई उस पर ध्यान ही देता है। वह कुछ चन्द लोग होते हैं जो जनता के जीवन को दिशा देते हैं। भारत के मुगल काल में लाखों हिन्दू नारियाँ वैश्यावृत्ति अपनाने के लिए बाध्य की गई होंगी, लाखों ने स्वयं इसको अपने ऐश आराम का साधन बनाया होगा किन्तु उससे आम जनता न उससे लज्जित होती है और न खेद प्रकट करती है, किन्तु जब उन राजाओं का इतिहास में प्रसंग आता है जो अपनी लड़कियों को मुगल के हरम में पहुँचा देते हैं; तो प्रत्येक हिन्दू का शर्म से सर नीचा हो जाता है। यदि उस समय चित्तौड़ का राजवंश न होता तो शायद हिन्दू समाज को गौरव के साथ सर उठाने का अवसर न मिलता। पद्मिनी आदि स्मरणीया राजमहिषियों तथा अन्य हज़ारों की संख्या में क्षत्राणियों, वीर बालाओं ने धधकती चित्ता में अपनी आहुति देकर केवल अपनी धर्म की ही रक्षा नही की बल्कि विश्व के समक्ष अपने जाति गौरव को सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया है। ऐसी ही महात्वाकांक्षी महान विभूतियों से जातीय व राष्ट्रीय आदर्श मय इतिहास का निर्माण होता है। मानस के इस प्रसंग की रचना में हम देखते हैं कि महाकवि ने विशेष कर सम्भ्रान्त परिवार की देवियों को लक्ष्य बनाया है। उन्हीं को सजग करने के लिए इस कथा को क्रमबद्ध किया है। एक कुशल साम्राज्ञी नीच दासी के बहकावे में किस प्रकार आ गई, दासी ने किस वाक्-चातुरी से उसे अपने कपट जाल में फँसाकर उसका पतन कराया, इन सब बातों का बड़ी सूक्ष्मता से महाकवि ने विवेचन किया है। यहाँ यह भी ध्यान रखने की बात है कि दुष्ट लोग आकारण ही दूसरों का घर बर्बाद कर देते हैं, उनमें उनका अपना कोई लाभ नहीं होता। गोस्वामी जी ने लिखा है-

**खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।।**
**पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं।।**
(रा० ७/१२१-१८,१९)

जिस प्रकार चूहा बहुमूल्य वस्त्र को कुतर कर नष्ट कर देता है और साँप मनुष्य को काट कर मृत्यु के मुँह में डाल देता है, किन्तु इन कामों में उनको कोई लाभ नहीं मिलता। वे दूसरों की सम्पत्ति का नाश करने के लिए खुद का भी नाश कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे ओले व गड़े पड़कर खेती का नाश करते हैं और स्वयं भी विला जाते हैं। कितना सटीक उदाहरण है यह ! हम देखते हैं मंथरा की यह बात बिल्कुल सत्य है कि- **'चेरि छाड़ि अब होब कि रानी'**। उसका कोई स्वार्थ न होने पर कुटिल स्वभावबस उसने सम्पूर्ण देशवासियों को विपत्ति के गर्त में ढ़केल दिया। महाकवि यह भी बताना चाहते हैं कि कुटिल लोगों की संगति से सावधान रहना चाहिए क्योंकि वे निःस्वार्थ भाव से दूसरे के हित का दम्भ करते हुए मनुष्य को प्रलोभन देकर पथ भ्रष्ट कर देते हैं। इस प्रकार की क्रूरता और कुटिलता के शिकार वे लोग ही होते है जो योग्यता से अधिक अधिकार तथा अधिकार से अधिक उपभोग की कामना रखते हैं। हम देखते हैं कि देवी कैकेई के पतन में भी यही वृत्ति कारण बनी है। प्रलोभन में पड़ कर ही व्यक्ति सदैव ठगा जाता है। प्रलोभन ही व्यक्ति में पैशाचिकता को जन्म देता है। राजमाता बनने के प्रलोभन ने ही देवी कैकेई को आजीवन नारकीय यातना भोगने पर विवश किया और सृष्टि के अन्त तक उसको एक क्रूर हृदया, कलंकिनी के रूप में इतिहास के पन्नों में अंकित करने में कारण बना। लोभ अपने साथ अन्य दुर्गुणों को भी एकत्र कर लेता है, वह अकेले ही नहीं रहता। कहावत है कि पाप के बाप का नाम लोभ है- **'लोभ पाप कर मूल'** यह संत मत की उद्घोषणा है। कामना से ही परद्रोह की वृत्ति का जागरण होता है-**'कामात्क्रोधाऽभिजायते'** ईर्ष्या, द्वेष आदि क्रोध के ही परिणाम हैं, परद्रोह इसमें राक्षसी वृत्ति को जन्म देता है। गोस्वामी जी ने कहा है कि पृथ्वी परद्रोही के भार को सहन नहीं कर पाती-

**गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।।**

**(रा० १/१८४-५)**

हम देखते हैं कि महारानी कैकेई के अन्तर में प्रलोभन के साथ ही ईर्ष्या और परद्रोह की आग भी भड़काई गई, औरं गहराई से मनन करने पर हम यह भी कह सकते हैं कि स्वयं को सुखी बनाने की अपेक्षा जब दूसरे को दुःख पहुँचाने की कामना प्रबल हो जाती है तो जीवन में क्रूरता का जन्म होता है। सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर हम कैकेई के हृदय में यही निकृष्ट वृत्ति को देखते हैं। वह कौशल्या को साकां करके विपत्ति में डालना चाहती है। यह उसकी घोषणा है-

जस कौसिलाँ मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका।।

'साका' शब्द का अर्थ होता है याद रखने योग्य वा कीर्ति स्मारक, प्रसिद्धि आदि। यहाँ अर्थ है डंका बजाकर, प्रसिद्धि करके। जहाँ तक उसके सम्मान व सुख की बात है वह तो भरत राज्य से पूर्व भी उसी की प्रधानता रही है। महाराज के शब्दों में-

प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें।।

(रा० २/२६-५)

पुरवासी भी यही कह रहे हैं-

राजु करत यह दैअँ बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई।।

जहाँ तक भरत के राज पद पाने की बात है, हम देखते हैं कि इस बात का विरोध कोई भी नहीं कर रहा। राजा के हृदय में भी इस बात का क्षोभ नहीं कि राम को राज्य क्यों नहीं दिया जाये। वह तो स्पष्ट कहते हैं-

लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति।।

(रा० २/३१)

राजा भरत को युवराज बनाने पर पूर्ण सहमत हैं उनका कहना है कि-

अबसि दूत मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता।।
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई।।

(रा० २/३१-७,८)

किन्तु दुःख की बात तो वह दूसरी है जिसके सम्बन्ध में राजा का कथन है-

एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमजंस मागा।।
अजहूँ हृदय जरत तेहिं आँचा। रिस परिहास कि साँचेहुँ साँचा।।

(रा० २/३२-४,५)

राजा यहाँ तक भी तैयार है कि तुम राम का कोई अपराध बता दो तो मैं उस पर भी विचार करूँगा-'कहू तजि रोषु राम अपराधू' किन्तु राजा की सारी विनय प्रार्थना उसे माया जाल प्रतीत हो रहा है- 'इँहा न लागिहि राउरि माया' पति की एक बात भी सुनने के लिए तैयार नहीं है। वह अपना निर्णय सुनाते हुए कहती है-

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं।।

(रा० २/३३)

प्रातःकाल होते हुए यदि कल राम वन को नहीं गए तो मेरी मृत्यु और आपकी अपकीर्ति निश्चित है, ऐसा आप मन में समझ लें। कवि ने यहाँ एक रूपक के द्वारा उसकी स्थिति और उसके परिणाम का बड़े ही मार्मिक शब्दों में परिचय दिया है-

**अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ि। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।।**
**पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।।**
**दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा।।**
**ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।।**
**(रा० २/३४- १ से ४)**

अर्थात् ऐसा कहकर कुटिला कैकेई उठकर खड़ी हो गई मानों क्रोध की नदी उमड़ पड़ी हो। वह नदी पाप रूप पहाड़ से प्रकट है और उसमें क्रोध रूपी जल भरा है, ऐसी भयानक सरिता है जो देखी भी नहीं जाती। दोनों वरदान ही उस नदी के दोनों किनारे और उस कुटिला का कठिन हठ ही उसकी तीव्र धारा है। कुबरी के वचनों की प्रखर प्रेरणा इस नदी में उठने वाली भँवर है। वह रोश रूपी तरंगिनी राजा रूपी वृक्ष को जड़ मूल से उखाड़ती हुई विपत्ति रूपी समुद्र की ओर बह चली है, कितना भयंकर रूप है रानी के रोश का! वह पुत्र को राज दिलाने की अपेक्षा राम को वनवास देने के हठ पर ही अधिक तुली हुई है। राजा की विनम्रता को वह उनकी निर्बलता समझती है। पति कटे हुए कदली वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर पड़ा है और जल बिना मीन की भाँति तड़प रहा है-

**कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी।।**
**(रा० २/३५-२)**

किन्तु उसे उस पर ज़रा भी तरस नहीं है। ऐसी दशा में भी उसे अपने वचन बाणों के प्रहार से आहत करने में नहीं चूकती -

**जौं अंतहुँ अस करतबु रहेऊ। मागु मागु तुम्ह केहिं बल कहेऊ।।**
**दुइ कि होइ इक समय भुआला। हँसबँ ठठाइ फुलाउब गाला।।**
**दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई।।**
**छाड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू।।**
**(रा० २/३५-४ से ७)**

महाकवि की दृष्टि में कैकेई के ये वचन मानो घाव में विष भर रहे हों। कितनी क्रूरता है पाठक इस पर ध्यान देंगे तो कैकेई के सम्बन्ध में नारी जाति के

लिए जो महाकवि के द्वारा प्रयोग किये हुए शब्द हैं उनका औचित्य व अनौचित्य स्वतः ही समझ में आ जाएगा। वह व्याकुल पति को कह रही है यदि तुम्हारा ऐसा ही करतब था तो बार-बार वरदान माँगने की डींग किस बल से हाँकते थे? राजन्! ठहाका मारकर हँसना और गाल का फुलाना दोनों एक साथ नहीं होता। दानी भी कहलाना और कंजूसी भी करना दोनों नहीं हो सकता। क्या राजपूती में कुशल क्षेम भी रह सकती है? अर्थात् बहादुरी भी दिखावे और कहीं चोट भी न लगे ऐसा नहीं होता। या तो अपने वचन छोड़ दो या धैर्य धारण करो, अबला के समान बिलखते क्यों हो ? इससे पहले भी कह आई है-

**सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि मागि चबेना।।**

**(रा० २/३०-६)**

कुछ लोगों का यह कहना ठीक ही है कि यदि वह अपने पुत्र के लिए राज माँगती है तो यह माँ कि महात्वाकांक्षा ही कही जाएगी, इसमें दोष देखना कहाँ तक उचित है। बात पुत्र के राज की नहीं है, उसके लिए तो महाराज सहर्ष तैयार हैं। अवध की प्रजा के हृदय में भी भरत के प्रति प्रेम है। कुलमान्य जठेरियां समझाते हुए यही कहती हैं-

**भरतहिं अवसि देहु जुबराजु। कानन काह राम कर काजु।।**

**(रा० २/५०-२)**

अनर्थ की जड़ तो कौशल्या के प्रति रोष है जिसके परिणाम में राम को वनवास के लिए वह अपने हठ पर अटल है। आगे भरत के प्रयाग पहुँचने पर महर्षि भारद्वाज ने भी यह बात कही थी-

**राउ सत्यब्रत तुम्हहि बोलाई। देत राजु सुखु धरमु बड़ाई।।**
**राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला।।**

**(रा० २/२०७-४,५)**

सत्यव्रती राजा तुम्हें बुलाकर राज्य देते इससे सभी को सुख मिलता, धर्म पालन होता और बड़ाई भी होती किन्तु अकारण राम का वनवास सम्पूर्ण अनर्थों का मूल बन गया जिसको सुनकर केवल अवधपुरवासियों को ही नहीं सारे विश्व को ही पीड़ा हुई। यह अनर्थ दैव के अधीन होकर अबोध रानी ने किया-

**सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अन्तहुँ पछितानी।।**

**(रा० २/२०७-६)**



कुचाल करके अन्त में पछताई भी। सारांश यह है कि अनर्थकारी भरत

के लिए राज्य की कामना नहीं अपितु राम को वनवास देने की क्रूरवृत्ति बनी है और उसके लिए जो कुछ भी उसने किया है वह किसी भी कुलवधू के लिए लज्जा जनक बात है। इस प्रसंग में आदि कवि वाल्मीकि की लेखनी महारानी कैकेई के प्रति और कठोर हो गयी है। हम देखते हैं उनकी अपेक्षा गोस्वामी जी बहुत संयमित भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। कैकेई की भर्त्सना करते हुए महाराज कहते हैं-

**धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः।**

स्त्रियों को धिक्कार है क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण होती हैं। किन्तु अगले चरण में राजा सँभल जाते हैं और कहते हैं-

**न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम्।**

**(वा०रा० २/१२-१००)**

मैं सारी स्त्रियों के लिए यह बात नहीं कह रहा केवल भरत की माता के लिए ही कहता हूँ। मैं समझता हूँ कि इस वाक्य को हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए। जैसे आदि कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि यह स्वार्थपरता तथा शठता का आरोप सम्पूर्ण नारी समाज पर नहीं किया जा सकता, कैकेई जैसी क्रूर मति वाली के लिए ही यह कहना उचित है वही भाव मानसकार्य का भी समझना चाहिए। महाराज ने स्पष्ट शब्दों में कैकेई को समझाते हुए कहा था कि जैसा तेरा बर्ताव है वह कुलांगनाओं के लिए अशोभनीय तथा लज्जा जनक है। निर्लज्ज, नीच नारियाँ ही इस प्रकार का कार्य करती हैं। अभिप्राय यह है कि एक कैकेई व कैकैई जैसी अन्य नारियों के नातें सारे नारी समाज को निन्दा का भाजन नहीं बनाया जा सकता। यह न तो आदिकवि को अभीष्ट था न महाकवि तुलसीदास को ही।

कैकेई के क्रूरता के पीछे हम दैवयोग को ही प्रबल देखते हैं। राम वन गमन, महाराजा का विलाप, अवधपुर वासियों का संताप, परिणाम में महाराज की मृत्यु, ये सब कुछ हो जाने पर भी उस रानी के मन में ज़रा भी दया भाव का संचार न हुआ। जिस कल्पना में वह मदहोश थी उसकी महिमा ही ऐसी है। उसे अपने यथार्थ का ज्ञान उस समय हुआ जब भरत ननिहाल से आए और कुकृत्यों को सुनकर सदा के लिए उसे त्याग दिया।

कुछ आलोचकों को माता के प्रति किया गया भरत का व्यवहार अप्रिय लगता है। मैं समझता हूँ वह हृदय पक्ष को किनारे पर रखकर किये गये बौद्धिक व्यायाम का ही परिणाम है। कुछ आलोचकों को यहाँ पर महाकवि के किए हुए कुछ शब्दों के प्रयोग में अनौचित्य का भी दर्शन होता है। ऐसे लोगों को थोड़ा कष्ट

करके आदिकवि की रचना को देखना चाहिए। रामचरित्र की अमर गाथा को विश्व में यावत् चन्द्र दिवाकरौ तक प्रतिष्ठित करने वाले महर्षि वाल्मीकि का ही इन प्रसंगों पर महाकवि गोस्वामी जी अनुकरण करते हुए दिखाई देते हैं। यह सत्य है कि गोस्वामी जी आदि काव्य का अक्षरशः अनुवाद नहीं कर रहे हैं, किन्तु कथा का तो मूल स्रोत वही है, इसमें संदेह नहीं है। दार्शनिक दृष्टि में भले ही कुछ भेद हो, युगानुसार विषय प्रतिपादन की क्रिया में भले ही कुछ अन्तर हो, किन्तु मुख्य कथा वस्तु में कोई विशेष अन्तर नहीं है। भरत कैकेई के प्रसंग में जितने कठोर शब्दों का प्रयोग महर्षि वाल्मीकि ने किया है उसको देखते हुए हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी उसके प्रति बहुत कोमल हैं। यहाँ पर किसी कवि को दोषी व कोमल व कठोर ठहराने की बात ही औचित्य के विपरीत है। कवि की कुशलता ही इसमें है कि वह प्रसंग तथा पात्र के अनुसार ही अपने प्रबन्ध में शब्द की योजना करे। देवी कैकेई का कृत्य ही ऐसा है कि उसको देखते हुए भरत के ये वाक्य अनुचित नहीं लगते-

**राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणी।**
**परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव।।**

(वा०रा० २/७४-२)

'दुष्टतापूर्ण आचरण करने वाली, दुष्टाचारिणी, क्रूर हृदया कैकेई तू राज्य से भ्रष्ट हो जा। धर्म के द्वारा तू त्याग दी गई है अतः मुझे मरा हुआ समझ, जन्म भर रोती ही रह।'

**मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके।**
**न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि।।**

(वा०रा० २/७४-७)

'हे राज्य कामुके ! तू माता के रूप में मेरी शत्रु है। क्रूरतापूर्ण कर्म करने वाली, दुराचारिणी, पतिघातिनी तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिए।' इस प्रकार पुत्र द्वारा निन्दिता, उपेक्षिता होने पर ही कैकेई को अपने दुष्कृत्यों का बोध हुआ और उसके प्रायश्चित में आजीवन पति और पुत्र से त्यक्त हो नारकीय यातना का अनुभव करती रही इसलिए गोस्वामी जी ने कहा है-

**सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।।**

(रा० २/२३१-४)

जो आवेश में आकर बिना विचारे कोई कार्य कर बैठते हैं और बाद में

आजीवन पश्चाताप किया करते हैं वेद विद्या विशारद उनको समझदार नहीं कहते। देवी कैकेई के जीवन में भी हम यही पाते हैं। आगे समय-समय पर महाकवि उसकी दशा का वर्णन करते रहते हैं-

**लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।।**
**अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई।।**

**(रा० २/२५२-५,६)**

**गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषनु देई।।**

**(रा० २/२७३-१)**

किन्तु जिस प्रकार से हाथ से छूटा हुआ बाण पुनः हाथ में नहीं आता उसी प्रकार आवेश में किये गये कर्मों की भी गति होती है। कैकेई की आन्तरिक दशा को देखते हुए राम ने सदा उसका आदर किया। चित्रकूट पहुँचने पर भी-

**प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई।।**
**पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।।**

**(रा० २/२४४-७,८)**

सर्वप्रथम श्रीराम कैकेई के गले लगे, अपने सरल स्वभाव और प्रेम से उसकी बुद्धि को तर कर दिया । पुनः उसके चरणों में पड़कर अनेक प्रकार से उसे सान्त्वना दी। सारा दोष काल, कर्म और विधाता पर डालते हुए उसे निर्दोष बताया। वनवास से लौटने पर भी-

**प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी।।**
**ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा।।**

**(रा० ७/१०-१,२)**

श्रीराम ने सदैव उसका माता से भी अधिक आदर किया। माता कौशल्या ने भी उसके प्रति द्वेष भाव नहीं रखा किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इतिहास में उसका नाम क्रूर, कुटिला, कलंकिनी के रूप में ही अमर है। राम को उसके प्रति प्रेम इतना क्यों रहा इसके सम्बन्ध में एक कवि की उक्ति बड़ी सुन्दर है।

**जनै भरत सो पूत प्रेम गौरव दरसावे।**
**प्रभु प्रसन्न सौबार उन्हें कोउ बनहि पठावे।।**

मैं समझता हूँ कि इस प्रसंग में देवी कैकेई के साथ ही जो मंथरा का चरित्र चित्रण किया गया है उसको अधिक मनन के साथ पाठक अपने ध्यान में रखेंगे और स्वयं को कुसंगति के प्रभाव से सदैव अलग रखने में सतर्क रहेंगे। इस

प्रसंग का विस्तृत विश्लेषण करने में मेरी यही भावना रही है कि इतिहास की घटनाओं से मानव समाज सही दिशा अपनाने में सजग हो। मेरे विचार से यही इतिहास लेखन का प्रयोजन है।

मैं समझता हूँ रामचरित मानस में नायक के जीवन से सीधा सम्बन्ध रखने वाले नारी पात्रों की संक्षिप्त विवेचना यहीं पूर्ण हो जाती है। राम की प्राण वल्लभा सीता, राम की जननी कौशल्या तथा विमाता सुमित्रा और कैकेई का ही उनके चरित्र के साथ सीधा सम्बन्ध है। प्रसंगानुसार मंथरा के विचारों को भी व्यक्त किया गया है क्योंकि रामचरित्र की प्रमुख घटना में प्रकारान्तर से वही कारण बनी है। नारी समाज के प्रति महाकवि का क्या दृष्टिकोण है, वे किस प्रकार की नारी की निन्दा करते हैं, किस प्रकार के नारी जीवन के वे प्रशंसक हैं, इसका पूर्णतया ज्ञान हमें इन प्रसंगों को पढ़ने तथा मनन करने से हो जाता है।

# सुनयना

राम के जीवन से सम्बन्धित एक और भी देवी है माता सुनयना। उनके प्रति भी महाकवि की दृष्टि विशेष आदर की ही दिखाई देती है। धनुष भंग, विवाह, विदाई के प्रसंगों में उनके विशुद्ध स्नेह का वर्णन कवि ने बढ़ी तन्मयता से किया है। चित्रकूट की महिला गोष्ठी में उनकी विशुद्ध भावना को बड़े आदर के साथ व्यक्त किया है। वहाँ माता कौशल्या कहती है-

**कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।**
**को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि।।**

**(रा० २/२८३)**

राम सुनयना के जामाता हैं। उनके प्रति सुनयना के हृदय में अनुपम वात्सल्य की भावना स्वाभाविक है। राम को प्रथम दृष्टि में देखते ही वात्सल्य भाव का उदय हो जाता है -

**सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।।**

**(रा० १/२४२-३)**

विदेह सहित रानी श्रीराम को विलोक रही हैं। उनके हृदय में राम के प्रति शिशुवत् अगाध प्रेम उमड़ रहा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता और यह भाव सदैव वृद्धि को ही प्राप्त होता गया। धनुष यज्ञ के अवसर पर उनके वात्सल्य की पूर्ण अभिव्यक्ति का दर्शन होता है। महामुनि विश्वामित्र की आज्ञा प्राप्त कर श्रीराम कमठ पृष्ठवत् कठोर शिव धनुष को तोड़ने के लिए जाने लगते हैं तो सीता की माता सुनयना श्रीराम की कोमलता तथा धनुष की कठोरता को देख स्नेहवश अधीर हो जाती हैं। उनकी अन्तर दशा का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं--

**रामहि प्रेम समेत लखि संखिन्ह समीप बोलाइ।**
**सीता मातु सनेह बस बचन कहइ बिलखाइ।।**

**(रा० १/२५५)**

श्रीराम को प्रेम पूरित नेत्रों से देखते हुए सखियों को समीप बुलाकर सीता की माता स्नेहवश व्याकुल होकर कहती हैं -

**सखि सब कौतुकु देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे।।**
**कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं।।**

**(रा० १/२५६-१,२)**

हे सखी ! जो हमारे हितैषी कहाते हैं वे भी इस कौतुक को देख रहे हैं। इनमें से कोई भी गुरु विश्वामित्र को समझाकर नहीं कह रहा है कि ये राम अभी बालक हैं, इनके लिए ऐसा हठ अच्छा नहीं है। गुरु आज्ञा से ही धनुष तोड़ने को उद्धत हुए हैं, उनके मना करने पर ही ये मानेंगे। राम को कहने से प्रयोजन पूरा नहीं होगा, गुरु को ही समझाना चाहिए कि वे इस कठोर धनुष के समीप जाने से वरज दें। महारानी उन राजाओं की दशा देख रही है जो हारकर श्रीहीन हो बैठे हुए हैं। श्रीराम के मुख की शोभाश्री भी कहीं कुम्हिला न जाये यही उन्हें चिन्ता है। राम धनुष को तोड़ेंगे इसकी तो सम्भावना ही नहीं है क्योंकि -

**रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा।।**
**सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं।।**

**(रा० १/२५६-३,४)**

रावण और बाणासुर जिस धनुष को छू तक नहीं सके, अन्य भूपगण घमण्ड करके हार गये वही धनुष सुकुमार के हाथों में दे रहे हैं, भला हंस के बच्चे भी कभी मन्द्राचल उठा सकते हैं? कैलाश को उठाने वाला रावण तथा विश्वप्रसिद्ध वीर बाणासुर दोनों ही महा बलशाली हैं किन्तु शिवधनुष की गुरुता का उन्हें बोध है इसलिए वे उसे छुए तक नहीं। उसकी परिक्रमा कर श्रीहीन हो बैठे हुए हैं इनके समक्ष बालक श्रीराम अत्यन्त सुकोमल तथा सुकुमार हैं। उनकी धनुष उठाने की चेष्टा मराल के बच्चे का मन्द्राचल पर्वत उठाने के समान है। अतः इस प्रकार के हठ से उन्हें रोकना चाहिए -

**भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।।**

**(रा० १/२५६-५)**

अन्य लोगों की बात तो दूर रही आज विवेक निधि महाराजा विदेह का भी सयानापन समाप्त हो गया है। वे भी विश्वामित्र को नहीं समझा रहे हैं। हे सखी! विधाता की न जाने कैसी गति है, कुछ समझ नहीं आ रहा है। अधिक प्रेम होने पर प्रबोध नहीं रह जाता। वात्सल्य में जो वह और भी सुकुमार हो जाता है। देवी

सुनयना की यही स्थिति है। वे इस समय सभी उपस्थित जनसमुदाय को इस अनर्थमय चेष्टा से राम को रोकने में जिम्मेदार मान रही हैं। महारानी की विह्वलता को देख चतुर सखी उन्हें समझाती हुई कहती है -

**बोलि चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी।।**
**कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा। सोषेउ सुजसु सकल संसारा।।**
**रवि मण्डल देखत लघु लगा। उदयँ तासु तिभुवन तम भागा।।**

**(रा० १/२५६-७ से ९)**

हे महारानी ! तेजवंत को छोटा करके नहीं समझना चाहिए। श्रीराम का तेज सम्पूर्ण रंग मण्डप को अलोकित कर रहा है। वह कहती है राम देखने में भले ही बालक लगते हों किन्तु वे तेजवान हैं। उनको छोटा समझना उचित नहीं है। प्रमाण में बताती है कि कहां कुम्भज ऋषि और विशाल समुद्र दोनों में कहीं भी तो समता नहीं है किन्तु ऋषि ने अपने तेजबल से ही समुद्र को सुखा दिया था जिसकी कीर्ति सारे संसार में फैली है। सूर्यमण्डल देखने में छोटा ही लगता है। किन्तु उसके उदय होते ही त्रिभुवन का अंधकार दूर भाग जाता है। उतना ही नहीं-

**मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।**
**महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब।।**

**(रा० १/२५६)**

मंत्र अत्यन्त छोटा होता है किन्तु उसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य सारे देवता होते हैं। महान मतवाले हाथी को छोटा सा अंकुश बस में कर लेता है। यह तो श्रीराम की लघुता को देखकर उनको निर्बल न मानने के उदाहरण में कहा। आगे उनकी सुकुमारता के सम्बन्ध में कहती है-

**काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपनें बस कीन्हे।।**
**देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी।।**

**(रा० १/२५७-१,२)**

कामदेव पुष्प का धनुष बाण लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपंने अधीन किए हुए हैं। हे देवी ! ऐसा जान कर आप सशंय का त्याग कर दें। यह निश्चय समझ लें कि श्रीराम अवश्य ही धनुष को तोड़ देगें। सखी की बात सुनकर रानी को विश्वास हो गया, उनका विषाद मिट गया जिससे श्रीराम के प्रति उनकी प्रीति और भी अधिक हो गई। पुण्य के परिणाम से ही सीता को माता होने का महान् गौरव प्राप्त हुआ फिर अभीष्ट सिद्धि में आशंका के लिए स्थान कहां? देवी सुनयना के

दर्शन फिर हमें विवाह मण्डप में होते हैं। दूलह रूप राम का परिछन करके राज परिवार की सभी देवियाँ आनन्द विभोर हो स्वयं को धन्य मानती हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं-

जो सुखु भा सिय मातु मन देखि राम बर बेषु।
सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेषु।।

(रा० १/३१८)

श्रीराम को वर के वेष में देखकर सीता की माता के मन में जो सुख हुआ है उसे हज़ारों सरस्वती और शेष सौ कल्पों तक भी वर्णन नहीं कर सकते। नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक आये, मंगल समय जान उसे रोकते हुए दूलह का परिछन करने लगी। यह सौभाग्य तो सुनयना को ही प्राप्त हुआ कि वह महाराज जनक के साथ श्रीराम के पद पंकज पखार कर कन्यादान करती है। महाकवि उनके भाग्य भाजन की महिमा का गान करते हुए लिखते हैं -

जनक बाम दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना।।
कनक कलस मनि कोपर रूरे। सुचि सुगन्ध मंगल जल पूरे।।
निज कर मुदित रायँ अरु रानी। धरे राम के आगें आनी।।
पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरि अवसरु जानी।।
बरु बिलोकि दम्पति अनिरागे। पाय पुनीत पखारन लागे।।

(रा० १/३२४-४ से ८)

महारानी सुनयना जनक के वाम भाग में ऐसी शोभा पर रही हैं मानों हिमाचल के साथ मयना सुशोभीत हो। उमा और सीता का माता होने का सौभाग्य इन्हीं स्वनाम धन्य दोनों देवियों को हुआ है इसीलिए महाकवि ने दोनों की समता व्यक्त की है। पवित्र सुगन्धित और मंगल जल से पूर्ण सोने के कलश तथा मणियों की सुन्दर परातें राजा और रानी ने प्रमुदित हृदय से लाकर श्रीराम के आगे रख दिये। दूलह राम को देखकर दम्पति प्रेम में निमग्न हो गए और उनके पवित्र चरणों को पखारने लगे। कन्यादान में पूर्व वर के चरण धोने का विधान है जिसमें कन्या के माता-पिता वर को भगवत् स्वरूप मानकर उसके पाँव धोते हैं, पूजन करते हैं फिर कन्यादान देते हैं। आगे कवि कहता है-

सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हियो।
करि लोक बेद बिधानु कन्यादानु नृपभूषन कियो।।

(रा० १/३२४-छन्द)

श्रीसीता की विदाई के समय में सुनयना जी को अत्यन्त प्रेम विह्वल पाते हैं -

**देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं।।**

**रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेहु बरनि किमि जाई।।**

श्रीराम की छवि देखकर अनुराग में निमग्न हो गई। प्रेम विवश हो बार-बार चरणों लगती हैं, हृदय प्रेम पूरित होने से लज्जा नहीं रही, उनके सहज स्नेह का वर्णन किस प्रकार किया जाये? दशा अवर्णनीय है। वात्यल्य से वे चारों भाइयों को उबटन करके स्नान कराती है और षटरस भोजन करा कर परितृप्त करती हैं। श्रीराम अवध जाने के लिए विदा माँगते हैं और कहते हैं -

**मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू।।**

**(रा० १/३३६-६)**

धर्मशास्त्र में पत्नी की माता और स्वमाता को समान रूप से आदर का स्थान है। श्रीराम कहते हैं हे माता! प्रसन्न मन से हमें जाने की आज्ञा दीजिए और बालक समझकर सदैव स्नेह बनाये रखियेगा। श्रीराम की विनम्रता युक्त कोमल वाणी को सुनकर रानियाँ व्याकुल हो गई। सासुओं से प्रेमाधिक्य के कारण बोला नहीं जा रहा है फिर पुत्रियों को हृदय से लगा कर उनके पतियों को सौंप देती हैं-

**करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।**

**बलि जाऊँ तात सुजान तुम्ह कहुँ बिदित गति सब की अहै।।**

**(रा० १/३३६-९)**

सुनयना श्रीराम की महत्ता को समझ गई इसलिए सीता को सर्मपित करते समय बार- बार प्रार्थना करती है और कहतीं है तुम तो सर्वज्ञ हो तुम्हें सभी की दशा विदित है -

**तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भावप्रिय।**

**जन गुन गाहक राम दोष दलन करुनायतन।।**

**(रा० १/३३६)**

**अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेम पंक जनु गिरा समानी।।**

**(रा० १/३३७-२)**

तुम तो पूर्ण काम हो, तुम्हें किसी की आवश्यकता नहीं किन्तु तुम सुजान सिरोमणि तथा भावप्रिय हो इसलिए मेरे अंतर भाव को जान सीता को ग्रहण करो। हे राम! तुम गुण ग्रहण करने वाले, दोषों के नाशक तथा करुणा के धाम हो। अपनी करुणा से इसके दोषों को दूर कर गुण को ग्रहण करना। यह कहकर रानी

ने श्रीराम के चरण पकड़ लिए, आगे कुछ बोला नहीं जा रहा, ऐसा लगता है मानो उसकी वाणी प्रेम के दल-दल में समा गई हो।

**सुनि सनेहसानी बर बानी। बहु बिधि राम सासु सनमानी।।**

स्नेह से सनी हुई सुनयना की श्रेष्ठ वाणी को सुनकर श्रीराम ने बहुत प्रकार से सास का सम्मान किया और वन्दना कर विदा हो गये। सीता-राम के वियोग में महारानी इतनी व्याकुल हो जाती है कि उन्हें पुत्री को पालकी पर बैठाने की भी सुधि नहीं रहती और यह कार्य महाराज विदेह को करना पड़ता है।

मानस महाकाव्य में सुनयना का दर्शन हमें पुनः राम गमन के बाद चित्रकूट में होता है। वहाँ पर वे अवधराज महिषियों के मध्य में बैठी विधाता की वामगति पर पश्चाताप करती हुई दिखाई देती है। चित्रकूट की महिला गोष्ठी में उनकी जिस आस्था, धैर्य और विनम्रता का दर्शन होता है वह स्वयं में आदर्श है। माता सुनयना बड़ी ही विनम्रता से अपने अंतर भावों को व्यक्त करती है। देवी कौशल्या से उनका यह कथन कितना शालीन है। गोस्वामी जी कहते हैं-

**लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनक प्रिया गह पाय पुनीता।।**
**देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घरिनि राम महतारी।।**
**प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।।**
**सेवकु राउ करम मन बानी। सदा सहाय महेसु भवानी।।**
**रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै।।**

**(रा० २/२८५-३,४,५)**

कौशल्या के प्रेम को देख, उनके विनम्र वचनों को सुनकर जनकप्रिया सुनयना ने उनके पुनीत चरणों को पकड़ लिया और कहा, हे देवी ! आप महाराज दशरथ की प्रिया तथा श्रीराम की माता हैं, आपकी यह विनम्रता उचित ही है, सामर्थ्यवान् अपने से निम्न का भी आदर करते है अग्नि धूप को तथा पर्वत तिनके को भी अपने शीश पर धारण करते हैं। मिथिलेश तो मन, वचन,कर्म से आपके सेवक हैं। आपके सहायक तो सदैव भगवान् महेश्वर तथा भगवती उमा हैं दूसरा अन्य कौन जगत् में आपका सहायक होने योग्य है? क्या कभी दीपक सूर्य की सहायता करते शोभा पाता है? कितने मर्यादित शब्दों में यहाँ पर देवी सुनयना ने अपनी विनम्रता व्यक्त की है, यह मननीय है। आर्य कुल की महिलायें कितनी विनम्र तथा अपने यथार्थ के प्रति कितनी सजग होती हैं, इसका यहाँ हमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। राम सीता को वनवासी तपस्वी वेष में देख सुनयना को व्यथा है

किन्तु किसी के प्रति द्वेष व शिकायत नहीं है। इसे वह कुटिल विधाता की कराल करतूति ही कहती है। गुरु प्राज्ञ से उन्हें रामचरित्र के रहस्य का पता चल गया है इसलिए वह अधीर नहीं है। महारानी कौशल्या से भी वह रहस्य बताती हैं और आज्ञानुसार सीता को साथ लेकर अपने निवास स्थान पर प्रस्थान करती हैं। श्रीरामचरित्र में सुनयना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वे महाकाव्य की उदात नायिका की जननी हैं। संतान माता-पिता के सुकृत की ही मूर्ति होती है। पुण्यमय माता की गोद में ही सीता जैसी पावनचरिता देवी का सृजन एवं विकास हो सकता है। यद्यपि भगवती सीता का परम पुनीत चरित्र ही उनकी माता सुनयना के गौरव केन्द्रित जीवन का यथार्थ अवबोधन करा देता फिर भी महाकवि ने उपयुक्त अवसर पाकर उनका पवित्र व्यक्तित्व संक्षेप में ही बड़ी कुशलता के साथ आदर्श आर्य नारी के रूप में अभिव्यक्त किया है।

मानस में कई अन्य नारियों के भी उज्ज्वल चरित्र का महाकवि ने वर्णन किया है जिनमें ताड़का, भक्तिमति शबरी, बाली पत्नी तारा, राक्षसी त्रिजटा तथा प्रतिनायक प्रधान राजमहिषी मंदोदरी, ये प्रमुख है। आगे क्रमशः उनके पवित्र जीवन पर भी हम संक्षेप में प्रकाश डालना उचित समझते हैं, पाठक उसका भी दर्शन करें।

# ताड़का और अहिल्या

हम देखते हैं श्रीराम के जीवन प्रभात का प्रारम्भ ही आसुरी शक्तियों के साथ संघर्ष से होता है। गुरु गृह से विद्याध्ययन करके लौटने पर किशोरावस्था में ही अपने यज्ञ की रक्षा के लिए महर्षि विश्वामित्र अयोध्या में आकर महाराज से राम लक्ष्मण की याचना करते हैं और न चाहते हुए भी गुरु वशिष्ठ की सम्मति से सम्राट् अपने प्राणप्रिय पुत्रों को मायावी असुरों के साथ संग्राम करने को भेज देते हैं। सचमुच ऐसी दशा में गीतावली का वह शब्द याद आ जाता है जो मुनि के साथ प्राणप्रिय पुत्र के चले जाने पर माता कौशल्या ने कहा था -

**बादि बीर-जननी-जीवन जग, छत्रि-जाति-गति भारी।**

**(गी० २/१००)**

किशोर कुमारों को बिना सहायकों के दुधर्ष राक्षसों से युद्ध करने के लिए भेज देना यह क्षत्रियत्व की ही महिमा है। राम का जीवन मर्यादा पुरुषोत्तम का आदर्श जीवन कहा जाता है। महामुनि विश्वामित्र के साथ जाते समय सर्वप्रथम राक्षसी ताड़का का उन पर आक्रमण होता है; नारी अबध्य है ऐसा सोचकर राम उस पर शस्त्र प्रयोग करना नहीं चाहते, किन्तु महर्षि द्वारा क्षात्रधर्म के सही स्वरूप को समझाने पर एक बाण में ही उस दुष्टा का काम तमाम कर देते हैं, यहीं से राम के पौरुष का प्रभात होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या मर्यादा पुरुषोत्तम के द्वारा नारी वध उचित है? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि दुष्टता का दमन किए बिना सज्जनता की रक्षा सम्भव नहीं है और सज्जनता की प्रतिष्ठा ही धर्म की स्थापना का सही पथ है। धर्म की संस्थापना ही मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन का प्रमुख प्रयोजन है, उसके लिए जो कुछ भी करना हो क्षात्र धर्म को दृष्टि में रखकर करना ही योग्य है। यही बात ताड़का के वध के लिए राम को प्रवृत्त करते हुए महर्षि विश्वामित्र ने भी कही है। यहाँ पर हमें उसे अवश्य मनन करना चाहिए-

**नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।**

चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्य राजसूनुना।।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा।।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते।।

(वा० १/२५/१७-१९)

विश्वामित्र कहते हैं, नरोत्तम ! तुम स्त्री हत्या का विचार करके इसके प्रति दया न दिखाओ। राजपुत्र को चारों वर्णों के हित के लिए स्त्री हत्या भी कर्त्तव्य है। प्रजा का रक्षण करने वाले राजा को क्रूरतापूर्ण वा क्रूरता रहित पातक युक्त वा सदोष कर्म भी यदि करना पड़े तो प्रजा रक्षण के लिए कर लेना चाहिए। जिनके ऊपर राज्य की व्यवस्था का भार है उनका तो यह सनातन धर्म है। हे ककुत्स्थ नन्दन! यह ताड़का अधर्माचरण वाली है। इसमें धर्म का लेश भी नहीं है अतः उसका वध करना अनुचित नहीं है। महर्षि विश्वामित्र के इन वचनों को ध्यान में रखने वाला व्यक्ति ताड़का वध में अनौचित्य का दर्शन नहीं कर सकता। यह याद रखना चाहिए कि राम एक सम्राट् कुमार हैं कोई सन्यासी नहीं। प्रजा के हित में जो कुछ भी आवश्यक होगा उसको करना ही उनका कर्त्तव्य है। भौतिक दृष्टिकोण के साथ ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी मननीय है। मानव जब जीवन के प्रभात में प्रवृत्त होता है तो सर्वप्रथम उसके जीवन प्रभात को अवरुद्ध करने वाली अविद्या का विनाश किए बिना पुरुषोत्तमत्व की साधना में सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक पक्ष में ताड़का अविद्या स्वरूप है, जिसका विनाश आवश्यक है। मानसकार ने अध्यात्मपक्ष में ताड़का को दुराशा कहा है-

रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी।।
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा।।

(रा० १/२४/४,५)

जिस प्रकार सुकेतु पुत्री ताड़का के दो पुत्र मारीच और सुबाहु थे उसी प्रकार दुराशा के भी दो पुत्र दुःख और दोष हैं। मुनि के हित के लिए राम ने पुत्रों सहित ताड़का का वध किया था। उसी प्रकार साधक के हित के लिए राम का नाम दुःख और दोष के सहित दुराशा का नाश कर देता है। दुराशा अविद्या वा अज्ञानता की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है।

रामचरित में दूसरी अद्भुत घटना अहिल्योद्धार की है। महाकवि ने इस

घटना के द्वारा पति विमुखी पतिता नारी के प्रति भी उनके उद्धार की भावना व्यक्त की है। प्रायश्चित के पश्चात राम कृपा से उसको पुनः पति लोक की प्राप्ति की व्यवस्था यह बताती है कि पति से विश्वासघात करने वाली नारी के लिए कोई ऐसा प्रायश्चित कार्य नहीं है जो उसे घोर पाप से मुक्त कर सके। हाँ ! प्रभु की अहैतु की कृपा ही उसके उद्धार में कारण हो सकती है। ऐसी नारी के लिए प्रभु भक्ति का मार्ग ही प्रशस्त है।

ताड़का और अहिल्या के विषय में थोड़ी सी बातें बतानी भी आवश्यक थीं क्योंकि इससे भी मानसकार की नारी के प्रति भावना का बोध होता है। अब हम आगे राम के संघर्षमय वनवासी जीवन की कथा में जिन नारियों का सीधे वा प्रकारान्तर से वर्णन किया है उसको देखेंगे।

# शबरी

वनवास काल में राम को दो नारियों से मिलने का अवसर आता है, एक रावण की बहन सूपर्णखा तथा दूसरी मतंग ऋषि की शिष्या शबरी। जन्म से एक ब्राह्मण कुल से सम्बन्धित है और दूसरी सवर व भील जाति से। एक स्वयं राम के पास आती है और एक के पास राम स्वयं ही जाते हैं। कितना अन्तर है इन दोनों महिलाओं के जीवन क्रम में। दोनों एक ही प्रदेश में रहती हैं सम्भवतः अवस्था में भी दोनों बराबर ही हों। कुछ भी हो राम से तो दोनों ही आयु में बड़ी हैं। दोनों के आचरण में इतनी भिन्नता है कि ब्राह्मण कुलोत्पन्न सूपर्णखा की राम नाक और कान दोनों कटवा लेते हैं जबकि भिल्ल कुलोत्पन्न शबरी की सादर प्रशंसा करते हैं। जिन आलोचकों को रामचरितमानस में ब्राह्मणवाद का आग्रह दिखाई देता है उन महानुभावों को इस प्रसंग को दुराग्रह-रहित हो आँख खोलकर देखना चाहिए। जिन लोगों को मानस में नारी निन्दा की गन्ध आती है उनके लिए भी मेरा यही निवेदन है कि उनके अन्दर की दुराग्रह-जन्य गन्दगी ही इसमें कारण है। उन्हें चाहिए कि उसे बाहर फेंककर फिर मानस की कथा का मनन करें। मानस में वर्णित ताड़का, मंथरा और सूपर्णखा ऐसी नारियों को भी सत्कार का पात्र कोई विशेष बुद्धि वाला ही मानेगा। हाँ! अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करने वाली अहिल्या तथा कैकेई के प्रति महाकवि की सुहृदयता के साथ सहानुभूति को हम देखते ही हैं। सूपर्णखा के सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा इसलिए यहाँ उस विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना उचित है कि वह नारी जो अचानक कामिनी के रूप में सामने आती है पुरुष को सदैव उस पर विचार करना चाहिए, वह एकाएक विश्वास की पात्र नहीं होती। यही सलाह हमारी देवियों के लिए पुरुष के प्रति भी है।

स्त्री के जीवन में पुरुष तथा पुरुष के जीवन में स्त्री दो प्रकार की भावनाओं को लेकर समक्ष आते हैं। एक भावना भोग की है तथा दूसरी संरक्षण की। जिस प्रकार नारी के लिए पिता, भाई, पुत्र आदि संरक्षक के रूप में हैं उसी प्रकार माता, बहन तथा पुत्री पुरुष के लिए संरक्षिका ही होती हैं। जहाँ तक पुरुष व

नारी के लिए इन सम्बन्धों का स्थान है वे सभी पवित्र होने से सदैव विश्वसनीय हैं, किन्तु जहाँ भोगात्मक सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ अत्यन्त विचारणीय ही नहीं बल्कि परीक्षणीय भी है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर हमारे यहाँ किशोरावस्था में विवाह सम्बन्ध को उचित समझा जाता थां, जिससे भोगात्मक भावना का जागरण होने के प्रारम्भ में ही स्त्री पुरुष दोनों ही एक दूसरे के प्रति अपनी भावनाओं को पुष्ट कर सकें। विवाह के बाद भी कुछ वर्षों तक लड़की को पिता के गृह में ही रहना होता था, इसमें भी यह मनोविज्ञान की दृष्टि से औचित्य था कि दूर रहते हुए एक दूसरे के प्रति आकर्षण की वृद्धि हो। स्नेह तन्तु को पुष्ट करने के लिए भी यह उपयोगी था और साथ ही शारीरिक तथा बौद्धिक विकास में भी कोई बाधा नहीं होती थी। हम इस बात को आज भी बड़े दावे के साथ कह सकते हैं कि जितना सफल और सुखी दाम्पत्य जीवन हमारी इस प्रकार की प्रक्रिया में रहा है उतना अब तक की अन्वेषित किसी भी व्यवस्था में नहीं हो सका है।

सूपर्णखा राम के समक्ष भोग भावना लेकर उपस्थित होती है, उसकी निष्ठा पर विचार करना आवश्यक है। अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए राम जब लक्ष्मण की तरफ इशारा करते हैं तो वह तुरन्त उनके पास चली जाती है। ऐसी कुलघ्ना नारी को कुरूप बनाकर समाज में इस प्रकार की वृत्ति वाली नारियों के लिए चेतावनी देना परमावश्यक था और राम ने वही किया किन्तु भक्तिमती शबरी की बात इससे बिल्कुल भिन्न थी। वह धर्म परायणा, तपस्विनी, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर अध्यात्म साधना में रत थी। गुरु के प्रति उसकी अनन्य निष्ठा थी, सम्पूर्ण जीवन उसने गुरु की सुश्रुषा में ही व्यतीत किया था। उसमें नारी स्वभाव सुलभ सभी प्राणियों के प्रति वात्सल्य का भाव था, इस भाव से प्रेरित होकर ही वह अपने पिता के घर का त्याग कर ऋषि के चरणों में आश्रय लिया था।

उसके प्रारम्भिक जीवन की कथा में यह कहा गया है कि जब वह किशोरावस्था में थी तब एक दिन उसने देखा उसके पिता अनेकों भेड़, बकरियों, मृगों आदि ऐसे ही अनेक पशुओं-पक्षियों का संग्रह कर रहे थे। इसको देखकर कौतूहलवश उसने अपनी माता से पूछा कि यह सब क्यों किया जा रहा है? माता ने बताया कि बेटी तुम्हारा विवाह होने वाला है इसलिए ये सारे पशु-पक्षी इकट्ठे किए जा रहे हैं। उसका कौतूहल और भी बढ़ गया। विवाह से इन प्राणियों का क्या सम्बन्ध है? पूछने पर माँ ने बताया कि जो बाराती आयेंगे उनके लिए भोजन में इनका प्रयोग होगा। यह सुनते ही उस भील बालिका का दिल दहल गया। केवल

मेरे विवाह के कारण इतने प्राणियों की नृशंस हत्या ! यह तो घोर अन्याय है। इस हत्या में वह स्वयं को ही कारण समझने लगी और निश्चय कर लिया कि विवाह ही नहीं कराना और उस हत्या के कारणों से बचने के लिए वह रात्रि में घर छोड़कर भाग निकली। दूर के जंगल में जाकर ऋषि आश्रमों के निकट रहने लगी। पम्पा सरोवर पर स्नान के लिए आने वाले ऋषियों के मार्ग को साफ किया करती थी तथा वन से लकड़ी आदि तोड़कर ऋषि आश्रम में डाल आती थी। उसके इस सेवा भाव तथा सात्त्विक संस्कारों को देखकर महर्षि मतंग को उस पर करुणा आ गई। उन्होंने उसे अपने आश्रम में स्थान दे दिया और साथ ही अध्यात्म साधना का पथ भी बताया। शबरी के ऋषि आश्रम में आने से अन्य ऋषियों ने उनका त्याग कर दिया क्योंकि अछूत जाति की किशोरी बाला को आश्रम में रखना एक बड़ा अपराध था। ऋषि समूह से तिरस्कृत होने पर भी मतंग ने शबरी का त्याग नहीं किया। इस कथा से हमें यह भी पता लगता है कि शुद्ध, सात्त्विक भावनाओं से युक्त होने पर निम्न कुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति के प्रति भी प्रेम और आदर की भावना प्राचीन काल के ऋषियों में थी। शबरी के इस संक्षिप्त जीवन को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि ऐसी नारी के पास श्रीराम स्वयं ही राह पूछते हुए यदि जाते हैं तो यह उचित ही है।

यहाँ पर हम उन देवियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जो कि आर्य कुल में उत्पन्न होकर भी अनार्यों जैसी क्रूर वृत्ति का शिकार बनती हैं और अपने नारी सुलभ दया भाव को तिलांजलि देकर भेड़, बकरे, मुर्गे आदि पशु-पक्षियों के मांस को गाजर, मूली की भाँति निर्दयता से भक्षण करती हैं। ऐसी माताओं के रक्त-मांस से पली हुई सन्तानें यदि राक्षसी भावनाओं से युक्त होती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मेरा निवेदन है कि देवियाँ अपने सही स्वरूप को समझें और दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए सात्त्विक आहार-व्यवहार का आश्रय लें, तभी श्रेष्ठ, सद्गुणी सन्तानों की जननी होकर नारी जीवन के गौरव को प्राप्त कर स्वयं को सार्थक बना सकेंगी। किरात कन्या होते हुए भी देवी शबरी का यह आचरण सर्वथा मननीय है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम स्वयं ही उसके आश्रम पर जाकर उसे कृतार्थ करते हैं और मातृवत् उसको सम्मान प्रदान करते हैं। श्रीराम द्वारा शबरी को दिया गया नवधा भक्ति का उपदेश मानस में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यहाँ पर उस पूरे प्रसंग को उद्धृत करना मैं अधिक उपयोगी समझता हूँ।

भक्ति तत्त्व मानस का सार है। महाकवि ने उसी को श्रुति सम्मत मार्ग

बताया है, जिस पर चलकर मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। भगवान् राम ही मानस के नायक तथा प्रतिपाद्य तत्त्व भी हैं, उनके द्वारा दिए गए जीवनोपयोगी उपदेशों में देवी शबरी को सम्बोधित करके दिया गया नवधा भक्ति का उपदेश अपने में अनुपम है। सीता हरण के बाद गीध तथा कबन्ध को शुभगति प्रदान कर सानुज राम पम्पा सरोवर की दिशा में आगे बढ़ते हैं। सरोवर के निकट ही वृद्धा तपस्विनी शबरी का आश्रम है। कुछ दिनों पूर्व वहाँ पर पास में ही मतंग महर्षि अपने शिष्यों के साथ निवास करते थे, किन्तु अब वे सभी दिव्य लोक को प्रस्थान कर गए हैं। तपस्विनी शबरी से कह गए हैं कि प्रभु राम स्वयं भाई सहित एक दिन तुम्हारे आश्रम पर पधारेंगे, उनके दर्शन तथा अर्चन कर बाद में तुम भी दिव्यलोक को प्राप्त करोगी। यह कथा वाल्मीकि रामायण में शबरी स्वयं ही राम को सुनाती है। उसके आराध्य गुरुदेव उसे उस समय यह आदेश देकर गए थे जबकि राम चित्रकूट में निवास करते थे। गुरुदेव के आदेश अनुसार तभी से वह राम के आगमन की बाट निहारती रही है। गोस्वामी जी ने गीतावली में उसकी उत्सुकता का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है।

शबरी आज सोकर उठती है तो अपने अगल-बगल के वांतावरण में एक विलक्षणता का अनुभव कर रही है। उसकी बाईं भुजा और आँख दोनों ही फड़क रहीं हैं, इस शुभ शगुन को वह अपनी अभीष्ट सिद्धि का सूचक मानती है। आश्रम को झाड़-बुहार कर पवित्र करती है और विविध प्रकार के कन्द-मूल, फल, फूल आदि को लाकर कुटिया में रख लेती है और अब कभी उसके बाहर जाती है तो कभी भींतर आती है और कभी दरवाजे पर खड़ी होकर वह वृद्धा अपनी भौहों पर हाथ रख कर रास्ते की ओर निहारने लगती है। कितनी उत्कण्ठा है आज उसके हृदय में! गुरु के वचनों में अटल-विश्वास उसकी उत्कण्ठा वृद्धि में और अधिक कारण बन गया है। गोस्वामी जी के शब्दों में उसकी दशा देखिए-

दोना रुचिर रचे पूरन कन्द-मूल-फल-फूल।
अनुपम अमियहुतें अंबक अवलोकत अनुकूल।।
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंब हित सब आनिकै।
सुन्दर सनेहसुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै।।
छन भवन, छन बाहर, बिलोकत पंथ भूपर पानि कै।
दोउ भाइ आये सबरिकाके प्रेम-पन पहचानिकै।।

(गीतावली ३/१७-३)

शबरी ने कन्द, मूल, फल और फूलों से भरे हुए सुन्दर दोने सजाए जो बड़े ही अनुपम, अमृत से भी अधिक स्वादिष्ट थे। देखने में भी वे बड़े सुहावने लगते थे। माता जिस प्रकार अपने छोटे बच्चे के लिए अच्छी-अच्छी चीज़ें लाकर रखती है उसी प्रकार वह प्रिय राम के लिए सुन्दर फल आदि लाकर उन्हें मानों सुधा से भी सहस्र गुणा अधिक स्नेह रस से डुबोकर रख दिया। वह क्षण भर में भीतर चली जाती है और क्षण भर में बाहर आकर भृकटी पर हाथ रख कर रास्ते की ओर देखने लगती है। इसी समय शबरी के प्रेम और व्रत को जानकर भाई के साथ श्रीराम पहुँच गए। शबरी की आन्तरिक अवस्था का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं-

**लघु-भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ-सुख चित चाय कै।**
**सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भायकै।।**

**(गीतावली ३/१७-४)**

वह सोचती है कि मैं तो छोटे ही भाग्य की पात्र हूँ, इस परम लाभ और सुख को प्राप्त कर आनन्द का समुद्र उमड़ आया। राम तो केवल भाव के भूखे हैं, उन्होंने भाई के सहित उसका माता के समान आदर किया इस प्रसंग में हम देखते हैं कि वृद्ध शबरी का राम के प्रति सहज वात्सल्य भाव है इसलिए गोस्वामी जी ने **'अम्ब ज्यों निज डिंब हित'** ऐसा लिखा है। गीता में जैसे प्रभु का कथन है।

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तम्यव भजाथैहम्।**

**(गीता ४/११)**

'जो जिस प्रकार से व जिस भाव से मेरी शरण में आता है उसको उसके अनुसार ही मैं स्वीकार करता हूँ। अभिप्राय यह है कि जो मुझे स्वामी मानता है उसे सेवक के रूप में, जो पिता मानता है उसे पुत्र के रूप में, प्रियतम मानने वाले को प्रियतमा तथा पुत्र मानने वाले को माता-पिता के रूप में स्वीकार करता हूँ। शबरी के हृदय में वात्सल्य भाव है अतः उसके प्रति **'सो जननि ज्यों आदरी सानुज'** यह उचित ही है। आदि कवि ने शबरी को आत्मविज्ञान सम्पन्न बताया है-

**राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्।**

**(वा० रा० ३/७४-१८)**

"उस नित्य आत्म विज्ञान में अबहिष्कृत अर्थात् नित्य विज्ञान में युक्त शबरी से राम ने कहा।" यहाँ पर श्री राम ने भाई के साथ उसका आतिथ्य स्वीकार किया है। इससे हमें ज्ञात होता है कि महर्षि वाल्मीकि भी भागवत धर्म के ही

प्रतिपादक थे क्योंकि इस विचारधारा में जाति-पाति की अपेक्षा आन्तरिक भाव की ही प्रधानता स्वीकार की जाती है। गोस्वामी जी तो भागवत धर्म के ही परमाचार्य हैं, वहाँ तो-

**भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।**

की घोषणा स्वयं उसके आराध्य श्री राम करते हैं। भागवत धर्म में -

**नास्ति तेषु जाति विद्यारूप कुल धन क्रियादिभेदा।**

भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का कोई भेद नहीं होता। गीता में भी हम यही दृष्टिकोण पाते हैं-

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**

**(गीता ९/३०)**

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येअस्युः पापयोनयः।**

**(गीता ९/३२)**

भगवान् के ये वचन हमें भागवत धर्म के सही दृष्टिकोण से परिचित कराते हैं। यहाँ पर घोर दुराचारी तथा पापयोनि में उत्पन्न होने वाला भी भगवान् की आराधना का अधिकारी है और वह भी प्रभु कृपा से परम गति को प्राप्त कर लेता है। शबरी परम भागवता है। वह प्रभु प्रेम में निमग्न हो प्रतिपल उनके आने की वाट निहारती रही है। उसने पूर्ण निष्ठा से गुरुदेव की सेवा की है। एक भागवत के सारे लक्षण उसमें विद्यमान हैं। उसके दिए हुए सुरस कन्दमूल, फलादि प्रभु बारम्बार बखान कर खाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सर्वविध अर्चना कर करबद्ध हो खड़ी हो गई और प्रभु के मंगल मनोहर श्रीविग्रह को देख उसके हृदय में प्रेम उमड़ आया। प्रभु से कहती है-

**केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी।।**
**अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।**

**(रा० ३/३५-२,३)**

'हे राम! मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ। मैं नीच जाति की अत्यन्त बुद्धिहीन हूँ। जो अधम से भी अधम है उनमें नारियाँ अधम होती हैं। हे पाप नाशन्! मैं उन स्त्रियों में भी मन्दमति वाली हूँ।' कुछ आलोचक यहाँ पर कवि की आलोचना इस नाते करते हैं कि उसने स्त्रियों को अधम से अधम कहा है, किन्तु यदि वे भक्ति काल के संतमत की वृत्ति पर ध्यान देवें, जिनमें हर एक भक्त भगवान् के समक्ष अपने को अधम शिरोमणि सिद्ध करके ही अधम उद्धारण का कृपा पात्र

बनना चाहता है तो इसके पीछे कवि की भावना को समझ सकता है। हम देखते हैं तत्कालीन भक्तो में स्वयं को पतित शिरोमणि सिद्ध करने की होड़ सी लगी है। सन्त सूरदास कहते हैं **'हो हरि सब पतितन को टीको'**। तुलसीदास जी कहते हैं **'मो सम कौन कुटिल खल कामी'**। अन्य सन्तों की भी ऐसी ही स्थिति है। शायद भक्ति मार्ग में इसे दैन्य भाव की संज्ञा दी गई है और भक्ति के अंगों में इस भाव का प्रमुख स्थान माना जाता रहा है। महाकवि के काल परिवेश में यदि भक्ति मति शबरी से यह कहलाया जाता है कि **'अधम ते अधम अधम अति नारी'** तो कोई नारी जाति के प्रति निन्दा की भावना नहीं है। वह शबरी द्वारा व्यक्त किया गया उसका कार्पण्य ही समझना चाहिए। शबरी को सम्बोधित करते हुए राघव कहते हैं-

**कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।।**
**जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।।**
**भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिन जल बारिद देखिअ जैसा।।**
**नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।**

**(रा० ३/३५-४ से ७)**

भामिनि! मेरी बात सुनों, मैं केवल एक भक्ति का ही नाता मानता हूँ। जाति, पाति, कुल, धर्म और बड़ाई, धन, बल, कुटुम्बी; गुण और चतुरता, इन सब के होते हुए भी यदि व्यक्ति में भक्ति भावना नहीं है तो वह उसी प्रकार से सारहीन, अर्थहीन हो शोभाहीन होता है जैसे जल रहित बादल अर्थात् जैसे जलहीन बादल शोभाहीन दिखाई देता है उसी प्रकार से सब कुछ होते हुए भी भक्ति विहीन मानव की गति होती है। अब मैं तुमसे नवधा भक्ति का मार्ग बता रहा हूँ तुम इसे सावधान होकर सुनों और मन में धारण करो। श्री राम के इन शब्दों में हम गोस्वामी जी की अन्तर्भावना को देख सकते हैं। वे भक्तिहीन विरंचि को भी सामान्य जीव से अधिक स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। भक्ति मार्ग में उन्हें किसी भी प्रकार की शर्त स्वीकार नहीं है। प्रभु का दरबार जड़-चेतन, पतित-पुनीत, ऊँच-नीच सभी के लिए समान रूप से खुला रहता है। यह भागवत धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त है। महाकवि सूरदास जी का यह कथन भागवत धर्म की मान्यता को बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है-

**बैठत सबहिं सभा हरिजु की कौन बड़ो को छोटो।**
**सूर स्याम पारस के परसे मिटत लोह की खोटो।**


प्रत्येक भक्त की यही मान्यता होती है। गोस्वामी जी ने सभी

जड़-चेतनात्मक सृष्टि को सीयराममय. स्वीकार किया है क्योंकि सभी प्रभु से ही उत्पन्न हुए हैं और सभी प्राणियों का अन्तिम आश्रय भी वही है। जिस प्रकार सभी सन्तानें समान रूप से पिता को प्रिय होती हैं, उसी प्रकार सभी जीव प्रभु को समान रूप से प्रिय हैं। भक्तिमार्ग का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है। हमें भागवत धर्म का प्रथम दर्शन वैदिक साहित्य में ही होता है। इस धर्म के प्रवर्तक नारायण ऋषि हैं जो ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कई सूक्तों एवं मंत्रों के द्रष्टा हैं। यहाँ मुझे इस विषय में विशेष कुछ नहीं कहना है क्योंकि इससे विषयान्तर होने की आशंका है। इस प्रसंग में केवल इतना ही कथनीय है कि गोस्वामी जी की अन्तर मान्यता नारी निन्दा की नहीं है बल्कि उसके भाव की अभिव्यक्ति से है जिसमें राम स्वयं सम्पूर्ण जागतिक मान्यताओं को परे करके केवल भक्ति के नाते ही जीव का स्वयं से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। भक्ति की भावना प्राणी-मात्र की प्राकृतिक वृत्ति है, यह किसी में होती है किसी में नहीं, ऐसी बात नहीं है। हाँ ! इसकी दिशा भिन्न हो जाती है। यदि यह भावना शुद्ध हो तो प्रेमा भक्ति के रूप में सर्वेश्वर से सम्बन्धित हो जाती है किन्तु अशुद्ध अवस्था में यही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों के रूप में दुनिया में बिखरी रहती है।

इस भावात्मक शक्ति को जागतिक सम्बन्धों से समेट कर जीवनाधार प्रभु में किस प्रकार लगाया जाये, इसकी साधना ही इस नवधा भक्ति का स्वरूप है जिसका आगे प्रभु उपदेश कर रहे हैं-

**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।**

**(रा० ३/३५-८)**

**गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।**
**चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।**

**(रा० ३/३५)**

सत्संग पहली भक्ति है वा यों कहिये भक्ति में सत्संग की प्राथमिकता है। एक बात यहाँ ध्यान रखने की है कि श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ भेदों का वर्णन है-

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।**

**(भागवत ७/५-२३)**

प्रभु की महिमा का श्रवण, उनके पवित्र नामों व गुणों का संकीर्तन, उनका स्मरण, चरण सेवा, पूजन, वन्दन, स्वयं को प्रभु का किंकर स्वीकार करना,

उनके प्रति सखा भाव रखना और अन्त में सर्व समर्पण कर देना, यह भक्ति साधना की क्रमिक विद्या है। इसमें एक के बाद दूसरे भाव का विकास है क्योंकि आत्म समर्पण भक्त को भगवान् से अभिन्न कर देता है। जब साधक का साध्य से भिन्न अस्तित्व ही नहीं रह जाता तो फिर साधन कौन करे? जिस प्रकार ज्ञान मार्ग में अन्तिम अवस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद नहीं रहता और एकत्व की अनुभूति रूप परम सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार भक्ति मार्ग की अन्तिम अवस्था में आत्म समर्पण के पश्चात् साधक, साधन, साध्य का भेद भी समाप्त हो जाता है और वहाँ "वासुदेवः सर्वमिति" की अनुभुति का उदय हो जाता है। केवल चेतन ही नहीं अपितु जड़ को भी वह प्रभु की अभिव्यक्ति व प्रभु के रूप में देखता है। ज्ञान, ध्यान व भक्ति योग में केवल साधना की प्रक्रिया का ही भेद है। इनमें साध्य भेद नहीं, यह स्मरण रखना चाहिए। शबरी को जिस नवधा भक्ति का प्रभु उपदेश दे रहे हैं उसमें भागवत के क्रम से थोड़ी भिन्नता है।

भक्ति शास्त्र में इसके दो प्रकार के भेद बताए गए हैं- साधना भक्ति तथा सिद्धा भक्ति। इनको उपासना और पराभक्ति भी कहा जा सकता है। साधना, भक्ति व उपासना की विधि में ही कई भेद हो सकते हैं, किन्तु पराभक्ति भेद रहित है, वही प्रेम लक्षणा व परम प्रेम रूपा भी कही जाती है। गीता के अठारहवें अध्याय में ५१ श्लोक से प्रारम्भ कर ५५वें श्लोक तक उसके साधन और साध्य अवस्था का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। जो भक्त साधना में रुचि रखते हों उनको उन श्लोकों को स्मरण कर लेना चाहिए और तदनुसार स्वयं को साधना में लगाना चाहिए। इसकी वृहद व्याख्या मैंने 'गीता तत्त्व बोध' नामक पुस्तक में की है। पाठक वहीं देख सकते हैं।

प्रेम लक्षणा भक्ति की विधि का वर्णन नारद भक्ति सूत्र में भी बड़ी उत्तमता से किया गया है। यहाँ पर शबरी के प्रसंग में भी भक्ति पथ का सुन्दर विवेचन हुआ है, अन्तर इतना है कि यहाँ नवधा भक्ति में यदि एक प्रकार की भी भक्ति किसी में हो जाए तो भी वह प्रभु का कृपापात्र बन जाता है इसलिए इसमें क्रमिक साधन व विकास की व्यवस्था देखना उचित नहीं। गोस्वामी जी ने सत्संग की बड़ी महिमा गाई है। सत्संग को ही वे सम्पूर्ण साधनों का फल मानते हैं-

**सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।।**

**(रा० १/३-८)**



इसलिए उसको भक्ति में प्रथम स्थान दिया है। भक्ति का दूसरा स्वरूप है

भगवद् चरित्र श्रवण में रति क्योंकि-

**जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहि तजि ध्यान।**

**(रा० ७/४२)**

सनकादि ब्रह्म परायाण ऋषि भी भगवत् कथा में अनुराग रखते हैं। श्रीमद्भागवत के तो वक्ता ही परम हंस महात्मा शुकदेव हैं। मानस में महर्षि वाल्मीकि श्रीराम को रहने के लिए जो चौदह स्थान बताते हैं उनमें से श्रवण भक्ति को प्राथमिकता दी है-

**जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।**
**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।**

**(रा० २/१२८-४,५)**

जिनके श्रवण समुद्र के समान हैं अर्थात् जैसे समुद्र में असंख्य नदियाँ रातों-दिन जलधार गिराती रहती हैं, किन्तु कभी उसकी तृप्ति नहीं होती वा कभी वह भरता नहीं उसी प्रकार जिसके श्रवण समुद्र में तुम्हारी नाना प्रकार की कथा रूपी नदियाँ निरन्तर गिरती रहती हैं पर वे तृप्त नहीं होते, हे राम! उनका हृदय तुम्हारे रहने के लिए सुन्दर स्थान है। कथा प्रसंग में अनुरक्ति इस प्रकार हो कि कभी उससे अरुचि न हो। जिस प्रकार कामी को काम तथा लोभी को धन से तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार से श्रवण सदैव प्रभु चरित्र सुनने को अतृप्त ही बने रहें, यह दूसरी भक्ति है। गुरु के चरण कमल की सेवा भक्ति की तीसरी विधा है। गुरु सुश्रुषा का बहुत बड़ा महत्त्व है। परमात्मा निराकार है, उसकी उपासना में चिन्तन-मनन आदि तो हो सकता है किन्तु पाद-सेवादि का होना सम्भव नहीं।

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।**

**(श्वेता० ६/२३)**

'जिसकी परमदेव परमात्मा में पराभक्ति है और जिस प्रकार परमेश्वर में है उसी प्रकार गुरु में भी होती है उस महात्मा के हृदय में ही ये बताए हुए उपनिषद् के रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं।' उपनिषद् इस बात को यहाँ पर दुहराती है। विद्वानों की राय है कि इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही प्रथम बार इतने स्पष्ट शब्दों में पराभक्ति का उपदेश है और उसके साथ ही गुरु चरणों में भी परमेश्वर के समान ही भाव की आज्ञा है अन्यथा वह जिज्ञासु साधक कभी भी परमतत्त्व के रहस्य को न समझ सकेगा। मानस में तो गुरु भक्ति की अमित महिमा का वर्णन किया गया

है। गोस्वामी जी कहते हैं-

**राखइ गुर जौं कोप विधाता। गुर विरोध नहिं कोउ जग त्राता।।**

**(रा० १/१६६-६)**

**जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं।।**

**(रा० २/३-५)**

इतना ही नहीं मानस की चौपाई का प्रारम्भ ही गुरु वन्दना से करते हैं। महाकवि का यह भी विश्वास है-

**श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।।**

**(रा० १/१-५)**

गुरुदेव के चरण नख की आभा मनि-दीप के समान है। उसके स्मरण मात्र से ही शिष्य के हृदय में दिव्यदृष्टि की प्राप्ति हो जाती है। महाकवि स्वयं भी बारम्बार गुरु चरण रज की वन्दना करते हैं और कथा प्रसंग का प्रारम्भ **'सिर धरि गुरु पद पंकज धूली'** से ही करते हैं। मानव के लिए गुरु चरण-शरण की आवश्यकता के विषय में कहते हैं-

**गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।**

**(रा० ७/९३-५)**

ब्रह्मा और शिव के समान ही क्यों न हो बिना गुरु के इस संसार सागर से कोई पार नहीं जा सकता क्योंकि मानव शरीर रूपी नाव का गुरु ही कर्णधार है-

**करनधार सद्‌गुर दृढ़ नावा।**

**(रा० ७/४४-८)**

बिना ज्ञान के मनुष्य जीवन सुखी नहीं हो सकता किन्तु ज्ञान प्राप्ति गुरु कृपा पर ही अवलम्बित है- **'बिनु गुरु होइ कि ग्यान'** गुरु से ईर्ष्या करने वाला रौरव नाम के घोर नरक में पड़ता है। इतने में ही उसकी छुट्टी नहीं हो जाती, वह बाद में तिर्यक योनियों में करोड़ों जन्म तक भ्रमता हुआ नाना प्रकार के क्लेशों का पात्र बनता है-

**जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं।।**
**त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा।।**

**(रा० ७/१०७-५,६)**

रौरव नरक मल-मूत्रादि में होने वाले कीड़े की योनि को कहते हैं। कीटपतंग आदि योनियों का नाम तिर्यक योनि है। माता-पिता के रज वीर्य से उत्पन्न

हुआ बालक मानव की आकृति ही प्राप्त करता है, उसमें मानवता का जन्म तो गुरु कृपा पर ही अवलम्बित होता है। हमारी वैदिक विचारधारा में गुरु तत्त्व का श्रेष्ठतम स्थान है। गुरु पिता और सावित्री माता के द्वारा ही मानव द्विजत्व को प्राप्त करता है अर्थात् वह द्विजन्मा दुबारा जन्म लेने वाला कहा जाता है। जिस गुरु कृपा से मनुष्य को मनुष्यता व विवेक की प्राप्ति होती है उसके साथ ईर्ष्या व द्वेष करने वाला यदि नारकीय यातना का भाजन बनता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे कृतघ्न के लिए तो मनुष्य लोक में ठौर नहीं होना चाहिए, यही गोस्वामी जी का कथन है। केवल गुरु पद पंकज सेवा से भी मानव परम सिद्धि को प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं। इस युग में भी संतवर नाभादास का जीवन चरित्र इसका उदाहरण है। मानस में राम को रहने के लिए सुन्दर स्थान बताते हुए महर्षि वाल्मीकि ने कहा है-

**तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।।**

**(रा० २/१२९-८)**

**सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।**
**तिन्ह कें मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ।।**

**(रा० २/१२९)**

उपनिषद् काल में तो हम अध्ययन से भी अधिक महत्त्व गुरु सेवा का देखते हैं। इस प्रकार की अनेकों कथायें उपनिषदों में प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर गुरु पद पंकज सेवा में 'अमान' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सेवा मान रहित होकर करने से ही भक्ति रूप कही जा सकती है। ज्ञान तत्त्व का विवेचन करते हुए गीता अध्याय तेरहां में भी **'अमानित्वं'** को प्रथम स्थान दिया गया है।

चौथी भक्ति कपट छोड़कर प्रभु के गुण समूह का गान करना है। इसे हम संकीर्तन भी कह सकते हैं। गुण गान में कपट क्या हो सकता है? यहाँ यह प्रश्न होने पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो गुणगान दूसरों को सुनाने के लिए, लोक रिझाने व धन कमाने के लिए किया जाता है वह कपटयुक्त है। मेरे विचार में गुणगान में ही कपट के लिए अधिक गुँजाशय है। वर्तमान में इसका प्रत्यक्ष स्वरूप पेशेवर कथा-कीर्तन करने वाले तथा माता की भेंटें गाने वालों में देखा जा सकता है। यह कपट युक्त कीर्तन व गुणगान भक्ति नहीं है। भक्ति में निष्कपट होकर केवल प्रियतम प्रभु को रिझाने तथा उनमें तन्मयता प्राप्त करने के लिए जो संकीर्तन गुणगान है वही चौथी भक्ति के रूप में वर्णित है। इससे ऐसा

लगता है कि गोस्वामी जी के समय में भी पेशेवर कथा-कीर्तन करने वालों की कमी नहीं थी। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि गुणगान सुनना भक्ति का एक रूप है और गुणगान करना दूसरी भक्ति है-

**मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।**
**छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।**
**सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।।**
**आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।।**
**नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।**

**(रा० ३/३६-१ से ५)**

'यहाँ पर 'मम' शब्द देहली दीपक न्याय से मन्त्र जाप और मेरे में दृढ़ विश्वास, यह दोनों के साथ लगेगा अर्थात् मेरे मन्त्र का जाप और मेरे में दृढ़ विश्वास, यह पाँचवी भक्ति का स्वरूप है। **'मननात् त्राणनात् मन्त्र'** जिसका मनन करने से त्राण मिलता है, क्लेशों से रक्षा होती है वह मन्त्र है। इष्ट देव की उपासना में मन्त्र ही मुख्य साधन है। महर्षि वाल्मीकि ने कहा है-

**मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।।**

**(रा० २/१२९-६)**

यहाँ पर भी प्रभु ने 'मम' मंत्र जाप में उसी राम मंत्र राज का ही संकेत किया है। राम मंत्र राज व तारक मंत्र का रामतापनी उपनिषद् में वृहद् वर्णन है। गुरु कृपा से ही जागृत मंत्र की प्राप्ति होती है। मंत्र जाप के विधान में यह बताया गया है कि मंत्र वही फलदाई व लाभदायक होता है जो गुरु मुख से प्राप्त हो। गुरु के द्वारा मिले हुए मंत्र का सविधि जाप करने से थोड़े दिनों में उसके परिणाम का अनुभव होने लगता है। मंत्र दाता गुरु भी वही हो सकता है जिसने उस मंत्र को जागृत व चेतन किया हुआ हो। आजकल तो सर्वत्र धाँधली ही चल रही है, शिष्य बनाना भी एक व्यवसाय हो गया है। गोस्वामी जी के शब्दों में-

**गुरु सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा।।**
**हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई।।**

**(रा० ७/९९-६,७)**

बहुत सीमा तक यही देखने में आता है कि न तो शिष्य सीख सुनने के लिए तैयार है और न गुरु उसके जीवन को देखने के लिए। पात्र अपात्र की तो दृष्टि ही समाप्त हो गई है। यही कारण है कि गुरुओं की आज चारों ओर फौज सी

दिखाई देती है और जीते जी स्वर्ग दिखाने वाले गुरुओं की भरमार है। कोई मिनटों में तत्त्व दर्शन करा देता है तो कोई सैकिण्डों में। दम्भ तथा पाखण्ड पूर्ण कृत्य की शिकार अबोध जनता बड़ी सुगमता से होती जा रही है। इसी का परिणाम है जो कि नित्य नये पंथ उभरकर सामने आ जाते हैं-

**दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।।**

**(रा० ७/९७-क)**

गोस्वामी जी की यह बात अक्षरशः सत्य हो रही है। मंत्र जाप का शास्त्रीय विधान है कि जो मंत्र जितने अक्षर का होता है उतने ही हज़ार नित्य विधिपूर्वक शुद्धि के साथ १०८ दिन तक जाप करने से उतने लाख का एक पुरश्चरण पूरा होता है। जैसे राम मंत्र राज ६ अक्षर का है। ६ हज़ार नित्य जप करने से १०८ दिन में ६ लाख जप पूर्ण होता है। इस मंत्र का एक पुरश्चरण ६ लाख जप का है। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार माला की मणियाँ १०८ होती हैं किन्तु उसे १०० ही गिनते हैं इस प्रकार पुरश्चरण की साधना में भी १०८ दिन का विधान है। यदि चित्त शुद्ध हो तो एक पुरश्चरण में ही मंत्र जागृत हो जाता है, नहीं तो इसी प्रकार के चार पुरश्चरण करने होते हैं। योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने मंत्र जाप की इस विधि को स्वाध्याय कहा है और उसकी सिद्धि का फल मंत्र के देवता का साक्षात्कार बताया है। प्रत्येक मंत्र का बीज होता है। सबीज मंत्र गुरुमुख से प्राप्त कर विधि पूर्वक जाप करने से पहले उस मंत्र के द्रष्टा ऋषि का दर्शन होता है, उसके द्वारा बीज में आस्था हो जाती है, फिर मंत्र के देवता का दर्शन होता है। राम मंत्र राज के द्रष्टा ऋषि वा आचार्य भगवान् शिव हैं और देवता स्वयं ब्रह्म राम हैं। राममंत्र जापक को क्रमशः दोनों के तत्त्व का बोध प्राप्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। पुरश्चरण के द्वारा जो मंत्र शक्ति को जागृत कर लेता है उसका ही उस मंत्र पर अधिकार हो जाता है। ऐसा अधिकारी ही आगे दूसरे साधक को मंत्र देने का अधिकार रखता है। ऐसे अधिकारी से मिला हुआ मंत्र ही जापक के लिए सिद्धि व कल्याण दायक होता है। मंत्र जाप की विधि आचार्य पतंजलि ने बताई है-**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (यो० सू० १/२) मंत्र के जाप के साथ उसके अर्थ की भावना बनी रहनी चाहिए। यह प्रक्रिया साधक को सफलता प्रदान करती है अन्यथा-

**माला तो कर में फिरे जीभ फिरे मुख माहिं।**
**मनुवा तो चहु दिशि फिरे यह तो सुमिरन नाहिं।।**

मंत्र जाप की विधि में अन्यत्र भी इस प्रकार का सन्देश है-

**मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्येस्थिते मनः।**
**मनोमंत्र समायोगो जप इत्यभिधीयते।।**

मन में मन्त्र और मन्त्र में मन स्थित हो, मन और मन्त्र के इस प्रकार के योग को जप कहा जाता है। यहाँ पर श्रीराम ने मन्त्र जाप के साथ दृढ़ विश्वास का होना परमावश्यक बताया है क्योंकि-

**कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।**
**बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।**
**राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।।**

**(रा० ७/९०-क)**

यह गोस्वमी जी का सिद्धान्त है। बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही श्रद्धा विश्वास रूप भवानी-शंकर की वन्दना में कहा है-

**याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्।**

अर्थात् श्रद्धा-विश्वास के बिना सिद्ध लोग भी अपने अन्तर में स्थित परमेश्वर को नहीं देख पाते तो जन-सामान्य की तो बात ही क्या है। मन्त्र जाप के साथ मन्त्र में, मन्त्रदाता गुरु में तथा मन्त्र के देवता इष्ट में अविचल आस्था होने पर ही सिद्धि प्राप्त होती है अतः दृढ़ विश्वास का होना आवश्यक है, यही वैदिक सिद्धान्त है।

दमशील का अर्थ होता है समस्त इन्द्रिय व्यापार को अपने वश में रखने वाला। दमन शीलता, बहु कर्मों से विरति और सज्जन धर्म का अनुष्ठान यह छठी भक्ति का स्वरूप है। साधन में इन्द्रिय संयम की बड़ी महिमा है क्योंकि गीता में भगवान् का कथन है कि "जिस साधक की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसकी वही गति होती है जो वायु के वेग में पड़ी नाव की।"

**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।**
**तदस्य हरित प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।**

**(गीता २/६७)**

जिस प्रकार जल में वायु नाव को हर लेता है वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिसके साथ मन रहता है वह इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेती है और बुद्धिनाश ही जीवन का सर्वनाश है। उपनिषद् में शरीर को रथ, आत्मा को रथी, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम तथा इन्द्रियों को घोड़े की उपमा

दी है और बताया है कि जिस प्रकार से पूर्ण रूप से कुशल सारथी के द्वारा साधे हुए घोड़े ही रथी को उसके लक्ष्य तक पहुँचाते हैं उसी प्रकार सजग बुद्धि द्वारा संयमित इन्द्रियों वाला साधक ही लक्ष्य तक पहुँच पाता है। असंयमित इन्द्रियों वाले व्यक्ति की उसी प्रकार से विषय कूप में पड़कर दुर्गति होती है जिस प्रकार उदण्ड घोड़ों से युक्त रथ पर बैठे हुए रथी की किसी खन्दक में गिरकर होती है।

**यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।**
**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।**

**(कठ० १/३-५)**

जो सदा अविज्ञानवान् अर्थात् विवेकहीन बुद्धि वाला, अवशीभूत चंचल मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहने वाली हो जाती हैं। इसीलिए आगे कहा है कि-

**यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाअशुचिः।**
**न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।**

**(कठ० १/३-७)**

'जो कोई सदा विवेकहीन, असंयमित चित्त और अपवित्र रहता है वह उस परम पद को नहीं पा सकता अपितु बारम्बार जन्म-मृत्यु रूप संसार में ही भटकता रहता है।' इससे यह श्रुति सम्मत मार्ग स्पष्ट हो जाता है कि साधक के लिए इन्द्रिय संयम परमावश्यक तत्त्व है। यहाँ पर संयम का अर्थ नाश नहीं है, यह याद रखना चाहिए। संयम का अभिप्राय होता है उचित मात्रा में प्रयोग। इसी भाव को प्रकट करने के लिए इस उपनिषद् के मन्त्र में असंयमी को अविज्ञानवान् व अविवेकी कहा है। विवेक ही पदार्थ के सही प्रयोग की कसौटी प्रदान करता है। विवेकी के इन्द्रियाँ और मन संयमित होते हैं और वही परम पद को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। इस उपनिषद् में इसके साथ ही इस सत्य का उद्घाटन किया गया है। यथा-

**यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।**
**तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।**

**(कठ० १/३-६)**

परन्तु 'जो विज्ञानवान् विवेकी है और जो संयमित मन वाला होता है उसकी इन्द्रियाँ सारथी के अच्छे घोड़े की भाँति वश में रहती हैं।' जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है-

**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता।**

**(गीता २/६१)**

स्थित बुद्धि वाला व्यक्ति ही संसार चक्र से मुक्त होता है, यही श्रुति का कथन है-

**यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।**
**स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।**

**(कठ० १/३-८)**

'जो सदा विवेकशील, संयमित चित्त और पवित्र होता है वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ पहुँचकर पुनः इस संसार में जन्म-मृत्यु का कष्ट नहीं भोगना पड़ता।' यहाँ पर भक्ति के छटे रूप के वर्णन में इसलिए दमशील को प्रथम बताया है। बहु कर्मों में प्रवृत्ति भी बौद्धिक चंचलता का परिणाम होती है। गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए भगवान् ने बहु कर्म प्रवृत्ति भी उसी में एक बताया है-

**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।।**

**(गीता १६/१६)**

"अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्त वाले मोह रूपी जाल में फंसे हुए" ऐसा कहा है। बहु कर्म में प्रवृत्ति भ्रमित चित्त के कारण ही हुआ करती है इसलिए साधक को बहुकर्मों को त्याग कर सज्जन धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए। सज्जन धर्म की व्याख्या मानस में कई स्थानों पर की गई है, वहाँ से पढ़कर समझ लेना चाहिए। विषय विस्तार भय से यहाँ लिखना उचित नहीं समझता, उसका सार रूप इतने में ही समझना चाहिए-

**पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।।**
**संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।।**

**(रा० ७/१२१-१४,१५)**

मन, वचन, कर्म से सदैव लोकहित में तत्पर रहना और समय आने पर दूसरों के हित के लिए संकट उठाने के लिए भी तैयार रहना सज्जन का धर्म है। सारांश यह कि सदैव लोक हितकारी कार्यों में लगे रहना। क्रमशः इन्द्रिय संयम, बहु कर्म विरति और लोक हितकारी कार्यों में प्रवृत्ति छठी भक्ति का स्वरूप है। सातवीं भक्ति है सम्पूर्ण विश्व को प्रभु के स्वरूप में देखना और संत को प्रभु से भी अधिक मानना-'तुमते अधिक गुरहिं जिय जानी' में भी यही भाव है। प्रभु से अधिक संत को क्यों माना जाए? इस प्रश्न के उत्तर में उत्तरकाण्ड में कहा गया है-

**मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।**

**राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा।।**

**(रा० ७/१२०-१६,१७)**

श्रीराम समुद्र हैं और संतजन बादल। श्रीराम चन्दन के वृक्ष हैं और संतजन वायु। समुद्र का जल लोकहितकारी तभी होता है जब वह बादलों के द्वारा बरसा जाता है वरन् वह जल थलीय जीवों के लिए व्यर्थ है। इसी प्रकार ईश्वर का होना तब तक कोई अर्थ नही रखता जब तक की उसकी महिमा का बोध जन-सामान्य को न हो। बादल रूपी संत जब-

**बरषहि राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी।।**

**(रा० १/३६-४)**

मधुर मन को आकर्षित करने वाले मंगलकारी राम सुयश रूप जल की वृष्टि करते हैं तभी लोक कल्याण का वह साधक हो पाता है। जैसे उपयोगिता की दृष्टि में समुद्र की अपेक्षा प्राणियों के लिए बादल की अधिक महत्ता है, उसी प्रकार साधक को सर्वव्यापी ईश्वर की अपेक्षा उसकी सत्ता और महत्ता का बोध करवाने वाले संत को उससे अधिक समझना चाहिए। यही दृष्टि दूसरी उपमा में भी है। चन्दन अपने निकट के वृक्षों को सुगन्ध प्रदान कर चन्दन बना देता है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब वायु का सहयोग हो, क्योंकि वायु ही चन्दन के सुगन्ध को अन्य वृक्षों तक पहुँचाता है। इसी प्रकार शिव में वह सामर्थ्य है कि वह जीव को भी शिव बना दे, किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब तत्त्वज्ञ संत उस जीव को शिव का बोध करा देवें। जैसे वायु में अपनी सुगन्ध नहीं वह चंदन से लेकर ही अन्य वृक्षों तक पहुँचाता है उसी प्रकार संत में अपना कुछ नहीं होता वह परमेश्वर की शक्ति से ही उसके बोध को जनसामान्य तक पहुँचाकर उसे ईश्वरत्व की स्थिति में पहुँचाते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। जब चन्दन की सुगन्ध लेकर वायु दूसरे वृक्षों को भी सुगन्धमय चन्दन के गुण से युक्त कर देता है उससे उन वृक्षों के गुण में ही परिवर्तन होता है रूप में नहीं, उनके पत्ते-डालियाँ वैसे ही रहते हैं उसी प्रकार से मानव की आकृति वैसी ही रहती है, किन्तु संत के द्वारा ईश्वरीय गुण प्राप्त कर उसका जीवन बदल जाता है। जिस प्रकार वायु चन्दन के गुण को सभी वृक्षों को तो प्रदान कर देता है, किन्तु बाँस में वह नहीं कर पाता है क्योंकि वह सार-हीन होता है उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी श्रद्धा तथा आस्था हीन लोगों में ईश्वरत्व के गुणों को संस्थापित करने में सफल नहीं हो पाते। यहाँ पूर्णोपमालंकार

है, इस रहस्य को कितनी भावमयी उपमा से महाकवि ने व्यक्त किया है यह मननीय है। मानव के लिए उपयोगिता की दृष्टि से ईश्वर की अपेक्षा संत अधिक महत्व रखते हैं इसलिए सातवीं भक्ति में सारे विश्व को ईश्वरमय तथा गुरु व संत को ईश्वर से भी अधिक स्वीकार करने को कहा गया है।

अपने प्रयत्न के परिणाम में जो लाभ हो जाए उसमें संतोष करना और स्वप्न में भी दूसरे का दोष न देखना आठवीं भक्ति है। संतोष का भाव हाथ पर हाथ धरकर नहीं, मिले हुए सामर्थ्य का पूर्ण कुशलता के साथ प्रयोग करने पर उसके परिणाम में जो मिले उसी में प्रसन्न रहने में है। पर-दोष दर्शन स्वयं में एक पाप है। जो इस पाप वृत्ति के शिकार हो जाते हैं उनमें कुत्सित संस्कारों की ही वृद्धि होती है। वेद का उपदेश है कि हमें सदैव भद्र अर्थात् कल्याणमय तत्त्व ही देखना चाहिए-

**भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**

अर्थात् हम भजन करते हुए नेत्रों से कल्याण स्वरूप को ही देखें, परदोष दर्शन सदैव वेद आज्ञा के विरुद्ध है अतः अधर्म है। मनुष्य जो कुछ भी इन्द्रियों से ग्रहण करता है वह आहार है। जिस प्रकार का आहार होगा वैसे ही उसके चित्त की स्थिति होगी इसीलिए उपनिषद् उपदेश देती है कि **'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धि'**। हमारे ग्राहक इन्द्रियों में कान और आँख ये दोनों ही प्रमुख हैं। वेद में दोनों के द्वारा शुद्ध आहार ग्रहण की ही शिक्षा है। विषय दर्शन नेत्र इन्द्रिय का आहार है यह सदैव याद रखना चाहिए। परदोष दर्शन चित्त को दूषित कर देता है इसका कुपरिणाम भी बड़ा भयानक होता है इसलिए अष्टम् भक्ति के लक्षण में परदोष दर्शन को निषेध किया है। जागृत ही नहीं विशेष जोर देने के लिए कहा है **'सपनेहु नहिं देखई परदोषा'** स्वप्न भी हमारे चित्तगत संस्कारों के अनुसार ही आते हैं। यदि जागृत में इस पाप से बचने के लिए सावधान रहें तो स्वप्न में भी इससे दूर रहेंगे। चित्त का स्वभाव है कि वह जिस प्रकार का चिन्तन करता है उसी के साथ वह तदाकार हो जाता है। दोष दर्शन, दोष कथन से चित्त स्वयं भी सदोष हो पतन के रास्ते पर मनुष्य को डाल देता है। अजामिल आदि की कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं। दूषित कृत्य के दर्शन से ही उनमें उस दोषमय कृत्य में प्रवृत्त होने की कामना उत्पन्न हो गई थी इसलिए सदैव इससे बचने के लिए सावधान रहना चाहिए।

सरलता, छल रहित व्यवहार, प्रभु का भरोसा और दीनता का अभाव यह नवम् भक्ति है। भक्ति पथ को सुगम बताते हुए प्रभु राम ने उत्तरकाण्ड में भी यही

बात कही है-

**कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपबासा।।**
**सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई।।**
**मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।।**

**(रा० ७/४६-१,२,३)**

भक्ति मार्ग में छल रहित सरल जीवन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रभु का कथन है-

**निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।**

**(रा० ५/४४-५)**

जब छल-छिद्र प्रभु को भाता ही नहीं तो कुटिल व छली प्रभु का भक्त कैसे हो सकता है? गीतावली सुन्दरकाण्ड में हनुमान जी का कथन है-

**छली न होइ स्वामि सनमुख; ज्यों तिमिर सातहय-जानसों।**

जैसे अंधकार कभी सूर्य के सम्मुख नहीं जाता उसी प्रकार छली मनुष्य कभी प्रभु के सम्मुख नहीं आ सकता। सरल स्वभाव तथा सभी से छल हीन व्यवहार यही साधुता का जीवन है। प्रभु का भरोसा होने पर दीनता सदा के लिए विदा हो जाती है। दीनता रहित सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा वेद में व्यक्त की गई है-

**अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।**

हम दीन न बनें, सामर्थ्यवान् रहें और हम सौ वर्ष तक उत्पन्न व उन्नत होते रहें। दुर्भाग्यवश वेद की विचारधारा के बिल्कुल विपरीत भावना का भक्ति काल में उदय हुआ। उसमें भक्तों ने स्वयं को दीन-हीन बताना ही एक गुण मान लिया। जो भक्त अपने को जितना नीच बता सकता था वह उतना ही महान् समझा जाने लगा था। युग प्रवाह के प्रभाव से गोस्वामी जी भी नहीं बच सके हैं। विनय पत्रिका उनकी दीनता की ही पोथी है। हाँ, गोस्वामी जी का एक सिद्धान्त रहा है कि वह अपने प्रभु के सामने ही दीनता को प्रकट करने में सुख मानते हैं। एक पद में कहा है -

**कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि दीनता।**

कवितावली में भी यह बात आप ने बड़े जोरदार शब्दों में कही है-

**जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जिंयँ जाचिअ जानकी जानहि रे।**

**(कवितावली ७/८)**

अर्थात् संसार में किसी से भी माँगना नहीं चाहिए यदि माँगना ही हो तो

लक्ष्मीपति श्रीराम से माँगो। एक दूसरे पद में संसारी व्यक्तियों के समक्ष दीनता प्रकट करने की महाकवि ने कठोर शब्दों में भर्त्सना की है-

**जानकीजीवनको जनु ह्वै। जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि।**

राम का जन होकर यदि दूसरे से याचना करे तो वह जिह्वा जल जाये-

**द्वार दूसरो दीनता तुलसी उचित न तोर।**

यह गोस्वामी जी की दृढ़ धारणा है। यही बात यहाँ भी कही है-प्रभु भरोसा, हृदय में हर्ष-दीनता का अभाव, यह भक्त की मानसिक अवस्था है। नवम् भक्ति में अन्तर तथा बाहर की रहनि का संकेत है। सरलता और सबसे छल हीनता वह बाहर की रहनि है। ईश्वर भरोसा, प्रसन्नता तथा अदीनता यह आन्तरिक रहनि है। नवधा भक्ति का उपदेश देकर श्रीराम ने कहा-

**नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।**
**सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।**

**(रा० ३/३६-६,७)**

यह जो नव प्रकार की भक्ति कही गई है इन नव में यदि एक भी किसी में हो तो वह चाहे स्त्री, पुरुष व चराचर में कोई भी प्राणी क्यों न हो मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। हे भामिनी ! तुम्हारे में तो सब प्रकार की दृढ़ भक्ति है अतः तुम मुझे कितनी प्रिय हो यह अकथनीय है। भक्तिमती शबरी ने अपने नारी जीवन की अधमता को व्यक्त किया था उसके उत्तर में प्रभु ने उसे नवधाभक्ति का उपदेश दिया और सर्वप्रकार दृढ़ भक्ति बता कर अपना परम प्रिय कहा । शबरी के लिए प्रभु राम ने भामिनी कहकर सम्बोधन किया है। भामिनी शब्द का अर्थ होता है प्रकाश युक्त सुन्दरी। वह वृद्धा नारी है, शारीरिक दृष्टि से उसको भामिनी का सम्बोधन सर्वथा असंगत है। अतः यहाँ पर यह सम्बोधन उसकी आन्तरिक आभा को ही लक्षित करता है। इस पूरे प्रसंग का मनन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी के हृदय में भक्ति मती नारी के लिए कितनी असीम श्रद्धा है। ऐसी देवी के प्रति उनका हृदय कितना उदार है। महाकवि की दृष्टि में ऊँचता और नीचता का केवल एक ही माप-तौल है। जो प्रभु का भक्त है वही महान् है और जो राम विमुखी है वही उनकी दृष्टि में अधम हैं। उनका कथन है-

**राम विमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहि तेही।।**

**(रा० ७/९६-३)**


भुशुण्डि को उपदेश देते समय उत्तर काण्ड में भी प्रभु ने ऐसा ही कहा है-

**पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।**
**सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।।**

**(रा० ७/८७-क)**

प्रभु के दरबार में जाति-पाति का कोई भेद नहीं है क्योंकि सभी जीव प्रभु की ही सन्तान हैं। वहाँ कोई ऊँच व नीच नहीं है, यही गोस्वामी जी का मत है और यही बात वेद में भी कही गई है-

**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सँभ्रातरो वावुधः सौभाग्य।**

इनमें कोई श्रेष्ठ नहीं है, इनमें कोई कनिष्ठ भी नहीं है, ये परस्पर भाई हैं अपना उत्तम भाग्य बढ़ाने के लिए मिलकर प्रयत्न करते हैं। वेद में मानव ही नहीं प्राणिमात्र को परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ माना गया है अतः उसमें न कोई ऊँच है न नीच। सच्चिदानन्दमय दिव्य विग्रह में मुख की उच्चता तथा चरण की निम्नता मानना बौद्धिक भ्रम के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। महाकवि ने वेद के सिद्धान्त को ही राम कथा के माध्यम से व्यक्त किया है। अतः उनकी दृष्टि में जड़ चेतनात्मक रूप में तत्त्वतः सीय-राम की ही अभिव्यक्ति है। जो इस रहस्य को समझकर राममय जीवन व्यतीत करते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं तथा जो राम विमुखी हैं वे ही अधोगामी, निम्न वृत्ति वाले पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हीं को महाकवि ने नीच व अधम कहा है। शबरी भगवान् की अनन्य भक्ता है अतः उसके लिए प्रभु स्वयं कहते हैं-

**जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।।**

**(रा० १/२४२-४)**

किन्तु शबरी के सम्मुख वही परम तत्त्व साकार रूप में विराजित हो उसे माता का आदर प्रदान कर रहा है। यह सचमुच योगी वृन्द दुर्लभ गति है जो शबरी को सुलभ हो गई है। प्रभु कह रहे हैं "मेरे दर्शन का परम अनुपम फल यह है कि जीव अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।" गोस्वामी जी की दृष्टि में साधन का परम लक्ष्य भी यही है। विनय पत्रिका में उन्होंने इस विषय का सुन्दर विवेचन किया है। मानस में भी जीव को अविनाशी सच्चिदानन्दघन का अंश कहा है-

**ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।**

**(रा० ७/११७-२)**

विनय पत्रिका में साधन तथा साध्य दोनों का ही विवेचन किया है। वह इस प्रकार है-

**सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै।**
**देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।।**

सन्तजन का संगत करने से द्वैत भाव नष्ट हो जाता है, द्वैत भाव दूर होने से श्रीराम तत्त्व जो सर्व रूप में रम रहा है उसके चरण कमल में ध्यान लगने लगता है। वेद में सम्पूर्ण विश्व को प्रभु का चरण कहा गया है। अभिप्राय यह है कि सर्वत्र एक परम तत्त्व की अनुभूति होने पर प्रभु में ध्यान लगा रहता है। उस अवस्था में शरीरजन्य सारे विकार छूट जाते हैं और तब अपने निज स्वरूप में अनुराग हो जाता है। निज स्वरूप की अनुभूति होने पर ही अनुराग होता है यह तो सर्वमान्य है-

**अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।**
**संतोष, सम, सीतल, सदा दम, देहवंत न लेखिये।।**
**निरमल, निरामय, एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।**
**त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।।**

**(वि० प० १३६/११)**

जिसको आत्मस्वरूप का बोध हों जाता है, जिसका उसमें अनुराग हो जाता है उसकी दशा जगत् में विलक्षण हो जाती है। संतोष, समता, शान्ति, मन, इन्द्रियों का निग्रह, ये सब उसके स्वभावतः हो जाते हैं। फिर वह स्वयं को देहधारी नहीं मानता, उसकी शरीर में जो आत्म बुद्धि है वह दूर हो जाती है। वह निर्मल, विशुद्ध, संसार रोग से रहित और एक रस हो जाता है। फिर उसे हर्ष-शोक नहीं व्यापता। जिसकी ऐसी नित्य स्थिति हो गई वह तीनों लोकों को पवित्र करने वाला होता है। महात्मा नारद ने अपने भक्ति सूत्र ६९ में कहा है-

**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति**
**कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।।**

वह तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म तथा शास्त्रों को भी सद्शास्त्र बना देता है, क्योंकि वह त्रैलोक्य पावन है। "स लोकान् पुनाति" वह त्रिलोकी को पवित्र कर देता है। सहज स्वरूप को प्राप्त हुए साधक की यह महत्ता है। आज प्रभु के दर्शन के प्रताप से शबरी सहज स्वरूप को प्राप्त हो गई है, वह अब अधम नहीं त्रिलोकी को पवित्र करने वाली बन गई है। जो लोग गोस्वामी जी को नारी निन्दक कहते हैं, उनको भक्तिमती शबरी की इस महत्ता को देखकर शायद कुछ झेंप सी अवश्य आएगी। महाकवि का आदर्श काव्य नायक एक भीलनी के साथ भी मातृ

भावयुक्त व्यवहार करता है। इतना ही नहीं विनय पत्रिका के एक पद में गोस्वामी जी लिखते हैं-

**घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।**
**तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई।।**

**(वि० प० १६४/४)**

नीतिशास्त्र में राजा की पत्नी, गुरु पत्नी, मित्र पत्नी, अपनी पत्नी की माता अर्थात् सासु और अपनी जननी, इन पाँचों को माता के बराबर ही बताया गया है। राम जब वनवास से लौटे तो घर में माता कौशल्या, गुरु माता अरूंधति, सीता की माता सुनयना तथा अन्य सुहृद् जनों की मातृवत् गृहणियों ने राम को आमन्त्रित कर विविध प्रकार के व्यंजन बनाकर जिमाया, किन्तु उस भोजन की सरसता के विषय में पूछने पर सब जगह राघव का एक ही उत्तर होता था जो माधुर्य शबरी माँ के फलों में था वह यहाँ नहीं मिला। राघव की इस महान् उदारता तथा प्रेम प्रियता को देखते हुए मानस व महाकवि की कृतियों में नारी निन्दा और ब्राह्मणवाद की गन्ध लेना केवल विकृत मस्तिष्क का ही परिणाम कहा जा सकता है। राम शबरी को भामिनी कहकर सम्बोधित करते हैं। इस सारे प्रसंग में तीन बार उसे भामिनी कहा है, भामिनी का अर्थ पहले बता आए हैं। अब जनक नन्दिनी की सुधि पूछते हैं कि तुम यदि कुछ जानती हो तो बता। वह कहती है-**'जानतहूँ पूछहु मतिधीरा'** अर्थात् आप जानते हुए भी पूछते हैं। यह प्रभु की उदारता है-

**बार-बार प्रभु पद सिरु नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई।।**

**(रा० ३/३६-१३)**

**कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।**
**तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।।**
**नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।**
**बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।।**

**(रा० ३/३६-छन्द)**

**जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।**
**महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि।।**

**(रा० ३/३६)**

शबरी योगाग्नि में शरीर का विसर्जन कर परम पद को प्राप्त हो गई जिसके विषय में उपनिषद् कहती है-

न च पुनरा वर्तते न च पुनरा वर्तते।

अर्थात् वहाँ पहुँचकर पुनः संसार में नहीं आता, नहीं आता। गोस्वामी जी यहां पर मानव-मात्र को शबरी के जीवन को आदर्श रूप में अनुकरण करने का उपदेश देते हैं और बताते हैं कि विविध प्रकार के कर्म अधर्म हैं, विविध प्रकार के मत शोक प्रदान करने वाले हैं इसलिए इन सबका त्याग करना ही उचित है। पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ श्रीराम के चरणों में अनुराग करो, यह कल्याण का सुन्दर पथ है। दोहे में जो-'**जाति हीन अघ जन्म महिं**' कहा है यह अवश्य ही पढ़ने वालों को खटकता होगा। "जाति से हीन नीच और पापों की जन्म भूमि" यह शबरी के जातीय जीवन को दृष्टि में रखकर कहा गया है क्योंकि निषाद ने स्वयं को कहा है-

**हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।।**
**पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।।**

**(रा० २/२५१-४)**

**राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें।।**

**(रा० २/१९६-२)**

इन अर्द्धालियों में हम गोस्वामी जी की मान्यता को समझ सकते हैं। शबरी भी उसी जाति की थी इसलिए उसे जातिहीन कहा। पाप की जन्म भूमि का अभिप्राय कि उस जाति की स्त्रियाँ पापमय कृत्यकारी, हिंसारत सन्तानों को ही जन्म देती हैं, किन्तु उस कुल में उत्पन्न हुई नारी को भी राम ने भक्ति के नाते परम पद प्रदान किया और-

**तेहि मातु-ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई।**

ऐसे उदार प्रभु को भुलाकर मानव यदि सुख चाहता है तो उसकी मानसिक मन्दता ही कही जा सकती है। मानस में भक्तिमती शबरी का चरित्र स्वयं में एक अनुपम रत्न है जो अपनी दिव्य आभा से नारी जाति की गरिमा को प्रकट करता है। इस चरित्र को मंनन करने वाला विवेकी महाकवि को नारी निन्दक बनाने का दुःसाहस नहीं करेगा।

# तारा

राम कथा के सन्दर्भ में तारा का भी स्थान है। प्रभु ने स्वयं ही उसे तत्त्व का उपदेश दिया है। तारा महाबली बाली की पत्नी है। सर्वप्रथम उसका दर्शन हमें बाली को चरण पकड़कर हितप्रद सलाह देते हुए होता है। सुग्रीव से मित्रता करके राम ने एक बाण से ही बाली के वध की प्रतिज्ञा कर ली। सुग्रीव की आशंका का निवारण करने के लिए उन्होंने एक बाण में ही सप्तताल का भेदन कर दिया। विश्वास होने पर उसे साथ ले किष्किन्धा पहुँच गये। राम के आदेशानुसार सुग्रीव ने जाकर युद्ध के लिए बाली का आवाहन किया। ललकार को सुनकर जब क्रोधाकुल हो बाली चला तो तारा उसके चरण पकड़कर समझाने लगी-

**सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा।।**<br>
**कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा।।**

**(रा० ४/७-२८,२९)**

**कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।**<br>
**जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।।**

**(रा० ४/७)**

तारा की दूरदर्शिता तथा एक राजमहिषी होने के नाते सजगता का हमें यहाँ परिचय मिलता है। राम सुग्रीव की मित्रता तथा राम के अमित पौरुष की जानकारी उसे हो गई है। मानस में हम आगे मंदोदरी के गुप्तचर विभाग को भी इसी प्रकार सजग पाते हैं। यह बात तो आज भी देखने में आती है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ जासूसी के काम में कुशल होती हैं जैसे मंदोदरी के लिए आया है **'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी'**। उसी प्रकार राम सुग्रीव मित्रता का समाचार तारा को भी अपने गुप्तचर विभाग से ही मिला होगा। बाली को समझाने में भी उसकी कुशलता का परिचय मिलता है। कान्ता सम्मत उपदेश की प्रकिया भी हम यहाँ देखते हैं। **'गहि कर चरन नारि समुझावा'** से स्पष्ट होता है कि पति के हाथ और बाद में चरण पकड़कर बड़ी विनम्रता से वह समझाती है। सुग्रीव की यह

ललकार स्पष्ट करती है कि उसके पीछे अवश्य कोई बड़ी शक्ति है, जिससे सुग्रीव की मित्रता हुई है। वे अवध नरेश दशरथ पुत्र लक्ष्मण और राम हैं जो काल को भी संग्राम में जीत सकते हैं। वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं इसलिए सुग्रीव से युद्ध करना उचित नहीं। जिस प्रकार पुरुष स्त्री का पति अर्थात् रक्षक होता है उसी प्रकार स्त्री भी उसकी पत्नी वा रक्षिका होती है। पति की सर्वविध रक्षा के लिए अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य का प्रयोग करना पत्नी का कर्त्तव्य होता है। केवल पति को शत्रुओं से ही नहीं उसे अधर्म से, अन्याय से वा यों कहिए कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक शत्रुओं से सुरक्षित रखने में सतर्क रहना स्त्री का परम कर्त्तव्य होता है। इससे यह भी बोध होता है कि पती की जिम्मेदारी को सँभालने के लिए नारी को कितनी योग्य एवं जागरुक होना चाहिए। वे केवल पाशविक वृत्तियों की पूर्ति का ही साधन नहीं होती और न ही केवल सन्तान निर्माण की मशीन ही होती हैं। स्त्रियों का केवल इतना ही कर्त्तव्य नहीं है कि वे पति की वासना पूर्ति करें और उसके बदले में विविध प्रकार की साज सज्जा का समान खरीदकर स्वयं को नाटकीय ढ़ंग से समाज में प्रदर्शित करने में निमग्न रहें, यह धर्मपत्नी का कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार की नारियों के लिए महाकवि ने -

**अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।**

**(रा० ३/४४)**

कहा है। इस प्रकार की वृत्ति वाली स्त्रियाँ समाज में पूज्य नहीं, त्याज्य बताई गई हैं। देवियों को महाकवि के इस दृष्टिकोण को समझना चाहिए। तारा पत्नी धर्म के पालन में अपना कर्त्तव्य बड़ी कुशलता से पूर्ण करती है। काल वश हुआ बाली उसकी सीख को नहीं मानता और ह्रदय से लगाकर यह उत्तर देता है कि तुम तो बड़ी भीरु हो, राम समदर्शी हैं मुझे क्यों मारेंगे? यदि मारते भी हैं तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। इतना कह वह युद्ध में प्रवृत्त होता है और परिणाम में राम के द्वारा मारा जाता है। राम से जब वह पूछता है कि आपने अकारण मुझे क्यों मारा तो उत्तर देते हुए राम कहते हैं-

**मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।।**

**(रा० ४/९-९)**

इससे यह भी प्रकट होता है कि यदि कोई पुरुष नारी की हितप्रद सीख पर अभिमान वश ध्यान नहीं देता तो मूर्ख ही कहा जाएगा। नारी का पति ही

सर्वस्व होता है। नारी अपनी समग्र सात्त्विक वृत्तियों द्वारा सदा पति के हित का ही साधन करती है इसलिए नारी सीख उपेक्षणीय नहीं है। पुरुष स्वभाव से ही अभिमानी वा अहंकारी होता है। अबला होने से स्त्री की हितप्रद बातों को वह भीरुता का नाम देकर उपेक्षित कर देता है, किन्तु विवेकशील पुरुष के लिए वह उपेक्षणीय नहीं, विचारणीय होती हैं। यही बात यहाँ पर राम कह रहे हैं कि तुमने अभिमान में आकर नारी की दी हुई शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया। बाली की आन्तरिक चाह सनाथ होने की थी, तारा से उसने इसी बात को प्रकट भी किया- **'तौ पुनि होउ सनाथ'**। राम के चरणों में स्वयं को समर्पित कर वह सनाथ हो गया। पुत्र अंगद का हाथ भी प्रभु राम के हाथ में देकर सनाथ कर दिया, किन्तु उसकी प्रियतमा तारा उसके बिना अनाथ हो गई। बाली के शव को पकड़ कर वह विलाप करने लगी। राम ने तारा की विकल दशा को देखकर अपनी दिव्य वाणी से उसको तत्त्व ज्ञान प्रदान किया। यहाँ यह भी अभिप्रेत है कि यदि कोई नारी अपने कर्त्तव्य पालन में सजग रहती है तो वह सहज ही में ईश्वरीय विधान से तत्त्व बोध की पात्र बन जाती है। इसके लिए उसे अलग से कोई साधन नहीं करना होता। नारी तो सहज ही तपस्या की मूर्ति होती है। धर्म का परम लक्षण उत्सर्ग की भावना उसमें स्वभावतः ही हुआ करती है। अतः उसे तत्त्व बोध के लिए अलग से कोई साधन करने की आवश्यकता नहीं होती बशर्ते कि वह अपने कर्त्तव्य पालन में प्रमाद न करे। महाकवि लिखते हैं-

**तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया।।**
**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।।**
**प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।।**
**उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी।।**
**(रा० ४/११-३ से ६)**

तारा अपने पत्नी धर्म पालन में सजग रही है। बाली के शरीर त्याग के पश्चात् वह शोकाकुल हो विलाप करने लगी। पत्नी के लिए उसका पति ही सर्वस्व होता है, उसके अभाव में उसका सम्पूर्ण जीवन वीरान बन जाता है। पति वियोगिनी तारा की व्याकुलता स्वाभाविक थी। श्री राम ने उसकी विकलता को देख उस पर अनुग्रह करते हुए तत्त्व ज्ञान प्रदान किया और उसकी माया हर ली। सम्बन्ध सारा मायामय है। संयोग और वियोग भी माया का ही एक परिणाम है। यथार्थ का ज्ञान होने पर संयोग वियोग की कल्पना ही समाप्त हो जाती है। ज्ञान का सार है शरीर

की अनित्यता तथा आत्मा की अमरता का बोध। राघव ने यही बोध तारा को दे दिया। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु से ही इस शरीर का सृजन हुआ है। जिस प्रकार प्रत्येक कार्य विनष्ट हो कारण में लीन हो जाता है उसी प्रकार इस शरीर की भी गति होती है। जायमान की मृत्यु अनिवार्य है -

**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।**

**(गीता २/२७)**

जो अपरिहार्य है उसके लिए दुःखी होना व्यर्थ है। मृत्यु अपरिहार्य अर्थात् न रोकी जा सकने वाली जीवन की एक घटना है। अतः इस पर शोक करना विचारशील का काम नहीं है। प्रभु ने तारा को यही उपदेश दिया कि यदि तुम शरीर को पति स्वीकार करती हो तो शरीर तुम्हारे आगे लेटा हुआ है, उसके लिए रोने की बात नहीं और यदि तुम आत्मा के लिए दुःखी होती हो तो यह भी भूल है क्योंकि वह तो अविनाशी, नित्य, एक रस है।

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्।**

**(गीता २/२०)**

न कभी जन्मता है, न मरता है फिर तुम किस के लिए विलाप करती हो। मृतक के लिए जो दुःखी होता है उसमें कारण होता है शरीर से आत्मा का विलगाव क्योंकि न शरीर ही अकेला अपना सम्बन्धी होता है न अकेली आत्मा ही। दोनों का जो संयोग है वही सम्बन्ध में कारण होता है। उसी से व्यक्ति को अपनापन तथा अनुराग होता है। जब दोनों के संयोग का विक्षेप होता है तो अनुराग के आधार को नष्ट होता देख मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी दुःखी हो अश्रु बहाते हैं। बात यही सत्य है कि शोक वा दुःख का कारण शरीरगत चेतन के प्रति अनुराग ही होता है, किन्तु यथार्थ यह है कि प्रत्येक संयोग वा वियोग अवश्यंभावी है इसलिए जिसे हम रोक नहीं सकते उसके लिए व्याकुल होने से क्या लाभ?

इसे जानते हुए को भी न त्याग पाने का नाम ही माया है इसलिए **'दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया'** यह दोनों ही महाकवि ने साथ-साथ बता दिया। प्रभु के उपदेश से माया दूर होते हो उसे तत्त्व बोध हो गया। उसे यह बोध हो गया कि पंच भौतिक शरीर के लिए रोना व्यर्थ है, वह तो परिवर्तनशील है ही। आत्मा नित्य है उसके लिए रोना भी निरर्थक है। संयोग का वियोग अपरिहार्य है किसी भी दृष्टि से रोना उचित नहीं। बोध होते ही प्रभु के चरणों में गिर गई और परम भक्ति का वरदान प्राप्त कर लिया। तारा का बाद में सुग्रीव के साथ विवाह हो गया, वह

पटमहिषी होकर रही। भारत की कुछ जातियों में पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी और आज भी है। वैदिक सिद्धान्त में भी देवर शब्द का अर्थ ही दूसरा वर किया जाता है। चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय प्रकरण चतुर्थ अध्याय में यह लिखा है कि पति के अभाव में स्त्री यदि चाहे तो उसके छोटे भाई के साथ विवाह कर सकती है, किन्तु यह कुछ श्रेष्ठ परिवार में प्रथा नहीं थी। विशेषकर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग में इस प्रथा का अभाव था, किन्तु क्षत्रियों में भी केवल सूर्य वंश में क्योंकि चन्द्रवंश में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें देवर के साथ विवाह हुए हैं, किन्तु बहुत कम। वैदिक विधि में भी इसे धर्मसंगत ही स्वीकार किया गया है। बड़े भाई की पत्नी माता के समान है यह वैदिक मान्यता है, किन्तु देवर पति के अभाव में दूसरा वर होता है, यह भी वैदिक मान्यता है। बाली की मृत्यु के पश्चात् सुग्रीव ने तारा को अपनी पटरानी बना लिया, यदि यह मर्यादा विरुद्ध बात होती तो मर्यादा पुरुषोत्तम उसकी कभी भी स्वीकृति न देते।

तारा अपने कर्त्तव्य में हमें आगे भी तत्पर दिखती है। शरद् ऋतु आने पर भी सुग्रीव जब सीता की खोज के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है और क्रोध युक्त हो लक्ष्मण उसे चेतावनी देने के लिए किष्किन्धा में जाते हैं तो सुग्रीव को पीछे कर हनुमान को साथ लेकर तारा स्वयं लक्ष्मण के सम्मुख आती है और प्रार्थना करके उनको शान्त कर भवन में ले आती है। पराक्रमी अंगद तारा का ही पुत्र है, वह भी राम का अनन्य चरणानुरागी है। अंगद जैसे पराक्रमी पुत्र की माता होने से तारा का व्यक्तित्व स्वतः हमारे समक्ष प्रकाशित हो जाता है। राम ने उसे स्वयं अधिकारी जान ज्ञानदान दिया है, इससे और अधिक उसकी महत्ता के लिए क्या प्रमाण चाहिए? पंच कन्याओं में तारा का भी नाम है।

# सूपर्णखा

मानस में प्रतिनायक रावण के परिवार से सम्बन्धित तीन स्त्रियों का ज़िक्र आता है जिनको सूपर्णखा, त्रिजटा एवं मन्दोदरी के नाम से जाना जाता है। सूपर्णखा रावण की सहोदरा भगिनी है और त्रिजटा को विभीषण की पुत्री व भगिनी बताया जाता है। मन्दोदरी प्रतिनायक राक्षसराज रावण की पट्टमहिषी है। सूपर्णखा रामकथा की एक विशिष्ट घटना के चक्र के द्वारा विशेष दिशा में मोड़ देने में कारण बनती है। लगभग १३ वर्षों तक की वनवास की अवधि को राम अपने अनुज तथा प्राण-वल्लभा पत्नी के साथ बड़े ही सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं। दण्डकारण्य में एक दिन अचानक ही सूपर्णखा की दृष्टि श्रीराम लक्ष्मण पर पड़ जाती है, वह कामासक्त हो उनसे विवाह का प्रस्ताव रख देती है। सूपर्णखा विधवा है उसका पति विद्युत जिह्वा दैवासुर संग्राम में अचानक रावण के हाथ ही धोखे में मारा गया था। विधवा ब्राह्मण पुत्री के साथ मर्यादा पुरुषोत्तम राम के विवाह की कल्पना भी नहीं की जा सकती अतः दोनों भाईयों द्वारा उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देने पर वह सीता को मौत के घाट उतार देने का प्रयत्न करती है क्योंकि उसके विचार में राम द्वारा उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करने में सीता ही कारण है। उसकी क्रूर दृष्टि से सीता भयभीत हो जाती है और राम के संकेत पर लक्ष्मण उसे नाक-कान विहीन कर कुरूपा बना देते हैं। यहीं से राम-रावण संघर्ष तथा राक्षस कुल विनाश का बीज पड़ जाता है। कथा प्रसंग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि यद्यपि ऋषियों द्वारा इस संग्राम की योजना बहुत पूर्व से ही बनाई जा रही थी, किन्तु उसके उपक्रम में सूपर्णखा ही कारण बन गई।

सूपर्णखा का जन्म एक उत्तम ब्राह्मण के कुल में हुआ था। वह विश्रवा मुनि की पुत्री थी, उसका मातृकुल दैत्यराज सुमाली से सम्बन्धित था। पितृ-कुल तथा मातृ कुल दोनों गौरवपूर्ण तथा महान् थे, किन्तु इतना होने पर भी वह स्वभाव से कामुक थी। युवावस्था में ही वह विधवा हो चुकी थी, पश्चात् उसे स्वछन्द विहार करने की सुविधा प्राप्त हो गई थी। आज भी दुनिया की कई जातियाँ ऐसी हैं

जिनमें यौन सम्बन्ध को स्वभाविक वृति माना जाता है। उसको न तो घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और न अन्याय ही माना जाता है। धर्म में पति विहीन नारी ऋतु काल़ (मासिक धर्म) के पश्चात् इच्छा होने पर किसी इच्छित पुरुष के पास जाकर रतिदान की याचना कर सकती है, ऐसा विधान है। यदि वह पुरुष पूर्ति करता है तो अधर्म नहीं माना जाएगा, किन्तु इसके लिए उस पुरुष को बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि पुरुष किसी व्रत में दीक्षित है तो नारी के प्रस्ताव को अस्वीकार करने में पाप का भागी नहीं बनता। अस्वीकार करने पर भी यदि स्त्री उसे विवश करना चाहती है तो वह दण्ड की पात्र है। यही नियम पुरुष के लिए भी लागू होता है यदि वह अनिक्षिता नारी के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करता है। स्त्री द्वारा किसी पुरुष के पास जाकर रतिदान की कामना व्यक्त करना पाप नहीं है। धर्मशास्त्र में भी हमें इस प्रकार का संकेत मिलता है। पाप है किसी के न चाहने पर उसे मजबूर करना। सूपर्णखा को इसी अन्याय के बदले में दण्ड दिया गया। इस प्रकार का अन्याय यदि पुरुष करता है तो प्रतिलोम होने पर उसके मृत्यु दण्ड तक का भी विधान है और यदि नारी करती है तो उसे नाक-कान काट कर कुरूप बना देने की व्यवस्था दी गई है, किन्तु इस दण्ड का विधान प्रतिलोम अर्थात् उच्चवर्ग की नारी के साथ निम्न वर्ग का पुरुष और निंम्न वर्ग की नारी के साथ उच्च वर्ग का पुरुष करे तो उसके लिए है।

शास्त्रों में अनुलोम तथा प्रतिलोम व्यवहार के लिए भिन्न-भिन्न दण्ड विधान किया गया है। समाज को उन्नत बनाने के लिए यह व्यवस्था बहुत ही उपयोगी थी। आज भी वह उतनी ही उपयोगी है इसमें कोई संदेह नहीं। प्रतिलोम का अर्थ होता है कि जैसे एक ब्राह्मण कुमारी अपने से निम्न वर्ग के पुरुष से प्रणय की याचना करती है और वह अस्वीकार कर देता है तो उसको यदि वह किसी प्रकार विवश करने की चेष्टा करती है तो उस अवस्था में उस ब्राह्मण कन्या को कुरूपता का दण्ड देना चाहिए, जैसे कि सूपर्णखा को राम ने दिया क्योंकि सूपर्णखा ब्राह्मण कुमारी थी जब कि राम क्षत्रिय थे, किन्तु यही व्यवहार यदि किसी पुरुष से निम्न वर्ग में उत्पन्न नारी करती है तो वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि अनुलोम से सम्बन्ध हो सकता है। पुरुष के विषय में इससे उलटी विधि है। इसका सारांश यह है कि उच्च वर्ग की नारी निम्न वर्ग के पुरुष से सम्बन्धित नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार का सम्बन्ध दण्डनीय माना गया है। इसके पीछे जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि भारतीय मनीषियों ने बीज की महत्ता को स्वीकार किया। उत्तम वीर्य

यदि सामान्य क्षेत्र में पड़ जाता है तो इससे उत्पन्न होने वाली सन्तान उत्तम ही होगी। यदि वीर्य और क्षेत्र दोनों ही उत्तम हों तो कहना ही क्या है? इसलिए उत्तम वीर्य को सदैव उत्तम क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। निकृष्ट वीर्य यदि उत्तम क्षेत्र में डाल दिया जाए तो क्षेत्र की शक्ति का भी व्यर्थ में ह्रास होता है और परिणाम भी हानिप्रद निकलता है। किसी भी जाति व समाज को उन्नत बनाने की इससे सुन्दर कोई विधि नहीं हो सकती। यदि निम्न स्तर के संस्कारों से मानव समाज को ऊपर उठाना हो तो उचित यही है कि धीर-धीरे उत्तम संस्कारों से युक्त सन्तान की वृद्धि की व्यवस्था की जाए।

सनातन संस्कृति का मुख्य उद्देश्य मानव मात्र को विकास की दिशा में अग्रसर कर अन्त में नर को नारायण रूप में प्रतिष्ठित करना है। कुछ लोग अज्ञानतावश प्राचीन ऋषियों के सूक्ष्म दृष्टिकोण को न समझ पाने के नाते उनकी लोकहितकारी भावना में संदेह करते हैं और उनको वर्ग विशेष का हिमायती करार देते हैं, किन्तु यह उन लोगों के बुद्धि वैचित्य का ही परिणाम है यथार्थ नहीं। ऋषियों के समक्ष प्राणिमात्र के विकास तथा पूर्णत्व की सिद्धि का प्रश्न था, उन्होंने उसके लिए अपनी प्रखर प्रज्ञा द्वारा इस पर गहन चिन्तन किया और उसका उचित मार्ग भी ढूँढ़ निकाला। यहाँ पर इस विषय में विस्तार से कुछ लिखने की मेरी रुचि का कारण भी यही है कि हमारे राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन की यह एक बहुत बड़ी समस्या है जिसका समुचित समाधान ढूँढ़ना ही होगा। चिन्तन के द्वारा ऋषि प्रज्ञा प्रसूत विधियों में आज भी इसका सुन्दर तथा सुगम समाधान प्राप्त हो सकता है, आवश्यकता है उसको सद्भाव पूर्ण अपनाने की। इस पर हमें बहुत ठण्डे दिल से विचार करना होगा, दुराग्रह व द्वेष से यह समस्या सुलझने वाली नहीं है। यह याद रखना चाहिए कि सामाजिक स्तर पर स्त्री-पुरुष संयोग केवल यौन सुख के लिए स्वीकार नहीं किया जाता, सन्तान उत्पत्ति उसका प्रमुख उद्देश्य होता है। आचार्य चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय प्रकरण के दूसरे अध्याय में लिखा है **'पुत्रार्थाहि स्त्रियः'** स्त्री का होना पुत्र जन्म के लिए ही सार्थक है। सूत्र शास्त्र में भी कहा है **'या प्रसूते सा भार्याः'** सन्तान को जन्म देने वाली स्त्री ही भार्या होती है। इससे यह निश्चित हो गया कि विवाह सम्बन्ध में सन्तानोत्पति मुख्य उद्देश्य है। हमें यह भी ज्ञात है कि बच्चे ही राष्ट्रीय गौरव के बीज हैं। अब यह विचारणीय विषय है कि किस प्रकार के बच्चों की वृद्धि राष्ट्र हित में, समाज हित में गौरव पूर्ण हो सकेगी।

आज भी हमारे देश की स्थिति विकट है। हम देखते हैं वे लोग जो अच्छे संस्कारों वाले हैं, जो विचारशील तथा उन्नत हैं वे वर्तमान की सन्तति निरोध की भावना के शिकार हो रहे हैं। कारण कि सन्तान की सुरक्षा और विकास उत्तरदायित्व को समझते हुए वे लोग सन्तति सृजन के कार्य में संयमित होना ही उचित मानते हैं, किन्तु निम्न स्तर के लोग निर्बल सन्तानों को उत्पन्न कर जनसंख्या की वृद्धि में रत हैं। यह मैं मानता हूँ कि आज प्रजातन्त्र की पद्धति में योग्यता की नहीं केवल सिरों के संख्या की ही महत्ता है, बल की नहीं बाहुओं की ही गणना होती है, किन्तु किसी राष्ट्र को गौरवान्वित बनाने के लिए व विश्व मंच पर प्रतिष्ठित होने के लिए तो संख्या की महत्ता स्वीकार नहीं की जाती। हमें यह भी विचार करना चाहिए कि क्या यह प्रजातन्त्र ईश्वरीय वरदान है जो सदैव सुरक्षित रहेगा? विश्व में प्रतिष्ठा के लिए तो स्वस्थ, बलवान एवं प्रज्ञावान नागरिकों का होना ही आवश्यक है, किन्तु उसी प्रकार के नागरिकों की वृद्धि राष्ट्र में इस प्रणाली से नहीं होने की, यह सदैव याद रखना चाहिए। प्राचीन काल में ऋषियों ने जो नियोग की व्यवस्था बनाई थी उसके पीछे यही दृष्टि थी कि जिससे राष्ट्र में स्वस्थ, सुन्दर, सबल और प्रबुद्ध सन्तान हो क्योंकि नियोग का अधिकार प्रज्ञावान तथा वीर संयमी पुरुष को ही दिया गया था। नारियों को श्रेष्ठ सन्तान प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ पुरुषों के साथ समागम की व्यवस्था दी गई थी। उसके परिणाम में ही मल्लाह कन्या से व्यासदेव तथा दासी से विदुर जैसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई थीं। समाज में निर्बल सन्तानों के उत्पन्न होने में बड़े कठोर नियम बनाये गये थे जिससे ऐसी सन्तानें कम से कम उत्पन्न हो सकें। यही कारण था कि निम्न वर्ग के लोगों के लिए जहाँ केवल अपने वर्ग की ही कन्या से सन्तानोत्पत्ति का नियम बनाया गया था, वहीं पर उच्चवर्ग के लिए अपने तथा अपने से निम्न वर्ग की कन्या से भी सन्तान उत्पत्ति को वैध घोषित किया गया था। किसी भी जाति व वर्ग को उन्नत करने की यही उत्तम विधि है, आज भी हम इसे बड़ी सुगमता से समझ सकते हैं। हमारे सामने पशुओं की उन्नत नसल को तैयार करने के लिए आज भी यही किया जाता है। कितनी आश्चर्य की बात है कि एक पशु के उन्नत नसल को बनाने में तो इसका महत्व स्वीकार किया जा रहा है, किन्तु एक राष्ट्र व जाति के लिए इसको दूषित करार दिया जाता है। खैर कुछ भी हो, किन्तु समझदार व्यक्तियों को इस पर गहराई से आग्रह रहित हो मनन करना चाहिए और ऋषियों के इस दृष्टिकोण को समझना चाहिए जिसमें आज वर्गवाद की बू आ रही है। मैं समझता हूँ कि इतने

विवेचन से पाठकों को अब अनुलोम तथा प्रतिलोम की व्यवस्था के रहस्य को समझने में सुविधा होगी। राम द्वारा सूपर्णखा को कुरूपता का दण्ड देने के पीछे यही आर्य सिद्धान्त था।

केवल कामुकता के नाते ही हम यह नहीं कह सकते कि सूपर्णखा मन्द बुद्धि व मूढ़ थी। उसकी राजनैतिक योग्यता का परिचय हमें उस समय मिलता है जब वह रावण की सभा में जाकर अपना वक्तव्य देती है। उसकी बातें मननीय हैं। दुनिया में कोई भी ऐसा नहीं जो पूर्ण रूप से सदोष या निर्दोष हो। राम के सौन्दर्य को देखकर यदि सूपर्णखा विमुग्ध हो गई तो यह कोई उसकी नीचता का प्रमाण पत्र नहीं है। उसका सबसे बड़ा अपराध था राम को इसके लिए विवश करना और उसके लिए सीता की हत्या का प्रयत्न। नीतिशास्त्र का यह वाक्य यहाँ पर पूर्णतः चरितार्थ होता है **'कामातुराणां न भयं न लज्जा'** और उसका परिणाम भी उसे भुगतना पड़ा किन्तु रावण की सभा में दिये गये उसके वक्तव्य से हम यह समझ सकते हैं कि महाकवि की दृष्टि में वह मूढ़ नहीं है। रावण को सम्बोधित करते हुए वह कहती है-

**करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती।।**
**राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।।**
**विद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ।।**
**संग तें जती कुमन्त्र ते राजा। मान ते ग्यान पान तें लाजा।।**
**प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी।।**

**(रा० ३/२१- ७ से ९)**

**रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।**
**अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन।।**

**(रा० ३/२१ क)**

यहाँ पर कही हुई सूपर्णखा की एक-एक बात महत्त्वपूर्ण तथा धर्म नीति सम्मत है। सर्वप्रथम जो कुछ उसने रावण से कहा है वे बड़े अधिकार पूर्ण शब्द हैं। राजा को चेतावनी देने वाले अधिकार युक्त ये वाक्य बड़े ही उपयोगी हैं। मद्य के नशे में जो राजा सदैव निमग्न रहेगा उसको शीश पर आए हुए शत्रु का भी ज्ञान नहीं हो सकता। बिना नीति के राज्य और बिना धर्म बुद्धि के धर्म का नाश होना अनिवार्य है। हम इतिहास में अनेकों इस प्रकार के उदाहरण देखते हैं जिसमें कुशल नीतिज्ञ के अभाव में बड़े-बड़े साम्राज्य धराशायी हो गये हैं। भारत में ९ सौ वर्ष के

विदेशीय शासन होने में हमारी नीति में अकुशलता ही कारण रही है। कुशल नीतिज्ञता के नाते ही आचार्य चाणक्य वृहत्तर भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर सके थे जिसमें आज का अफगानिस्तान भी हमारे राष्ट्र का एक प्रान्त था। इंग्लैण्ड से आकर साढ़े ६ हज़ार मील की दूरी पर जो अंग्रेज़ों ने भारत में शासन किया उसमें भी उनकी नीति निपुणता ही कारण रही। सज्जनता से साम्राज्य की प्रतिष्ठा तथा संरक्षण नहीं किया जा सकता। उसके लिए नीति निपुणता ही एक मात्र साधन है-

राजु कि रहइ नीति बिनु जानें।

(रा० ७/११२-६)

मेरी राय है कि जो लोग साधुता-सज्जनता की दुहाई देने वाले हैं उनके लिए शायरी तथा विविध कलाओं से लेकर संन्यास तक का मैदान खुला हुआ है। इन क्षेत्रों में वे अपने कला कौशल का प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु राज्य व्यवस्था में भाग लेने वालों को तो पूर्ण नीति कुशल होना ही चाहिए। राज्य संचालन में अपनी धर्म मान्यताओं को नहीं अपितु राष्ट्रहित व समाजहित को दृष्टि में रखना होता है। कभी-कभी राजनेता को ऐसे भी कार्य करने पड़ते हैं जो सामान्य दृष्टि से पूर्ण अधर्म संगत कहे जा सकते हैं।

वाल्मीकि रामायण में यही राम से विशवामित्र ने कहा है जिसका उल्लेख पूर्व में ताड़का के प्रसंग में किया जा चुका है। रामायण में बाली वध भी इसी प्रकार की एक घटना है जिसको राजनीति के सिवाय और किसी भी दृष्टि से धर्मसंगत नहीं सिद्ध किया जा सकता। अतः यह सर्वमान्य सत्य है कि नीति के बिना राज्य का रक्षण नहीं किया जा सकता। धन के रक्षण के लिए धर्माचरण आवश्यक है, अधर्माचारियों के द्वारा करोड़ों की सम्पत्ति स्वल्प काल में ही समाप्त होती देखी गई है। गोस्वामी जी ने लिखा है कि-

ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी।

यदि वह चाहता है तो उसके प्रयत्न आकाश से दूध दुहने के समान व्यर्थ हो जाते हैं, यह बिल्कुल सत्य है। इतना ही नहीं आगे देखिये। विवेक उत्पन्न किये बिना विद्या पढ़ने के परिणाम में केवल श्रम ही हाथ लगता है। यहाँ पर इन चारों को एक साथ लेकर भी अर्थ किया जा सकता है, जैसे नीति के बिना राज्य, धर्म के बिना धन, हरि स्मरण के बिना सत्कर्म और विवेक उत्पन्न किए बिना विद्या, ये सभी केवल श्रम परिणाम वाले ही होते हैं अर्थात् व्यर्थ हैं। इनके पाने, करने और

पढ़ने में जो श्रम हुआ वही हाथ आया और कुछ नहीं। आखिर में जो **'नासहिं बेगि नीति असि सुनी'** कहा है वह सभी वर्णित विषयों के साथ लगेगा क्योंकि यही सत्य है। आसक्ति से यति संन्यास का, कुमंत्रियों द्वारा मिली हुई कुमंत्रणा अर्थात् गलत सलाह से राजा का, अभिमान से ज्ञान का, मदिरापान करने से लज्जा का, नम्रता के बिना प्रीति का और मद से गुणवान का शीघ्र ही नाश हो जाता है; वह कह रही है ऐसी नीति मैंने सुनी है। यहाँ पर जो कुछ भी बातें उसने की हैं वह सुनी हुई हैं, शास्त्र सम्मत हैं मन गढंत नहीं। मैं ऊपर कही हुई बातों की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि सारी बातें बिल्कुल शास्त्र सम्मत और सीधी हैं। ऋक् वेद में कहा गया है कि ऋचाओं के अक्षरों में सम्पूर्ण देवताओं की दिव्य शक्तियों का निवास है। यदि कोई व्यक्ति उन देवताओं को न जानकर केवल ऋचा को ही रटता रहे तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? वेद कहता है-**'यस्तं न वेद किं ऋचा करिष्यति'**। अगर उस वेद देव को नहीं जाना तो ऋचाएं क्या करेंगी? विद्या का प्रयोजन है विवेक का प्राप्ति, क्योंकि विवेक ही वह आँख है जिससे मनुष्य जीवन के यथार्थ को देख पाता है, इसी में विद्या की उपयोगिता है। विवेक विहीन विद्या को केवल पढ़ने में जो श्रम किया वही उससे फल मिला अर्थात् वह व्यर्थ रही। 'उपजायें' शब्द यहाँ भावपूर्ण है, यदि विद्या स्त्री से विवेक पुत्र उत्पन्न न हुआ तो वह वंध्या है। गीता में संन्यासी का लक्षण बताया है कि जो फल की आसक्ति से रहित हो, करने योग्य कर्मों को लोक हित की दृष्टि से करता है, वही संन्यासी है। यदि वह आसक्ति युक्त हो जाता है तो उसका पतन व नाश होगा ही। यहाँ 'यति' का अर्थ है परमार्थ के लिए यत्न करने वाला। राजा का राज्य शासन मन्त्रियों के ही अधीन होता है यदि मन्त्रणा ठीक न मिली तो उसका नाश होना भी अवश्यंभावी है **'दौ मन्त्रयात्न पति विनश्यति'** (भूर्तृहरि) 'बुरी सलाह से राजा का नाश होता है'। ज्ञानी का मुख्य लक्षण है विनम्रता। गोस्वामी जी ने लिखा है-

**बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध विद्या पाएँ।।**

**(रा० ४/१४-३)**

जैसे बरसने वाले बादल भूमि के निकट आकर बरसते हैं इसी प्रकार विवेकी पुरुष ज्ञान पाकर विनम्र होते हैं। **'विद्या ददाति विनयं'** यह नीतिशास्त्र का प्रसिद्ध वाक्य है। विनम्रता की जगह यदि ज्ञानी में अभिमान आ जाए तो उसका विनाश ही समझना चाहिए। मद्यपान से तो लज्जा का विनाश हो ही जाता है, इसमें

तो शंका ही नहीं है। प्रणय के विषय में कहा गया है कि जिसके साथ हम प्रेम करते हैं उसके प्रति-

**मम तव तव मम प्रणय यह प्रीति निरन्तर होई।**

जो कुछ मेरा है वह सब तुम्हारा है और जो कुछ तुम्हारा है वह हमारा है इस प्रकार की भावना को प्रणय कहते हैं। विभीषण से श्री राम ने यह कहा था-

**तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।**

**(रा० ६/११६ क)**

जब तक यह भावना दृढ़ नहीं होती तब तक प्रीति पुष्ट नहीं होती। इस आत्मीयता के बिना प्रीति नष्ट हो जाती है। प्रणय का एक अर्थ विनम्रता भी है जो प्रीति में आवश्यक है। प्रीति के आठ अंग होते हैं, प्रणय उनमें प्रथम है। मद से गुणी का नाश होता है। इससे यह सीख मिलती है कि गुणवान को घमंडी नही होना चाहिए। मद घमंड को कहते हैं। घमंड तो भगवान् का आहार कहा गया है। घमंडी मनुष्य को समाज भी आदर की दृष्टि से नहीं देखता अतः गुणवान को घमंड से दूर रहना चाहिए, उसमें विनम्रता, सरलता ही शोभित होती है। सूपर्णखा कहती है 'नीति असि सुनी'इस 'सुनी' शब्द को विशेष महत्त्व देते हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह पढ़ी लिखी नहीं थी इसीलिए कहती है कि सुनी है। वे महानुभाव सुनने के अतिरिक्त पढ़ा-लिखा होने का क्या अर्थ लगाते हैं समझ नहीं आता। विद्या अध्ययन का मुख्य आधार ही श्रवण है इसीलिए ज्ञान के भंडार वेदों का एक नाम श्रुति भी है। हमें वेदमंत्रों में कई स्थानों पर यह वाक्य पढ़ने को मिलता है। उपदेष्टा ऋषि कह रहे हैं-**'इति श्रुश्रुमः धीराणां ये नस्तद विचचक्षिरे'** ऐसा मैंने धीर पुरूषों से सुना है, जिन्होंने हमें उस विषय की व्याख्या करके भली-भाँति समझाया है। तो क्या इससे हम यह जान लें कि वे ऋषि पढ़े-लिखे नहीं थे जो सुनने की बात कही? गोस्वामी जी ने स्वयं गुरुमुख से राम कथा श्रवण की बात कही है। वाल्मीकि रामायण में भी वह इसी प्रकार नीति सम्मत उपदेश देती है। अतः यहाँ पर नारी होने से अनपढ़ है इसलिए **'नीति असि सुनी'** ऐसा कहा है, यह विचार सर्वथा त्याज्य है। आगे वह पुनः नीति शास्त्र की ही बात कहती है कि शत्रु, रोग, अग्नि, स्वामी, सर्प इनको कभी भी छोटा करके नहीं गिनना चाहिए अर्थात् इनकी उपेक्षा कभी भी नहीं करनी चाहिए। ऐसा कहकर वह विविध भाँति से विलाप करते हुए रोने लगी।

**नीति सम्मत बातें उसकी यहीं तक हैं।** आगे जो कुछ भी वह कहती है

वह केवल तियमाया मात्र है। उसे हम कुटिल नीति भी कह सकते हैं। वह अपने भाई रावण की वृत्ति से सुपरिचित है इसलिए राम का परिचय देते हुए उसके चित्त को आकृष्ट करने के लिए कहती है-

**सोभा धाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा।।**
**रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी।।**
**तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनी करहिं परिहासा।।**
**(रा० ३/२२-८,९,१०)**

यहाँ पर अपने विषय को प्रस्तुत करने में वह पूर्ण चतुरता का परिचय देती है। मिथ्या भाषण को इस प्रकार सत्यवत् प्रस्तुत करती है जिससे रावण का चित्त तुरन्त ही सक्रिय होने को तत्पर हो जाए। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि किस प्रकार से वह रावण की सारी वृत्तियों को एक साथ ही उभारती है। उसके सारे मर्म स्थानों को स्पर्श करने वाली बात कहती है। रावण को अपने पौरुष का गर्व है, उस पर प्रहार करते हुए वह राम के पौरुष का बखान करती है-

**अवध नृपति दसरथ के जाए। पुरुष सिंध बन खेलन आए।।**
**समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहि धरनी।।**
**जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन।।**
**देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना।।**
**अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता। खल बध रत सुर मुनि सुखदाता।।**
**(रा० ३/२२-३ से ७)**

इन अर्द्धलियों में जो कुछ कहा गया है वह राम के परमधीर और धन्वी होने का ही प्रमाण है। इसमें से उसने कोई भी बात बना कर नहीं कही है। राम के परम पौरुष का ही उसने वर्णन किया है। रावण अब तक यही मानता रहा है-**'जग जोधा को मोहि समाना'** किन्तु अपनी बंहन के मुख से राम-लक्ष्मण की शूरवीरता को सुनकर वह स्तम्भित रह गया। उसकी उत्सुकता को बढ़ाने के लिए ही वह आगे कहती है-शोभा के धाम जिनका राम ऐसा नाम है उनके साथ में एक परम सौन्दर्य की साकार मूर्ति स्त्री भी है। विधाता ने रूप की राशि रति को संवारा है किन्तु सौ करोड़ ऐसी रतियाँ उस पर न्योछावर की जा सकती हैं। राम की वीरता का वर्णन कर उसके पौरुष पर आघात किया था अब सीता के सौन्दर्य का वर्णन कर उसकी कामुकता को भी जागृत किया है। आगे यह कहकर कि तुम्हारी भगिनी जानकर परिहास करते हुए उस राम के छोटे भाई ने मेरा नाक-कान काट लिया,

# त्रिजटा

त्रिजटा का उल्लेख मानस के सुन्दर काण्ड़ में हुआ। वह धर्म बुद्धि वाली दयावान महिला के रूप में ही मानस में वर्णित है। लंका में राक्षस स्त्रियों से घिरी हुई और त्रसित सीता के लिए वही एक सुहृद थी। जैसा कि मानस में ही कहा गया है-

**कहेहू तें कछु दुख घटि होई।**

**(रा० ५/१५-५)**

किसी सुहृद से, वेदनाशील से कह देने से दुःख भार कुछ कम हो जाता है। रावण के बन्दीगृह में सीताजी अपनी अन्तर व्यथा को समय-समय पर त्रिजटा को ही सुनाती थी और उससे सान्त्वनाप्रद शब्द सुनकर धैर्य धारण करती थी। त्रिजटा के सम्बन्ध में विभिन्न रामायणों में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिचय मिलते हैं। कहीं पर उसको विभीषण की पुत्री तो कहीं पर उसे विभीषण की बहन बताया गया है। आनन्द रामायण में उसे विभीषण की स्त्री भी कहा गया है किन्तु आदिकवि ने उसका परिचय एक वृद्धा राक्षसी के ही रूप में दिया है यथा-

**राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत्।**

**(वा० रा० ५/२७-४)**

सीता को त्रास पहुंचाने वाली राक्षसियों को सम्बोधित करती हुई प्रबुद्धा वृद्धा राक्षसी त्रिजटा इस प्रकार वचन कहने लगी। त्रिजटा सोकर उठी थी और अपना स्वप्नं जो उसने देखा था राक्षसियों को सुनाने लगी। इसी घटना को महाकवि ने भी मानस में व्यक्त किया है और त्रिजटा का परिचय एक विवेकशील, रामभक्त राक्षसी के रूप में दिया है-

**त्रिजटा नाम राच्छसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका।।**
**सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना।।**
**सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी।।**
**खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुर्डित सिर खडिंत भुज बीसा।।**

कारण रहीं। अब सबसे महत्वपूर्ण काम दुष्टता का दमन कर सज्जनता की सुरक्षा और विश्व में धर्ममय साम्राज्य के स्थापन का है, उसकी पूर्ति के लिए रावण विरोध और उसके विनाश का मार्ग सूपर्णखा ने प्रशस्त कर दिया। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि राम के पावन चरित्र में नारी की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है।

राक्षस राज रावण की सहोदरा सूपर्णखा के प्रति हमें आवेश में आकर पूर्ण रूपेण उपेक्षा भाव नहीं अपनाना चाहिए, अपितु इस यथार्थ को स्वीकार करना चाहिए कि वह महाकवि की दृष्टि में दुष्ट हृदया, चरित्र भ्रष्टा होती हुई भी नीतिज्ञा तथा शिक्षिका थी। अतः उसके द्वारा दिया गया वक्तव्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए माननीय है। मानव में यदि निर्बलता न हो तो वह परमात्मा का ही प्रतिरूप हो जाए। नारी में कुछ स्वभाविक निर्बलताएँ हुआ करती हैं जिनको सुशिक्षा तथा सदाचार के द्वारा मार्जन करके आर्य देवियां स्वयं को प्राकृत अवस्था से ऊपर उठाकर संस्कृत बना लेती हैं, किन्तु इस प्रकार के साधन संस्कारों से वंचित नारी अपनी उस प्राकृत अवस्था में ही विचरण करती रहती है। शिक्षा के साथ यदि सदाचार का सहयोग नहीं है तो उच्च से उच्च कुल की स्त्रियाँ भी उस प्राकृत अवस्था से स्वयं को ऊपर उठा नहीं सकतीं, यह हमें सूपर्णखा के जीवन से सीख मिलती है। गाड़ी भर ज्ञान की बातें करने की बजाय रत्ती भर उसका जीवन में प्रयोग अधिक हितप्रद होता है। यह भी हमें इस प्रसंग से शिक्षा मिलती है। सूपर्णखा का नीतिज्ञान कथनी में तो रहा, किन्तु करनी में न होने से कोई सुखद परिणाम नहीं दे सका। इस तथ्य को समझ कर हमें आज देवियों में शिक्षा के साथ ही सदाचार के प्रति आस्था भी जागृत करनी है।

# त्रिजटा

त्रिजटा का उल्लेख मानस के सुन्दर काण्ड में हुआ। वह धर्म बुद्धि वाली दयावान महिला के रूप में ही मानस में वर्णित है। लंका में राक्षस स्त्रियों से घिरी हुई और त्रसित सीता के लिए वही एक सुहृद थी। जैसा कि मानस में ही कहा गया है-

**कहेहू तें कछु दुख घटि होई।**

**(रा० ५/१५-५)**

किसी सुहृद से, वेदनाशील से कह देने से दुःख भार कुछ कम हो जाता है। रावण के बन्दीगृह में सीताजी अपनी अन्तर व्यथा को समय-समय पर त्रिजटा को ही सुनाती थी और उससे सान्त्वनाप्रद शब्द सुनकर धैर्य धारण करती थी। त्रिजटा के सम्बन्ध में विभिन्न रामायणों में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिचय मिलते हैं। कहीं पर उसको विभीषण की पुत्री तो कहीं पर उसे विभीषण की बहन बताया गया है। आनन्द रामायण में उसे विभीषण की स्त्री भी कहा गया है किन्तु आदिकवि ने उसका परिचय एक वृद्धा राक्षसी के ही रूप में दिया है यथा-

**राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत्।**

**(वा० रा० ५/२७-४)**

सीता को त्रास पहुंचाने वाली राक्षसियों को सम्बोधित करती हुई प्रबुद्धा वृद्धा राक्षसी त्रिजटा इस प्रकार वचन कहने लगी। त्रिजटा सोकर उठी थी और अपना स्वप्नं जो उसने देखा था राक्षसियों को सुनाने लगी। इसी घटना को महाकवि ने भी मानस में व्यक्त किया है और त्रिजटा का परिचय एक विवेकशील, रामभक्त राक्षसी के रूप में दिया है-

**त्रिजटा नाम राच्छसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका।।**
**सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना।।**
**सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी।।**
**खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुडिंत सिर खडिंत भुज बीसा।।**

एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई।।
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई।।
यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी।।

(रा० ५/११-१ से ७)

त्रिजटा को स्वप्न में सम्पूर्ण भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह स्वप्न राक्षसियों को सुनाती है। सीता को त्रासित करने वाली राक्षसियां स्वप्न के यथार्थ होने में विश्वास करती हैं और भयभीत हो सीता की चरणवन्दना करते हुए अपने क्रूरकर्म से विरत हो जाती हैं। मानस महाकाव्य में हम देखते हैं कि ऐसे कई महत्वपूर्ण अवसरों पर महाकवि ने भविष्य में घटने वाली घटनाओं को स्वप्न के माध्यम से सूचित कराया है। इससे यह ज्ञात होता है कि कवि इस बात में विश्वास करता है कि स्वप्न सत्य भी होता है, उसमें यदा-कदा भविष्य की घटनाओं की छाया मिल जाती है। मानस से हमें यह भी ज्ञात होता है कि महाकवि सम्पूर्ण स्वप्न जगत् को यथार्थ वा यथार्थ का अवबोधक नहीं मानते। स्वप्न की असारता का उल्लेख करते हुए मानस में कहा गया है-

जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।।
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।।

(रा० १/११८-२)

यहाँ पर कवि ने स्वप्न को केवल भ्रम बताया है। इसी प्रकार आगे अयोध्या काण्ड में-

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ।।

(रा० २/९२)

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।

(रा० २/९३-२,३)

इस प्रसंग में स्वप्न को सर्वथा मिथ्या और प्रयोजनहीन बताया गया है। मानस में कहीं पर इसे अनित्य एवं असत्य भी कहा गया है जैसे-

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना।।

(रा० ३/३९-५)

स्वप्न सदा असत्य ही नहीं होता कभी-कभी वह भविष्य की घटनाओं का

सूचक भी होता है। जैसे अयोध्या में अनर्थ आरम्भ होने से पूर्व कैकई बुरे स्वप्न देखती है-"दिन प्रति देखउं राति कुसपने" अनर्थ आरम्भ हो जाने पर ननिहाल में दूर देश में रहते हुए भरतजी भी अपशगुन सूचक स्वप्न देखते हैं-

**अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें।।**
**देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना।।**

**(रा० २/१५७-५,६)**

भरत जी जब अयोध्या में आकर वहां की दुर्दशा देखते हैं तो व्यथित हो जाते हैं। माता द्वारा मांगें हुए वरदान के परिणाम में पिता से मिले हुए साम्राज्य का त्याग कर वे राम को लौटा लाने के लिए पुरजन, प्रियजन, प्रजाजन सहित चित्रकूट को प्रस्थान करते हैं। भरत के आगमन का राम को कोई भी समाचार नहीं मिला, किन्तु जिस दिन भरत चित्रकूट पहुंचते हैं उससे पूर्व की रात्रि में ही देवी सीता को स्वप्न में सारी घटना का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है और वे जागकर प्रभु श्रीराम से अपना स्वप्न सुनाती हैं-

**उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा।।**
**सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए।।**
**सकल मलिन मन दीन दुखारी। देंखीं सासु आन अनुहारी।।**

**(रा० २/२२६-३,४,५)**

यहां पर सासुओं को दूसरी ही सूरत में जानकी जी ने देखा है, अभिप्राय यह है कि उनको विधवा के रूप में देखा। इस प्रकार के स्वप्न को यथार्थ सूचक समझकर के श्रीराम के नेत्रों में जल भर आता है और वे चिन्तित हो जाते हैं-

**सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोच बस सोच बिमोचन।।**

**(रा० २/२२६-६)**

इस प्रकार के स्वप्न अच्छे नहीं होते क्योंकि अपशकुन सूचक हैं। राम लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

**लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।।**

**(रा० २/२२६-७)**

बुरे स्वपनों के प्रभाव से बचने के लिए शंकर जी की आराधना एक उत्तम उपाय है अतः-

**अस कहि बन्धु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने।।**

**(रा० २/२२६-८)**

स्वप्न के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार महर्षि वाल्मीकि ने भी व्यक्त किये हैं। आदिकाव्य में भी हमें कई स्थानों पर इसी प्रकार के शुभ-अशुभ सूचक स्वप्नों का वर्णन मिलता है। त्रिजटा का स्वप्न भी भविष्य का सूचक है। इस प्रकार के स्वप्न अकसर प्रातः समय आया करते हैं। सीता के देखे हुए स्वप्न के सम्बन्ध में इसका संकेत भी मिलता है-'रजनी अवसेषा, सीयँ सपन अस देखा।' वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि वह सोकर तुरन्त ही उठी थी और अपने देखे हुए भयानक स्वप्न को अन्य राक्षसियों को सुनाने लगी। वानर के द्वारा लंका का जलाया जाना, निशाचरों का वध और रावण का भुजाओं से रहित हो सिर मुंडा गधे पर बैठ कर दक्षिण दिशा में प्रस्थान, यह सब कुछ स्पष्ट ही उसके सर्वनाश के सूचक स्वप्न हैं। स्वप्न में विभीषण का राज्य पाना भी यथार्थ का अवबोधक है। स्वप्न सुनाने के पश्चात् वह कहती है कि मैं इसे विचार कर कह रही हूँ कि थोड़े दिनों में यह सब कुछ सत्य होने वाला है। उसकी इस सत्य घोषणा का परिणाम भी तुरन्त हुआ। राक्षसियाँ भयभींत हो क्षमा याचना करती हुईं सीता के चरणों में गिर जाती हैं और उनकी कृपा दृष्टि प्राप्त कर वहाँ से चली जाती हैं। त्रिजटा भक्ति तथा विवेक दोनों से सम्पन्न महिला है। उसकी राम चरणों में रति है और वह विवेक में भी निपुण है। सीता की विपत्ति काल में सुहृदय है। सीता स्वयं कहती है-

**त्रिजटा सन बोली कर जोरी। मातु बिपति संगिनी तैं मोरी।।**

**(रा० ५/१२-१)**

यहाँ पर 'मातु' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि वह वृद्ध महिला है जैसा कि आदिकवि ने लिखा है। देवी सीता रावण के कटु वाक्य से व्यथित हैं। उनको इस प्रकार के जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक हितप्रद प्रतीत हो रही है। इसलिए वे त्रिजटा से अपनी मृत्यु वा आत्मदाह में सहयोगिनी होने की प्रार्थना कर रही हैं-

**आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई।।**
**सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवण सूल सम बानी।।**

**(रा० ५/१२-३,४)**

मनुष्य को विपत्ति से मुक्त होने का यही एक उपाय सूझता है। जीवन सभी को प्रिय है, किन्तु कभी-कभी जीवन में कुछ इतना अप्रिय तत्त्व आ जाता है कि परम प्रिय शरीर का त्याग, जीवन का अन्त कर देना ही प्रिय लगता है। कितनी विचित्र बात है। उस अवस्था में यदि कोई सुबोध उत्पन्न सुहृद सान्निध्य में

हो तो मनुष्य को सद् विचारों द्वारा सान्त्वना प्रदान कर धैर्य बँधा देता हैं। भविष्य में अप्रिय से मुक्त होने का आश्वासन दिलाकर जीवन के प्रति रुचि पैदा कर देता है जिससे कि मानव आत्महत्या जैसे जघन्य कुविचारों से विरत हो जाता है। यदि दुर्भाग्य से ऐसा सुहृदय न मिला तो मनुष्य अपना सर्वनाश कर लेता है। सीता की ऐसी विकट स्थिति मे विवेकशीला भक्तिमती त्रिजटा सहायक होती है इसीलिए महाभारत में व्यासदेव ने उसे- **धर्मज्ञाप्रिय वादिनी। (म० ३-२६४-४)** कहा है। धर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप है पीड़ित वा व्यथित व्यक्ति को अपने वचन और व्यवहार से समुचित शान्ति प्रदान करना। सीता की इस प्रकार की आत्मदाह की प्रार्थना को सुनकर वह-

**सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि।।**
**निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी।।**
**(रा० ५/१२-६,७)**

उनके चरणों को पकड़कर विविध प्रकार से सान्त्वना दी और प्रभु श्रीराम के प्रताप एवं पराक्रम का वर्णन किया क्योंकि सीता के जीवन को सुरक्षित रखने के लिए एक मात्र यही आधार है। जिस राम की वे प्रियतमा हैं उनके लिए एक नहीं सहस्रों रावण भी कुछ महत्व नहीं रखते, वे अवश्य ही रावण को उसके कुत्सित कर्मों का फल चखायेंगे। धैर्यवान ही विपत्ति पर विजय प्राप्त कर पाता है इस प्रकार राम की प्रभुता तथा उनके लिए सीता के जीवन की महत्ता समझाकर वह उनको धैर्य बँधाती है। वाल्मीकि रामायण में यद्धपि इस प्रकार त्रिजटा सीता का अलग से संवाद नहीं, किन्तु वहाँ पर भी राक्षसियों को अपना स्वप्न सुनाते हुए राम की महत्ता तथा सीताजी के लिए होने वाले शुभ शगुनों का विवेचन करती है. साथ ही राक्षसियों को सीता की शरण ग्रहण करने का उपदेश भी करती है। त्रिजटा की बातों को सुनकर सीता को सान्त्वना मिलती है और प्रसन्न होकर राक्षसियों को आश्वासन प्रदान करती है।

**ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता।**
**अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः।।**
**(वा० रा० ५/२७-५४)**

इस प्रकार पतिदेव के विजय संवाद से हर्षित हुई लजीली सीताजी उन सबसे बोली, यदि तुम्हारी बात सत्य हुई तो मैं अवश्य ही तुम सबकी रक्षा करुँगी। गोस्वामी जी ने त्रिजटा द्वारा सीता के सान्त्वना की योजना कर इसको और भी

महत्वपूर्ण बना दिया है। इससे उनका यह विचार स्पष्ट हो जाता है कि-

**उपजहि एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।।**

उन्हीं राक्षसियों में त्रिजटा भी जन्मी और पली है, किन्तु उसका स्वभाव सर्वथा उन सबसे विपरीत है। महाकवि की दृष्टि में आर्य नारी की तो बात ही क्या राक्षसी भी विवेक निपुण हो सकती है। कितनी उच्च भावना है नारी जीवन के प्रति! नारी ही एक पति वियुक्ता नारी की अन्तर पीड़ा को समझ पाती है। एक बात और भी ध्यान देने की है -कूर कर्मा राक्षसियाँ भी त्रिजटा की बात सुनकर सीता की चरण वन्दना करती हैं और क्षमा याचना करती हुई उनकी शरणागत होती हैं। इससे यह भी भाव व्यक्त होता है कि पुरुष की अपेक्षा नारी स्वभाव में परिवर्तन की सम्भावना अधिक है और उसे परिवर्तित करना भी सुगम है। रावण वध के बाद जब हनुमान जी सीता के पास जाते हैं और उनसे उन राक्षसियों को दण्ड़ देने की आज्ञा माँगते हैं तो देवी सीता कहती है कि इनको किसी प्रकार से भी दण्ड़ देना उचित नहीं है क्योंकि जब से इनको ज्ञात हुआ है तब से इनका सारा व्यवहार परिवर्तित हो गया है। इन्होंने मेरे साथ जो कुछ भी क्रूरता का व्यवहार किया है वह केवल अपने स्वामी की आज्ञा के अधीन होकर, उसमें इनका कोई अपराध नहीं। वालमीकि रामायण का यह प्रसंग पहले भी सीता चरित्र में वर्णन किया है। यहाँ पर हम त्रिजटा की विवेकशीलता पर विचार कर रहे हैं। गोस्वामी जी ने उसकी वाक्य कुशलता का संकेत एक अर्द्धाली की आधी पंक्ति में कर दिया है -"**निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी**" राम के प्रताप का वर्णन करके सीता को धैर्य बंधाती है, किन्तु यह नहीं कहती कि मैं आपको अग्नि नहीं देती व आपके प्रेम पन को सत्य करने में सहयोगिनी नहीं होती। उसका कहना है कि सुकुमारी रात्रि में आग उपलब्ध नहीं हो सकती अर्थात् रात भर ओर प्रतिक्षा करो। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब व्यक्ति जीवन से निराश हो जाता है तब वह आत्महत्या का विचार करता है। ऐसे विचार स्वल्प काल के लिए ही आते हैं और उनको क्रियात्मक रूप देने की वृत्ति मानव को सूनेपन में ही अधिकतर हुआ करती है। आवेश का काल बहुत स्वल्प ही हुआ करता है यदि वह समय गुजर जाये तो मानव बहुत कुछ अनर्थकारी क्रियाओं से बच जाता है। त्रिजटा का यह कथन कि रात्रि को आग नहीं मिलेगी सीता से उस आवेश की अवस्था को टालने का सुन्दर उपाय है। जिस समय व्यक्ति मानसिक सन्ताप से अत्यन्त पीड़ित होता है उस समय उससे कुछ कहा नहीं जाता वह काठ सा हो जाता है। यह अवस्था बहुत खतरनाक होती है,

ऐसी स्थिति में उसका हृदय जल जाता है और वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है किन्तु घोर सन्ताप की अवस्था में यदि अश्रुपात होता है और किसी के समक्ष व स्वयं में ही अन्तर की संवेदना बिलखते हुए बाहर निकलने लगती है तो अवस्था खतरनाक नहीं होती क्योंकि इससे हृदय का सन्ताप व दबाव घट जाता है। सीता की स्थिति इस समय खतरे से बाहर न थी अतः उनको और भी विलाप करके हृदय हल्का करने की दृष्टि से एकान्त मिलना आवश्यक था इसीलिए इतना कहकर कि सुकुमारी रात में आग नहीं मिलेगी अपने घर को प्रस्थान कर देती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से उसकी विवेक कुशलता को महाकवि ने इन दो अर्द्धालियों में व्यक्त कर दिया है।

मानस में हमें त्रिजटा पुनः राम रावण के युद्ध काल में सीता को सान्त्वना देती हुई दिखाई देती है। राम बार-बार रावण के सिर भुजाओं को काटते हैं, किन्तु वे पुनः नये हो जाते हैं। इस अद्‌भुत अवस्था को देख रावण के वध की सम्भावना धूमिल हो जाती है। यह समाचार जब सीता जी को मिलता है तो वे निराश होकर संत्रस्त हो जाती हैं और विविध प्रकार से अपने दुर्भाग्य को कोसती हुई विलाप करने लगती हैं। सीता की इस निराशा को दूर करने के लिए वह रावण के न मरने का एक अद्‌भुत कारण बताती है और अन्त में उपाय भी बताती है कि प्रभु राम इस प्रकार से उसे शीघ्र ही मार गिरायेंगे, आप व्याकुल न हों। उस प्रसंग का सारांश यह है कि रावण आपके ध्यान में रत है इसलिए राम उसके हृदय में बाण नहीं मार रहे हैं। बिना हृदय में बाण लगे रावण मरने का नहीं है। फिर राम हृदय में बाण कब मारेंगे इस सम्बन्ध में वह कहती है कि-

**काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।**
**तव रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान।।**

**(रा० ६/९९)**

त्रिजटा के इस प्रकार की विवेचना से सीता को ढाढस बंध जाता है। यहाँ पर भी उसकी बुद्धिमत्ता का कवि ने संकेत किया है। मानस में बस इन्हीं दो स्थानों पर त्रिजटा का उल्लेख है लेकिन गीतावली में उसको नित्यशः सीता की सम्भाल करने में रत बताया है। हनुमान सीता की सुधि लेकर जब राम के पास आते हैं तो सीता का समाचार तथा उनकी वहाँ की दुःखद स्थिति का बड़ी व्यथा के साथ वर्णन करते हैं और बताते हैं-

**दरसन-आस-लालसा मन महँ राखे प्रभु-ध्यान प्रान-रखवारे।**

तुलसिदास पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन-गन-सुमन सँवारे।।

(गीतावली ५।१८)

सीता के मन में आपके दर्शन की आस और लालसा है इसलिए आपके ध्यान को ही अपने प्राणों की रक्षा में रख छोड़ा है। तुलसीदास कहते हैं कि त्रिजटा आपके गुण-गण रूप पुष्पों को संवार कर, सजाकर, अच्छी प्रकार से उनको पूजती रहती है। इस एक वाक्य में ही महाकवि ने त्रिजटा को एक कुशल पुजारिनी के रूप में व्यक्त कर दिया है। इस से यह ज्ञात होता है कि वह विवेकशीला वृद्धा बड़ी ही कुशलता के साथ सीता की विपत्ति काल में सहायता करती रही है, जो सरल हृदया नारी का स्वाभाविक धर्म है। अतः महाभारतकार का उसके लिए 'धर्मज्ञा प्रिय वादिनी' प्रयोग उचित ही है। गोस्वामी जी की भी उसके प्रति ऐसी ही सम्मान पूर्ण दृष्टि है।

# मन्दोदरी

मानस में राक्षस परिवार की तीसरी महिला मन्दोदरी है जिसकी विवेकशीलता, नीति कुशलता तथा धर्म परायणता का विवेचन महाकवि ने बड़े आदर के साथ कई स्थानों पर किया है। मन्दोदरी मयदानव की पुत्री तथा राक्षसेन्द्र रावण की पट्टमहिषी है। उसकी गरिमा को और भी अधिक प्रकाशित करने वाला उसका विश्व विजेता पुत्र मेघनाद है जिसने देवराज इन्द्र को भी जीतकर बन्दी बना लिया था। संग्राम भूमि में लक्ष्मण के द्वारा उसके मारे जाने पर सहसा महावीर हनुमान तथा युवराज अंगद दोनों के हृदय से यह आवाज़ निकल आई थी 'वीर तेरी जननी धन्य है।' महाकवि के शब्दों में-

रामानुज कहँ रामु कहँ अस कहि छाँड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान।।

(रा० ६/७६)

महाप्रतापी रावण की पत्नी तथा इन्द्रजीत मेघनाद की माता एवं स्वर्णमयी लंका की साम्राज्ञी होते हुए भी मानस में सम्बन्धित प्रसंग में किसी भी अवसर पर हमें मन्दोदरी अहंकार युक्त नहीं दिखाई देती है। उसके चरित्र को महाकवि ने एक आदर्श आर्य नारी के रूप में उपस्थित क़िया है। सर्वप्रथम उसका परिचय हमें बालकाण्ड में रावण की तपस्या और वर प्राप्ति के बाद मिलता है-

मय तनुजा मन्दोदरि नामा। परम सुन्दरी नारि ललामा।।
सोइ मयँ दीन्हि रावनहि आनी। होइहि जातुधानपति जानी।।
हरषित भयउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई।।

(रा० १/१७८-२ से ४)

मयासुर दिति का पुत्र था। हेमा नाम की अप्सरा से उसका सम्बन्ध हुआ था, जिससे दो लड़के मायावी और दुन्दुभि तथा दोनों महाबलशाली वीर थे, किन्तु वे दोनों बारी-बारी से वानरराज बालि से मल युद्ध में मार डाले गये। मन्दोदरी उसकी परम सुन्दरी कन्या थी। पुलत्स्य कुल में उत्पन्न होने से रावण को सुयोग्य वर समझकर मयदानव ने उसको अपनी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या का दान कर दिया

था। प्राचीन इतिहास से हमें यह ज्ञात होता है कि दैत्य वा असुर भी भारतीय आर्य कुल की ही एक जाति थी। दानव, देव, मानव, नाग, गन्धर्व, किन्नर, वानर तथा गृद्ध, ये सभी एक ही आकार-प्रकार के होते थे। इन सभी में आपस में विवाह सम्बन्ध भी होता था। ये सारी जातियाँ धर्मज्ञ, विद्वान्, विवेकशील होती थीं। इनमें से कुछ सात्त्विक, कुछ राजस, कुछ तामस वृत्ति के होते थे। धर्म-मर्यादा सभी की लगभग एक सी थी।

हम प्राचीन इतिहास में देखते हैं दिति, अदिति, कद्रु और वनिता ये प्रजापति की पत्नियाँ हैं। इन्हीं की सन्तान क्रमशः दैत्य, देवता, नाग और गरुड़ हैं। गरुड़ वंश में ही आगे गृद्ध जाति की उत्पत्ति होती है। प्रजापति से वनिता के दो पुत्र होते हैं-गरुड़ और अरुण। गरुड़ भगवान् विष्णु का वाहक सारथी बनता है और अरुण सूर्य का। अरुण के पुत्र ही सम्पाती और जटायु थे। दोनों ने राम की सहायता की थी। जटायु के लिए आया है कि वह महाराज दशरथ का मित्र था। सीता की रक्षा में रावण से युद्ध करते हुए मारा गया था। नाग जाति के साथ भी हमें देवता, दैत्यों, मानवों का विवाह सम्बन्ध देखने को मिलता है। मेघनाद की पत्नी परम सती सुलोचना नागकन्या थी। महाभारत में भी हमें महर्षि जरत्कारु का विवाह नागकन्या के साथ होने का वर्णन मिलता है, जिसके पुत्र उत्तंक ऋषि थे, जिन्होंने जनमेजय से नाग वंश की रक्षा की थी। देवराज इन्द्र की पत्नी शची पुलोम दानव की कन्या थी। वानर जाति भी उस समय की सुसंस्कृत जाति थी। हनुमान सर्व शास्त्रज्ञ तथा विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता थे। वानर राज बालि एक धर्मात्मा राजा था। इन सब को देखते हुए यह मानना कि वानर पशु थे, गृद्ध पक्षी थे, नाग सर्प थे तथा दैत्य वा राक्षस भयंकर आकृति वाले थे, केवल यथार्थ से अनभिज्ञता ही कही जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन जातियों के सम्बन्ध में हमें प्राचीन ग्रन्थों में विशेषतया आलंकारिक प्रयोग से युक्त वर्णन मिलता है जिसको बाद में अनभिज्ञतावश विकृत कर दिया गया। इतनी बात हमें सर्वत्र पढ़ने को मिलती है कि ये सारी जातियाँ महा पराक्रमी थीं और इनके पास माया बल से विविध रूप धारण करने की क्षमता थी।

राक्षसराज रावण ऋषि विश्रवा का पुत्र है, ऐसा समझ करके ही मयासुर ने अपनी परम सुन्दरी नारियों में शिरोमणि कन्या मन्दोदरी का उसके साथ अग्नि की साक्षी में विवाह कर दिया। यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में इसी प्रकार से वर्णित है। सुन्दरता, सौम्यता, सरलता, सुशीलता, सच्चरित्रता तथा स्नेह की साकार

मूर्ति मन्दोदरी को पत्नी रूप में प्राप्त कर रावण अत्यन्त हर्षित हुआ। इन सारी बातों को महाकवि ने संक्षेप में-'हरषित भयऊ नारि भलि पाई' कहकर बता दिया है। रावण द्वारा सीता अपहरण के बाद हम कई बार मन्दोदरी को, पति को परम हितप्रद विवेक सम्मत सलाह देते हुए पाते हैं। मन्दोदरी का अर्थ होता है क्षीण उदर वा क्षीण कटि वाली नायिका। यह नारी के सौन्दर्य का सूचक शब्द है। मन्दोदरी सौन्दर्य नहीं सुबोध से भी सम्पन्न नारी है। सीता हरण के पश्चात् हम उसे अशोक वाटिका में रावण के साथ देखते हैं। जब सीता को प्रलोभन देकर अपने अनुकूल करने में रावण सफल नहीं हुआ तो वह उन्हें डराने धमकाने लगता है। सीता के द्वारा अपने लिए तिरस्कार युक्त शब्द सुनकर तलवार उठाकर मारने को भी उद्यत हो जाता है। उस समय मन्दोदरी रावण को पकड़ कर उसे नीति का उपदेश करती है।

**सुनत बचन पुनि मारन धावा। मय तनयाँ कहि नीति बुझावा।।**

**(रा० ५/१०-७)**

सीता को प्रलोभित करते हुए रावण मन्दोदरी को उनकी अनुचरी बना देने की प्रतिज्ञा करता है-

**मंदोदरी आदि सब रानी।।**

**X X X X**

**तव अनुचरीं करउँ पन मोरा।**

**(रा० ५/९-४,५)**

लंका की साम्राज्ञी को सीता की अनुचरी बना देने की बात कोई छोटी सी नहीं है किन्तु यह प्रलोभन सीता के समक्ष तिनके से भी तुच्छ था। हम देखते हैं कि सीता की सत्त्व निष्ठा को देख मन्दोदरी की उनके प्रति श्रद्धा और सद्भावना है। वह बार-बार रावण को यही सलाह देती है कि सीता को आदर के साथ राम के पास लौटा देना चाहिए, इसी में राक्षस कुल की भलाई है। गोस्वामी जी ने अपने इस महाकाव्य में मन्दोदरी का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसकी किंचित् झलक मात्र भी हमें वाल्मीकि रामायण में कहीं नहीं मिलती। धर्म पत्नी का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वह अपने पति को सदैव अधर्म मार्ग पर जाने से रोके और धर्म पथ पर चलने की प्रेरणा देती रहे। पत्नी द्वारा दी गई धर्मसंगत सलाह को शास्त्रों में शिक्षा की एक विधि के रूप में स्वीकार किया है। उसे कान्तासम्मत उपदेश कहा जाता है, जिसमें शिक्षा के साथ शिक्षक में गुरुत्व की नहीं मित्रता की भावना होती है, उसके उपदेश में आदेश की जगह सम्मति होती है। मंदोदरी लंका

की साम्राज्ञी है, वह केवल रावण के साथ मद्यपान कर विषय विहार में ही निमग्न नहीं रहती, उसे अपने गौरवपूर्ण अधिकार के अनुसार ही कर्त्तव्य का भी ज्ञान है। उसका गुप्तचर विभाग रावण के गुप्तचरों की अपेक्षा अधिक सजग है। हनुमान के लंका में प्रवेश के पूर्व वहाँ के नागरिक विपत्ति वा तद्जन्य भय से सर्वथा अपरिचित थे।

रावण एक प्रजाप्रिय कुशल शासक था। उसके साम्राज्य में योग्यातानुसार अधिकार की व्यवस्था थी। उसने विश्व का वैभव लूटकर अपना साम्राज्य समृद्धशाली बनाया था। उसकी प्रजा सर्वविध सम्पन्न तथा सुखी थी। गोस्वामी जी ने उसकी नीति का इस प्रकार संकेत किया है-

**जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे।।**

**(रा० १/१७९-७)**

कुबेर से लंका छीनकर वह अपनी सेना तथा प्रजागण के साथ वहाँ प्रवेश करता है तो योग्यतानुसार सभी को स्थान प्रदान कर प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट करता है। रावण के साम्राज्य की सीमा में उसकी प्रजा पूर्ण वैभवशाली तथा स्वतन्त्र रहते हुए देव-दुर्लभ भोग का आनन्द लेती थी। उसकी सारी क्रूरता अपनी प्रजा के लिए नहीं विश्व के अन्य राष्ट्रों तथा उनके नागरिकों के लिए थी। उसके उदाहरण में इस युग के ब्रिटिश जाति के शासकों को ले सकते हैं। उनकी भी सारी क्रूरता, निर्दयता, नृशंसता तथा अत्याचार केवल उन देशों तथा देशवासियों के प्रति ही रहा है जिन्हें वे लोग अपनी लूट में बाधक समझते रहे हैं। अपने राष्ट्र के नागरिकों को तो उन्होंने सर्वविध सम्पन्न तथा सुखी ही रखा है। इसे हम पूँजीवादी राष्ट्र प्रेम वा आसानी से रावणवाद नाम दे सकते हैं। केवल ब्रिटेन ही नहीं सारा यूरोप ही इस वाद का पुजारी रहा है। हम यही सिद्धान्त प्रारम्भ के मुस्लिम इस्लामवाद में भी देखते हैं। वर्तमान का अमरीका तो यूरोप की सन्तान है। यह रावणवाद स्वयं में एक सिद्धान्त है, जाने वा अनजाने जनसमाज का इस सिद्धान्त की ओर झुकाव बढ़ता जा रहा है। यह एक अमानवीय विचारधारा है, इसमें परसत्त्वापहरण कर स्वयं को समृद्ध तथा सुखी बनाने की भावना काम करती है। यह भावना व्यक्तिगत, परिवारगत तथा जातिगत रूप में जब विकसित होती है तो वह राष्ट्रव्यापी रूप धारण कर लेती है। व्यक्तिगत होने पर दूसरे व्यक्ति के लिए, परिवारगत होने पर दूसरे परिवार के लिए जिस प्रकार घातक सिद्ध होती है, उसी प्रकार जाति और राष्ट्र के साथ सम्बन्धित होने पर दूसरी जातियों तथा राष्ट्रों के

लिए भयंकर भय का कारण बनती है। रावणवाद में सह-अस्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं है। सह-अस्तित्ववाद मानवीय विचारधारा का उन्नत रूप है। मानवीय हृदय सदैव इस वाद की ही अभिलाषा रखता है, किन्तु इस प्रकार की अभिलाषा की पूर्ति के लिए सात्त्विक शक्ति की आवश्यकता होती है। सात्त्विक शक्ति वा बल वह है जो विवेक द्वारा संचालित हो। रावणवाद को समाप्त करने के लिए इस प्रकार की अध्यात्मवादी शक्ति का होना परमावश्यक है। पाँव में गड़े हुए काँटे को हम फूल से नहीं निकाल सकते, उसको निकालने के लिए दूसरे मजबूत काँटे की ही आवश्यकता होती है, किन्तु उस काँटे का प्रयोग सजगता के साथ करने पर ही प्रयोजन पूर्ण हो सकता है। प्रयोक्ता को सदैव इस विषय में सावधान रहना होता है कि वह काँटा एक काँटे को निकालने में प्रयोग करते समय कहीं उसमें टूटकर नई चुभन पैदा न कर दे, ठीक उसी प्रकार की सजगता साम्राज्यवाद वा रावणवाद उन्मूलन से संगठित हुई शक्ति के संचालकों में भी वांछनीय है। स्व के सुख के लिए शक्ति का असंयमित प्रयोग ही रावणवाद का दूषण है। इस प्रकार के दूषण से मानव समाज को मुक्त करने के लिए शक्ति का सर्व सुख में संयमित प्रयोग ही उत्तम प्रक्रिया है। रामराज्य वा अध्यात्मवाद इस विशुद्ध जीवन प्रणाली का ही नाम है। ऋषि प्रज्ञा प्रसूत इस शाश्वत धर्म के सिद्धान्त की विधि की प्रतिष्ठा ही रामायणीय कथा का प्रयोजन है। रावण परिवार में भी कुछ ऐसे सदस्य हैं जो इस शाश्वत धर्म की विधा को आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसी में मानवीय कल्याण के बीज को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले लोगों के नेता रावण के छोटे भाई विभीषण हैं। रामायण के अनुशीलन में हमें इस तथ्य का भास होता है कि लंका में हनुमान के प्रवेश तथा उनके द्वारा रावण के प्रिय पुत्र अक्षय कुमार के ही साथ अन्य कई महाबलि वीरों का विनाश और बाद में लंका की प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला में दाह, वहाँ के नागरिकों को भी जीवन के इस दुःखद भाग के सत्य से सुपरिचित करा दिया है कि महान् से महान् क्रूर वृत्ति वाले लोग भी स्वयं पर भय उपस्थित हो जाने पर सह-अस्तित्त्व के सिद्धान्त को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेते हैं।

मानव स्वभाव से ही क्रूर नहीं होता। अधिकार वा प्रभुताजन्य मदान्धता ही उसे विमोहित कर उच्छृंखलता तथा क्रूरता की वृत्ति में पहुँचा देती है। सामान्य स्तर पर भय मानव को उसकी सही प्रकृति में ला देता है, किन्तु उसकी भी एक सीमा है, उस सीमा से परे जाने पर किसी भी अवस्था में मानव राक्षसी प्रकृति से

मुक्त नहीं हो पाता। रावण, दुर्योधन आदि के जीवन को हम इसके प्रमाण रूप में देख सकते हैं। लंका दहन के बाद अधिकांश राक्षस विभीषण के सिद्धान्त के समर्थक दिखाई देते हैं। मन्दोदरी की नैतिक मनः स्थिति का पता लगाने में उसकी गुप्तचरियाँ पूर्ण रूप से सक्रिय हैं और वे बिल्कुल उचित सूचना उस तक पहुँचाती रहती हैं।

रावण के प्रभुत्व का आतंक उसकी प्रजा के मस्तिष्क पर भी पूर्ण रूप से प्रभावित है इसलिए कोई भी उससे यथार्थ बात कहने का साहस नहीं रखता जो कि उसकी रुचि के विपरीत हो, किन्तु साम्राज्ञी मन्दोदरी के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई बात नहीं है इसलिए उसके गुप्तचर उसे सारी बात स्पष्ट रूप से बता देते हैं। महाकवि के शब्दों में उसका वर्णन पढ़िये-

**दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मन्दोदरी अधिक अकुलानी।।**
**रहसि जोरि कर पति पग लागी। बोली बचन नीति रस पागी।।**
**कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हियँ धरहू।।**
**समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी।।**
**तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंज जो चहहु भलाई।।**

**(रा० ५/३६-४ से ८)**

मन्दोदरी की गुप्तचरियों ने आकर उसे प्रजाजन की मानसिक स्थिति का परिचय दिया, जिनको सुनते ही वह आकुल हो उठी। युद्ध जीतने के लिए केवल बाहुबल वा अस्त्र-शस्त्र बल ही पर्याप्त नहीं होते उसमें विशेष बल नैतिकता का ही होता है। अब तक जितनी भी लड़ाईयाँ रावण ने लड़ी थीं उनके पीछे स्वयं के साम्राज्य के विस्तार की ही महत्त्वाकाँक्षा कारण थी जो स्वभावतः राजधर्म का एक अंग है। इस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में उसके सैनिक योद्धा बड़े उत्साह और गौरव के साथ युद्धरत होते रहे हैं, किन्तु इस समय जो युद्ध उपस्थित होने जा रहा है उसके पीछे कोई उच्च महत्त्वाकाँक्षा नहीं है, उसमें केवल रावण की विषय लिप्सा ही कारण है। केवल रावण की इस लिप्सा को पूर्ण करने की चाह में प्रबल शत्रु से युद्ध का खतरा मोल लेने में लंका के नागरिक कोई गौरव का अनुभव नहीं कर रहे हैं। रावण के अन्तःपुर में अब तक ऐसी सहस्रों नारियाँ आ चुकी हैं जिनके सौन्दर्य पर मोहित रोकर वह केवल एक बार आलिंगन की कामना से उन्हें ले आया है। उनमें से अधिकांश सभी रोती बिलखती हुई अपने बन्धु बाँधवों से विलग की गई थी किन्तु रावण की प्रभुता और भय के कारण स्वयं को उसकी वासना

के आगे समर्पित करती रही हैं। उनके अभिभावकों में इतनी क्षमता भी नहीं थी कि वे अपने इस अपमान का बदला चुका सकते। रावण की इस प्रकार की वृत्ति का वर्णन आदिकवि ने रामायण में कई स्थानों पर किया है। सुन्दरकाण्ड में सीता को समझाते हुए निशाचरियों ने भी इसका संकेत किया है। लंका के नागरिकों की दृष्टि में रावण के द्वारा परस्त्री हरण की यह कोई नवीन घटना नहीं थी, किन्तु सीता की सत्त्व निष्ठा को देखकर सभी आश्चर्यचकित रह गए और बहुतों की यह राय बन गई कि राक्षसराज की यह वृत्ति अधर्म संगत है। विभीषण प्रारम्भ से ही उसकी इस वृत्ति के विरोधी रहे हैं। आदिकवि ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। जब से हनुमान ने रावण सहित सारे महाबलि राक्षसों को देखते हुए लंका को फूंककर खाक कर दिया है तब से सभी विशेष रूप से आतंकित हो गये हैं और अपने-अपने घरों में बैठकर यही विचार करते हैं कि **"नहिं निसिचर कुल केर उबारा"** अब निशाचर वंश का विनाश अवश्यम्भावी है। जिसके दूत की यह सामर्थ्य है तो उसका स्वामी कितना सामर्थ्यवान होगा?

**जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आएँ पुर कवन भलाई।।**

**(रा० ५/३६-३)**

महा से महाबलि सेना में यदि भय का आतंक छा जाये तो वह कभी भी शत्रु के सामने स्थिर नहीं रह सकती, किन्तु रावण का आतंक इतना बड़ा है कि उसके सामने सभी यही कहते हैं-

**कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।।**

**(रा० ६/८-९)**

प्रजाजन की इस मनः स्थिति को सुनकर साम्राज्ञी आकुल हो गई और सही स्थिति से राक्षसेन्द्र को अवगत कराते हुए प्रार्थना करती है कि जिसके दूत की करनी को स्मरण करते ही राक्षस पत्नियों के गर्भ स्राव हो जाते हैं उस राम की प्रियतमा को आप अपने सचिव के साथ आदर सहित लौटा दें। यह बात वह एकान्त में बड़ी विनम्रता से निवेदन करती है। हाथ जोड़, चरण पकड़ कर नीति सम्मत वचन कहती है, क्योंकि वह रावण के अहंकारी स्वभाव से परिचित है। उसका कहनां है कि राम से वैर करना उचित नहीं है, मेरी बात को अति हितकर जानकर हृदय में धारण करें। इस प्रकार के निवेदन में उसकी नीति पटुता स्पष्टतः झलक रही है। आगे वह कहती है-

**तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई।।**

**सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार सम्भु अज कीन्हें।।**

**(रा० ५/३६-९,१०)**

आपके कुलरूपी कमल को नष्ट करने के लिए यह सीता हेमन्त ऋतु की रात्रि के समान है। इस समय रावण कुल सचमुच विकसित, कमलवत् प्रसन्न, विजय यश सुगन्ध तथा वैभव पराग से युक्त है, सीता हिम रात्रि के समान ही उसकी इस सारी शोभा सम्पन्नता को विनष्ट करने में कारण बनेगी। उसका यह भी निश्चित् मत है कि सीता को लौटा देने के सिवाय और इसकी सुरक्षा का कोई उपाय नहीं है। विधि वा शम्भु धर्ममय मार्ग में सहायक होते हैं, किन्तु इस अधर्म कार्य में वे सहायक नहीं हो सकते, यदि हो भी जाएँ तो भी विनाश से नहीं बचा जा सकता।

**राम बान अहि गन सरिस निकर निसाचर भेक।**
**जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक।।**

**(रा० ५/३६)**

राम का बाण सर्पों के समूह के समान है और यह निशाचर सारे मेंढ़क के समान हैं अतः जब तक राम के बाण रूपी सर्प इन निशाचर मेंढ़कों को ग्रस नहीं लेते, उससे पहले हीं हठ छोड़ कर इनकी सुरक्षा का कोई उपाय कर लेना चाहिए। मन्दोदरी की सीख वस्तुतः हितप्रद थी, किन्तु सहज अभिमानी रावण के दिल-दिमाग पर कोई असर नहीं हो सका और वह उत्तर में कहता है-

**सभय सुभाउ नारि कर साचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा।।**
**जौं आवइ मर्कट कटकाई। जिअहिं बिचारे निसिचर खाई।।**
**कंपहि लोकप जाकीं त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा।।**

**(रा० ५/३७-२ से ४)**

कितना बड़ा गर्व है उसे ! इसीलिए महाकवि ने लिखा है-'**बिहसा जगत बिदित अभिमानी**'। वह कहता है कि सत्य ही नारी का स्वभाव भययुक्त हुआ करता है जो मंगल के अवसर पर भी उसके मन में आशंका ही बनी रहती है। यदि वानरों की सेना लंका में आ जाए तो बिचारे निशाचर बिना प्रयास ही अपनी क्षुधा शान्त करने के साधन प्राप्त कर लेंगे अर्थात् उन्हें खाकर जीते रहेंगे। यह कितनी हँसी की बात है कि जिसके त्रास से लोकपाल काँपते हैं उसकी स्त्री इतनी भयभीत हो। इस प्रकार कहते हुए उसे आलिंगन करके अत्यन्त ममत्व दिखाकर सभा को प्रस्थान कर दिया। मन्दोदरी की हृदय दशा का वर्णन करते हुए कवि

लिख रहा है-

**मन्दोदरी हृदयँ कर चिन्ता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता।।**

यह विधाता की विमुखता का ही परिणाम है कि हित की बात भी नहीं सुहा रही है। यह मन्दोदरी का रावण को समझाने का दूसरी बार का प्रयत्न था। पहले वह अशोक वाटिका में भी उसे समझा आई है।

इसी बीच में एक और दुःखद घटना घट गई। सभा के मध्य में विभीषण के हितोपदेश के बदले में उसे लात मारकर निकाल दिया गया। इससे सभा का वह पक्ष जो सीता को लौटा देने में ही अपना हित मानता था बिल्कुल कमज़ोर पड़ गया। रावण के नाना तथा वृद्धतम वरिष्ठ मन्त्री माल्यवान को भी विभीषण के समर्थन में अपमानित होकर सभा से निकल जाना पड़ा। विभीषण ने अपने चार मन्त्रियों के साथ जाकर राम की शरण स्वीकार कर ली और राम ने उसे भावी लंकेश के पद पर अभिसिक्त कर दिया। नल-नील के नेतृत्व में सागर पर सेतु बाँधकर राम ने सुबेल श्रृंग पर जाकर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया। मंदोदरी इन सारी घटनाओं से त्रस्त होकर पुनः रावण को एकान्त में लाकर समझाने का प्रयत्न करती है-

**मन्दोदरी सुन्यो प्रभु आयो। कौतुकहीं पाथोधि बँधायो।।**
**कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी।।**
**चरन नाइ सिरु अंचलु रोपा। सुनंहु बचन पिय परिहरि कोपा।।**
**नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।।**

**(रा० ६/६-२ से ५)**

समुद्र पर सेतु बाँध देना कोई सामान्य घटना नहीं थी। इसको सुनकर महाभिमानी रावण भी एक बार व्याकुल हो गया था। बाद में उसने अपनी व्याकुलता को सम्भाल लिया। मन्दोदरी ने रावण की इस मानसिक अवस्था को अनुभव किया था अतः सभा विसर्जित होते ही उसका हाथ पकड़कर वह अपने महल में ले आती है और परम मनोहर वाणी में उससे प्रार्थना करती है। यहाँ पर मन्दोदरी को हम सजग नीतिज्ञ के साथ ही मनोविज्ञान में भी कुशल नारी के रूप में पाते हैं। वह जानती है कि भय युक्त अवस्था में व्यक्ति का अहं कुछ ढीला पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में उसको यदि कोई हित की बात समझाई जाए तो वह हृदय में स्थान पा जाती है। रावण स्वभाव से ही अभिमानी है इसलिए उसे समझाते समय वह कोमल वाणी का प्रयोग करती है। यहाँ पर उसमें समझाने की वृत्ति के

स्थान पर प्रार्थना की भावना का ही दर्शन होता है। वह रावण के चरणों में सिर झुकाकर अपना आँचल पसारती है और क्षमा माँगते हुए कहती है कि प्रियतम क्रोध का त्यागकर मेरी प्रार्थना को सुनें। नीतिशास्त्र का कथन है कि शत्रुता वा युद्ध उससे करना चाहिए जो अपने से बुद्धि और बल में न्यून हो और जिसको जीत लेने का पूर्ण विश्वास हो। यथा-

**बलिना सह संधु स्याद् निर्बलेन च विग्रहः।**
**तेनैव सह वैरत्वम बुद्धया जेतव्य एव यः।।**

**(शुक्रनीति)**

बलवान के साथ संधि और निर्बल के साथ विग्रह होता है। वैर उसी से करे जो बुद्धि से जीता जाने के योग्य हो। वाल्मीकि रामायण में यही बात रावण से उसके श्रेष्ठ मंत्री माल्यवान ने भी कही-

**हीयमाननेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च।**
**न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम्।।**

**(वा० रा० ६/३५-९)**

यदि राजा की शक्ति न्यून हो या उसका शत्रु समान बलवान हो तो उसे संधि कर लेनी चाहिए और यदि उससे स्वयं को बलवान समझे तब युद्ध करना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने भी अपने नीतिसूत्र (५२) में लिखा है-'**हीयमानः सन्धिं कुर्वीत**'-निर्बल बलवान के साथ सन्धि कर ले।

**बलवान हीनेन वृगृहणीयात्। न ज्यायसा समेनया।**

**(चा० सू० ५५,५६)**

'बलवान राजा अपने से निर्बल से ही युद्ध करें अधिक व समान से नहीं।" यही बात मन्दोदरी कह रही है। हे स्वामी! शत्रुता उसी से करनी चाहिए जिसको बल और बुद्धि से जीता जा सके, किन्तु राम से युद्ध करना उचित नहीं है

**तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।।**

**(रा० ६/६-६)**

आप में और राम में निश्चय उतना ही अन्तर है जितना जुगनू और सूर्य में। यही बात सीता जी ने भी रावण से कही थी जिसको सुनकर वह कुपित हो गया था। वह कहती है कि जिस प्रकार करोड़ों जुगनु मिलकर भी सूर्य की समता नहीं कर सकते उसी प्रकार से तुम और तुम्हारे जैसे अनेक वीर राम की बराबरी नहीं कर सकते।

**जिमिकोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।**

मन्दोदरी अवतारवाद में विश्वास करती है उसने इस रहस्य को सुना और समझा है। हनुमान और विभीषण तथा पुलस्त्य ऋषि के शिष्य के द्वारा भेजा हुआ संदेश भी वह सुन चुकी है कि-

**तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।।**
**गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनुधारी।।**

**(रा० ५/३९-१,३)**

पूर्व में रावण ने भी उन लोगों की बातें सुनी हैं किन्तु अभिमान बस उन्हें स्वीकार नहीं किया है। मन्दोदरी अपने विनय और प्रेम से उसे समझाने की कोशिश कर रही है। उसे आशा है कि शायद अब समझ जायें क्योंकि समुद्र पर सेतु तथा सुवेल पर निवास दोनों सामान्य कार्य नहीं हैं जो राम ने किया है। अब वह अवतार की कथा संकेत कर रही है-

**अतिबल मधु कैटभ जेहिं मारे। महाबीर दितिसुत संघारे।।**
**जेहिं बलि बाँधि सहस भुज मारा। सोइ अवतरेउ हरनि महिभारा।।**
**तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाकें हाथा।।**

**(रा० ६/६-७ से ९)**

**रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।**
**सुत कहँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ।।**

**(रा० ६/६)**

मधु-कैटभ की कथा कई पुराणों में वर्णित है। प्रसिद्ध ग्रन्थ दुर्गा सप्तशती में ब्रह्मा महामाया से प्रभु के जगाने की प्रार्थना करते हैं क्योंकि मधु कैटभ से भयभीत हैं। ये दोनों दैत्य सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न हो गये थे। भगवान् ने इनका अपने जाँघ पर चक्र से वध किया था। अध्यात्म पक्ष में मधु काम तथा कैटभ क्रोध है, जो जीवन की सजगता के प्रारम्भ में ही जीव के समक्ष प्रबल रूप में आकर खड़े हो जाते हैं। जीव सद्बुद्धि का सहारा लेकर आत्म तत्त्व को जागृत करता है जिससे उन असुरों का नाश होता है और वह निर्भय हो अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। दुर्गा सप्तशती की कथा का यही सार है। वहाँ ब्रह्मा जीव है, मधु कैटभ काम और क्रोध हैं, सद्बुद्धि महामाया है और नारायण आत्मा। दूसरा उदाहरण वह हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकश्यप का देती है। ये दोनों दैत्य भी महान् बलवान् हुए हैं। रावण जब बलि के साथ युद्ध करने के लिए गया तो बलि ने

अपने पूर्वज हिरण्यकश्यप का कवच और कुण्डल उसे दिखाया और उठाने को कहा, किन्तु रावण उठाने में असमर्थ रहा। मन्दोदरी कह रही है कि वे दिति पुत्र जिसके तुम कुण्डल नहीं उठा सके थे, उसे भी क्षण मात्र में नरसिंह रूप धारण कर मार डाले, वामन रूप धारण कर बलि को पाताल भेज दिया, परसुराम रूप में उन्होंने सहस्रार्जुन का संहार किया, अब वही प्रभु पृथ्वी का भार उतारने के लिए पुनः अवतरित हुए हैं। हे नाथ! प्रभु राम से आपको विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि काल, कर्म और समस्त जीव उन्हीं के अधीन हैं। अभिप्राय यह कि आप भी उन्हीं जीवों में हैं। आपकी भी गति अगति प्रभु के हाथ में ही है-

**ईस अधीन जीव गति जानी।**

**काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे।।**

**(वि.पत्रिका)**

विरोध के त्याग का उपाय बता रही है। राम के चरण कमलों में सिर झुकाकर जानकी जी को उन्हें सौंप दीजिए और पुत्र को राज समर्पित करके वनवासी जीवन स्वीकार कर प्रभु का भजन कीजिए। पहली बार उसने मन्त्री के साथ जानकी को पहुँचाने के लिए कहा था, किन्तु अब तो राम बहुत समीप आ गये हैं, इसलिए स्वयं ले जाकर सौंपने को कहती हैं। राज्य राजा के पास प्रजा की धरोहर होती है, वह उसका स्वामी नहीं रक्षक होता है। वंश परम्परा से उस धरोहर को चौथेपन में अपनी योग्य सन्तान को सुपुर्द कर देना चाहिए। यदि कोई योग्य सन्तान न हो तो मन्त्री वर्ग वा सेना से किसी योग्य, धर्मज्ञ, नीतिवान को चुनकर राज्य भार सौंप देना चाहिए। चौथेपन में यदि उचित समझे तो राजा अपने आत्म कल्याण के लिए राज्य योग्य उत्तराधिकारी को सौंपकर वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर लेवे। इसी आर्य नीति का उपदेश वह रावण को दे रही है क्योंकि रावण भी उत्तम आर्य कुल में पैदा हुआ है, उसे भी ऋषि प्रशस्त मार्ग का अवलम्बन लेना उचित है। श्रेष्ठ जन सदैव अपने अपराधी को क्षमा प्रदान करते हैं फिर राम तो स्वभाव से ही कृपासिन्धु, दीनों पर दया करने वाले हैं। आप उनके अपराधी हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

**नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गएँ न खाई।।**

**(रा० ६/७-१)**

बाघ के सम्मुख यदि कोई जाकर पड़ जाए तो वह भी नहीं खाता, रघुराई तो दीनदयाल हैं। अतः सीता को सौंपने के लिए जब आप जाएँगे तो वह आप को

दया का पात्र ही समझेंगे। नीति और धर्म की बात कर अब आगे जीवन के प्रयोजन की बात करती है। जीने का एक प्रयोजन होता है, उस प्रयोजन की पूर्ति में धर्म, अर्थ और काम, ये त्रिवर्ग अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। धर्म से कीर्ति, अर्थ से सुविधा, काम से सुख की प्राप्त होती है और यह प्रत्येक मानव की आन्तरिक माँग है, इसकी पूर्ति किये बिना जीवन सार्थक नहीं कहा जा सकता। इनमें सुविधा और सुख की अपेक्षा सुयश का स्थान ऊँचा है। यश की अभिलाषा से ही मनुष्य लोक हितैषी कार्यों का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त होता है और इसकी पूर्ति में वह अपने सुविधा एवं सुख को भी समर्पित कर देता है वा त्याग देता है। श्रेष्ठ पुरुष के यश का नाश मृत्यु से भी बद्तर माना गया है-

**संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।।**

**(रा० २/९५-७)**

यह चौपाई गीता के एक श्लोक का अनुवाद मात्र है जिसमें बताया गया है-

**संभावितस्य चाकीर्तिर्मणादतिरिच्यते।।**

**(गीता २-३४)**

किन्तु जीवन की सफलता इतने में ही नहीं है। इन तीन प्रकार के पुरुषार्थों से परे और इनसे भी श्रेष्ठतम् परम पुरुषार्थ मोक्ष है जिसमें धर्म-अधर्म, कीर्ति-अपकीर्ति आदि सभी लौकिक अवस्थाओं से ऊँचे उठना होता है। सुविधा, सुख और सुयश ये तीनों ही लौकिक हैं किन्तु मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ अलौकिक है, उसी में जीवन की पूर्ण सार्थकता सिद्ध होती है। अर्थ और काम से पूर्व धर्म को इसलिए स्थान दिया गया है कि कोई सुविधा, सुख और सुयश का नाश करने वाला न हो अर्थात् सुयश के साथ ही सुविधा और सुख का उपभोग करना मनुष्य के लिए उचित है। धर्म ही सुयश का साधन है' **पावन जस की पुन्य बिनु होई'**। मन्दोदरी इस परम सत्य को समझाते हुए रावण से कहती है-

**चाहिअ करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।।**
**संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेंपन जाइहि नृप कानन।।**
**तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्ता। जो कर्ता पालक संहर्ता।।**
**सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी।।**

**(रा० ६/७-२ से ५)**

जो आपके लिए करणीय था वह तो सब कुछ कर चुके हो, अपने पुरुषार्थ से आपने विश्व को विजय किया है, विश्व में आपकी विश्व विजेता के रूप

में ख्याति है। देवता, दैत्य तथा मनुष्यों में भी कोई आपकी समता नहीं कर सकता। विश्व के सारे वैभव को समेट कर आपने अपने साम्राज्य तथा सुख की वृद्धि की है। ऐसी कोई सुख-सुविधा की रचना इस सृष्ट जगत् में नहीं है जो कि उपलब्ध न हो अर्थात् आपने धर्म, अर्थ और काम तीनों का समुचित रूप से सेवन कर लिया है। यह सारा भाव उस अर्धाली-'चाहिअ करन जो सब करि बीते' में निहित है। अब समय आ गया है जब परम पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सन्तजन ऐसी नीति का उपदेश देते हैं कि राजा को चौथे पन में राज्य का त्याग कर विरक्त जीवन स्वीकार कर लेना चाहिए। आप भी एक श्रेष्ठ ऋषि कुल में उत्पन्न हुए हो, अतः सन्त नीति का अनुगमन करना ही उचित है। हे स्वामी! कानन में चलकर उस जगत् के उत्पत्ति, पालन और प्रलय के आधार रूप परमात्मा का भजन कीजिए। हे नाथ! ममता और मद का त्याग कर प्रणत अनुरागी उसी रघुबीर अर्थात् प्राणीमात्र के बन्धु परम सुहृदय प्रभु का भजन कीजिए। अब यही करने का अवसर है। भजनीय केवल वही परमात्मा है। उसकी भक्ति से ही परमार्थ की सिद्धि होती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ये तो उसकी आज्ञा से सृष्टि, पालन तथा प्रलय रूप एक-एक कार्य करते हैं। इनकी उपासना धर्म, अर्थ, काम की पूर्ति में विशेष सहायक होती है। परम पद की प्राप्ति में भी इनकी उपासना होती है, किन्तु वह क्रम मुक्ति की ही साधिका है, सद्योमुक्ति की नहीं। इसी जीवन में परम पद प्राप्ति को सद्योमुक्ति कहते हैं और भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासने से तत्-तत् लोक की प्राप्ति और महाप्रलय के समय तत्-तत् देवताओं के साथ ही ब्रह्मलीन होने की स्थिति ही क्रम मुक्ति कही जाती है। मन्दोदरी रावण को सद्योमुक्ति के मार्ग की सीख दे रही है। श्री राम ही परम ब्रह्म हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भी कारण हैं-

उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना।।

(रा० १/१४४-६)

सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया।।
जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन।।

(रा० ६/७-७,८)

अस कहि नयन नीर भरि गरि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात।।

(रा० ६/७)

मुनिगण जिसके लिए विविध प्रकार के यत्न किया करते हैं जिति पवन

मनगो निरस करि मुनि ध्यान कबहूँक पावहिं। प्राण और मन को जीतकर इन्द्रियों को विषयों से विरत करके मुनिगण जिसका ध्यान करते हैं, स्वायम्भू मनु सम्राट जिसकी प्राप्ति के लिए अपना साम्राज्य त्याग कर विरक्त हुए थे और अब भी अनेकों नृपति ऐसा ही करते हैं, वही कोशलाधीश रघुकुल के स्वामी आप पर अनुग्रह करने के लिए स्वयं चलकर यहाँ आये हुए हैं। हे प्रियतम! यदि आप मेरी सीख मान लें तो त्रिलोकी में आपकी पावन कीर्ति हो जाए क्योंकि लोग यही कहेंगे कि रावण धन्य है जिसके यहाँ स्वयं त्रिलोकीनाथ चल कर गए। इससे यह भी हो जाएगा कि आप सीता जी को किसी बुरी भावना से नहीं केवल इस बहाने राम को यहाँ तक लाने के लिए अपहरण किये थे। कौशलाधीश कहने का एक यह भी अभिप्राय है कि यदि उनसे मैत्री करने में अपना अपमान समझते हो तो उचित नहीं। नीति शास्त्र का कथन है कि समान स्थिति वाले से ही मैत्री होती है।

**प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।**

राम ब्रह्म के अवतार होते हुए भी लौकिक दृष्टि से कौशलाधीश और रघुकुल के स्वामी हैं, उनसे मित्रता करनी आपके गौरव के प्रतिकूल भी नहीं है। सीख बड़ी ही उत्तम तथा समयोचित है, किन्तु राक्षसराज के दिल-दिमाग को स्पर्श नहीं कर सकी। यह कहती हुई कि हे नाथ! आप रघुनाथ की शरण ग्रहण करें जिससे मेरा अहिवात अचल हो जाए, मन्दोदरी ने अश्रुपूर्ण कम्पित शरीर से रावण के चरण पकड़ लिये। अश्रु नारी का परम अस्त्र है। पुरुष के हृदय को जीतने के लिए इससे बड़ा और उसके पास कोई साधन नहीं है। वह काँपते हुए शरीर से अश्रु विमोचन करती हुई रावण के चरण पकड़ लेती है और अपने सौभाग्य की भिक्षा माँगती है। नारी के लिए उसका सौभाग्य ही सर्वस्व है, उसके बिना उसका जीवन उसी प्रकार से प्रयोजन हीन हो जाता है जैसे जल के बिना नदी, प्राण के बिना शरीर। नारी का गौरव तथा समस्त सुख पति के साथ ही होता है, उसके बिना जगत् में सब कुछ सार हीन हो जाता है।

मन्दोदरी यह सब कुछ समझती है अतः वह बार-बार अपने सौभाग्य को सुरक्षित रखने के लिए प्रार्थना करती है, किन्तु महाभिमानी राक्षस के सामने उसकी यह सारी शिक्षा ऊसर में बोये गये बीज के समान रही। वह उसको समझाते हुए अपनी महिमा का ही बखान करने लगा-

**सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना।।**
**बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला।।**

देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें।।

(रा० ६/८-२ से ५)

रावण की गर्व भरी वाणी सुनकर मन्दोदरी चिंतित हो गई-

मन्दोदरी हृदयँ अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना।।

(रा० ६/८-६)

उसने हृदय में ऐसा अनुभव कर लिया कि काल के वशीभूत होने से ही पति में अभिमान जागृत हुआ है। अभिमानी व्यक्ति कभी भी हित की सीख ग्रहण नहीं कर पाता। जिस विनम्रता से उसने नीति धर्म की सीख दी थी वह सामान्य व्यक्ति के हृदय को स्पर्श कर जाने वाली थी, किन्तु रावण की स्थिति अब ठीक उस रोगी के समान है जो काल के फन्दे में पहुँच कर श्वास ले रहा हो। उसके लिए सारी औषधि अब व्यर्थ तथा प्रयोजन हीन हो चुकी है। रावण की इस अवस्था का अनुभव कर उसका हृदय कराह उठता है, किन्तु अबला के पास आँसू पूर्ण प्रार्थना के साथ हितप्रद सीख के सिवा और बल ही दूसरा क्या है? मन्दोदरी की सलाह को उपेक्षित कर रावण सभा भवन में पहुँचता है। मन्त्रियों से जब हितकारी मन्त्रणा की बात करता है तो सभी का एक ही उत्तर होता है-

कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।।

(रा० ६/८-९)

आज की सभा में उसे प्रहस्त से भी कुछ कटु वचन सुनने पड़े। प्रहस्त रावण का पुत्र है, उसके तर्क बहुत ही सबल थे। उसका यह कहना कि समुद्र पार करके एक वानर आया, अक्षय कुमार के साथ ही उसने अनेकों वीरों का वध किया और सभी के देखते लंका फूँक कर खाक कर दी, फिर उस समय तुम लोगों को क्या उस वानर के खाने की भूख नहीं थी?

छुधा न रही तुम्हहि तब काहू। जारत नगरु कस न धरि खाहू।।

(रा० ६/९-३)

इसका उत्तर किसी के पास नहीं था सभी मौन हो गये। रावण ने उसकी बात को भी स्वीकार नहीं किया। प्रहस्त की सलाह थी कि हमें राम की पत्नी उनके पास आदर से लौटा देनी चाहिए-

सीता देइ करहु पुनि प्रीति।।

नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि।

नाहिं त सन्मुख समर महि तात करिअ हठि मारिअ।

रावण ने इस हितप्रद सम्मति के उत्तर में उसको वेणु वंश में उसका नाश करने वाला घमोई बताकर तिरस्कृत कर दिया और प्रहस्त सभा का त्याग कर चला गया। उसी संध्याकाल में रावण जब अपनी रंगशाला में नृत्य संगीत का आनन्द ले रहा था, उधर सुवेल श्रृंगेर पर बैठे हुए राम ने विभीषण से पूछ लिया कि यह सब क्या है? विभीषण के बताने पर श्री राम ने रावण के-

**छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकहीं बान।**
**सब कें देखत महि परे मरमु न कोऊ जान।।**

**(रा० ६/१३ क)**

यह घटना इतने विचित्र ढंग से घटी कि इसका मर्म किसी ने भी नहीं समझा। यह एक महान् अपशगुन था। रावण भी हृदय से भयभीत हो गया, किन्तु अपनी प्रकृति अनुसार अहंता को व्यक्त करते हुए वह सभी को सान्त्वना देकर विदा कर दिया और आप भी राजमहल को चला गया। नारी के कान का आभूषण सुहाग का चिन्ह होता है, अचानक उसका गिरना यह सुहाग नष्ट होने का सूचक है। अतः-

**मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवन पूर महि खसेऊ।।**
**सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी।।**
**कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू।।**

**(रा० ६/१४-६ से ८)**

सोच तो उसको पहले भी था, किन्तु अब वह हृदय में बस गया है। इतना बड़ा अपशगुन उसका कारण बन गया। वह जानती है कि अन्दर से राक्षसेन्द्र भी भयभीत है शायद अब वह उचित सीख को हृदयंगम कर लेवे, इसलिए पुनः अपने प्रयत्न में प्रवृत्त हो गई। नीतिशास्त्र का कथन है कि यद्यपि बिना पूछे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, किन्तु जिसका हम हित चाहते हों, उसको बिना पूछे भी हितप्रद बात कहनी चाहिए-

**अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात यस्य नेच्छेत् पराभवम्।**

जिसके पराभव अर्थात् अवनति की इच्छा न हो उसके बिना पूछे भी हित की बात कह देनी चाहिए। मन्दोदरी रावण का पराभव नहीं चाहती, उसकी वह धर्मपत्नी है इसीलिए तीन बार असफल होने पर भी वह पुनः समझाने का प्रयत्न कर रही है। पिछली बार उसने राम के अवतार रूप की बात कही थी, आज वह विराट रूप का तत्त्व बता कर समझाना चाहती है। सजल नेत्र, करबद्ध हो प्रार्थना

के रूप में ही हमेशा वह अपनी बात का निवेदन करती है। देवियों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए कि पति को यदि कोई बात कहनी हो तो किस प्रकार निवेदन करना चाहिए। कंत शब्द का अर्थ होता है-'कं सुखं तनोति' सुख का विस्तार करने वाला प्रियतम। पत्नी का सारा सुख पति पर ही अवलम्बित होता है। अतः अपनी प्रार्थना के प्रारम्भ में वह कंत शब्द का ही प्रायः प्रयोग करती है। हे प्रियतम! राम से विरोध का त्याग कर दो, उनको सामान्य मनुष्य समझकर मन में हठ धारण मत करो। राम यदि मनुष्य नहीं तो क्या है? इस जिज्ञासा के उत्तर में वह कह रही है-

**बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।**
**लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु।।**

**(रा० ६/१४)**

मेरे वचनों पर विश्वास कीजिए। वे रघुकुलमणि श्रीराम विश्व रूप सर्वेश्वर विराट् पुरुष हैं। वेद उनके अंग रूप में विभिन्न लोकों की कल्पना करता है। वेद वर्णित विश्व रूप की व्याख्या यहाँ की गई है। कुछ विद्वानों ने मानसकार पर यह आक्षेप लगाया है कि लेखक यत्र-तत्र बार-बार अपने विचारों के समर्थन में वेद की दुहाई देता है, किन्तु उसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसे वेद में कहीं भी राम को विराट् पुरुष के रूप में वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु यहाँ पर वेद की दुहाई के साथ 'बिस्वरूप रघुबंस मनि' की व्याख्या की जा रही है। ऐसे और भी कई प्रमाण मानस से उद्धृत किये जा सकते हैं जिनकी वेद में चर्चा तक नहीं है, किन्तु उनके समर्थन में कवि वेद की दुहाई देता है, बात यह विचारणीय है। ऐसे आलोचकों को थोड़ी गम्भीरता से मानस की मौलिक भूमिका को समझना चाहिए, फिर इस प्रकार से आक्षेप करने का दुःसाहस करना चाहिए। मानस में जहाँ कहीं भी वेद की दुहाई महाकवि देते हैं वह बिल्कुल सत्य है। उनका कथन वेद सम्मत ही होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वेद में जिस नाम से उस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, गोस्वामी जी वहाँ पर अपने अभीष्ट नाम का प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि वह परम सत्य अनामी और अरूपी है किन्तु फिर भी उसके अनन्त नाम और रूप हैं। ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र है-'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' सत् तत्त्व एक है उसको विवेकी विद्वान् बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। यही बात गोस्वामी जी भी कहते हैं-'निज निज मति मुहि हरि गुन गावहिं' रूप के विषय में भी ऋग्वेद की ऋचा कहती है-'इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते' वह परमात्मा अपनी शक्ति से अनन्त रूपों में प्रकट होता है। यजुर्वेद का मन्त्र है-'अजायमानो बहुधाऽभिजायते'।

वह अजन्मा होता हुआ बहुत से रूपों में उत्पन्न होता है। जब वेद ने उसके नाम और रूप की कोई सीमा निश्चित नहीं की है बल्कि यह कहा है कि तत्त्वज्ञ उसका विविध नाम रूपों में वर्णन करते हैं तो यह बात समझ में नहीं आती कि यह आलोचक महोदय गोस्वामी जी के द्वारा उस परम तत्त्व के लिए प्रयुक्त राम शब्द किस आधार पर वेद विरुद्ध वा वेद असम्मत बताते हैं? क्या उस अनन्त का अन्त उन ऋषियों की भाषा तक ही हो गया था? क्या उनके बाद उस परम सत्य को कोई दूसरा नहीं अनुभव कर सकता? क्या वह अपनी रुचि अनुसार उसे नाम नहीं दे सकता? मैं समझता हूँ कि कोई भी विवेकशील व्यक्ति इसको हाँ नहीं करेगा। जिसने बुद्धि को किसी एक विचारधारा के हवाले करके सत्य को स्वीकार न करने की कसम खा ली हो, उसके लिए तो कोई युक्ति तथा उत्तर ही व्यर्थ है किन्तु जो विचारशील लोग हैं उनको यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि वह अनन्त सत्य किसी एक ग्रन्थ वा विचारधारा में सीमित नहीं किया जा सकता। अनन्तकाल से उसकी अनन्तता का अनुभव अनन्त लोगों ने किया है और आगे भी करते रहेंगे। सभी अनुभवकर्त्ता उसको अपने भाव तथा भाषा के अनुसार अब तक अनन्त नाम दे चुके हैं और आगे के लिए कोई भी सीमा निर्धारित नहीं की गई है और न ही की जा सकेगी। महाकवि ने इस सत्य का उद्‌घाटन करते हुए लिखा है-

**एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा।।**
**ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।।**
**(रा० १/१३-३,४)**

वेद प्रतिपादित ब्रह्म तत्त्व की व्याख्या कर आगे कहते हैं-

**सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई।।**
**तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।।**
**(रा० १/१३-१,२)**

यहाँ पर महाकवि ने ऋग्वेद की उस ऋचा की ओर संकेत किया है जिसमें कहा गया है-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। अतः गोस्वामी जी उस परम तत्त्व को राम, राघव, रघुराया, रघुवंश मणि आदि नामों से सम्बोधित करते हैं क्योंकि उनको इस नाम से पुकारना प्रिय लगता है। उन्होंने यह प्रार्थना की है-

**जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका।।**
**राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।।**

वे जानेते हैं कि वेद में अधिक से अधिक महिमा के साथ प्रभु के नामों का वर्णन हुआ है, किन्तु उनको राम नाम ही परम प्रिय है, इसके सिवा वे अन्य नामों को स्वीकार ही नहीं करते ऐसी बात नहीं है। उनका कहना है-

**राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।**
**अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम।।**

**(रा० ३/४२-क)**

हे प्रभो ! आपकी भक्तिरूपी पूर्णिमा की रात्रि में यह राम नाम चन्द्रमा के समान हो और उसके साथ आपके अन्य नाम तारागण की भाँति सुशोभित होते हुए भक्त के हृदयरूपी आकाश में विराजित हों। यह भक्त की अपनी भावना है कि प्रभु को वह किस नाम से पुकारे, वेद इसका समर्थक है विरोधी नहीं। यहाँ पर मन्दोदरी द्वारा जिस विराट् रूप का वर्णन है, वह वेद प्रतिपादित सत्य है। हाँ, वेद में इस प्रकार से विस्तार से नहीं है। वेद की विस्तृत व्याख्या के लिए ही इतिहास और पुराण हैं। इतिहास पुराणों का वर्णन वेद में भी मिलता है। वे इतिहास, पुराण वेद के सिद्धान्त को उपबृहंन करते हैं अर्थात् विस्तार से वर्णन करते हैं।

**इतिहास पुराणाभ्यां वेदम् समुपवृंहते।**

जो बातें वेद वर्णित नहीं हैं वे महापुराण श्रीमद्भागवत् में वर्णित हैं, किन्तु अधिकांश बातें तो ऋग्वेद दशम् मण्डल तथा अथर्ववेद के दशवें काण्ड के सातवें सूक्त में प्रश्नोत्तर रूप में वर्णित हैं। अन्तर केवल नाम का है, यहाँ पर विराट् वा विश्व रूप रघुवंश मणि का है और वहाँ पुरुष वा परमेश्वर का। विश्व रूप की व्याख्या आगे की चौपाईयों में देखें-

**पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा।।**
**भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला।।**
**जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।।**
**श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।।**

**(रा० ६/१५-१ से ४)**

राम तापनी उपनिषद् में राम को परब्रह्म रूप में वर्णन किया गया है और सम्पूर्ण देवतागण तथा सारा विश्व उन्हीं का स्वरूप बताया गया है।

**ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति**
**यो विराड् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।**



**(रा०उ०ता० ३६)**

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र हैं वे निश्चय ही भगवान् हैं। जो विराट् परमेश्वर इस ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर व्याप्त हैं वे और 'भुः भुवः स्वः' आदि लोक भी उन्हीं के स्वरूप हैं, उन श्रीराम को निश्चय ही मेरा बार-बार नमस्कार है।' इस उपनिषद् के कई मन्त्रों में राम के सर्व रूप होने का वर्णन है। यहाँ पर मन्दोदरी विश्व रूप की व्याख्या इस रूप में करती है। विराट् पुरुष का चरण पाताल है, सिर ब्रह्मलोक है अन्य सब लोकों का जो ब्रह्मलोक और पाताल के मध्य में है प्रभु के एक-एक अंग में विश्राम है अर्थात् मध्य के लोक उस विराट् के अंग के रूप में स्थित हैं। चौदह भुवनों में पाताल सबसे नीचे का भुवन है। 'अधो भुवन पाताल' अजधाम ब्रह्म लोक है। गीता में भगवान् ने उसे प्रकृति का सूक्ष्मतम लोक कहा है और वहाँ से लेकर इस मृत्युलोक तक को संसृति चक्र अर्थात् आवागमन वाला बताया है यथा-

आब्रह्म भुवनाल्लोकां पुनरावर्तिनोऽर्जुनः।

प्रभु का जो परम धाम है वह इससे परे है क्योंकि विराट् तो एक पाद विभूति है। यह मृत व विनाश धर्मा है, इसका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है किन्तु परमेश्वर का परमधाम इस उत्पत्ति-विनाश धर्म से मुक्त है, परे है। वेद उसको त्रिपाद और अमृत कहता है यथा-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(पुरुष सूक्त-३)

इस विराट् का आविर्भाव उस अनन्त की महिमा के रूप में ही हुआ है। महिमावान् तो इससे परे है, यह ऋग्वेद का कथन है। विराट् का पुरुष रूप में ही वर्णन किया गया है-दो हाथ, दो पाँव, एक सिर और एक मुख आदि। जिस प्रकार पुरुष का शरीर है उसी प्रकार विराट् का भी। उस विराट् पुरुष को ही यहाँ पर राम कहा गया है क्योंकि वह सर्व रूप में रमण कर रहा है वा सर्व जीव उसमें ही रम रहे हैं। भूलोक का अधोभाग पाताल कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का निचला भाग पाँव का तलवा होता है, उसी प्रकार विराट् पुरुष के शरीर का निचला भाग पाताल है-'पद्भ्यां भूमिः' (ऋ०) इसी प्रकार पुरुष के शरीर का ऊपरी भाग जहाँ पर ब्रह्मरन्ध्र है, ब्रह्माण्ड कहा जाता है उसे ही यहाँ अजधाम कहा है। अज आत्मा का अवबोधक है। आत्मा का धाम वा निवास ब्रह्मरन्ध्र के ठीक नीचे चित्ताकाश में है, वही अजधाम है। अथर्ववेद में जहाँ पर आठ चक्रों तथा नव दरवाजों वाली अयोध्या नगरी का वर्णन है वहाँ पर उसके शीर्ष भाग में

हिरण्यमकोष बताया गया है और यक्ष अर्थात् सर्वपूज्य आत्मा वहीं निवास करता है, ऐसा कहा गया है। यह अजधाम समस्त जीवों का जीवन स्रोत है। प्रकृति का प्रथम परिणाम तथा पुरुष के प्रकाश से युक्त होने से इसे हिरण्यगर्भलोक भी कहा गया है। जैसे पुरुष का जीवन बीज चित्ताकाश है इसी प्रकार इस विराट् पुरुष का जीवन बीज यह अजधाम है। यहीं से विभिन्न अंगों के रूप में विभिन्न लोकों का आविर्भाव होता है। आगे का सारा क्रम कालाधीन चलता है। यह काल उस पुरुष, की भृकुटि विलास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है क्योंकि 'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई' त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषद् में कहा है कि उस अविद्यातीत त्रिपाद विभूतिस्थ महानारायण के पलक उठाने, देखने और झपकने मात्र में अनन्त ब्रह्माण्डों का आविर्भाव, स्थिति और पुनः तिरोभाव हो जाता है। उपनिषद् के इस वचन के आधार पर ही यहाँ भृकुटि-विलास को काल कहा गया है। मानस के लंकाकाण्ड के प्रारम्भ में ही काल को श्रीराम का धनुष कहा है और उसकी कलना को विविध प्रकार के बाण। नेत्र दिवाकर अर्थात् सूर्य हैं। ऋग्वेद का भी यही कथन है- **'चक्षोः सूर्यो अजायत'**। ऐतरेय उपनिषद् में विराट् पुरुष का बड़ा स्पष्ट वर्णन है, उसमें कहा गया है-'चक्षुषः आदित्य'और मानवीय रूप में वही-

**आदित्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।**

**(ऐ०उ० २/४)**

अर्थात् आदित्य चक्षु होकर आँख में प्रवेश किया। 'कच घनमाला' में बताया कि यह बादल समूह प्रभु के केश हैं। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है-'ईशस्यकेशान्विदुरम्बुवाहान्' (२/१-३४) मेघमालाओं को ईश्वर का केश समझो। दोनों अश्विनी कुमार घ्राण इन्द्रिय हैं। अमरकोष (८९) में घ्राण का अर्थ-

**घ्राणं गन्धवह घोणा नासा च नासिका।**

ऐसा बताया गया है। भागवत में भी यही कहा गया है-

**नासत्यदस्त्रौ परमस्य नासे।**

**(भा० २/१-२९)**

अश्विनी कुमार परमेश्वर की नासिका हैं। रात और दिन अपार पलकों का मारना है। महानारायणोपनिषद् में इसका वृहद् विवेचन है। विराट् पुरुष का आँख खोलना और बन्द करना ही वहाँ दिन-रात बताया हैं।

**श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।।**
**अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।।**

**आनन अनल अम्बुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।।**

(रा० ६/१५-४ से ६)

कान दशों दिशाएँ ऐसा वेद कहता है। श्वास पवन है और वेद ही प्रभु की वाणी है। ऋग्वेद में कहा है-'दिशः श्रोत्रा पुरु'। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है-

**कर्णो निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः।**

(ऐ०उ० १/४)

विराट् पुरुष की कर्ण इन्द्रिय प्रकट हुई, कर्ण से श्रोत्र और श्रोत्र से ही दिशाएँ प्रकट हुईं। इसी प्रकार से वायु के विषय में कहा है-

**नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायु।**

(ऐ०उ० १/४)

वही विराट् पुरुष की नासिका प्रकट हुई, नासिका से प्राण और प्राण से वायु प्रकट हुई। ऋग्वेद में कहा है-'प्राणाद्वायुरजायतः' प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। वेद ही उस विराट् पुरुष की वाणी है। मैं समझता हूँ इसके लिए किसी भी आस्तिक को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी। वेद को प्रत्येक हिन्दू ईश्वरीय ज्ञान मानता है और अपौरुषेय कहता है। ऋग्वेद में भी चारों वेदों को उसी विराट् पुरुष से उत्पन्न हुआ कहा गया है-

**तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
**छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।**

(पु०सू० ९)

जिसमें सब कुछ हवन किया था उस पुरुष में ऋक् और साम प्रकट हुए। उसी से छन्द अर्थात् अथर्ववेद और यजुर्वेद की भी उत्पत्ति हुई। निगम वेद को कहते हैं और वह वेद प्रभु की वाणी है ऐसा 'निगम निंज वाणी' का भाव है। विराट् का अधर अर्थात् ओष्ठ ही लोभ है, कराल दाँत भयंकर यमराज हैं, हँसी ही उसकी माया है और बाहु दिकपाल। भागवत में वर्णित विराट् रूप में भी-'व्रीडोन्तरोष्ठोस्धर एव लोभो' कहा गया है। वहीं पर 'द्रष्टायम' यह भी बताया है। गीता में भी विराट् पुरुष के स्वरूप को देखकर अर्जुन कहता है-

**द्रंष्टाकरालानि च ते मुखानि।**

(गीता ११/२५)

आपके मुखों में ये कराल दाँत हैं और ये दाँत क्या करते हैं इसके विषय में कहता है-

**वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।**
**केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै।।**

**(गीता ११/२७)**

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण योद्धागण बड़ी शीघ्रता से आपके विकराल जाढ़ों वाले भयानक मुख में प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दीख रहे हैं। अभिप्राय यह कि विराट् पुरुष की विकराल जाढ़ें ही कराल यमराज हैं जो चराचर को चबा रहा है। माया को हँसी कहा है। रामायण में कई स्थानों पर इस प्रकार का वर्णन मिलता है और प्रभु के मुस्कराने में ही माया का आवरण पड़ जाता है। इस सम्बन्ध में भुशुण्डी जी का प्रसंग विशेष द्रष्टव्य है-

**प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी।।**

भागवत् में भी यही कहा है-'हासोजनोन्मादकरी च माया' मनुष्यों को उन्मत्त करने वाली माया ही भगवान् की हँसी है। इन्द्रादि दिक्पाल ही प्रभु की भुजायें हैं। भागवत् में कहा है-

**इन्द्रादयो बाहवः। सुरेन्द्रास्तव बाहवो।**

**(भागवत १०/४०-२९)**

इन्द्रादि देव आपके बाहु हैं। ऋग्वेद में भी-'बाहूराजन्यः कृतः' क्षत्रिय बाहु हुए ऐसा कहा है। वेद में इन्द्रादि देवता ही क्षत्रिय हैं, वे ही दिक्पाल हैं। मुख अग्नि है, जिह्वा वरुण, उत्पत्ति, पालन और प्रलय उसकी इच्छा वा चेष्टा है। यजुर्वेद में कहा है-'मुखादग्निरजायत' मुख से अग्नि उत्पन्न हआ। ऋग्वेद में भी 'मुखादिन्द्रश्चग्निश्च' मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। अथर्ववेद में भी-' अग्नियश्चचक्र आस्यं' अग्नि जिसका मुख हुआ ऐसा कहा है। ऐतरेय उपनिषद् में भी-'मुखाद्वाचरावाचो अग्निः ' मुख से वाणी और वाणी से अग्नि हुआ ऐसा वर्णन है। भागवत् में भी जिह्वा को वरुण कहा है-

**आपो अस्य तालू रस एव जिह्वा।**

**(भागवत् २/१०/३०)**

अर्थात् जल और जिह्वा रस है। अम्बुपति रस को भी कहते हैं, वह रसाधिपति वा रस के देवता वरुण हैं अतः वही विराट् की जिह्वा हैं। उसकी इच्छा मात्र से उत्पत्ति, पालन और प्रलय होता रहता है। ऐतरेय की श्रुति कहती है-



**स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।**

उसने विचार किया कि लोकों की रचना करूँ, बस इतने संकल्प मात्र से सृष्टि का प्रारम्भ हो गया और यह ईक्षण की बात भी समझाने के लिए है, मूल बात तो यह है कि सृष्टि आदि क्रियायें स्वाभाविक ही उसकी सत्तामात्र से होती रहती हैं। अथर्ववेद का कथन है-

**भूतंचयत्रभव्यंचसर्वेलोकाः प्रतिष्ठिताः।**

**(अथर्व० १०/७/२२)**

भूतकाल में जो हुआ था, भविष्यकाल में जो होना है और वर्तमान में जो कुछ है यह सभी कुछ (इस परम प्रभु में) प्रतिष्ठित है। यही बात ऋग्वेद में भी कही गई है-

**पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।**

जो हुआ वा जो कुछ भी होगा वह सब एक पुरुष ही है फिर उसमें सृष्टि आदि की कल्पना केवल व्यवहार मात्र है इसलिए गोस्वामी जी ने उसे समीहा कहा है जिसका अर्थ होता है चाह, इच्छा या चेष्टा। यहाँ अभिप्राय सहज चेष्टा से है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए यही बताया गया है-

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्ति।**
**यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मति।।**

**(तैत्तिरीय० ३/१)**

निश्चय रूप से ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, होकर पलते हैं और अन्तकाल में प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं वही ब्रह्म है, उसको जानने की जिज्ञासा कर। अभिप्राय यह कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिए उसे कुछ करना नहीं पड़ता। ये सब उसमें सहज रूप से होते हैं। आगे का वर्णन है-

**रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।।**
**उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना।।**

**(रा० ६/१५-७,८)**

**अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।**
**मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान।।**

**(रा० ६/१५-क)**

अठारह भार वनस्पतियाँ ही उस विराट् पुरुष की रोमावली हैं। बारह करोड़ तीस लाख एक हज़ार दो सौ वृक्षों की संख्या एक भार होती है। वृक्ष समूह को भी भार कहते हैं-'भारः समूहे वृक्षे'। अठारह भार वनस्पतियों को रोमावली कहा

है। वेद में भी कहा है-

**त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो।**

**(ऐ०उ० १/४)**

त्वचा से लोम और लोम से औषधि वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। दूसरे मन्त्र में कहा है-

**ओषधिवनस्पत्यो लोमानि भूत्वा त्वचं प्रविशन्।**

**(ऐ०उ० २/४)**

औषधि वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा में प्रवृष्ट हो गईं। आगे कहते हैं पर्वत विराट् पुरुष की हड्डियाँ हैं, नदियाँ नसों के समूह हैं। भागवत् में कहा है-'गिरयोंऽस्मिसंघा' पर्वत हड्डियाँ हैं। भूतल पर फैली नदियाँ शरीर के अन्दर असंख्य नाड़ी जाल के समान हैं। अथर्ववेद में कहा है-

**समुद्रोऽस्यनाडयः**

**(अथर्व०१०/७/१५)**

समुद्र जिसके शरीर की नाड़ियाँ हैं। यहाँ पर गोस्वामी जी ने समुद्र नहीं नदियों को ही नाड़ियाँ कहा है, यह कल्पना उन्होंने बहुतायत की दृष्टि से की है। भागवत में भी यही कहा है-**नद्योऽस्यनाडेयो**। आगे उदर को उदधि समुद्र कहा है। अथर्ववेद में-**'अन्तरिक्षभूतोदरम्'** अन्तरिक्ष जिसका उदर है ऐसा कहा है। भागवत में-**'कुक्षिः समुद्रा समुद्रोजठरे'** कहा है। ऋग्वेद में भी **'नाभ्याआसीदन्तरिक्षं'** अन्तरिक्ष उसकी नाभि है, ऐसा कहा गया है। यहाँ पर भी तर्कसंगत यही लगता है कि उदर उसका अन्तरिक्ष है जैसा कि अथर्ववेद का कथन है। आकाश का नाम समुद्र भी है जिसका पर्यायवाची शब्द उदधि प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इसका अर्थ अन्तरिक्ष भी लिया जा सकता है। अधो इन्द्रियाँ यातना हैं, कहाँ तक कहा जाए इस प्रकार से विश्वमय स्वरूप की ऐसी ही बहु कल्पना है।

यहाँ अधगो यातना में यद्यपि नीचे की दोनों इन्द्रियों को ले लिया है किन्तु भागवत् में जननेन्द्रिय को प्रजापति कहा गया है- **'प्रजापतिर्मेढ्र।'** (भागवत १०/४०/१४) ऐतरेय उपनिषद् में जननेन्द्रिय को 'देवता आपः' कहा गया है-'शिश्नाद्रेतः रेतसः आपः' शिश्न जननेन्द्रिय से रेतस् वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से आपः बना। यजुर्वेद में आपः को भी देवता कहा गया है-'आपो देवताः'। यहाँ अपस् तत्त्व ही विश्व की सृष्टि में हेतु होता है इसीलिए भागवत में इसे प्रजापति कहा है। ऐतरेय की श्रुति में 'नाभ्याऽपानो अपानान्मृत्यु' (वही) नाभि से अपान तथा अपान से मृत्यु उत्पन्न हुई ऐसा कहा है। गोस्वामी जी ने अधगो यातना में मेरे विचार से इन

दोनों भावों को व्यक्त कर दिया है। यातना शब्द का अर्थ प्रतिकार, पुनरागमन, पीड़ा, साँसति आदि है। जन्म और मृत्यु में यही सब कुछ होता है इसीलिए मानस में जननेन्द्रिय तथा मृत्यु इन्द्रिय दोनों को यातना कह कर वर्णन किया गया है। आगे जिस प्रकार वेद का कथन है कि-

**तथा लोकान् कल्पयन्।**

**(ऋ० १०/९०)**

इसी प्रकार अन्य अंगों की कल्पना अन्यान्य लोकों के स्थान में की गई है। मानस में भी इसी तरह कहा गया है-'जगमय प्रभु की बहु कल्पना'। आखिरी दोहे में अन्तःकरण की व्याख्या है। चतुष्टय अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। दोहे में प्रथम अहंकार को शिव कहा है-अहंकार शिव है, ब्रह्मा बुद्धि है, मन चन्द्रमा है और महतत्त्व वा चित्त विष्णु है। जड़-चेतन सहित सम्पूर्ण विश्व रूप भगवान् राम ने मनुष्य शरीर में निवास किया है अर्थात् वह विराट् पुरुष ही राम रूप में प्रकट है। अहं शिव है इसलिए अहं ग्रह विधि की उपासना है, शिवोऽहम् चिन्तन का विधान है। अहं शब्द चेतन सत्ता का अवबोधक है। सम्पूर्ण ज्ञान इस अहं के ही आश्रित रहता है। इस शुद्ध अहं को जानना ही परम तत्त्व का बोध है। उपनिषदों में इसी को जानने के लिए विविध प्रकार के साधन का विधान है। यही जीवात्मा का स्वरूप है। यह याद रखना चाहिए कि शुद्ध अहं जिसे अंग्रेज़ी में 'सैल्फ' कहते हैं, को ही शिव कहा गया है। मानस में शिव को ज्ञान स्वरूप कहा है-

**विभुं व्यापकं ब्रह्म वेद स्वरूपं।**

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी अहं को अमृत अक्षर और हर कहा है-

**अमृताक्षरं हरः।**

**(श्वेता० १/१०)**

हर अर्थात् जीवात्मा अमृत अविनाशी है। भागवत् में भी-'आत्मा अहं' ऐसा कहा गया है। वहाँ पर भगवान् शंकर स्वयं प्रभु की स्तुति कर रहे हैं। अहंकार शिव है। बुद्धि को अज कहा है। पौराणिक भाषा में अज नाम ब्रह्मा का है। ब्रह्मा को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं, वह हिरण्यगर्भ समाप्ति बुद्धि का नाम है। समाप्ति बुद्धि ही विराट् पुरुष के शरीर में ब्रह्मा है। भागवत में कहा है-**'विरञ्जीधिषणा' (भा० १०/६३/३६)** ब्रह्मा बुद्धि है, मन शशी है। ऋग्वेद में भी-'चन्द्रमामनसोजातः' चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा है। ऐतरेय उपनिषद्

में कहा है-

**हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा।**

**(ऐ०उ० १/४)**

हृदय से मन और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है। भागवत में भी-'चन्द्रोमनो' (भा० १०/६३/३५) ऐसा ही वर्णन है। चित्त महान् है। महान् शब्द का प्रयोग कठोपनिषद् में चित्त के अर्थ में हुआ है। उसमें क्रमशः बताया है कि इन्द्रियों से परे अर्थ अर्थात् विषय हैं, विषय से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे महत्, महत् से परे अव्यक्त, अव्यक्त से परे पुरुष, पुरुष से परे और कुछ नहीं है, वही सबकी पराकाष्ठा है और परम गति है। वहाँ पर-'बुद्धिरात्मामहानपरः' बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है इस प्रकार का वर्णन है, किन्तु वहाँ आत्मा के अर्थ में नहीं क्योंकि इसके आगे के मन्त्र में ही-'महतः परमव्यक्तम्' महत् से परे अव्यक्त है ऐसा कथन है। यदि यहाँ आत्मा अर्थ लिया जाये तो अभिप्राय यह होगा कि वह अव्यक्त प्रकृति का कार्य है जो किसी भी विचारक को इष्ट नहीं होगा। अतः यहाँ पर महत् का अर्थ समष्टि चित्त है। वही चित्त यहाँ मानस में भी वर्णित है। इस चित्त के देवता विष्णु हैं क्योंकि यह प्रकृति का प्रथम परिणाम है; जो चेतन के प्रकाश में विक्षुब्ध हुई प्रकृति से अभिव्यक्त होता है। इसमें चेतन परिव्याप्त होता है। इसी अवस्था को वासुदेव वा नारायण भी कहते हैं क्योंकि देव उसके अणु-अणु में बसा हुआ होता है। मनुस्मृति में प्रकृति की इस अवस्था को शुद्ध सत्त्व प्रधान होने से अपस् कहा गया है और उस अपस् को ही नार कहते हैं। उसमें व्याप्त होने से ही चेतन की संज्ञा नारायण होती है। वह नार समष्टि वा विराट् का चित्त होता है, चित्त ही स्वरूप का बीज है, वही कारण है। समस्त नामरूप उसी के कार्यरूप में प्रकट होते हैं। माण्डूक्योपनिषद् की श्रुति उसी को प्राज्ञ कहती है-

**सुषुप्तथान एकीभूतः प्रज्ञानधन एवानन्दमयो।**

**(माण्डूक्य ३०/५)**

सुषुप्त स्थान अर्थात् जगत् की प्रलय अवस्था वा कारण अवस्था है जो एक रूप हो रहा है, एकमात्र घनीभूत प्रज्ञान है, आनन्दमय अर्थात् आनन्द स्वरूप है। यही तैत्तिरीय उपनिषद् का आनन्दमय कोष है। इसी में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति होती है। भागवत् में इसे 'सर्वात्मनोऽन्तः करणं' सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तःकरण कहा है। मनुज में जिनका वास है, इसका एक भाव यह भी ध्वनित होता है कि जो बिन्दु रूप मनुष्य में निवास करते हैं क्योंकि ऐतरेय की श्रुति के

आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है क्योंकि ब्रह्माण्ड रूप विराट् पुरुष के अंग से प्रकट हुए देवताओं ने जब परमात्मा से अपने रहने के लिए स्थान माँगा तो परमात्मा ने उनके सामने गऊ उत्पन्न की और उसमें रहने को कहा, किन्तु देवताओं ने उसे अपने लिए उपयोगी नहीं समझा, तब उनके सामने घोड़ा उत्पन्न किया वह भी उपयोगी नहीं हुआ, तब आखिर में मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसको देखकर देवतागण बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले- **सुकृतं बतेति। पुरुषोवाव सुकृतम्। (ऐ०उ० २/३)** बस यह बहुत सुन्दर बन गया, सचमुच पुरुष का, मनुष्य का शरीर सुकृतम् अर्थात् परमात्मा की सुन्दर कृति है। फिर विराट् पुरुष से उत्पन्न हुए सारे देवता मनुष्य शरीर में तत्तत स्थानों में निवास किए क्योंकि मनुष्य विराट् पुरुष का ही प्रतिबिम्ब है'सहस्रस्य प्रतिमा पूरुषः'। (ऐ०उ०) सम्पूर्ण देवताओं के मानव शरीर में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् फिर वह परमात्मा स्वयं भी विवृत्ति नाम के द्वार से उसे चीर कर इस शरीर में प्रवेश किया यथा-

**स एतमेव सीमानं विदार्यै द्वारा प्रापद्यत।**

**(ऐ०उ० ३/१२)**

उसने इस मनुष्य शरीर की सीमा को चीरकर इसके द्वारा उस शरीर में प्रवेश किया। श्रुति के इस प्रसंग को देखते हुए मनुजवास का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है और चराचर रूप में रमण करने के नाते वही मनुजवास भगवान् को राम भी कहते हैं अर्थात् चराचर रूप भगवान् ही मनुष्य रूप में निवास करने वाले राम हैं-

**अस बिचारि सुन प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।**
**प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ।।**

**(रा० ६/१५-ख)**

'हे प्राणनाथ ! ऐसा विचार कर प्रभु से वैर त्यागकर के रघुवीर के चरणों में प्रेम कीजिए, जिससे मेरा अहिवात न जाये अर्थात् मैं सौभाग्यवती बनी रहूँ।' विराट् की उपासना करने वाला व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति सेवा की भावना रखता है, उसकी भावना होती है-

**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत।**

यह चराचर मेरे स्वामी का स्वरूप है और मैं चराचर का सेवक हूँ। मानस में हनुमान को इसी भक्ति की दीक्षा मिली है। स्वयं प्रभु राम ही उनको

अनन्य भक्ति का रहस्य बताते हुए यह उपदेश दिया है। मन्दोदरी भी रावण को उसी विराट् रूप की उपासना की सीख दे रही है, किन्तु बदले में रावण ने जो कुछ उत्तर दिया है वह एक विकृत मस्तिष्क का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अपने इस प्रयत्न को भी असफल देखकर वह देवी यही निश्चय करती है कि काल के वशीभूत होने से प्रियतम की मति भ्रमवश हो गई है-

**मन्दोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ।।**

**(रा० ६/१६-८)**

महाकवि का कथन है-

**फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।**
**मुरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम।।**

**(रा० ६/१६-ख)**

यदि मेघ अमृत की वर्षा करें तो भी बेंत फलता फूलता नहीं है। मूर्ख के हृदय में चेत वा समझ नहीं आ सकती चाहे ब्रह्मा और शिव ही गुरु रूप में क्यों न मिल जाएँ। विरंचि वेदों में प्रथम व्याख्याता और शंकर ज्ञान स्वरूप हैं, जब इनके द्वारा भी मूर्ख को चेत नहीं हो सकता तो सामान्यजन के समझाने की तो बात ही क्या है। गोस्वामी जी के इस सोरठे को लेकर विद्वानों में काफी वाद-प्रतिवाद चलता रहता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि यह किंचित् भी विवाद का विषय नहीं है। 'सुधा' शब्द का अर्थ अमृत और जल दोनों ही होता है। अभिप्राय तो यहाँ यह है कि बेंत में फूल और फल नहीं लगता यद्यपि जलद अमृत ही क्यों न बरसाए। यहाँ 'जदपि' शब्द चाहे के अर्थ में है। इस बात पर जोर देने के लिए कि जैसे बेत का फूलना-फलना असम्भव है ठीक उसी प्रकार मूर्ख को होश वा समझ आनी भी असम्भव है, उसे ब्रह्मा और शंकर ही क्यों न गुरु रूप में मिल जाएँ। बेत शब्द के अर्थ में कुछ विद्वानों की उलझन बढ़ जाती है, जब वे बेत नाम की वन में मिलने वाली झाड़ को फलते-फूलते देखते हैं। वैसे तो पहाड़ी बेत नहीं फूलता-फलता इसलिए इसको देखते हुए कवि की उक्ति ठीक ही लगती है किन्तु नीतिशास्त्र का कथन है-

**मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वं शून्यं दरिद्रताः।**

अर्थात् मूर्ख का हृदय शून्य होता है। मूर्ख के हृदय की उपमा बेत से दी है वह भी शून्य सी वस्तु होनी चाहिए। मानस में अयोध्याकाण्ड में भी कवि ने बेत शब्द का प्रयोग किया है। चौपाई इस प्रकार है-

जिमी जलु निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे।।

(रा० २/३२५-३)

प्रसंग भरत जी की तपश्चर्या का है, उसी में कवि ने उदाहरण दिया है कि जैसे शरद् ऋतु के प्रकाश से जल सूखता है किन्तु बेत शोभा पाता है और कमल विकसित होता है। मेरा अभिप्राय पाठकों का ध्यान इस बेत की तरफ ले आना है। यहाँ पर बताया है कि शरद् ऋतु में जल घटता है, बेत विलसता है, हरा भरा होता है वा सुशोभित होता है। सुशोभित होने के अर्थ को लेकर के यहाँ पर कई विद्वानों ने 'बेतस' का अर्थ आकाश भी किया है। कोश में यह अर्थ मिलता भी है। संस्कृत का वियत हिन्दी में बेत हो जाता है। यदि यहाँ वेत का अर्थ आकाश किया जाए तो शरद् ऋतु में उसकी निर्मलता शोभायुक्त होती है, इसमें सन्देह नहीं। उसी प्रकार यदि यहाँ पर मूर्ख हृदय की शून्यता को दृष्टि में रखते हुए बेत का अर्थ आकाश भी किया जाए तो बात सुगमता से समझ में आ जाती है। सारांश यह कि मूर्ख का हृदय शून्य होता है- वहाँ किसी प्रकार के उपदेश का ठहराव होता ही नहीं। मन्दोदरी का सारा प्रयत्न असफल रहा और वह तिरस्कृत हो पति के बुद्धि वैचित्य पर चिन्तित हो उठी। उसकी धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होने लगी कि इसका विनाश अवश्यम्भावी है। मन्दोदरी की आन्तरिक दशा का अनुमान लगाना कल्पना से परे है। लंका के इस खिले चमन की वह मालिनी है, मेघनाद ऐसे पूर्ण विकसित फूलों को उसी ने अपने रक्त से सींचा है। सारा चमन उसके परिश्रम का ही परिणाम है, उसे देखकर वह सदा प्रमुदित होती है, किन्तु अब वह अनुभव करती है कि इस बाग की शोभा कुछ दिन की और रह गई है। केवल उसके माली की अज्ञानता ही सम्पूर्ण बाग को मिट्टी में मिलाने का कारण बन रही है; तो उसका हृदय कराह उठता है, किन्तु आँसू और पीड़ा के सिवा उसके पास है ही क्या, इस समय उसका कोई अन्य साथी नहीं है।

राम सुबेल श्रृंग पर विराजित हैं। उनकी दृष्टि में युद्ध करने से पूर्व एक बार और रावण को समझाने का प्रयत्न करना उचित है। राघव स्वयं मैत्री के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाना चाहते हैं, उसमें उनको किसी प्रकार का संकोच नहीं है। जामवन्त की मन्त्रणा से इस सन्धि सन्देश को लेकर अंगद को भेजा जाता है। कारण कि अंगद रावण के मित्र बाली के पुत्र हैं और युवराज भी हैं। सन्धि प्रस्ताव लेकर एक सम्राट के समक्ष इसी प्रकार के व्यक्ति का जाना ही उचित है। महाभारत में तो पाँडवों की तरफ से सन्धि पत्र का सन्देश लेकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गये

थे। उन्होंने स्वयं दौत्य कार्य किया था। इस प्रकार के दूत को अपने राज्य की तरफ से कुछ भी करने का पूर्ण अधिकार होता है। तभी भगवान् कृष्ण ने पाँचों भाईयों के लिए केवल पाँच गाँव तक सन्धि का प्रस्ताव रख दिया था, किन्तु दुर्मति दुर्योधन ने इतना भी स्वीकार नहीं किया। अंगद भी राम की तरफ से लंका जाता है और सीता को लौटा देने के लिए रावण को विविध प्रकार से समझाता है, किन्तु वही 'फूलहि फलहिं न बेत' वाली उपमा ही चरितार्थ होती है। राम प्रताप को प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिए वहाँ अंगद अपना पाँव भूमि पर टिका कर प्रतिज्ञा करता है कि यदि मेरे पाँव को कोई उठा दे तो मैं सीता को हार जाऊँगा और राम वापिस लौट जाएँगे, किन्तु मेघनाद जैसे वीर उसे हिला तक न सके। अन्त में रावण के उठने पर उसे इस प्रकार से लज्जित किया कि सारी सभी देखती ही रह गई। रावण की दशा का महाकवि ने इन शब्दों में वर्णन किया है-

**भयउ तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई।।**

**(रा० ६/३५-४)**

अंगद के लौट जाने पर रावण को पता लगा कि उसने उसके एक पुत्र का भी वध किया है। रावण की पीड़ा की अब सीमा न रही, यह उसके जीवन की पहली घटना थी कि किसी के सामने बिना लड़े ही पराजय पाई थी। अब तो राज-सभा में सभासदों के समक्ष ही उसकी प्रभुता का उपहास हुआ था, इससे अधिक पीड़ा की बात क्या हो सकती थी? मन्दोदरी का हृदय पीड़ा से कराह उठा, उसने देखा कि रावण अन्धा हो अपनी मान-मर्यादा को भी दाव पर लगा चुका है, किसी प्रकार से भी अपनी हठता को छोड़ने पर राजी नहीं। राम ने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया है। करुणा की भी सीमा होती है, कारुणिक प्रभु ने अकारण करुणा करके उससे मैत्री का हाथ बढ़ाया किन्तु उसको रावण उनकी निर्बलता समझ उपेक्षित कर दिया। राम के पास अपने पौरुष को प्रकट कर सीता की मुक्ति का कार्य सिद्ध करने के सिवा अन्य कोई उपाय शेष नहीं रहा है। मन्दोदरी जानती है कि अब प्रातःकाल से ही लंका के विनाश का चक्र प्रारम्भ हो जाएगा। इतना सोचते ही उसका हृदय हाहाकार कर उठा। उसके देखते-देखते ही सम्पूर्ण विकसित फूल धूल में मिला दिये जायेंगे, कल्पना करके उसका मातृ-हृदय चीत्कार करने लगा और उसने निश्चय किया कि एक बार वह पुनः अपना प्रयत्न करेगी, और इस बार रो करके नहीं, बल्कि उस दुर्मति के सारे मिथ्यावाद का प्रतिकार करती हुई उसको अपने यथार्थ का अनुभव कराने के लिए बाध्य कर देगी। यह मन्दोदरी

का आखिरी प्रयत्न है। धर्मपत्नी पति के धर्म की रक्षिका होती है। केवल धर्म नहीं धर्म का साधक शरीर है-

**शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।**

बिना शरीर के किसी प्रकार का धर्मानुष्ठान नहीं हो सकता अतः धर्मपत्नी का कर्त्तव्य होता है कि वह पति की सर्व प्रकार से रक्षा करे। पति के लिए जो स्त्री मन्त्री, सेविका, माता, गणिका, मित्र और धरित्री इन छओं के गुणों से युक्त हो, इन सबका कर्त्तव्य पूर्ण करती है, वह श्रेष्ठ पत्नी इस संसार में दुर्लभ मानी गई है अर्थात् ऐसी पत्नी किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है जिसमें पत्नी के सारे गुण विद्यमान हों। नीतिशास्त्र का कथन है-

**कार्येषु मन्त्री, करुणेषुदासी, भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा।**
**धर्मानुकूला समया धरित्री भार्यातु षडगुणयुवती सुदुर्लभा।।**

कार्य में मंत्री के समान हित की सलाह देने वाली, कार्य साधन में दासी के समान रुचिनुसार सेवा करने वाली, भोजन में माता के समान चुन-चुन कर भावपूर्ण सरस भोजन कराने वाली, भोगकाल वा आनन्द के समय गणिका के समान लज्जा रहित हो विविध प्रकार के हास-विलासयुक्त चेष्टाओं से रस प्रदान करने वाली, धर्म के अनुकूल पथ पर चलने के लिए मित्रवत् प्रेरणा देने वाली तथा पति के द्वारा होने वाले विविध प्रकार के अपराधों को पृथ्वी के समान क्षमा करने वाली, इस प्रकार छः गुणों से युक्त पत्नी सुदुर्लभ अर्थात् बड़ी तपस्या से ही प्राप्त होती है। यह बात याद रखना चाहिए कि जीवन को सुखद तथा समुन्नत बनाने में पत्नी का बहुत बड़ा सहयोग होता है अतः सुलक्षणा पत्नी बड़े ही सुकृत से प्राप्त होती है। मन्दोदरी इसी प्रकार की एक सभ्य कुल में उत्पन्न हुई सुशिक्षित, सुयोग्य पत्नी है, वह अपने कर्तव्य के प्रति सजग है। आज की उसकी सीख एक सुहृद मित्र तथा हित-चिन्तक मन्त्री के द्वारा दी जाने वाली सीख होगी।

**साँझ जानि दसकंधर भवन गयउ बिलखाइ।**
**मंदोदरी रावनहि बहुरि कहा समुझाइ।।**

**(रा० ६/३५-ख)**

यहाँ पर कुछ प्रतियों में 'निशाचरहिं' पाठ है किन्तु प्रसंगानुसार 'रावनहिं' पाठ ही उत्तम है। काशीराज की संशोधित प्रति में भी 'रावनहिं' पाठ स्वीकार किया गया है। अंगद के द्वारा सभा के मध्य में अपमानित हो बिलखता हुआ रावण अपने भवन में गया, आज की स्थिति को देखकर मन्दोदरी पहले से ही विक्षुब्ध हो बैठी

थी। भवन में पहुँचते ही वह रावण के पास आकर पुनः उसे समझाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। रावण के दुःखी होने के कई कारण बन गये थे। प्रथम तो उसके न चाहते हुए अंगद के द्वारा सभा प्रवेश करते समय सभासदों का उठकर स्वागत करना, दूसरा अंगद के भुजदण्ड को पृथ्वी पर पड़ने से घबरा जाना और मुकुट का भूमि पर गिरना, तीसरा अंगद के पाँव का उसके किसी भी सुभट द्वारा न उठना, चौथा सभासदों के मध्य में अंगद द्वारा तिरस्कृत होना। इन सभी कारणों से आज जगत् को रुलाने वाला रावण स्वयं ही रो पड़ा। सच है-'सभी दिन होत न एक समान'। भवन में प्रवेश करते ही मन्दोदरी उसके पास आ गई। वह इस प्रकार से अपने गौरव को धूल में मिलाते हुए रावण को नहीं देख सकती थी अतः उसके हित की चिन्ता में वह आखिरी बार पुनः कुछ कहने के लिए तैयार हो गई और बोली-

> **कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिहि।।**
> **रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई।।**
> **पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा।।**
> **(रा० ६/३६-१ से ३)**

आज उसके कथन में आँसू और आँचल पसार कर सुहाग के लिए भीख की बात नहीं है। चरण वन्दन का भी कोई स्थान नहीं है, एक झंझावात युक्त हृदय वाली गृहणी पति की नीचता से सर्वनाश को उपस्थित देख उसके प्रति क्या भावना रख सकती है, इसकी पाठकगण स्वयं कल्पना कर लें। अनेकों बार उसकी दीनता, नम्रता से प्रार्थना और आँसुओं के जल का कोई मूल्य नहीं समझा गया, बदले में उपहास का पात्र बनाया गया, तो वह आदर और सम्मान की दृष्टि कहाँ तक सुरक्षित रख सकती है। यह ठीक हैं कि पतिव्रता नारी के लिए उसका पति ही देवता होता है, हरेक हालात में उसे उसका सम्मान करना चाहिए, किन्तु 'यह चाहिए कि बात तो' उस मातृ-हृदय से पूछो जिसके दो लाल तो अकारण ही मौत के घाट उतार दिये गये हैं और पति की मूर्खता से बाकी पुत्रों के भी विनाश की सम्भावना दृढ़ हो गई हो। किसी के लिए कल्पना जगत् का आदर्श गढ़ कर खड़ा कर देना अलग बात है किन्तु इस प्रकार के आदर्शों को क्रिया रूप में लाना दूसरी बात है। यहाँ पर मन्दोदरी के व्यवहार में अनौचित्य का दर्शन उन्हें ही होता है, जो मातृ-हृदय की उस अवस्था का अनुभव नहीं करते और कोरे काल्पनिक आदर्श लोक में विमुग्ध रहते हैं।

मन्दोदरी उपदेश की आयोजना मानस में महाकवि की अपनी है और इस अन्तिम उपदेश के अवसर पर स्थिति को ध्यान में रखते हुए मन्दोदरी की अवस्था का चित्रण इतना यथार्थ सा बन पाया है, जिसको कथा शिल्प की दृष्टि से महाकवि की प्रतिभा का चमत्कार ही कहा जा सकता है। मन्दोदरी के इस बार भी सम्बोधन में कन्त शब्द का ही प्रयोग है, किन्तु उसमें रस माधुर्य नहीं है, केवल उपचार मात्र सा ही प्रतीत होता है। हे कन्त ! मन में विचार करके कुमति का त्याग कर दो। राम से शत्रुता वा सीता का हरण यह कुमति का ही परिणाम है और 'जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना' यह ध्रुव सत्य है इसलिए विपत्ति से बचने के लिए कुमति का त्याग कर देना ही उचित है। आपसे और रघुपति से समर शोभा नहीं देता। अब वैर की बात नहीं रही समक्ष युद्ध उपस्थित है, इसलिए कहती है कि आपका और रघुपति का समर अशोभनीय है। 'रघु' शब्द का अर्थ जीव तथा रघुपति का अर्थ ईश्वर होता है। जीव तथा ईश्वर का समर भला क्या शोभा देगा? यह तो उस मच्छर का जो गूलर के फल में होता है, गूलर के वृक्ष के स्वामी के साथ युद्ध करने के समान है। रघुपति के साथ युद्ध क्यों नहीं सोहाता इसके सम्बन्ध में कहती है कि राम के छोटे भाई ने अपने धनुष की नोक से एक रेखा खींची थी, आप तो उसको भी पार नहीं कर सके, यह आपकी बहादुरी वा वीरता है, राम के साथ समर की तो बात ही दूर है, वह तो कल्पना से भी परे की बात है। रामानुज की खींची हुई रेखा को भी आप नहीं लांघ सके थे। इससे स्पष्ट होता है कि रावण ने मन्दोदरी को वह बात अवश्य बताई होगी किन्तु कई रामायणों में सीता जी रावण को फटकारते हुए यह बात कहती हैं कि जिसके धनुष द्वारा खींची गई रेखा भी तुम लाँघ नहीं सके, उसके धनुष के छूटे विषैले बाणों को कैसे सहोगे सीता की इस बात को ही मन्दोदरी यहाँ पर दुहरा रही है-हे प्रियतम! भला तुम कभी उस राम को संग्राम में जीत सकोगे जिसके दूतों के ये पराक्रम हैं। आशय यह कि रामानुज की बात तो दूर रही तुम तो उनके दूत से भी संग्राम करने के योग्य नहीं हो। आगे पहले दूत का पराक्रम बताती है-

कौतुक सिन्धु नाघि तब लंका। आयउ कपि केहरी असंका।।
रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहिं मारा।।
जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा।।

(रा० ६/३६-४ से ६)

खेल में ही समुद्र को लाँघकर एक कपि शार्दूल तुम्हारी लंका में

शंकारहित हो प्रवेश किया। उसने केवल सीता से बातचीत ही नहीं की बल्कि राक्षसों को मारकर तुम्हारे अत्यन्त प्रिय बाग को उजाड़कर तहस-नहस कर दिया। यह वह बाग था जो रावण को-'मेघनाद ते दुलारो प्रान ते पियारो' था। इतना ही नहीं उस कपि शार्दूल ने प्रिय पुत्र अक्षय कुमार का वध भी तुम्हारे देखते हुए कर दिया और सारी लंका फूँककर खाक बना दी। तुम बार-बार कहते हो कि काल तुम्हारे आधीन है, किन्तु प्रिय पुत्र का वध हो गया और सारा नगर जल गया फिर तुम्हारा काल और लोकपालों पर प्रभुत्व किस काम आया? तुम्हारा बल और प्रभुत्व उस समय कहाँ रहा?

इस समय एक हताश नारी की भाँति मन्दोदरी सब कुछ रावण को कह देना चाहती है। अब तक समझाते समय जो भी कुछ वह डींग मारा करता था, सुन लेती थी, किन्तु आज उन सब प्रलापों का उत्तर देकर उसको यथार्थ की भूमि पर लाना चाहती है। आगे इस बात को स्पष्ट कहती है-

**अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदयँ बिचारहु।।**
**पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु।।**
**(रा० ६/३६-७,८)**

हे प्रियतम! अब व्यर्थ का गाल मारना अर्थात् डींग हाँकनी छोड़ दो और इस बात को हृदय में विचार करो। रघुनाथ को सामान्य राजा मत समझो, उनको विश्व रूप चराचर का स्वामी और अतुल बलशाली जानो। चराचर के नाथ होने से आपके भी नाथ हैं, शरण जाने पर रक्षा करेंगे, यह भाव है। रावण की नासमझी पर उसे झुँझलाहट आ जाती है और आगे कहती है-

**बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा।।**
**जनक सभाँ अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला।।**
**भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही।।**
**(रा० ६/३६-९ से ११)**

मारीच राम के बाण का प्रताप जानता था, किन्तु उसे नीच व तुच्छ मानकर उसकी बात नहीं मानी। मारीच ने रावण को समझाते हुए कहा था-

**जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा।।**
**(रा० ३/२५-८)**

अपनी स्थिति बताते हुए कहा था-

**मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा।।**

**सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं।**

**(रा० ३/२५-५,६)**

किन्तु उसके उत्तर में रावण उसे नीच वा तुच्छ समझ कर-'सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारीं' और कहा-

**गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा।**

**(रा० ३/२६-२)**

मन्दोदरी कहती है कि मारीच ने अनुभूत सत्य कहा था, किन्तु उसकी बात नहीं मानी। यहाँ 'नीचा' शब्द को लेकर आलोचक कहते हैं कि मन्दोदरी जैसी पतिव्रता के मुख से पति के लिए यह प्रयोग औचित्य की सीमा से बाहर हो जाता है, किन्तु हम देखते हैं कि यहाँ पर अर्थ में खींचातानी करने की ज़रूरत ही नहीं है। 'मानेहिं' शब्द को देहली दीपक न्याय से अर्थ में लगाने से बात स्पष्ट हो जाती है। रावण के लिए प्रयोग में यह अर्थ ठीक से बैठता भी नहीं। जो लोग यहाँ "अरे नीच! तुम ने उसे नीच मानकर उसका कहा न माना" ऐसा अर्थ करते हैं, उनके नीच शब्द को यहाँ सम्बोधन अर्थ में घसीटना असंगत है। यहाँ सम्बोधन की आवश्यकता ही नहीं, सारा प्रसंग समान रूप से ही चल रहा है। मारीच की बात नहीं मानी, सीता के सौन्दर्य पर आसक्त होकर उनका हरण किया, किन्तु यह बहादुरी का काम तो नहीं। जनक की सभा में अगणित राजाओं की उपस्थिति में जब धनुष यज्ञ हो रहा था तो अतुल विशाल बलशाली तुम भी तो वहाँ गये थे। यदि शंकर का धनुष होने से उसे नहीं तोड़ा तो जब राम ने धनुष तोड़कर जानकी से विवाह कर लिया तब वहीं उनको संग्राम में जीतकर जानकी क्यों नहीं ले आए? उस समय के लिए किया गया युद्ध क्षात्र धर्म की दृष्टि से अधर्म संगत न होता। धनुष भंग में वीर के चयन की व्यवस्था थी, यदि किसी कारण विशेष से धनुष तोड़ना नहीं चाहता था, जैसा कि रावण और वाणासुर ने धनुष तोड़ना अस्वीकार किया था, क्योंकि शंकर उनके इष्ट देव थे और वह शंकर का धनुष होने से वंदनीय था, तो 'विश्वविजय, यश और जानकी पाने के लिए तो राम से युद्ध करना धर्म संगत था।' यही बात मन्दोदरी कह रही है कि यदि तुम स्वयं को अतुल विशाल बलशाली समझते हो तो उसी समय क्यों नहीं संग्राम करके जानकी को ले आए? उसके इस उपदेश में विनय नहीं कठोर सत्य का कथन है। वह नहीं चाहती कि ठकुर सुहाती कहकर उसकी अहंता को पुष्ट करे क्योंकि यह उसका अन्तिम प्रयत्न है, अपने सर्व को सर्वनाश से बचाने का। जैसा कि कई विद्वान् प्रथम

अर्द्धाली में नीच शब्द का प्रयोग रावण के साथ लगाकर उसके औचित्य तथा अनौचित्य का विवाद खड़ा करते हैं, मेरे विचार से यदि रावण को वह नीच भी कहती है तो इस समय अनुचित नहीं कहा जा सकता जैसाकि गीतावली में कहा है। इस उपदेश में आगे इस प्रकार के और भी कई शब्द प्रयोग किये हैं पर यहाँ पर जैसाकि पहले मैं बता चुका हूँ वह अर्थ संगत नहीं है। आगे राम की प्रभुता का वर्णन करते हुए कहती है-

**सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा।।**
**सुपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदयँ नहिं लाज बिसेषी।।**

**(रा० ६/३६-१२,१३)**

**बधि बिराध खर दूषनहि लीलाँ हत्यो कबंध।**
**बालि एक सर मारयो तेहि जानहु दसकंध।।**

**(रा० ६/३६)**

इन्द्र पुत्र जयन्त ने राम का बल जानने के लिए अपराध किया था-**'सठ चाहत रघुपति बल देखा'** और उसके लिए-**'सींक धनुष सायत संधाना'** जिसके भय से भागता हुआ त्रिलोकी में कहीं शरण नहीं पाया और फिर राम की ही शरण में आ पड़ा। शरणागत की प्राण रक्षा की दृष्टि से उसको जीता छोड़ दिया, किन्तु एक आँख फोर डाली वह सुरपति देवराज इन्द्र का पुत्र था। जिन देवताओं की रक्षा के लिए राम का अवतार हुआ है, उसकी यह गति हुई। देवेन्द्र उसके पिता दशरथ के मित्र भी हैं। सीता के शब्दों में- **'ससुर सुरेस सखा रघुराऊ'** जब पिता के मित्र के पुत्र की यह गति हुई तो तुम किस गिनती में हो? सूपर्णखा की दशा तुमने देख ही ली है कि धर्म विरुद्ध आचरण करने पर उसकी क्या गति की है। फिर भी तुम्हें लज्जा नहीं आई, वही गलती तुमने भी दुहरा दी। अंगद ने भी यही कहा था-

**कान नाक बिनु भगिनी निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी।।**

**(रा० ६/२२-७)**

राम ने सूपर्णखा की दुर्गति धर्म विरुद्ध आचरण के कारण ही की थी, वही मन्दोदरी कह रही है। अधर्माचरण में लज्जा आनी चाहिए थी किन्तु तुम्हें नहीं आई। जो विराध, खरदूषण तथा कबन्ध को खेल ही में मार डाला और उस बाली को भी तुम जानते हो जिसको एक बाण में ही धराशायी कर दिया, वा बाली को भी एक बाण में ही मार डाला उस प्रभु के पराक्रम को तुम समझो। खरदूषण को तो रावण स्वयं ही अपने समान बलवान बताया है-

खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।।
(रा० ३/२३-२)

उसने यह भी निश्चय प्रकट किया कि विराध और कबन्ध भी बड़े विकट बलवान निश्चिर थे। बाली से तो रावण स्वयं ही बुरी तरह पराजित होकर उसकी काँख में बंदी रहा है। वह कहती है जब इन वीरों को खेल में ही मौत के घाट उतार दिया तो तुम कहाँ तक बच सकोगे राम के पराक्रम पर विचार करो और समझो-

जेहि जलनाथ बँधायउ हेला। उतरे प्रभु दल सहित सुबेला।।
कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू।।
सभा माझ जेहिं तव बल मथा। करि बरूथ महुँ मृगपति जथा।।
अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके।।
तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू।।
(रा० ६/३७-१ से ५)

जिन्होंने खेल में ही समुद्र को बँधवा दिया और सेना के सहित आकर सुबेल श्रृंग पर उतर गए, वे करुणानिधान सूर्य कुल के सूर्य तुम्हारे हित के लिए अपना दूतकर भेजकर तुमसे मैत्री का हाथ बढ़ाया है। जिनके दूत ने भरी सभा में तुम्हारे बल का उसी प्रकार मंथन किया जैसे हाथियों के समूह को सिंह मथ डालता है। अंगद और हनुमान जैसे जिनके अनुचर हैं, जो समरांगण में विकट वीर हैं उस राम को फिर भी तुम बार-बार मनुष्य कहते हो और व्यर्थ के अभिमान में ममता और मद का भार ढो रहे हो अथवा व्यर्थ के मान और ममता के मद में बह रहे हो। समुद्र को बाँधना एक अद्भुत घटना है, जो उन्होंने खेल में कर दिखाया। सुबेल श्रृंग पर काल का पहरा था ऐसा कई ग्रन्थों में मिलता है और उस श्रृंग पर अकेले ही नहीं बल्कि सेना सहित आकर उतर गए यह दूसरा आश्चर्य है। सुबेल पर उतरने की महत्ता को प्रहस्त ने भी कहा था। एक दूत का सभा में इस प्रकार मान मर्दन करते हुए तुम्हें लज्जित करना यह लज्जा के लिए भी लज्जाप्रद है। दूत को करुणा करके भेजा था, उसको तुम उनकी निर्बलता समझ बैठे हो। अंगद और हनुमान ये दोनों अकेले ही तुम्हारे पौरुष को धूल में मिला चुके हैं, जिनके अनुचर का पाँव भी तुम्हारे महायोद्धा नहीं उठा सके, भला उस राम को मनुष्य समझकर उनसे युद्ध करने की बात कितनीं उपहासात्मक है। स्वयं विश्व विजेता होने का मान तथा महासुभट भाई और पुत्र का ममत्व यही तुम्हारे इस मद का कारण है जो कि

अब व्यर्थ है, क्योंकि सबके पौरुष का माप-तोल इन दोनों राम के अनुचरों द्वारा हो चुका है अतः तुम इस मद में मत बहो। यह सब कहते हुए वह रावण की मुख मुद्रा को देखती है, किन्तु वहाँ कोई सन्तोषजनक प्रतिक्रिया न देख हताश होते हुए पुनः कहती है-

**अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा।।**
**काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।।**
**निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।।**
**(रा० ६/३७-६ से ८)**

हे कंत ! शोक की बात है कि तुम ने राम से विरोध किया। शोक की बात इसलिए कि राम विरोधी के लिए यह त्रिलोकी अग्नि से भी अधिक संतापप्रद है-

**सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।।**
**(रा० ३/२-८)**

राम विमुखी को कभी सुख नहीं मिल सकता-

**अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।।**
**(रा० ७/१२२-१८)**

सुख ही प्राणिमात्र की चाह है, किन्तु वह राम विमुखी को कभी मिल ही नहीं सकता। मन्दोदरी कह रही है कि यह शोक की बात है कि तुमने आनन्द सिन्धु सुख राशि राम से ही विरोध कर लिया और इतना समझाने पर भी तुम्हारे हृदय में बोध नहीं उत्पन्न हो रहा। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि तुम अब काल के बस में हो गए हो। काल कभी दंड लेकर किसी का वध नहीं करता, वह जिसको अपना ग्रास बनाना चाहता है उसके धर्म, बल, बुद्धि और विचार, ये चारों हर लेता है, तुम्हारे ये चारों ही हरे गये हैं इसलिए यही सत्य प्रतीत हो रहा है कि काल तुम्हारे निकट आ पहुँचा है। जिसके निकट काल आ जाता है उसको भी ऐसा ही भ्रम हो जाता है जैसा कि इस समय तुम को हो गया है। भ्रम में बुद्धि विपरीत ही सोचती है और तुम भी इस समय 'हित अनहित मानहुँ रिपु प्रीता' हित को अनहित तथा शत्रु को ही मित्र मान बैठे हो, यही काल की निशानी है। मन्दोदरी तड़प उठी है। रावण की मुखाकृति यह बता रही है कि उसका यह समझाने का आखिरी प्रयत्न भी व्यर्थ रहा है। वह कह रही है कि यह तुम्हारा दोष नहीं अब तुम्हारे निकट काल आ चुका है। यह बात वह प्रकारान्तर से कहती है सीधे नहीं। यह उसकी वाक्य

कुशलता है।

सचमुच रावण में अब धर्म, बल, बुद्धि और विचार नहीं रह गये हैं। धर्महीन तो वह उसी दिन हो गया जब पर नारी चुराने का विचार किया। धर्म के जाते ही बल, बुद्धि, विचार तो स्वयं ही चले जाते हैं क्योंकि ये सब धर्म के ही साथ रहते हैं। गोस्वामी जी ने सीता हरण के अवसर पर ही यह सत्य उद्‌घाटित किया है-

**जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं।।**
**सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं।।**
**इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा।।**

**(रा० ३/२८-८ से १०)**

अंगद के द्वारा उसके बल का भी पता चल गया। भुजदंड को पृथ्वी पर पटकने मात्र से स्वयं को संभाल न सका, सिंहासन से लुढ़ककर भूमि पर आ गिरा। इतनी बार समझाने पर भी अपना हित-अनहित समझ में नहीं आ रहा यह प्रत्यक्ष उदाहरण है कि बुद्धि और विचार समाप्त हो चुके हैं। मन्दोदरी इस यथार्थ का अनुभव कर व्यथित हो जाती है और अपनी पीड़ा को प्रकट करते हुए कहती है-

**दुइ सुत मरे दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु।**
**कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ विमल जसु लेहु।।**

**(रा० ६/३७)**

दो पुत्र मारे गये, लंका जलकर खाक हो गई। हे प्रिय! अब भी आप उत्तर देते हो वा अब भी इसे पूरा कर सकते हो? हे नाथ! कृपा सागर रघुनाथ का भजन करके आप निर्मल यश को प्राप्त कीजिए, इसी में कल्याण है। 'पूर' शब्द का अर्थ उत्तर देना भी होता है और पूर्ण करना भी, दोनों ही अर्थ यहाँ पर हो सकते हैं। आखिरी कथन मन्दोदरी का यह है कि दो पुत्र मारे गये, लंका जलाई गई, कोई विशेष हानि की बात नहीं हुई है। सर्वनाश से बचने के लिए मेरी प्रार्थना मानिये और कृपासागर रघुनाथ अर्थात् समस्त जीवों के स्वामीं प्रभु राम का भजन कर के दुनिया में निर्मल यश लीजिए। एक आर्य नारी पति को अधर्म मार्ग से बचाकर धर्म में प्रवृत्त करने के लिए इससे अधिक भला क्या कर सकती है। यह मन्दोदरी का आखिरी प्रयत्न था इसके उत्तर में रावण आज पूर्णतः मौन रहा, न तो अपनी महिमा का गान किया और न ही उसने मन्दोदरी का उपहास, जैसा कि पहले किया

करता था। इसके बाद मन्दोदरी ने भी उसे पुनः कुछ कहना उचित नहीं समझा क्योंकि वह काल के कठोर नियमों को समझ चुकी थी।

रावण की मृत्यु तथा सर्वनाश के पश्चात् विलाप करते हुए हम पुनः एक बार इस कथा प्रसंग में मन्दोदरी को देखते हैं। यहाँ पर भी वह यही बात दुहराते हुए क्रन्दन करती है-

**काल बिबस पति कहा न माना। अग जग नाथु मनुज करि जाना।।**

**(रा० ६/१०४-१३)**

यह बात मैं पहले ही बता आया हूँ कि यह मन्दोदरी की रावण को समझाने की बात आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में नहीं है, अध्यात्म रामायण में है अवश्य पर इस योजना के साथ नहीं, वहाँ पर मेघनाद वध के बाद है। मानस में नारी का यथार्थ स्वरूप और उसके कर्त्तव्य की तरफ संकेत करने के लिए ही महाकवि ने मन्दोदरी के इस उज्ज्वल चरित्र की रचना की है। मन्दोदरी का प्रयत्न एक सुसाँस्कृत आर्य महिला का प्रयत्न है। वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकी तो इसका कारण उसके प्रयत्न की कमी नहीं है बल्कि रावण का काल विवश होना है, किन्तु एक बार ही नहीं उसने ५ बार रावण को समझाया है, जिसमें चार बार का वृहद विवेचन महाकवि ने किया है और एक बार केवल इतना ही कहकर 'मयतनया कहि नीति बुझावा' संकेत कर दिया है। मन्दोदरी के जीवन चरित्र चित्रण से गोस्वामी जी का नारी जाति के प्रति क्या दृष्टिकोण है, यह आसानी से समझ में आ जाता है। जब वह प्रथम बार समझाती है तो रावण उसकी बात मान जाता है, दुबारा समझाती है तो बात नहीं मानता किन्तु विहँसते हुए उसे हृदय से लगा लेता है, तीसरी बार समझाने पर हृदय से नहीं लगाता किन्तु हँसते हुए उसको निर्भय होने को कहता है। चौथी बार समझाने पर वह उसका उपहास करता है और साथ ही नारी जीवन को अवगुणमय बताता है। इस प्रकार कटुवचन के प्रहार होने पर भी मन्दोदरी अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होती और एक बार पुनः प्रयत्न करती है।

इसमें महाकवि यह बताना चाहते हैं कि नारी को सदैव अपने पति एवं परिवार की कुशलता के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके साथ ही गोस्वामी जी ने नारी की इस गरिमा को भी इस प्रसंग के माध्यम से प्रकट किया है कि वह अपमानित होकर भी अपने पति का अनिष्ट नहीं सोचती, सदा उसके हित की चिन्ता में ही रत रहती है। आज भी हमें भारत की आर्य देवियों में यह विशेषता

देखने को मिलती है। वे अपनी सेवा, सहिष्णुता आदि दिव्य गुणों के द्वारा अपने पत्नीत्व की पालना करती हैं। उनके हृदय में स्वयं के सम्मान और सुख का आधार पति का सम्मान और सुख होता है। वे पति एवं परिवार के हित में विविध प्रकार की पीड़ा को मुस्कराहट के साथ सह लेती हैं। उनका सरल तथा सरस हृदय सतत प्रियतम की पूजा में ही अनुरक्त रहता हैं।

यह सत्य है कि नारी प्रकृति की पुत्री है, वह अपनी माता के समान ही स्वयं को परार्थ समर्पित कर सुखी एवं सन्तुष्ट होती है। नारी की यह पावनता आज भी भारत में अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रों में देखने को मिलती है, किन्तु शहरों में भी इसका अभाव नहीं है। हमें यह याद रखना चाहिए कि गोस्वामी जी की रचना में नागरिक संस्कृति का ही पूर्ण विवेचन है। जिन देवियों के आदर्श चरित्र का वर्णन है, वह अधिकतर राज परिवार से ही सम्बन्धित हैं। तत्कालीन ग्रामीण जीवन के वर्णन में उन्होंने कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई है। यदि वे चाहते तो कथा प्रसंग को लेकर गाँवों का भी वर्णन कर सकते थे। जिस प्रकार वनवासी राम को चित्रकूट के रास्ते में ग्रामवासी मिलते हैं, उनकी शोभा को देख मुग्ध होते हैं उनसे-'जाब जहँ तहँ लगि पहुँचाई' की प्रार्थना करते हैं, उन्हीं प्रसंगों में कथा विस्तार कर गाँवों की स्थिति का भी वर्णन कर सकते थे, किन्तु कवि को राम चरित्र के सिवा अन्य किसी कथा के विस्तार में रुचि नहीं है क्योंकि राम का जीवन नगर का जीवन था इसलिंए उसकी साज-सज्जा, शोभा-सुषमा के वर्णन में कवि की विशेष रुचि है। नगर का बाह्य सौन्दर्य ही नहीं अपिंतु नागरिकों के आन्तरिक सौन्दर्य के उद्घाटन में भी कवि की प्रतिभा पूर्ण रूप से अनुरक्त दीखती है। इसी प्रकार से ग्रामीण नारियों की सरलता तथा सरसता की भी थोड़ी सी झाँकी दिखाई है, किन्तु आदर्श रूप में जिन नारियों के चरित्र को प्रस्तुत किया है, वे सभी राजमहलों में रहने वाली सौभाग्यशाली देविंयाँ हैं। कवि हृदय नारी के प्रति इतना श्रद्धावान् है कि महाकाव्य के प्रतिनायक राक्षसेन्द्र रावण की पट्टमहिषी मन्दोदरी को भी एक सजग नीति विशारद, बहुश्रुता, वेद-विद्या विदुषी के रूप में उपस्थित किया है। मानस के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि जो किसी-किसी के मत से स्त्री को वेद के पठन-पाठन का अधिकार नहीं है, उसका समर्थन महाकवि नहीं करते। मानस के अध्ययन से एंक अर्द्धाली को उद्धृत करते हुए कुछ विद्वान् यह सिद्ध करनें की चेष्टा करते हैं कि गोस्वामीजी भी इस बात के समर्थक थे कि नारी वेदादि ज्ञान की अधिकारिणी नहीं है। यह अर्द्धाली बालकांड में उस अवसर की है

जहाँ पर राम कथा के विषय में त्रिभुवन गुरु शंकर से प्रार्थना करते हुए पार्वतीजी अपनी जिज्ञासा प्रकट करती हैं-

**जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।।**

**(रा० १/११०-१)**

किन्तु मेरे विचार से यह शिष्य का कार्पण्य है, गोस्वामी जी का मन्तव्य नहीं। यदि ऐसा होता तो भगवान् शिव पार्वती को 'श्रुति सिद्धान्त निचोरि' न सुनाते। इसे यह भी कहा जा सकता है कि यह बात जो कवि ने पार्वती के द्वारा कहलाई है, वह तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं की अभिव्यक्ति है और उसके विपरीत कथा-प्रसंग में बार-बार वैदिक उद्धरण देते हुए कवि ने अपना मत व्यक्त किया है और सिद्ध किया है कि नारी वेदादि के श्रवण-मनन, पठन-पाठन की उसी प्रकार से अधिकारिणी है जिस प्रकार पुरुष। नारी केवल वेदादि के सिद्धान्त सुन ही नहीं सकती बल्कि उसका अवसर आने पर उपदेश भी कर सकती है। महाकवि ने इस मन्तव्य को प्रकारान्तर से बड़ी कुशलता के साथ प्रकट किया है। मानस में हम देखते हैं कि यत्र-तत्र देवियाँ वैदिक सिद्धान्तों की बड़ी कुशलता से व्याख्या करती हैं। मयदानव की पुत्री तथा राक्षसेन्द्र की पत्नी मन्दोदरी द्वारा प्रभु के विराट रूप की वेद सम्मत व्याख्या उसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है। उपदेश के प्रारम्भ में ही वह कहती है-'लोक कल्पना वेद कर अंग-अंग प्रति जासु'। हम ऋग्वेद में इसी सत्य को सुनते हैं-'तथा लोकानकल्पयत्' । अथर्ववेद में कहा गया है-

**यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसो भवन्। अंगानि यस्य मानवः एकं मं तं ब्रूहि।**
**यत्रादित्याश्चरुद्राश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोका प्रतिष्ठिताः।**
**यस्य त्रयस्त्रिशददेवा अंगे गात्र विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवा नेके ब्रह्मविदो विदुः।**

**(अथर्व २० /७/ १८,२२,२७)**

जिस परमात्मा का सिर वैश्वानर अग्नि है, आँख अंगिरस है और शरीर के विभाग सब प्राणी बने हैं, वह सर्वाधार ईश्वर है जिसके विश्व रूप में बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र और अष्ट बसु समाहित हैं। भूतकाल में जो हो चुका था, भविष्य में जो होगा और वर्तमान काल में जो कुछ है; वह सब जिसमें प्रतिष्ठित हैं, जिसके शरीर के अंगों में तैंतीस देव विभक्त हो कर रह रहे हैं, इन तैंतीस देवों को अकेले ब्रह्मज्ञानी जानता है। अथर्ववेद के इस कथन में जिस रहस्य की तरफ संकेत है, मन्दोदरी द्वारा वर्णित विश्व रूप में उसी की विवेचना है। मैंने इस प्रसंग

में अधिकांश वेदों के ही उद्धरण दिये हैं केवल इसलिए कि कई आलोचकों को यह भ्रम हो गया है कि गोस्वामी जी वेद की दुहाई देकर पुराणों का ही उद्धरण देते हैं। एक महाशय ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि तुलसी क्या आचार्य शंकर तक, वेद के गूढ़ रहस्यों तक नहीं पहुँचे थे। आचार्य शंकर की प्रस्थानत्रयी में वेदान्त आते हैं, वेद इनसे पृथक् हैं। अब ऐसे दुराग्रही विद्वानों के विषय में क्या कहा जाये? तुलसी वेद के साथ पुराण का भी नाम लेते हैं इसमें सन्देह नहीं। अपने महाकाव्य के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं-

**नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।**

महाकवि ने जहाँ तक वेद की दुहाई दी है वहाँ पर वैदिक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनका यह कहीं भी कहना नहीं है कि सारी बातें वेदों से ही ली गई हैं। आलोचकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी रामकथा रूपी सरिता के दो किनारे हैं जिसको वे कहते हैं 'लोक बेद मत मंजुल कूला' पहले भी इस विषय में बहुत कुछ कहा गया है। जिनको यह आशंका हो कि गोस्वामी जी को वेदों के रहस्य की जानकारी थी वा नहीं उन्हें आग्रह रहित हो दोनों ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए, किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सनातन धर्म की परम्परा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ये सभी वैदिक साहित्य में परिगणित होते हैं। जिस प्रकार वेदों में हमें समान मन्त्रों का दर्शन होता है उसी प्रकार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में भी। संहिता भाग के सैद्धान्तिक मन्त्रों का संकलन ही बहुधा उपनिषदों में मिलता है। कुछ मन्त्र स्वतन्त्र भी हैं इसमें सन्देह नहीं। उपनिषदें उतनी ही पुरानी हैं जितनी कि संहिताएँ। वेद शब्द का प्रयोग दोनों के लिए समान रूप से होता रहा है। ग्रन्थ दृष्टि से चारों वेदों को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करना मेरे विचार से उचित नहीं है क्योंकि सामवेद के सारे मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। इस विषय में इस युग के महान् वैदिक विद्वान् ब्रह्मर्षि सातवलेकर का कथन समीचीन है कि चार वेद विषय ज्ञान के आधार पर ही स्वीकार किये गये हैं मन्त्रों के नहीं। जब हम ज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो ब्राह्मण और उपनिषद् उन्हीं विषयों के प्रतिपादक हैं जिनकी संहिताएँ। मैं समझता हूँ कि इस विषय पर संकेत मात्र से ही यथार्थ को समझ लें। महाकवि ने वेद के सिद्धान्त सार के वर्णन की प्रतिज्ञा की है और उसको पूर्ण भी किया है। विश्व रूप विवेचन की योजना करके कवि ने जहाँ पर वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वहाँ साथ ही नारी का वैदिक विज्ञान में अधिकार तथा अवसर आने पर उसके उपदेश करने का भी

अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया है। जिन लोगों की दृष्टि में गोस्वामी जी नारी के प्रति हेय दृष्टि रखते हैं उनको आँख खोलकर इन प्रसंगों को पढ़ना तथा मनन करना चाहिए।

मानस के पात्रों में नारी के प्रति कितना सम्मान है, इसका बोध इस बात पर ध्यान देने से हो जाएगा कि राक्षसेन्द्र रावण के समक्ष जो भी कोई दूसरा राम की महिमा का गान करता है व सीता को लौटा देने की सलाह देता है, उसका उत्तर वह पद प्रहार तथा दुर्वचनों द्वारा ही देता है, किन्तु मन्दोदरी केवल बार-बार राम के पराक्रम के वर्णन तथा सीता के लौटाने की सलाह ही नहीं देती बल्कि नीच, निर्लज्ज, बुद्धिहीन, विचारहीन, कालबस आदि कठोर शब्दों का प्रहार भी करती है, फिर भी वह उस पर पद प्रहार वा बल प्रयोग नहीं करता, विहँस कर बात को टाल देता या मौन होकर चला जाता है।

कवि ने कहा है'नारी बचन सुनी बिहिष समाना' वह बाण के समान तीखे हृदय बेधक मन्दोदरी के वचनों को सुनकर भी मौन रह जाता है, इससे पाठकों को समझ लेना चाहिए कि यह नारी के प्रति सम्मान का परिणाम है या अपमान का। मानस के नायक वा सतपात्र ही नहीं प्रतिनायक की भी नारी के प्रति सम्मान की ही दृष्टि है।

# स्नेहमयी नारी हृदय की सुकुमारता

मानस में विवेचित प्रमुख नारियों के चरित्र द्वारा कुछ उदाहरणों के साथ महाकवि का नारी-जाति के प्रति क्या दृष्टिकोण है, यह बताने का प्रयास किया गया है। जैसे कि पहले कहा गया है कि महाकवि जीवन के हर्ष विषादमय प्रसंगों में नारी हृदय को विशेष कर अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुनते हैं क्योंकि नारी हृदय स्वभावतः सात्त्विक तथा सुकोमल होता है, उसमें बाह्य जगत् की घटनाओं का प्रतिबिम्ब शीघ्र सहजता से स्पष्ट हो जाता है, दूसरी बात यह है कि वह अपने अनुभव सत्वरता से व्यक्त कर देने को भी व्यग्र हो उठती है और उसे बड़ी कुशलता से दूसरे के हृदय तक पहुँचा देती है। गोस्वामी जी एक विरक्त संत होते हुए भी कवि का हृदय रखते थे, किन्तु उनका वह कवि हृदय भावनाओं व कल्पनाओं में बह जाने वाला नहीं था। उनके सिद्धान्त में हृदय का विवेक द्वारा संचालित होना आवश्यक है इसीलिए विवेकविहीन भक्त को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं किया। उनका श्रुति सम्मत भक्ति पथ ज्ञान, वैराग्य से युक्त है-

**श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।**

**(रा० ७/१००-ख)**

यही उनके साहित्य सिद्धान्त का सार है। जहाँ भी कहीं वे कोमल से कोमल भावनाओं का विवेचन करते हुए दिखाई देते हैं, वहाँ ही उनके सरल हृदय के साथ सजग बुद्धि का भी दर्शन हो जाता है। कोरे ज्ञान के वे कट्टर विरोधी हैं इसमें संदेह नहीं, किन्तु भक्ति पथ उनका अंधा नहीं है, उसको प्राप्त करने में **'ग्यान बिराग नयन'** की अनिवार्य आवश्यकता है इसलिए उनकी लेखनी हर स्थान पर, हर अवसर पर मर्यादित ही होती है। मर्यादा शब्द का सही अर्थ न समझकर कुछ आलोचकों ने कई स्थानों पर उन पर आक्षेप भी किया है, किन्तु पहले मर्यादा का सही स्वरूप क्या है, यह समझ लेना चाहिए।

मर्यादा का अर्थ है **'मर्यः या आदीयते'** वेद में 'मर्य' शब्द मानव के लिए प्रयुक्त हुआ है। मर्यादा है, मानवों का हित करने वालों ने जो-जो नैतिक मूल्य

स्वीकार किये हैं उसे मर्यादा कहते हैं। 'मर्या' का अर्थ सीमा भी होता है। ऋग्वेद के दशम मंडल में सप्त मर्यादाओं का संकेत है। मंत्र इस प्रकार है-

**सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षु स्तासामेकाथिदभ्यं तुरो गत।**

त्रिकालज्ञ मनीषियों ने सात-सात मर्यादाएँ निश्चित की हैं, उनमें से एक का भी उल्लंघन करने वाला पापी होता है। उन सात मर्यादाओं का विवेचन स्मृतियों में इस प्रकार है -चोरी, गुरु सत्त्व भोगी, ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापान, किए हुए पापों की पुनरावृत्ति और असत्य भाषण, इनको न करना। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ और भी बातें इसमें समाविष्ट हो सकती हैं जो मानवों के हित में हों, जैसा कि पहले बताया गया है। गोस्वामी जी ने ऐसा कहीं भी कोई प्रयोग नहीं किया है जो मानव के हित में बाधक हो इसलिए उनकी कृति में मर्यादा का उल्लंघन ढूँढ़ना बुद्धि भ्रम के सिवा और कुछ नहीं है।

कवि को यह पूर्ण अधिकार होता है कि वह अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में किसी बंधी हुई मान्यताओं को त्याग कर आगे बढ़े। भरत का माता को कटुवचन कहना, मन्दोदरी का रावण को कटुवचन कहना आदि मर्यादा का उल्लंघन नहीं है बल्कि इन प्रसंगों में मानव हित की व्यवस्था निहित होने से सही अर्थों में मर्यादा का ही संरक्षण है। इसी प्रकार से मानस महाकाव्य में सर्वत्र इस दृष्टि का निर्वाह हुआ है। महाकवि ने काव्य का सही प्रयोजन भी इसी में स्वीकार किया है-

**कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।**

**(रा० १/१४-९)**

कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी है जो गंगा जी की तरह सबका हित करने वाली हो। मानव हित की भावना से ही महाकवि ने अपने काव्य का सृजन किया है इसलिए वह मर्यादामय काव्य कहा जाता है। सर्वहितकारी होने से ही महाकाव्य के नायक श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। कविता में सुकोमल भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम नारी होती है और महाकवि ने भी उसी प्रकार इसके लिए नारी को ही चुना है। किन्तु वह नारी समाज भी सर्वत्र मर्यादानुसार ही सामने आता है। श्रृंगार के वर्णन में उनकी कुशलता का कमाल देखिए। राम जनक के आमन्त्रण पर धनुष मंडप में प्रवेश करते हैं, वहाँ पर-

**जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।।**



**(रा० १/२४१-४)**

उसमें जनकपुर नारियाँ श्री राम के रूप में श्रृंगार रस को ही साकार देख रही हैं। उनके अन्तर भावों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

**नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप।**
**जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।।**

**(रा० १/२४१)**

इस दोहे में सब कुछ कितने मर्यादित शब्दों में कह दिया गया है, यह कवि की कुशलता का एक अद्‌भुत चमत्कार है। मानस में कई अन्य स्थानों पर भी इसके अनुपम उदाहरण मिल जाएँगे। अन्य रसों की अपेक्षा कवि ने श्रृंगार और करुण रसों के विवेचन में नारी हृदय का विशेष रूप में सहारा लिया है। इन भावों का उदय जिस प्रकार सुसभ्य तथा सुशिक्षित राज महलों में व नगरी में रहने वाली नारियों में होता है उसी प्रकार ग्रामीण ग्राम-वधूटियों में भी, भावोद्रेक के लिए शिक्षिता तथा अशिक्षिता की बात नहीं वह तो सहज तत्त्व है। राम की सुकुमारता की अनुभूति जिस प्रकार राजमहलों में रहने वाली सुशिक्षिता देवी सुनयना तथा राजकुमारी सीता को होती है, उसी प्रकार ग्रामीण बालाओं में भी उसकी अनुभूति है। सीता की माता सुनयना का श्री राम के प्रति वात्सल्य भाव है। वात्सल्य की यह महिमा है कि वे धनुष भंग के समय राम को बाल मराल अर्थात् हंस के बच्चे के समान अनुभव करती हैं। उनके हृदय में राम की सुकुमारता वात्सल्य भाव से अभिभूत है इसलिए धनुष की कठोरता का अनुमान कर व्यथित हो जाती हैं किन्तु राजकुमारी सीता के हृदय में वही सुकुमारता श्रृंगार रस से आप्लावित है। राम का धनुष भंग के लिए तैयार होना सीता को भी असह्य वेदनाप्रद हो रहा है। अधीर हो मन ही मन कहती है-

**बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा।।**

**(रा० १/२५८-५)**

हे विधाता ! मैं हृदय में धैर्य किस प्रकार धारण करूँ? कभी सिरिस सुमन के कन से हीरे को छेदा जा सकता है? सुनयना के दृष्टि में राम बाल मरालवत सुकुमार हैं, किन्तु सीता की दृष्टि में सिरिस सुमन कण के समान सुकोमल हैं क्योंकि वहाँ वात्सल्य भाव है और यहाँ पर श्रृंगार। इसी प्रकार जनकपुर की अन्य देवियाँ भी राम की सुकुमारता का अनुभव कर रही हैं और धनुष भंग करने में सभी अपने-अपने पुण्य को राम की सहायता में समर्पित करती हैं। यह घटना तब की है जब राम सचमुच कुमार अवस्था में थे, लगभग केवल

पन्द्रह वर्ष के किन्तु राम का वनवास उनकी सताइस वर्ष की अवस्था में हुआ है, अब वे किशोर नहीं हैं उनकी युवा अवस्था है, फिर भी मार्ग में उनको देखकर सदय हृदय ग्रामीण महिलाएँ भी व्याकुल हो उठती हैं। राम की सुकोमलता तथा सुकुमारता को देख उन ग्रामीण देवियों के हृदय में जो व्यथा हो रही है उसका वर्णन महाकवि के ही शब्दों में देखिए-

**ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे।।**

**(रा० २/८९-२)**

हे सखी ! भला वे माता-पिता कैसे हैं जिन्होंने ऐसे सुकुमार बालकों को वन में भेज दिया है। इन देवियों की दृष्टि में राम बालकवत् प्रतीत हो रहे हैं। आगे ग्राम-वधूटियों की आन्तरिक अवस्था का कवि वर्णन करते हुए कहता है-

**नारि सनेह बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं।।**
**मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदय कहहिं बर बानी।।**

**(रा० २/१२१-१,२)**

वनवासी वेश में राम को देखकर स्त्रियाँ स्नेह से इस प्रकार व्याकुल हो जाती हैं जैस चकई पक्षी सन्ध्या के समय हो जाती है। ऐसा सुना जाता है कि चकवा और चकवी दोनों का रात्रि में वियोग हो जाता है। वियोग पीड़ा के भय से जिस प्रकार चकवी दुःखी हो जाती है, उसी प्रकार ग्राम वधूटियाँ व्याकुल हो जाती हैं। राम, सीता, लक्ष्मण के मृदुल चरण कमल को देख तथा मार्ग की कठोरता को जानकर व्यथित हृदय से उत्तम वचन कहती हैं। हृदय को छूती हुई वाणी सदैव उत्तम होती है, उनका प्रेमपूर्ण हृदय सुकुमार पथिकों की कोमलता तथा मार्ग की कठोरता को देख व्यथित हो गया है। अन्तर की पीड़ा को व्यक्त करती हुई कहती हैं-

**परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे।।**
**जौं जगदीस इन्हहि ब्रनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा।।**
**जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं।।**

**(रा० २/१२१-३ से ५)**

इनके सुकोमल लाल चरणों को स्पर्श कर पृथ्वी वैसे ही सकुचा जाती है जैसे हमारे हृदय सकुचा रहे हैं। यह भाव विह्वलता की सीमा है। पथिकों के चरण इस समय पृथ्वी के साथ ही उन महिलाओं के हृदय को भी छूते जा रहे हैं। वे इस प्रकार अनुभव कर रही हैं जैसे उनका हृदय अपनी कठोरता तथा चरण कमलों की

मृदुता को अनुभव कर सकुचा रहा है, वैसे ही भूमि भी सकुचा रही होगी।

पाठक थोड़ा उन देवियों की आन्तरिक दशा की सही अनुभूति करें और कवि की इस अभिव्यक्ति के चमत्कार को देखें। उनमें से कोई कहती है,यदि जगदीश ने इनको वनवास ही दिया था तो रास्ते को सुमनमय क्यों नहीं बना दिया? अभिप्राय यह है कि ये चरण कठोर भूमि पर चलने योग्य नहीं हैं। वे जानती हैं कि जगत् में जीवों की गति जगदीश के ही आधीन है इसलिए उसी पर उन्हें रोष आ रहा है। इससे पहले भी कइयों ने जगत् के विधान कर्त्ता की निपट निरंकुशता पर क्षोभ व्यक्त किया है-

**सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं।।**
**निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू।।**
**रूख कलपतरु सागर खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा।।**

**(रा० २/११९-२,३,४)**

विधाता के सारे काम उलटे हैं कारण कि वह निरंकुश है, उस पर किसी का अंकुश नहीं, जो मन में आता है वही करता रहता है, इसलिए वह निष्ठुर और निशंक भी है। जिसके सिर पर कोई दूसरा नहीं होता उसके कार्य ऐसे ही मनमानी होते हैं। प्रमाण में विधाता के विपरीत कार्य के ढेर सारे प्रमाण उपस्थित कर देती हैं। चन्द्रमा को रोगी और कलंकयुक्त बना दिया, कल्पवृक्ष को रूख तथा समुद्र को खारा कर दिया, जिस विधाता के मनमानी कार्य हैं उसी ने राजकुमारों को वन में भी भेज दिया। यदि ऐसे राजकुमार को वनवास भेज दिया, तो फिर-'**कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू**' भोग विलास की सृष्टि ही व्यर्थ में की और तब एक कहती है यदि इनको वन में ही भेजना था तो उसको सुमनमय मार्ग का निर्माण करना चाहिए था किन्तु उसकी यह बात दूसरों को नही जची। वह कहती है,अरी पगली ! क्या तू समझती है ये पुष्प पर चलने योग्य हैं ? उसकी दृष्टि में इनके लिए पुष्प भी कठोर हैं। अपनी अन्तर की चाह प्रकट करते हुए कहती है, यदि विधाता मुझे माँगने से दे देवे तो मैं इनको पुष्प पर नहीं अपनी आँखों में ही रख लूँ। फूल से भी सुकोमल नेत्र होते हैं, फूल भी उसमें काँटे के समान चुभने वाला होता है इसलिए वह कहती है फूल नहीं आँखें ही इनके लिए उचित स्थान है। कितनी हृदय-स्पर्शी संवेदना है उस नारी के अन्तर में। कवि हृदय इस समय कितना विह्वल हो उठा है, अपने इष्ट को पयादे पथ पर चलता हुआ अनुभव करके। इसे कवि की उद्भावना कही जाये या उसके भक्त-हृदय की भावना। ऐसा लगता है कि इस सारे

प्रसंग में स्नेह सुधापूरित नारियों के रूप में कवि की भक्त-आत्मा ही बोल रही है। वही अपने इष्ट को विधाता की करनी से परे प्राकृतिक जगत् की सीमा से सर्वथा ऊपर अनुभव करती है। यहाँ पर साहित्य में वर्णित नवों रस की परिधि से परे विशुद्ध सत्त्व से उद्भूत भक्ति रस से परिप्लावित उस नारी का अन्तर बोल रहा है कि ये पुष्प से भी सुकोमल, सुकुमार नेत्रों में ही रखने के योग्य हैं। अपने महाकाव्य मानस में तो महाकवि प्रसंग को अधिक न बढ़ाकर थोड़े से वर्णन में ही संतोष कर लेते हैं। हाँ, उन ग्रामवासियों द्वारा इतना अवश्य कहला देते हैं कि-

**एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए।।**
**जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी।।**
**देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी।।**
**(रा० २/१२०-२, ३,४)**

इससे यह संकेत मिलता है कि ये ग्रामवासी सुसभ्य तथा सुसंस्कृत हैं। वेदशास्त्र की कथायें सुनते रहते हैं। गोस्वामी जी की यह मान्यता यहाँ भी लक्षित होती है कि वेदादि सद्-शास्त्रों के श्रवण-मनन का अधिकार सभी नर-नारियों को समान रूप से है।

महाकवि ने सरल तथा सरस हृदया नारी के द्वारा राम की सुकुमारता का जिस प्रकार से विवेचन किया है, उसको देखते हुए यह कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं दिखाई देती कि उनका अन्तर पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक सात्त्विक, शुद्ध और सरल रूप में स्वीकार करता है। मानस के अतिरिक्त उन्होंने गीतावली तथा कवितावली में भी नारी की सुकोमलानुभूति का बड़ी सरसता के साथ वर्णन किया है। गीतावली को तो हम उनकी एक कोमल कृति ही कह सकते हैं। उसमें राम जन्म, शिशु लीला, बाल क्रीड़ा, विवाह, वनवास, चित्रकूट शोभा, विभीषण मन्दोदरी प्रबोध, युद्ध में लक्ष्मण मूर्च्छा, राम विलाप आदि विषयों का ही विवेचन है, जिसमें प्रसंग के वर्णन में पुरुषों की अपेक्षा नारी पात्रों की प्रत्येक स्थान पर प्रमुखता पाई जाती है। हर एक अवसर पर कवि नारी की कोमल अनुभूतियों के माध्यम से उल्लास, आनन्द, विषाद, विरह, व्यथा तथा विविध प्रकार के अन्य सात्त्विक भावों का वर्णन करता है। विशेष रसानुभूति के लिए पाठकों को स्वयं ही उस कृति को पढ़ना चाहिए। मैं यहाँ पर राम वनवास के समय उनको पयादे ही मार्ग में चलते हुए देख, वनवासी महिलाओं की व्यथा और उनकी दशा का वर्णन करते हुए महाकवि द्वारा रचित कुछ पदों को केवल पाठकों के परिचय मात्र के

लिए उद्धधृत करता हूँ। राम-सीता, लक्ष्मण को देखकर मगवासी स्त्रियाँ आपस में एक दूसरों से कहती हैं-

**सखि ! नीके कै निरखि, कोऊ सुठि सुन्दर बटोही।**
**मधुर मूरति मदनमोहन जोहन-जोग,**
**बदन सोभासदन देखि हौं मोही।।**
**साँवरे-गोरे किसोर, सुरमुनि-चित्त-चोर,**
**उभय-अन्तर एक नारि सोही।।**
**मनहु बारिद-बिधु बीच ललित अति,**
**राजतितड़ित निज सहज बिछोही।।**
**उर धीरजहि धरि, जनम सफल करि,**
**सुनहि सुमुखि! जनि बिकल होही।**
**को जानै, कौने सुकृत लह्यो है लोचन लाहु,**
**ताहितें बारहिं बार कहति तोही।।**
**सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,**
**सुरति बिसरि गई आपनी ओही।**
**तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,**
**कौन जानै,कहाँतें आई, कौनकी को ही।।**

**(गीतावली २/१९)**

'अरी सखी ! ज़रा अच्छी तरह देख, कोऊ अत्यन्त सुन्दर बटोही अर्थात् पथिक जा रहे हैं। कामदेव को मोहित करने वाली इनकी मूर्ति देखने ही योग्य है। शोभा के धाम इनके मुखमंडल को देख, मैं तो मोहित हो गई हूँ। देवता और मुनियों के भी चित्त चुराने वाले ये दोनों साँवरे और गौरे किशोर हैं। दोनों के बीच में एक सुन्दरी सुकुमारी सुशोभित हो रही है, ऐसा लगता है मानों मेघ और चन्द्रमा के बीच में अति ललित विद्युत अपनी सहज चंचलता को छोड़कर विराज रही है। हे सुमुखी ! हृदय में धैर्य धारण कर जो मैं कह रही हूँ उसे सुनकर अपना जीवन सफल कर ले, व्याकुल मत हो। कौन ज़ाने किस पुण्य से हमें आज यह नेत्रों का लाभ मिला है, इसी से मैं तुमसे बार-बार कह रही हूँ। इस प्रकार सखी को देखकर वह स्वयं प्रेम में निमग्न हो गई और उसे अपनी सुध ज़ाती रही। कवि कहता है कि वह प़त्थर से गढ़ कर काढ़ी हुई मूर्ति के समान ज्यों की त्यों खड़ी रह गई, फिर यह कौन जाने कि वह कहाँ से आई थी और किसकी क्या लगती थी।'

मनोहरताके माने ऐन।
स्यामल-गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन।।
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न।
मानहु रति ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाए है मैन।।
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अदभुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन।।
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामबन्धुन्हके बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँबे, किये प्रेम कनोड़े कै न।।

(गीतावली २/२४)

'अरी सुमुखी! तनिक नेत्र भर देख, ये दोनों श्यामल-गौर-किशोर पथिक तो मानों मनोहरता के ही आश्रय हैं। इनके बीच में चन्द्र बदनी वधु विराज रही है, जिसकी कहीं कोई उपमा नहीं है मानों रति ऋतुराज अर्थात् बसंत ऋतु के साथ कामदेव स्वयं मुनिवेष धारण क़िए हो अथवा श्रृंगार रस सुषमा और पावन प्रेम के साथ मिलकर मुनिवेश बना के जगत् के चित्त रूपी धन को हरण करने के लिए तो नहीं चले या विधाता ने अद्भुतत्रयीं को ही मग वासियों को सुख देने के लिए भेजा है। अद्भुतत्रयीं के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि ये तंत्र शास्त्र में वर्णित वशीकरण,आकर्षण तथा सम्मोहिनी शक्ति को कहते हैं। कवि कहता है कि ग्राम वधुओं के इस प्रकार पवित्र, सरल और स्नेह से साने वचनों को सुनकर प्रभु श्रीराम एक वृक्ष के नीचे थोड़ा विश्राम करने के बहाने रुक गए, क्योंकि प्रेम करने पर वे किसके कनौड़े अर्थात् उपकृत नहीं हो जातें? महाकवि ने ग्राम वधूटियों के द्वारा केवल अपने स्वामी और स्वामिनी की शोभा का ही वर्णन नहीं किया है बल्कि साथ ही उनकी प्रेम करने वालों के प्रति कृपा और कारुण्य की भी झाँकी दिखाई है।

तुलसी-स्वामी-स्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनि,
सोभा सुधा पिए करि अँखिया दोनी।

(गीतावली २/२२)

अर्थात् स्वामी तथा स्वामिनी के मंगलमय सौन्दर्य और सुकुमारता की मूर्ति को देखकर ग्रामीण स्त्रियाँ उनके शोभा सुधा को दोनों नेत्ररूपी दोनों से पीकर मोहित हो रही हैं, वहाँ उनकी इस प्रेम-पिपासा की तृप्ति के लिए प्रभु विश्राम के बहाने तरुतर 'बिलंब' अर्थात् वृक्ष के नीचे ठहर भी जाते हैं। कितनी मधुर भक्ति रस मिश्रित कल्पना है कवि की ! यहाँ पर ग्रामीण देवियों के प्रेम के लिए कवि ने

शुचि और सरल विशेषण लगाया है। सौन्दर्य को देख विमुग्ध होने में उनके सरल सरस हृदय की सहज प्रीति ही कारण है। सखी की विमुग्धता पथिकों के अद्भुत सौन्दर्य तथा सुकुमारता को देखकर है। केवल श्रीराम और लक्ष्मण को ही नहीं बीच में विधुबदनी वधु को विराजित देख उनकी विमुग्धता और बढ़ जाती है। इन पदों में ग्रामीण जीवन की पवित्रता की तरफ भी प्रकारन्तर से कवि ने संकेत किया है। ओर भी देखिए-

**कैसे पितु-मातु, कैसे ते प्रिय-परिजन हैं ?**<br>
**जग जलधि ललाम, लोने लोने, गोरे-श्याम,**<br>
**जिन पठए हैं ऐसे बालकनि बन हैं।।**<br>
**रूप के न पारावार, भूपके कुमार मुनिबेष,**<br>
**देखत लोनाई लघु लागत मदन हैं।**<br>
**सुखमाकी मूरति-सी साध निसिनाथ-मुखी,**<br>
**नखसिख अंग सब सोभाके सदन हैं।।**<br>
**पंकज-करनि चाप, तीर-तरकस कटि,**<br>
**सरद-सरोजहुतें सुंदर चरन हैं।**<br>
**सीता-राम-लषन निहारि ग्रामनारि कहैं,**<br>
**हेरि, हेरि, हेरि ! हेली हियके हरन हैं।।**<br>
**प्रानहूके प्रानसे, सुजीवनके जीवनसे,**<br>
**प्रेमहूके प्रेम, रंक कृपिनके धन हैं।**<br>
**तुलसीके लोचन-चकोरके चन्द्रमासे,**<br>
**आछे मन-मोर चित चातकके घन हैं।।**

**(गीतावली २/२६)**

"अरी सखी ! वे माता-पिता कैसे हैं, वे प्रिय कुटुम्बी जन कैसे हैं, जिन्होंने संसार समुद्र के सुन्दर रत्न रूप इन सलोने श्याम गोरे सुकुमार बालकों को वन में भेज दिया है। इनकी सुन्दरता का पारावार नहीं है। इन मुनिवेशधारी राजकुमारों की लुनाई अर्थात् रूप माधुर्य को देखकर कामदेव भी तुच्छ लगता है। इनके साथ सुषमा की साकार प्रतिमा सी एक चन्द्रमुखी बाला है, जिसके नख से लेकर शिखा पर्यन्त सारे अंग शोभा के धाम हैं। इनके कर, पंकज में धनुष हैं, तीर से भरे तरकस कमर में सुशोभित हो रहे हैं और इनके चरण शरद कालीन कमल से भी सुन्दर हैं। इस प्रकार सीता राम लखन को निहारकर ग्रामवासी स्त्रियाँ कहती

हैं, अरी सखी ! देख, देख ये तो ह्रदय को चुराने वाले हैं, प्राण हूँ के प्राण तथा जीवन के भी जीवन जैसे, प्रेम के भी प्रेम और रंक एवं कृपणों के भी धन हैं। कवि कह रहा है कि नेत्र रूपी चकोर के लिए चन्द्रमा के समान तथा मन रूपी मोर एवं चित्त रूप चातक के लिए सुन्दर मेघ के समान हैं।" यहाँ पर हम देखते हैं कि कवि इन ग्राम बालाओं के माध्यम से अपनी ही विमुग्धता की अभिव्यक्ति कर रहा है। उसके लिए अपने स्वामी-स्वामिनी के रूप लावण्य के वर्णन का इससे उत्तम और अवसर ही कहाँ मिल सकता था। एक पद के द्वारा कवि यह भाव व्यक्त कर रहा है कि ग्राम बालाएँ राम के मुनिवेश में होते हुए भी उनके अन्य लक्षणों से कोई राजकुमार होना निश्चय करती हैं और यह भी विश्वास प्रकट करती हैं कि ये वन में पृथ्वी का भार हरण करने के लिए ही चले हैं। पूरा पद बहुत ही सुन्दर है, इसे कवि के ही शब्दों में पढिए-

**सजनी ! हैं कोउ राजकुमार।**
**पंथ चलत मृदु पद-कमलनि दोउ सील-रूप-आगार।।**
**आगे राजिवनैन स्याम-तनु, सोभा अमित अपार।**
**डारौं वारि अंग-अंगनिपर, कोटि-कोटि सत मार।।**
**पाछें गौर किसोर मनोहर लोचन-बदन उदार।**
**कटि तूनीर कसे, कर सर-धनु, चले हरन छिति-भार।।**
**जुगुल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहि सिंगार।**
**इन्द्रनील, हाटक, मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार।।**
**अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुविचार।**
**पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह-गेह-संसार।।**
**सुनि प्रिय-बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा-सुखसार।**
**तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हिके मन, तन रही न सँभार।।**

**(गीतावली २/२९)**

"अरी सजनी ! ये कोई राजकुमार हैं ! ये दोनों रूपशील के भण्डार, मार्ग में मृदुल चरण कमलों से अर्थात् पैदल ही चल रहे हैं। आगे तो कमल नैन श्याम शरीर वाले राजकुमार हैं जिनकी शोभा अमित और अपार है। उनके एक-एक अंग पर सैंकड़ों अनंग को न्यौछावर करती हूँ। पीछे मनोहर गौरवर्ण के किशोर हैं जिसका लोचन और मुखार्विन्द बड़ा ही सुन्दर है। वे दोनों कमर में तरकस बाँधे हुए हैं तथा हाथों में धनुष और बाण हैं। ऐसा लगता है कि वे भूमि का भार उतारने

के लिए चले हैं। उन दोनों के बीच में एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमारी नारी है जो बिना श्रृंगार के ही सुशोभित हो रही है। तीनों मिलकर ऐसे लग रहे हैं मानों पृथ्वी, इन्द्रनील, सुवर्ण तथा मुक्तामणि का हार पहने हुए हों। इनको तनिक नेत्र भरकर निहार लो, व्याकुल मत होओ, ज़रा विचार तो करो, फिर कहाँ यह शोभा मिलेगी, कहाँ हमारे नेत्र होंगे और कहाँ यह शरीर, घर और संसार होगा या कहाँ संसार में अपना यह घर और शरीर होगा ? सखी के इस प्रकार के वचन सुनकर कृपा और सुख के सार रूप रघुनाथ ने उनकी ओर प्रेम पूरित नेत्रों से निहारा। कवि कहता है कि प्रभु ने ऐसे करके सभी के मन को हर लिया, उनको अपने तन की भी संभाल नहीं रह गई।" यह प्रसंग गीतावली में बड़ा ही सरस है। ग्राम वधूटियों का शुद्ध सात्त्विक भाव कवि ने बड़ी ही कुशलता के साथ चित्रित किया है। उसका यह कथन कि-**'जोगीजन-अगम दरस पायो पाँवरनि'** स्पष्ट करता है कि उसकी सारी काव्यकला व सम्पूर्ण कलात्मक चित्रण भक्ति रस से परिपूर्ण है। मानस के भी एक दोहे में मगवासी नर-नारियों के विषय में इसी प्रकार की भावना व्यक्त की है-

**जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।**
**भव मगु अगमु अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ।।**
**(रा० २/१२३)**

प्रिय बटोही सीता समेत दोनें भाइयों को जिन-जिन लोगों ने देखा उन्होंने जन्म-मरण रूप संसार का दुर्गम मार्ग बिना श्रम के ही आनन्द के साथ तै कर लिया अर्थात् प्रभु के दर्शन मात्र से संसार बंधन से मुक्त हो गए। साथ ही कवि ने यह भी कहा है-

**अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ।।**
**राम धाम पथ पाइहि सोई। ज़ो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई।।**
**(रा० २/१२४-१,२)**

आज भी यदि किसी के हृदय में सीता, राम, लक्ष्मण बटोही के रूप में बस जाते हैं तो वह उस कल्याणमय श्रीराम के धाम का मार्ग पा जाता है, जिस मार्ग को कोई एक बिरले मुनि प्राप्त करते हैं। जिसने एक बार प्रभु की मोहिनी मूर्ति को देख लिया उसके हृदय में वह बस जाती है, सतत उसी का स्मरण, चिन्तन आदि बना रहता है। परिणाम में उसे श्रीराम के परमधाम की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। हम देखते हैं कि वे मगवासी नारियाँ बाद में भी आपस में एक दूसरों से प्रभु के सम्बन्ध में वार्तालाप करती रहती हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में ही

देखें-

पुन न फिरै दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल-गौर, सहज सुन्दर, सखि! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ।।
कर-कमलनि सर, सुभग सरासन, कटि, मुनिबसन-निषंग सोहाए।
भुज प्रलंब, सब अंग मनोहर,धन्य सो जनक-जीवन-जननि जेहि जाए।।
सरद-बिमल बिधु-बदन, जटा सिर, मंजुल अरुन सरोरुह-लोचन।
तुलसिदास मनमय मारगमें राजत कोटि-मदन-मदमोचन।।

(गीतावली २/३६)

"अरी सखी ! वे दोनों बटोही इस मार्ग में पुनः नहीं लौटे। वे श्यामल और गोर किशोर सखी स्वभाव से ही सुन्दर थे। क्या कभी हम उन्हें एक बार फिर देखेंगी ? उनके कर-कमलों में बाण और सुन्दर धनुष शोभित हो रहे थे और कमर में मुनि वस्त्र के साथ ही तरकस शोभा पाते थे। उनकी भुजाएँ लम्बी और सभी अंग प्रत्यंग मनोहर थे। वे माता-पिता धन्य हैं जिन्होंने उन्हें जन्म दिया है। कवि कहता है कि जिसका शरदकालीन पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर मुखमंडल है, सिर पर जटाएँ तथा अरुण पंकज के समान अत्यन्त सुन्दर नेत्र हैं, वे करोड़ों कामदेवों के सौन्दर्यमद का मंथन करने वाले प्रभु मनोमय मार्ग में विराजमान हैं।" हृदय पथ में प्रभु का विराजना उनके लिए नित्य शाश्वत हो गया है। वे भी अबोध हैं इस रहस्य से कि वे अनजाने बटोही इतने प्रिय क्यों बन गए कि इतने दिन बीत जाने पर भी हृदय पथ से दूर नहीं जाते। यद्यपि बहुत दिनों से उनकी कोई खबर नहीं है फिर भी उनके साथ अब भी आत्मीयता बनी हुई है-

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गए जो पथिक गोरे-साँवरे सलोने,सखि!
संग नारि सुकुमारि रही।।
जानि-पहिचानि बिनु आपुतें, आपुने हुतें
प्रानहुतें प्यारे प्रियतम उपही।
सुधाके सनेहहूके सार लै संवारे बिधि,
जैसे भावते हैं भाँति जाति न कही।।
बहुरि बिलोकिबे कबहुक, कहत,
तनु पुलक नयन जलधार बही।



तुलसी प्रभु सुमिरि ग्रामजुबती सिथिल,

**बिनु प्रयास परों प्रेम सही।।**

"अरी सखी ! बहुत दिन बीत गये परन्तु अभी तक जो साँवरेगोरे, सुन्दर पथिक गए थे और जिनके साथ एक सुकुमारी बाला भी थी, उनकी कुछ सुधि नहीं मिली। वे उपही अर्थात् परदेशी कोई जान पहचान न होने पर भी अपने से, अपने प्रियजनों से तथा अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय लगते थे। उनकों विधाता ने अमृत और स्नेह का सार लेकर संवारा है। वे जिस प्रकार हृदय को भाते हैं वह कहा नहीं जाता, अकथनीय है। क्या उन पथिकों को हम फिर भी कभी देख सकेंगी? ऐसा कहते ही उनके शरीर पुलकित हो गए और नेत्रों से जल की धारा बह चली। कवि कहता है कि प्रभु को स्मरण कर ग्राम वधूटियाँ शिथिल हो गई हैं और बिना प्रयास के ही प्रेम की सच्ची सिद्धि हो गई।" इस प्रेम लक्षणा भक्ति की सिद्धि के बाद में शेष पाने को रहा ही क्या? उनमें प्रभु की अखण्ड स्मृति बनी है, वे प्रभु के स्वरूप को पुनः देखने की लालसा से युक्त हो प्रति पल उसका चिन्तन करती रहती हैं, यही तो प्रेम का सार सर्वस्व है।

गोस्वामी जी ने कवितावली में इसी प्रकार से ग्राम बालाओं के पावन प्रेम का वर्णन किया है। उसकी पूर्ण रसानुभूति तो प्रकृत ग्रन्थ को पढ़कर ही पाठक कर सकते हैं, यहाँ तो उसके चारुत्व का संकेत मात्र करने के लिए कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है। मार्ग में जाते हुए राम लक्ष्मण के मध्य में सीता को देखकर ग्राम बाला अपनी सखी से कहती है-

**बनिता बनी स्यामल गौरके बीच, बिलोकहु,री सखि! मोहि-सी ह्वै।**
**मगजोगु न कोमल, क्यों चलिहै, सकुचाति मही पदपंकज छ्वै।**
**तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकी, पुलकीं तन, औ चले लोचन च्वै।**
**सब भान्ति मनोहर मोहनरूप अनूप हैं भूपके बालक द्वै।।**

"कुमारों के बीच में एक सुन्दर बाला बिराज रही है उसे तनिक तुम मेरे जैसी होकर देखो। वे बड़े सुकोमल हैं, मार्ग में चलने के योग्य नहीं, वे कैसे चलेंगे? उनके पद पंकज का स्पर्श करते ही पृथ्वी सकुचा जाती है। कवि कहता है कि उसकी बातें सुनकर ग्राम की वधूटियाँ विथकित हो गई, उनके शरीर पुलकित हो गए और नेत्रों से जल बहने लगा और सभी कहने लगीं ये दोनों राजकुमार सब भाँति से मन को हरने वाले मोहक, छवि युक्त और अनुपम हैं।"

यहाँ पर- **'बिलोकहु, री सखी ! मोहि-सी ह्वै'** में कितना भावगम्भीर्य है। मेरे समान होकर बिलोकने से ही तुम्हें उनके लावण्य की रसानुभूति हो सकेगी,

अन्यथा नहीं। वही पदार्थ भिन्न-भिन्न भावनाओं से देखने पर उसकी अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है क्योंकि रस की निष्पत्ति में क्रिया नहीं भाव ही कारण होता है इसलिए वह अपने समान होकर विलोकने को कह रही है। इस रहस्य को समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। एक सुन्दरी बाला के रूप सौन्दर्य को उसके पिता, भाई, पति और पुत्र चोरों देखते हैं, चारों को उसका सौन्दर्य सुखद होता है, देखने की क्रिया तथा वह कर्म भी चारों के लिए एक ही है, किन्तु उन चारों के स्वाद में भेद है। इतिहास की वह प्रसिद्ध घटना इसके लिए एक दूसरा उदाहरण है जब नवाब की युवा कन्या को मराठा सरदार लेकर महाराजा शिवाजी के समक्ष उपस्थित किया तो उसके सौन्दर्य को देखकर सभी विमुग्ध थे और यही सोचते थे कि महाराज शिवाजी उस बाला को अपने महल की शोभा बनाएँगें, किन्तु उस आर्य वीर की दृष्टि बिल्कुल भिन्न थी। उस कुमारी के सौन्दर्य से उनको भी प्रसन्नता मिली, किन्तु उन्होंने यह कहते हुए कि काश ! मेरी माता भी इतनी ही सुन्दर होती, उस सुन्दरी को बड़े सम्मान के साथ उसके पिता के पास लौटा दिया। अतः आस्वाद का कारण विषय व क्रिया नहीं भाव होता है। आगे ओर देखिए-

**साँवरे-गोरे सलोने सुभायँ, मनोहरताँ जिति मैनु लियो है।**
**बान-कमान, निषंग कसें, सिर सोहैं जटा, मुनिबेषु कियो है।।**
**संग लिएँ बिधुबैनी बधु, रतिको जेहि रंचक रूपु दियो है।**
**पायन तो पनहीं न, पयादेंहि क्यों चलिहैं, सकुचात हियो है।।**

**(गीतावली २/१९)**

"ये साँवरे और गोरे वर्ण के राजकुमार स्वभाव से ही सुन्दर हैं, इन्होंने सुन्दरता में कामदेव को भी जीत लिया है। हाथों में धनुष बाण तथा कमर में तरकस कसे हैं, सिर पर उनके जटाएँ शोभित हो रही हैं और मुनिवेश धारण किए हैं। अभिप्राय यह कि न तो मुनि हैं, न मुनिकुमार ही, केवल मुनि का वेश बनाए हुए हैं। साथ में एक चन्द्रबदनी बाला लिए हुए हैं जिसने अपनी सुन्दरता का रंचमात्र अंश रति को देकर सुन्दर बनाया है अर्थात् रति का सौन्दर्य उस बाला के सौन्दर्य का रंचक अंश है। हृदय सकुचा रहा है कि इनके पाँवों में तो पनही भी नहीं है, ये पैदल कैसे चलेगें ? मानस में **'संकुचति महि जिमि हृदय हमारे' (रा० २/१२१-३)**का ही भाव यहाँ व्यक्त किया गया है। सहज सौन्दर्य ही सभी के लिए सम्मोहित होने में कारण है। उनमें से एक देवी को जब कहीं लगता है, तो वह

विक्षुब्ध हो जाती है और कहती है-

**रानी मैं जानी अयानी महा, पब-पावनहू तें कठोर हियो है।**
**राजहुँ काजु अकाजु न जान्यो, कह्यो तियको जेंहि कान कियो हैं।।**
**ऐसी मनोहर मूरति ए, बिछुरें कैसे प्रीतम लोगु जियो है।**
**आँखिनमें सखि ! राखिबे जोगु, इन्हें किमि कै बनबासु दियो है।।**

**(गीतावली २/२०)**

"मैं समझती हूँ कि वह रानी महा अज्ञानी है, उसका हृदय वज्र तथा पाषाण से भी कठोर है। राजा को भी अपना हानि-लाभ नहीं जान पड़ा जो उस अज्ञानी स्त्री की बातों पर ध्यान देकर यह अनर्थकारी कार्य किया। अरे भला! ऐसी मनोहारिणी मूर्तियों के विछोह होने पर इनके प्रियतम लोग कैसे जीवित रहते होंगे अर्थात् इनके प्यार करने वालों का जीना असम्भव है। हे सखी ! ये तो आँखों में रखने योग्य हैं, इन्हें वनवास क्यों दिया गया? इस पद में वनवास देने वालों के प्रति कितनी झुँझलाहट है। उसे आश्चर्य है कि राजा ने नीतिज्ञ होते हुए भी एक अनजान नारी की बात को इतना महत्व क्यों दिया गया। सुकुमार पथिकों का मार्ग पर चलना उसे असह्य हो रहा है। वह कह रही है, ये आँखों में रखने योग्य हैं, ये पृथ्वी पर चलने योग्य नहीं फिर वनवास इन्हें क्यों और कैसे दिया गया" अर्थात् वनवास देते समय उसका पाहन हृदय नहीं पसीजा। ग्राम बालाएँ इतनी विमुग्ध हैं कि बटोहियों के दूर चले जाने पर भी अभिलाषा है कि उनके पीछे चलकर उस मनोहारी छवि को देखा जाए। वे आपस में परस्पर कहती हैं-

**धरि धीर कहैं, चलु, देखिअ जाइ, जहाँ, जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।**
**कहिहै जगु पोच, न सोचु कछू, फलु लोचन आपन तौ लहिहैं।।**
**सुख पाइहैं कान सुनें बतियाँ कल, आपुसमें कछु पै कहिहैं।**
**तुलसी अति प्रेम लगीं पलकें, पुलकीं लखि राम हिये महि हैं।।**

**(गीतावली २/२३)**

"धैर्य धारण करके कहती हैं, सजनी ! अपन चलो वहाँ चलकर देखें जहाँ पर ये रात्रि में विश्राम करेंगे। लोक निन्दा की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए कहती हैं कि यदि लोग हमें बुरा कहेंगे तो इसकी अपने को कोई चिन्ता नहीं है, ये नेत्र तो अपना फल पा जाएँगे। हमारे कानों को भी इनकी मधुर बातें सुनकर सुख मिलेगा। हम सबसे भले ही वे न कोई बात करें पर आपस में तो अवश्य ही कोई बात-चीत करेंगे। कवि कहता है कि इस प्रकार की बातें करते हुए अत्यन्त प्रेम से

उनकी पलकें लग गईं अर्थात् आँखें बंद हो गईं और प्रभु को अपने हृदय में ही देखकर उनका तन पुलकित हो गया।" राघव केवल योगियों के हृदय में ही अपनी दिव्य मधुर झाँकी का दर्शन नहीं कराते; सरल-स्वभाव वाले सहज प्रेमानुरागी जन उनकी अनुकम्पा के पात्र अधिक होते हैं। मगवासी ग्राम बालाओं का हृदय सहज ही पुनीत है। उनके अन्तर में किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं, अद्भुत लावण्य को देखकर भी उनमें वासना की गन्ध नहीं है। विशुद्ध भाव से अपने नेत्रों तथा कानों को सार्थक एवं सफल बनाने के लिए वे जगत् की आलोचना की भी परवाह नहीं करतीं। उनके इस अटूट अनुराग का ही परिणाम है कि पलक बंद करते ही वे राम की मधुर मनोहर छवि को अपने अन्तर में विराजित देखती हैं, यही प्रेम का सुन्दर परिणाम है।

बहुत सी ऐसी भी स्त्रियाँ थीं जो मनोहर पथिकों के रूप-लावण्य का आस्वादन नहीं कर सकी थीं, उनका सौभाग्य उसके लिए साथ नहीं दिया, अलौकिक बटोही उनके ग्राम से होकर ही गुजर गए किन्तु वे देख न सकीं। जिन्होंने मनोहर झाँकी देख ली थी वे उन स्त्रियों से कहती हैं-

**पद कोमल, स्यामल-गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाएँ।**
**कर बान-सरासन, सीस जटा सरसीरुह-लोचन सोन सुहाए।।**
**जिन्ह देखे सखी ! सतिभायहु तें, तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाए।**
**एहिं मारग आजु किसोर बधू बिधुबैनी समेत सुभायँ सिधाए।।**

**(गीतावली २/२४)**

"सखी ! आज एक बिधुबदनी बाला को साथ लिए हुए दो कुमार स्वभाव से ही कोमल इस मार्ग से गए हैं। उनके चरण अत्यन्त कोमल थे, श्याम और गौर शरीर करोड़ों कामदेवों को लज्जित करते हुए सुशोभित हो रहे थे। हाथों में धनुष बाण, सिर पर जटाओं का मुकुट तथा कमल के समान अरुणारे नेत्र अत्यन्त शोभायुक्त थे। कवि कहता है कि जिन लोगों ने उनको सद्भाव से एक बार भी देख लिया फिर वे उनकी ओर से अपने मन को नहीं लौटा सके। सरल हृदया ग्राम-बालाओं की वह मान्यता कवि के भक्त हृदय की भावना को अभिव्यक्त करती है। एक बार सहज भाव से भी जिसने उन बटोहियों की ओर निहारा, वे फिर अपने मन को नहीं लौटा सके अर्थात् उनके मन सदा के लिए उस अलौकिक छवि के अनुराग में बिना मोल ही बिक गए।

मानस, गीतावली तथा कवितावली के इन प्रसंगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन

केवल यह बताने के लिए ही कराया गया है कि गोस्वामी जी पुरुष की अपेक्षा नारी को सरलता, सरसता, सुकोमलता तथा सहानुभूति आदि सात्त्विक भावनाओं का सहज प्रतिनिधि मानते हैं, अतः उन सात्त्विक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपनी रचनाओं में उसे ही माध्यम चुना है। महाकवि की जिस वर्ग के प्रति इतनी उत्तम धारणा हो, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि उन्होंने उस वर्ग की अवमानना की है व अपनी कृतियों में उसे निम्न स्थान दिया है, यह कितना सफ़ेद झूठ है, इसका अनुमान अब इस विवेचन को पढ़कर सुधीजन आसानी से लगा सकते हैं।

# उपसंहार

मैंने अपनी तरफ से मानस में नारी से सम्बन्धित प्रसंगों को बिना किसी हेर-फेर के ईमानदारी के साथ व्यक्त करने का यत्न किया है। मेरी तरफ से इसमें यदि कुछ किया गया है तो वह केवल मात्र मानस में नारी से सम्बन्धित प्रसंगों को जिज्ञासु अध्येताओं की सुविधा के लिए एकत्रीकरण और साथ ही मानस की भाव-भूमि के आधार पर उन प्रसंगों का संक्षिप्त विवेचन है। मुझे विश्वास है कि सुधीजन मानस की रचना के पीछे निहित उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महाकवि के द्वारा इस साँस्कृतिक महाकाव्य में वर्णित नारी-जीवन की यथार्थ स्थिति को आसानी से समझ लेगें। आज का प्रत्येक विचारशील व्यक्ति बिना किसी संकोच के यह स्वीकार करता है कि रामचरितमानस केवल एक महाकाव्य ही नहीं है, वह करोड़ों हिन्दू जनता के लिए लोक-परलोक का पथ प्रदर्शक धर्म ग्रन्थ है। आज करोड़ों विद्वान, अविद्वान, पंडित और अल्पज्ञ रामचरितमानस को उसी प्रकार श्रद्धा विश्वास और आस्था से देखते हैं जिस प्रकार ईसाई लोग बाईबिल तथा मुसलमान कुरान को। इतना ही नहीं यद्यपि हमारे धर्म का आधार ग्रन्थ वेद माना जाता है, किन्तु करोड़ों की संख्या में हिन्दू जनता केवल वेद का नाम मात्र जानती है, धर्म ग्रन्थ के रूप में वह रामचरितमानस को वेद से कम महत्त्व का स्थान देने के लिए तैयार नहीं है। यदि यह कहा जाए कि उत्तर भारत के हिन्दू समाज को वर्तमान में प्राचीन संस्कृत साहित्य की अपेक्षा रामचरिमानस धार्मिक चेतना प्रदान करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है तो यह अत्युक्ति न होगी।

धर्मग्रंथ का यह प्रमुख लक्षण है कि वह मानव को लोक तथा परलोक दोनों के लिए समुचित दिशा प्रदान करे, व्यक्तिगत उत्थान की विधि के साथ सामाजिक दायित्व के लिए भी सजग करे। रामचरितमानस धर्म ग्रन्थ के इन सारे प्रयोजनों के पूर्ण करने में सक्षम है। केवल लोक की व्यवस्था व परलोक की एकाँगी सीख देने वाला साहित्य, धर्म ग्रन्थ का प्रयोजन पूर्ण नहीं कर पाता। इसलिए जिन जातियों ने या संप्रदायों ने इस प्रकार के साहित्य को स्वीकार किया है

उनका मार्ग मानवीय हितों की पूर्ति में विशेष उपयोगी नहीं दीख रहा, किन्तु मानस के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता, वह अपनी प्रेरणा से मनुष्य मात्र को सार्थकता के साथ समग्र जीवन जीने की समुचित दिशा देता है। एक व्यक्ति, जाति, समाज वा राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए विचार तथा आचार से युक्त सद् शिक्षा प्रदान करने में रामचरितमानस स्वयं में परिपूर्ण है। ऐसे महान् ग्रंथ में मानव ही नहीं प्राणिमात्र के कल्याण की साधना निहित होती है,फिर उसमें किसी वर्ग-विशेष की प्रशंसा वा निन्दा की कल्पना करना सर्वथा भूल है।

मनुष्य सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है फिंर भी उसमें दो प्रकार की वृत्तियों का विकास देखा जाता है। एक प्रकार की वृत्ति विश्वगत प्राणियों के प्रति आत्मीयता से ओत-प्रोत होती है, उसके द्वारा मिले हुए सम्पूर्ण सामर्थ्य का सर्वभूत हित में प्रयोग होता है। आत्म तत्त्व वा सत्य तत्त्व के दिव्य प्रकाश से प्रेरित होने के नाते वह वृत्ति दैवी सम्पत्ति के नाम से कही जाती है। दूसरे प्रकार की वृत्ति इसके बिल्कुल विपरीत होती है, उसमें मिले हुए सामर्थ्य का प्रयोग लोकहित की बजाय स्वयं के भोग में होता है। भोगलोलुप व्यक्ति में आत्मीय भावना का विकास न होकर शरीरासक्ति की ही पुष्टि होती है। वृत्ति अज्ञान वा मोहजन्य होती है इसमें सत्य तत्त्व के प्रकाश का अभाव होने से इसे आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। असुर का अर्थ होता है प्रकाशहीन वा इन्द्रियारामी। दुनिया के सभी धर्म ग्रन्थों में मनुष्यों की इन दो प्रकार की वृत्तियों का विवेचन मिलता है और उनमें से दैवी सम्पत्ति की प्रशंसा तथा आसुरी सम्पत्ति की निन्दा पाई जाती है। मनुष्यों को यह शिक्षा दी जाती है कि वे सदैव आसुरी वृत्ति से बचें और दैवी वृत्ति का स्वयं में विकास करें। गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण सार रूप में अर्जुन को यही समझाते हैं-

**द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**

**(गीता १६/६)**

केवल मनुष्यों में ही नहीं प्रभु का कथन है कि इस सृष्टि में ही दो प्रकार के तत्त्वों का आविर्भाव हुआ है जिसको देव तथा असुर कहते हैं और उनमें से 'दैवी संपद्विमोक्षाय' दैवी सम्पत्ति मोक्ष का कारण बनती है। मनुष्य को बन्धन नहीं मोक्ष अभीष्ट हो क्योंकि बन्धन परतंत्रता में है और मोक्ष स्वतंत्रता में प्राप्त होता है। महात्मा मनु का कथन है-

**सर्वपरवशं दुःख सर्वमात्मवशंसुखम्।**

परवशता में सर्व प्रकार के दुःख तथा स्ववशता में ही सर्वविधि सुख

निहित हैं। इसी से स्वतंत्रता मानवीय जीवन का मुख्य प्राप्तव्य तत्त्व है, उसे ही दार्शनिक भाषा में मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि नामों से कहा जाता है। वस्तुतः वही ईश्वरीय, दिव्य राज्य वा वास्तविक स्वराज्य है। दिव्य गुणों के द्वारा ही उस स्वराज्य की प्राप्ति होती है जो सम्पूर्ण सुखों का स्रोत स्थान है। वह स्वराज्य वा आत्म राज्य रूपी मोक्ष यद्यपि प्राणिमात्र की माँग है किन्तु बौद्धिक विकास के अभाव में सभी जीव उसके लिए यत्नशील नहीं हो पाते क्योंकि मानव सृष्टि का पूर्ण विकसित प्राणी है, वह बुद्धि शक्ति से सम्पन्न है, उसमें विज्ञानमय कोष का विकास हुआ है अतः वही इस जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम है। सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान उसकी इस अन्तिम अभिलाषा की पूर्ति में ही सार्थक होते हैं। धर्म शास्त्र मानव को उसके लक्ष्य की जानकारी तथा उसकी प्राप्ति की विधि की व्यवस्था देते हैं।

तात्त्विक दृष्टि में मानव मात्र समान है, वहाँ पर स्त्री व पुरुष का भेद नहीं है क्योंकि अष्टधा प्रकृति एवं चेतन पुरुष समान रूप में स्त्री तथा पुरुष दोनों आकृतियों में अभिव्यक्त है। उनकी शरीराकृति का भेद सृष्टि सृजन हेतुओं को लेकर ही है,ऐसा तत्त्वदर्शी मनीषियो का कथन है और यही विवेकसंगत है। प्रभु ने आगे कहा है-'निबन्धायासुरी मता' दैवी सम्पदा अर्थात् सात्त्विक अन्तः करण की वृत्तियाँ मोक्ष अर्थात् कल्याणप्रद होती हैं जबकि आसुरी वृत्तियाँ बन्धन में ही कारण बनती हैं, यह यथार्थ है। वेद, पुराण, शास्त्र एवं संत सम्मत होने से रामचरितमानस में इसी परम सत्य का विवेचन किया गया है। महाकवि व्यावहारिक जगत् की विविधता को स्वीकार करते हैं और उपयोगिता की दृष्टि से महत्व का प्रतिपादन भी करते हैं। उनकी इस रचना का प्रयोजन है मानव मात्र को सुख-सुविधा के साथ ही निःश्रेयस अर्थात् स्वराज्य, राम राज्य रूप परमधाम की प्राप्ति, इसी को निर्वाण वा मोक्ष भी कहा है। महाकवि के शब्दों में ही पढ़िए -

**जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख सम्पत्ति नाना बिधि पावहिं।।**
**सुर दुर्लभ सुख करि जग माहिं। अंतकाल रघुपति पुर जाहिं।।**

**(रा० ७/१५-३,४)**

इसी को दार्शनिक भाषा में अभ्युदय तथा निश्रेयस कहा गया है जो धर्म साधना का साध्य है। इसमें महाकवि की दृष्टि में स्त्री-पुरुष का बिल्कुल भेद नहीं हैं, दोनों समान रूप से अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख के साथ ही परम पद रूप पारलौकिक आनन्द के अधिकारी हैं। महाकवि की दृष्टि में -

**राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।**

इतना ही नहीं वे सभी अवस्थाओं में जीवनमुक्त हैं।

उमा अवधवासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानन्द घन रघुनायक जहँ भूप।।

(रा० ७/४७)

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मुक्ति की स्थिति का आनन्द स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उपलब्ध हो सकता है।

मुझे विश्वास है कि मानस में नारी सम्बन्धी अब तक जो भी कुछ इस पुस्तक में व्यक्त किया गया है उससे विवेकशील सुधीजनों को गोस्वामी जी के दृष्टिकोण को समझने में अवश्य ही कुछ सहायता मिलेगी। मैं समझता हूँ कि विद्वानों को केवल काव्य से ही नहीं मानस को एक धर्म ग्रन्थ की दृष्टि से भी देखने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। आदर्श जीवन का लक्ष्य है किन्तु यथार्थ उससे बहुत दूर होता है। धर्म ग्रन्थ मानव को दोनों का बोध करा कर उसे यथार्थ से चलकर आदर्श रूप लक्ष्य की प्राप्ति की विधि बताता है। रामचरितमानस का यही प्रयोज्य है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार पथभ्रष्ट स्त्री-पुरुषों के जीवन की भर्त्सना और सन्मार्ग पर चलने वालों की प्रशंसा भी की गई। इस दृष्टिकोण को समझ लेने पर मानस में किसी भी वर्ग विशेष की अवमानना की आशंका स्वतः निर्मूल हो जायेगी और सन्त शिरोमणी परमाचार्य युग धर्म द्रष्टा गोस्वामी तुलसीदास जी की अन्तर भावना को समझकर प्रत्येक नर-नारी विवेक वैराग्य युक्त भक्ति के पावन पथ का पथिक बन स्वयं के जीवन को कृतार्थ करने की दिशा में अग्रसर हो जाएगा।

।। श्री रामार्पणमस्तु ।।

# सम्पर्क सूत्र

ब्रह्मर्षि आश्रम
विराट् नगर् पिंजौर (हरियाणा)
पिन- 134102
फोन :-01733-266170

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
28-बी, पंचशील गार्डन, नवीन
शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन :-011-22821660,22821943

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
माधोपुरी, गऊशाला रोड़, लुधियाना
फोन :-0161-2700141,270631

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड़, लुधियाना
फोन :-0161-2226406

ब्रह्मर्षि बावरा शान्ति विद्यापीठ
दीनानगर, धार रोड़, उधमपुर (जे.के.)
फोन :-01992-271080

ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय
योग आश्रम
पुरी फार्म्स, ज़ोड़ियां, रादौर रोड़,
यमुनानगर-135001(हरियाणा)
फोनः- 01732-297046

ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
वाराणसी (उ०प्र०)

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
न्यू बाईपास, ऋषिकेश रोड़,
भूपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०)
फोनः-0133-261018

**Metaphysical Science Research Institute**
Sec.19-A, Chandigarh
Phone . 0172-2725390

**Brahmrishi Mission School**
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhunter, Kullu (H.P.)
Ph. 01902-265518,266043

**Brahmrishi Mission School**
Hanumangarh Road,
Opp. New Water Works,
ABOHAR-152116
Ph. : 01634-229615, 329615

**Brahmrishi Misson**
278, Heston Road, Heston
Middlesex TW5 ORT U.K.
Phone : 0208-571-3879

**Brahmriahi Mission CANADA**
Shri-Ram-Dham Hindu Temple
525 Bridge Street,
East Kitchener, Ontario
CANADA N2K3C5
Phone : (519) 579-1486

**Brahmrishi Ashram**
1246, North Mantua Street, Kent,
Ohio- 44240, U.S.A..
Phone : 330-678-3793

**Brahmrishi Ashram**
717, Loosduinseweg,
2571 AM-Denhaag, Nederland,
Ph.: 070-3620961

# हमारे प्रकाशन

(1) शक्ति तत्त्व बोध

(2) आपकी अपनी बात (3) गीता ज्ञान विज्ञान योग

(4) श्रीहनुमत् विनय पच्चीसी (5) श्री चण्डिकाशतक (6) श्री श्यामशतक

(7) मानस में धर्मरथ (8) रामो विग्रहवान् धर्मः

(9) मानस महाकाव्य में नारी

(10) गीता तत्त्व बोध (11) क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है?

(12) राम नाम महिमा (13) मानस के मोती (14) जीवन विज्ञान

(15) भारत की आत्मा (16) योगाकुंर

(17) साधना सूत्र

(18) गीता कर्म विज्ञान (19) समाधान

(20) तत्त्व चिन्तन (21) सन्त सन्देश (22) भक्ति दर्शन (नारद भक्ति सूत्र)

(23) राम और रामायण (24) क्रियायोग

(25) मानव पतन में हेतु

(26) योग पथ (27) विश्व को हिन्दुओं का योगदान

(28) मानस में वैदिक सिद्धान्त (29) सन्त लक्षण (30) श्री हनुमत हृदय

(31) संस्कृत भाषा का महत्व (32) ब्रह्म और उसकी विशिष्टाभिव्यक्ति

(33) सहज समाधि भली

(34) ब्रह्मविद्या विज्ञान-प्रथम (35) ब्रह्मविद्या विज्ञान–द्वितीय

(36) नारी! तुलसी की दृष्टि में

(37) शिव तत्त्व बोध (38) विश्व की समस्याओं का हल-अध्यात्मवाद

(39) हिन्दू धर्म सूत्र

(40) गीता प्रतिपादित योग मार्ग (गीता अध्याय छः पर आधारित)

(41) गीतोक्त बुद्धियोग

(42) चंडी दी वार (भगवती की स्तुति) (43) काव्य सुधा

(44) श्री शिव शतक (45) मानस में नवधा भक्ति

(46) महात्मा भरत (47) हनुमत पंच रत्न

(48) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 1 एवं 2)

(49) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 3 एवं 4)

( 50 ) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य ( अध्याय 5 एवं 6 )

( 51 ) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य ( अध्याय 7 एवं 8 )

( 52 ) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य ( अध्याय 9 एवं 10 )

( 53 ) श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य ( अध्याय 11 एवं 12 )

( 54 ) वैदिक सनातन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या

( 55 ) राष्ट्र का मुखिया कौन ? ( वज्रसूचिकोपनिषद् के आधार पर तात्त्विक विश्लेषण )

( 56 ) शास्त्र और श्रद्धा ( एक तात्त्विक विश्लेषण ) ( 57 ) जन्म से मोक्ष तक

( 58 ) वैदिक विज्ञान के स्वर्णिम अध्याय ( 59 ) भुशुण्डी गीता

( 60 ) श्रीहनुमत् चरित्र ( 61 ) श्रीगणेश-तत्त्व-प्रश्नोत्तरी

( 62 ) ध्यान प्रक्रिया एवं साधना प्रशिक्षण ( 63 ) जन जागृति महाभियान

( 64 ) गीतापंच प्रवचन प्रसरणि

(65) Science of Stable Wisdom

(65) The Science of *Pranav (om)*

*(Commentary on Mandookyopanishad)*

(67) How to be a Yogi (68) Towards Divinity

(69) Yoga for life (70) The Hindu & its way of life

(71) Essence of the Gita (72) Basic Principles of Yoga

(73) Essays on the Karm Yoga

(74) Lord Hanuman-Our Ideal

(75) Meditation Technique

(76) Science of the Absolute Knowledge

(77) The Nature of Sacrifice

*(Commentary on Ishopanishad)*

(78) Tattva Samass

(79) World's Problems Their Solution

(80) Peace Through Spiritual Discipline

(81) Hindu Millenium Celebrations In U.K.

# दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका



दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)